गीता-दर्पण
स्वामी रामसुखदास

* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

गीता-दर्पण

लेखक—

प्रकाशक—गोविन्दभवन-कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर

[भारत-सरकारद्वारा उपलब्ध कराये गये रियायती मूल्यके काग़जपर मुद्रित]

सं० २०४२ प्रथम संस्करण १०,०००

मूल्य पंद्रह रुपये

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर

सुमधुर गोपाल

श्रीहरिः
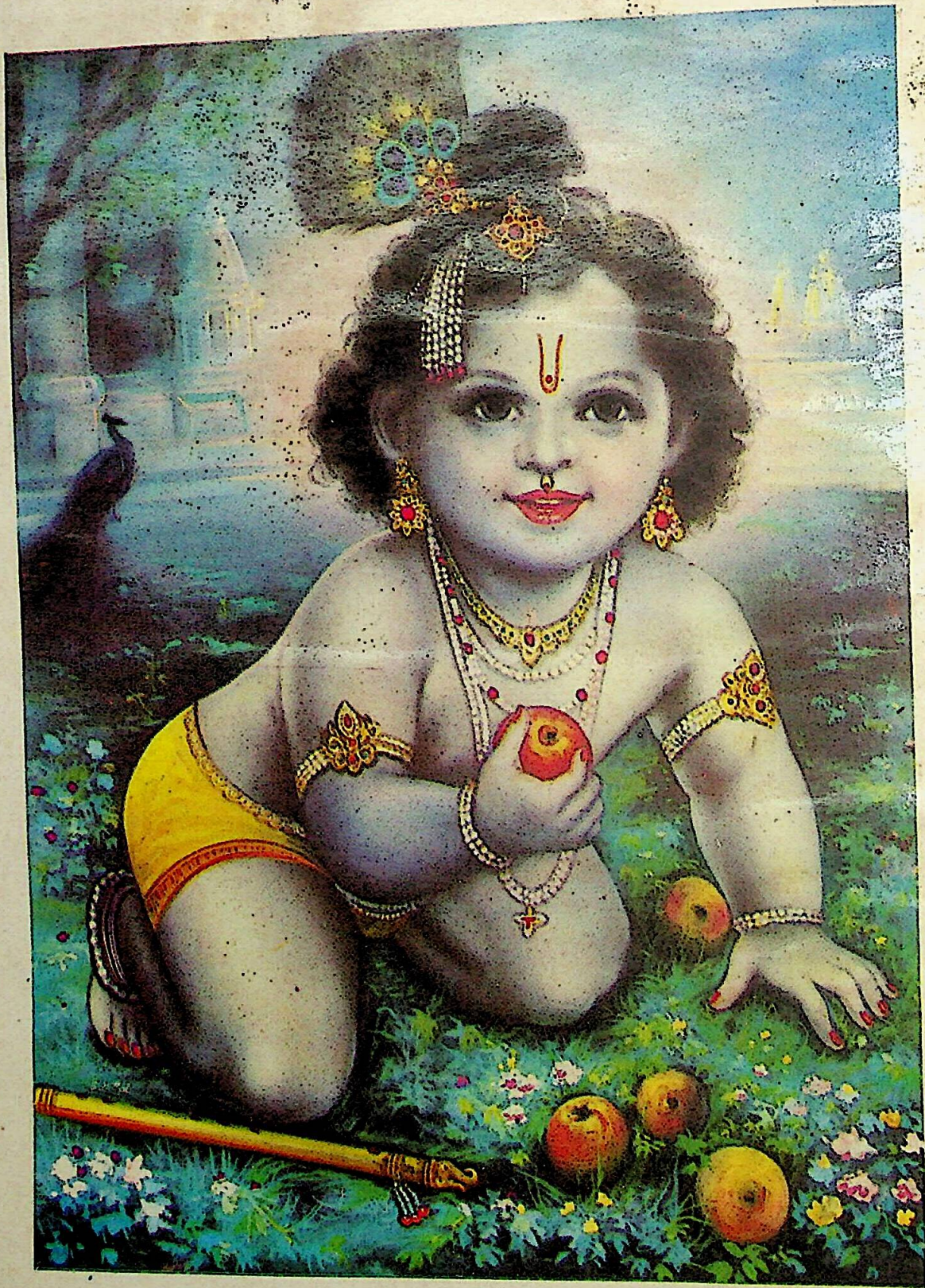
प्राक्कथन

भगवान्‌की दिव्य वाणी श्रीमद्भगवद्गीताके भाव बहुत ही गम्भीर और अनायास कल्याण करनेवाले हैं। उनका मनन करनेसे साधकके हृदयमें नये-नये विलक्षण भाव प्रकट होते हैं। समुद्रमें मिलनेवाले रत्नोंका तो अन्त आ सकता है, पर गीतामें मिलनेवाले मनोमुग्धकारी भावरूपी रत्नोंका कभी अन्त नहीं आता।

गीताके भावोंको भलीभाँति समझनेसे गीताके वक्ता (भगवान्)का, श्रोता (अर्जुन)का, गीताका और अपने स्वरूपका ठीक-ठीक बोध हो जाता है। बोध होनेपर मनुष्य कृतकृत्य, ज्ञातज्ञातव्य और प्राप्तप्राप्तव्य हो जाता है अर्थात् उसके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता। उसका मनुष्यजन्म सर्वथा सफल हो जाता है।

जैसे भक्त जिस भावसे भगवान्‌का भजन करता है, भगवान् भी उसी भावसे उसका भजन करते हैं (४। ११), ऐसे ही मनुष्य जिस मान्यताको लेकर गीताको देखता है, गीता भी उसी मान्यताके अनुसार उसे दीखने लग जाती है। जैसे मनुष्य दर्पणके सामने जैसा मुख बनाकर जाता है, उसे वैसा ही मुख दर्पणमें दीखने लग जाता है। ऐसे ही भगवान्‌की वाणी गीता इतनी विलक्षण है कि इसके सामने मनुष्य जैसा सिद्धान्त बनाकर जाता है, उसे वैसा ही सिद्धान्त गीतामें दीखने लग जाता है। इस प्रकार गीतारूप दर्पणमें कर्मयोगियोंको कर्मशास्त्र, ज्ञानयोगियोंको ज्ञानशास्त्र और भक्तियोगियोंको भक्तिशास्त्र दीखता है। सभी साधकोंको गीतामें अपनी रुचि, श्रद्धा-विश्वास और योग्यताके अनुसार अपने कल्याणका साधन मिल जाता है; परंतु जो अपने मत, सिद्धान्त आदिका कोई आग्रह न रखकर तटस्थ होकर गीताके भावोंको समझना चाहते हैं, उनके लिये यह 'गीता-दर्पण' नामक ग्रन्थ परम उपयोगी है। इस 'गीता-दर्पण'में गीताके भाव, सिद्धान्त प्रत्यक्ष दीखने लग जाते हैं, जिनके अनुसार चलनेसे सभी साधक बहुत शीघ्र अपना कल्याण कर सकते हैं।

गीताको पढ़ने-पढ़ानेसे जो बातें लक्ष्यमें नहीं आतीं, स्पष्ट समझमें नहीं आतीं, उन्हीं बातोंको यदि विशेषरूपसे बताया जाय तो वे सुगमतापूर्वक स्पष्ट समझमें आ जाती हैं। जैसे आमके पेड़में जड़से लेकर टहनी, पत्ते और फूलोंतक वही रस व्याप्त रहता है, जो रस आमके फलमें रहता है; परंतु उनसे उस रसकी वैसी अनुभूति नहीं होती, जैसी अनुभूति आमके फलसे होती है। इसी प्रकार गीताके श्लोकों, चरणों, पदों आदिमें परिपूर्ण भावोंका वैसा बोध नहीं होता, जैसा बोध गीताकी बातोंको विशेषरूपसे बतानेपर होता है। गीताकी बातोंको विशेषरूपसे बतानेके लिये ही इस 'गीता-दर्पण' ग्रन्थकी रचना हुई है।

जैसे भगवान् प्राणिमात्रके सुहृद् हैं (५। २९), ऐसे ही उनकी वाणी गीता भी प्राणिमात्रकी सुहृद् है। गीता सर्वतोभद्र है। जैसे भगवन्नामको किसी भी रीतिसे लिया जाय, वह कल्याण ही करता है, ऐसे ही गीताका मनन-विचार धर्मकी दृष्टिसे, वर्ण-आश्रमकी दृष्टिसे, सृष्टि-रचनाकी दृष्टिसे, साधनकी दृष्टिसे, सिद्ध पुरुषोंकी दृष्टिसे, छन्दकी दृष्टिसे, व्याकरणकी दृष्टिसे, साहित्यकी दृष्टिसे आदि किसी भी दृष्टिसे किया जाय, वह कल्याण ही करती है। इसलिये इस 'गीता-दर्पण'में गीताको कई दृष्टियोंसे देखा गया है और उसपर विचार भी किया गया है।

इस 'गीता-दर्पण'के माध्यमसे गीताका अध्ययन करनेपर साधकको गीताका मनन करनेकी, उसे समझनेकी एक नयी दिशा मिलेगी, नयी विधियाँ मिलेंगी, जिससे साधक स्वयं भी गीतापर स्वतन्त्ररूपसे विचार कर सकेगा और नये-नये विलक्षण भाव प्राप्त कर सकेगा। उन भावोंसे उसकी गीता-वक्ता (भगवान्)-के प्रति एक विशेष श्रद्धा जाग्रत् होगी कि इस छोटे-से ग्रन्थमें भगवान्‌ने कितने विलक्षण भाव भर दिये हैं! ऐसा श्रद्धा-भाव जाग्रत् होनेपर 'गीता! गीता!!' उच्चारण करनेमात्रसे उसका कल्याण हो जायगा।

इस 'गीता-दर्पण'को दो भागोंमें विभाजित किया गया है—पूर्वार्ध और उत्तरार्ध। पूर्वार्धमें विभिन्न लेखों-के माध्यमसे साधकोंके लिये विशेष साधन-सामग्री दी गयी है और उत्तरार्धमें मस्तिष्क-प्रधान साधकोंके लिये गीता-सम्बन्धी विशेष जानकारीकी बातें दी गयी हैं।

गीता-दर्पणके आरम्भमें सम्पूर्ण गीताको रोचक प्रश्नोत्तर-शैलीमें दिया गया है और प्रश्नोंके माध्यमसे गीताके श्लोकोंकी संगति स्पष्ट की गयी है। प्रश्न कौन कर रहा है और किससे कर रहा है—इसे सम्बोधनके द्वारा स्पष्ट किया गया है अर्थात् प्रश्नमें आये हुए सम्बोधनको देखकर पाठक यह समझ सकते हैं कि प्रश्न करनेवाला कौन है और वह किससे प्रश्न कर रहा है। इसके बाद गीता-सम्बन्धी लेख दिये गये हैं, जिनमें विभिन्न दृष्टियोंसे गीतापर गहरा विचार किया गया है। अन्तमें एक शब्दकोश दिया गया है, जिसमें ऐसे शब्दोंको लिया है, जो गीतामें पूर्वापर प्रसङ्गके अनुसार अनेक अर्थोंमें आये हैं। आशा है, गीताका अभ्यास करनेवाले विचारशील जिज्ञासुजन इस कोशसे लाभ उठायेंगे।

विनीत—

स्वामी रामसुखदास

निवेदन

श्रीमद्भगवद्गीताका संस्कृत-वाङ्मयमें प्रमुख स्थान है। यह भगवान् श्रीकृष्णके श्रीमुखसे निकली हुई दिव्य वाणी है। इसमें भगवान् श्रीकृष्णने विषादयुक्त अर्जुनको तत्त्वात्मक उपदेश दिया है; जिसके भाव परम गहन हैं। उनका पार अभीतक न कोई पा सका है और न पा सकता है।

उसी गीतातत्त्व-सागरमें डुबकी लगाकर श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजने अनेक तत्त्व-रत्नोंको खोज निकाला है, जिन्हें विविध प्रकाशनोंके रूपमें जनताको वितरित कर दिया है। उनसे भावुक जनता लाभ उठा रही है। उन्हीं रत्नोंमेंसे यह एक असूल्य रत्न गीता-दर्पण भी है। यह 'यथा नाम तथा गुणः'—इस उक्तिके अनुसार सचमुच गीता-तत्त्वको प्रत्यक्ष देखनेके लिये दर्पण-सदृश ही है। इसके प्रारम्भमें गीताके अठारहों अध्यायोंके तत्त्वोंपर प्रश्नोत्तररूपमें प्रकाश डाला गया है। तत्पश्चात् प्रधान-प्रधान विषयोंका लेखरूपमें विस्तारपूर्वक समाधान किया गया है, गीताके शब्दोंको समझनेके लिये व्याकरण और छन्दसम्बन्धी गूढ विवेचन किया गया है, गीताके श्लोकोंके परिमाणके विषयमें विस्तृत एवं प्रामाणिक समाधान प्रस्तुत किया गया है, पाठकोंकी सुविधाके निमित्त पाठ-विधियाँ दर्शायी गयी हैं तथा अन्तमें प्रमुख शब्दोंके विभिन्नार्थपर पृथक्-पृथक् विचार प्रकट किया गया है। इन सब कारणोंसे इस ग्रन्थरत्नकी उपादेयता विशेष बढ़ गयी है।

वर्तमान समयमें साधकोंका सही मार्गदर्शन करनेके लिये तत्त्वात्मक ग्रन्थोंका अभाव-सा है, अतः उसके कुछ अंशकी पूर्तिके लिये यह गीता-दर्पण सक्षम है। इसलिये साधकोंसे विनम्र अनुरोध है कि वे इस ग्रन्थरत्नका सावधानतया अध्ययन करें, गम्भीरतापूर्वक मनन करें और इससे विशेष लाभ उठावें।

—प्रकाशक

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

उत्तरार्ध

मोहनाशक श्री कृष्ण

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

गीता-दर्पण

स्वात्मीयप्रियभक्तपार्थगतये गुह्यं हि गुह्यात्परं
येन स्वं प्रकटीकृतं च सदयं गीताभिधेयात्मकम् ।
यस्यां प्राप्तपरिस्थितौ तु मनुजः प्राप्नोति मुक्तिं स्थितं
एषा येन कला नवा निगदिता कृष्णाय तस्मै नमः ॥
ये सिद्धान्तमुखं दिदृक्षुमनुजाः पश्यन्ति गीतामिमां
तेषां दर्शयितुं स्वपक्षवदनं गीता स्वयं दर्पणम् ।
ये निष्पक्षनिराग्रहास्तु मनुजा इच्छन्ति गीतामतं
गीतादर्पणमद्भुतं च लिखितं ज्ञातुं तदर्थं मया ॥

गीताश्लोक-संगति

भावसिद्धान्तगाम्भीर्या सरला रुचिवर्धिका ।
सुप्रश्नोत्तररूपाभ्यां कथ्यते श्लोकसंगतिः ॥

पहला अध्याय

पाण्डवोंने बारह वर्षका वनवास और एक वर्षका अज्ञातवास समाप्त होनेपर जब पूर्वप्रतिज्ञाके अनुसार अपना आधा राज्य माँगा, तब दुर्योधनने आधा राज्य तो क्या, तीखी सूईकी नोक-जितनी

---

१. जिन्होंने अपने प्रिय भक्त अर्जुनके कल्याणके लिये अत्यन्त गोपनीय अपना 'गीता' नामक हृदय दयापूर्वक प्रकट किया है तथा जिन्होंने 'मनुष्य जिस-किसी परिस्थितिमें स्थित रहता हुआ ही अपना कल्याण कर सकता है'—यह नयी कला बतायी है, उन भगवान् श्रीकृष्णके लिये नमस्कार है ।

२. अपना सिद्धान्तरूप मुख देखनेकी इच्छावाले जो मनुष्य इस भगवद्गीताको देखते हैं, उन्हें अपना पक्षरूप मुख दिखानेके लिये गीता स्वयं दर्पण है; परंतु जो मनुष्य पक्षपात और आग्रहसे रहित होकर गीताके मतको जानना चाहते हैं, उनके लिये मैंने यह अद्भुत 'गीता-दर्पण' लिखा है ।

भूमि भी बिना युद्धके देनी स्वीकार नहीं की; अतः पाण्डवोंने माता कुन्तीकी आज्ञाके अनुसार युद्ध करना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार पाण्डवों और कौरवोंके बीच युद्ध होना निश्चित हो गया तथा दोनों ओरसे युद्धकी तैयारी होने लगी।

महर्षि वेदव्यासजीका धृतराष्ट्रपर बहुत स्नेह था। उस स्नेहके कारण उन्होंने धृतराष्ट्रके पास आकर कहा कि 'युद्ध होना और उसमें क्षत्रियोंका महान् संहार होना अवश्यम्भावी है, इसे कोई टाल नहीं सकता। यदि तुम युद्ध देखना चाहते हो तो मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि दे सकता हूँ, जिससे तुम यहीं बैठे-बैठे युद्धको अच्छी तरहसे देख सकते हो।' इसपर धृतराष्ट्रने कहा कि 'मैं जन्मभर तो अंधा रहा, अब अपने कुलके संहारको मैं देखना नहीं चाहता; परंतु युद्ध कैसे हो रहा है—यह समाचार अवश्य सुनना चाहता हूँ।' व्यासजीने कहा कि 'मैं संजयको दिव्य दृष्टि देता हूँ, जिससे यह सम्पूर्ण युद्धको, समग्र घटनाओंको, सैनिकोंके मनमें आयी हुई बातोंको भी जान लेगा, सुन लेगा, देख लेगा और सब बातें तुम्हें सुना भी देगा।' ऐसा कहकर व्यासजीने संजयको दिव्य दृष्टि प्रदान की। उधर निश्चित समयके अनुसार कुरुक्षेत्रमें दोनों सेनाएँ युद्धके लिये तैयार थीं।

अब प्रश्न होता है कि जब युद्धके लिये दोनों सेनाएँ तैयार थीं, तब ऐसे अवसरपर भगवान्ने अर्जुनको गीताका उपदेश क्यों दिया? शोक दूर करनेके लिये ही भगवान्ने अर्जुनको गीताका उपदेश दिया।

अर्जुनको शोक कब हुआ और क्यों हुआ? जब अर्जुनने दोनों सेनाओंमें अपने ही निजी कुटुम्बियोंको देखा कि दोनों ओर हमारे ही कुटुम्बी मरेंगे, तब ममताके कारण उन्हें शोक हुआ।

अर्जुनने दोनों सेनाओंमें अपने कुटुम्बियोंको क्यों देखा? भगवान् श्रीकृष्णने जब दोनों सेनाओंके बीचमें रथ खड़ा करके अर्जुनसे कहा कि 'तुम युद्धकी इच्छासे इकट्ठे हुए इन कुरुवंशियोंको देखो, तब अर्जुनने अपने कुटुम्बियोंको देखा।

भगवान्ने दोनों सेनाओंमें कुरुवंशियोंको देखनेके लिये क्यों कहा? अर्जुनने पहले भगवान्से कहा था कि 'हे अच्युत! दोनों सेनाओंके बीचमें मेरा रथ खड़ा करो, जिससे मैं देखूँ कि यहाँ मेरे साथ दो हाथ करनेवाले कौन हैं?

अर्जुनने ऐसा क्यों कहा? जब युद्धकी तैयारीके बाजे बजे, तब उत्साहमें भरकर अर्जुनने दोनों सेनाओंके बीचमें रथ खड़ा करनेके लिये कहा।

बाजे क्यों बजे? कौरवसेनाके मुख्य सेनापति भीष्मजीने जब सिंहकी दहाड़के समान गरजकर शङ्ख बजाया, तब कौरवसेनाके बाजे बजे और पाण्डवसेनाके भी बाजे बजे

भीष्मजीने शङ्ख क्यों बजाया? दुर्योधनको हर्षित करनेके लिये भीष्मजीने शङ्ख बजाया।

दुर्योधन अप्रसन्न क्यों था? दुर्योधनने गुरु द्रोणाचार्यके पास जाकर कहा कि 'आपके प्रतिपक्षमें पाण्डवोंकी सेना खड़ी है, इसे देखिये अर्थात् जिन पाण्डवोंपर आप प्रेम—स्नेह रखते हैं, वे ही आपके विरोधमें खड़े हैं। पाण्डवसेनाकी व्यूह-रचना भी धृष्टद्युम्नके द्वारा की गयी है, जो आपको मारनेके लिये ही उत्पन्न हुआ है।' इस प्रकार दुर्योधनकी चालाकीसे, राजनीतिसे भरी हुई तीखी बातोंको सुनकर द्रोणाचार्य चुप रहे, कुछ बोले नहीं। इससे दुर्योधन अप्रसन्न हो गया।

द्रोणाचार्य चुप क्यों रहे ? दुर्योधनने द्रोणाचार्यको उकसानेके लिये चालाकीसे राजनीतिकी जो बातें कहीं, वे द्रोणाचार्यको बुरी लगीं। उन्होंने यह सोचा कि यदि मैं इन बातोंका खण्डन करूँ तो युद्धके अवसरपर आपसमें खटपट हो जायगी, जो उचित नहीं है। मैं इन बातोंका अनुमोदन भी नहीं कर सकता; क्योंकि यह चालाकीसे बातचीत कर रहा है, सरलतासे बातचीत नहीं कर रहा है। इसलिये द्रोणाचार्य चुप रहे।

दुर्योधनने ऐसी बातें कब कहीं और क्यों कहीं ? दुर्योधनने व्यूहाकार खड़ी हुई पाण्डवसेनाको देखकर गुरु द्रोणाचार्यको उकसानेके लिये ऐसी बातें कहीं। इसका वर्णन संजयने धृतराष्ट्रके प्रति किया है।

संजयने यह वर्णन धृतराष्ट्रके प्रति क्यों किया ? जब धृतराष्ट्रने युद्धकी कथाको आरम्भसे विस्तारपूर्वक सुनना चाहा, तब संजयने ये सब बातें धृतराष्ट्रसे कहीं।

धृतराष्ट्रने संजयसे क्यों सुनना चाहा ? दस दिन युद्ध होनेके बाद संजयने अचानक आकर धृतराष्ट्रसे यह कहा कि 'कौरवों-पाण्डवोंके पितामह, शान्तनुके पुत्र भीष्म मारे गये (रथसे गिरा दिये गये)। जो सम्पूर्ण योद्धाओंमें मुख्य और समस्त धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ थे, ऐसे पितामह भीष्म आज शर-शय्यापर सो रहे हैं।' इस समाचारको सुनकर धृतराष्ट्रको बड़ा दुःख हुआ और वे विलाप करने लगे। फिर उन्होंने संजयसे युद्धका सारा वृत्तान्त सुनानेके लिये कहा और पूछा—

हे संजय ! धर्मभूमि कुरुक्षेत्रमें युद्धकी इच्छासे इकट्ठे हुए मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया ? ॥१॥

संजय बोले—उस समय व्यूह-रचनासे खड़ी हुई पाण्डवोंकी सेनाको देखकर राजा दुर्योधन द्रोणाचार्यके पास गया और उनसे बोला कि हे आचार्य ! आप अपने बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नके द्वारा व्यूह-रचनासे खड़ी की हुई पाण्डवोंकी इस बड़ी भारी सेनाको देखिये ॥ २-३ ॥

पाण्डवोंकी सेनामें मैं किन-किनको देखूँ दुर्योधन ?

पाण्डवोंकी इस सेनामें बड़े-बड़े शूरवीर हैं, जिनके बहुत बड़े-बड़े धनुष हैं तथा जो बलमें भीमके समान और युद्धकलामें अर्जुनके समान हैं। इनमें युयुधान (सात्यकि), राजा विराट और महारथी द्रुपद भी हैं। धृष्टकेतु, चेकितान और पराक्रमी काशिराज भी हैं। पुरुजित् और कुन्तिभोज—ये दोनों भाई तथा मनुष्योंमें श्रेष्ठ शैब्य भी हैं। पराक्रमी युधामन्यु और बलवान् उत्तमौजा भी हैं। सुभद्रापुत्र अभिमन्यु और द्रौपदीके पाँचों पुत्र भी हैं। ये सब-के-सब महारथी हैं ॥४—६॥

पाण्डवसेनाके शूरवीरोंके नाम तो तुमने बता दिये, पर अपनी सेनाके शूरवीर कौन-कौन हैं दुर्योधन ?

हे द्विजोत्तम ! हमारी सेनामें जो विशेष-विशेष पुरुष हैं, उनपर भी आप ध्यान दीजिये। आप (द्रोणाचार्य), पितामह भीष्म, कर्ण, संग्रामविजयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा तथा इनके सिवाय और भी बहुत-से शूरवीर हैं, जिन्होंने मेरे लिये अपने जीनेकी इच्छाका भी त्याग कर दिया है और जो अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्र चलानेमें निपुण तथा युद्धकलामें अत्यन्त चतुर हैं ॥ ७—९ ॥

दोनों सेनाओंके प्रधान-प्रधान योद्धाओंको दिखानेके बाद दुर्योधनने क्या किया संजय ?

दुर्योधनने अपने मनमें विचार किया कि उभय-पक्षपाती (दोनोंका पक्ष लेनेवाले) भीष्मके द्वारा रक्षित हमारी सेना पाण्डवसेनापर विजय पानेमें असमर्थ है और निजपक्षपाती (केवल अपना ही पक्ष लेनेवाले) भीमके द्वारा रक्षित पाण्डवोंकी सेना हमारी सेनापर विजय पानेमें समर्थ है ॥ १० ॥

मनमें ऐसा विचार करनेके बाद दुर्योधनने क्या किया ?

उसने सभी शूरवीरोंसे कहा कि आप सब-के-सब लोग अपने-अपने मोर्चोंपर दृढ़तासे स्थित रहते हुए ही पितामह भीष्मकी चारों ओरसे रक्षा करें* ॥ ११ ॥

अपनी रक्षाकी बात सुनकर भीष्मजीने क्या किया ?

पितामह भीष्मने दुर्योधनको प्रसन्न करते हुए सिंहके समान गरजकर बड़े जोरसे शङ्ख बजाया ॥ १२ ॥

भीष्मजीके द्वारा शङ्ख बजानेके बाद क्या हुआ संजय ?

भीष्मजीने तो दुर्योधनको प्रसन्न करनेके लिये ही शङ्ख बजाया था, पर कौरवसेनाने इसे युद्धारम्भकी घोषणा ही समझा । अतः भीष्मजीके शङ्ख बजाते ही कौरवसेनाके शङ्ख, भेरी, ढोल, मृदङ्ग आदि बाजे एक साथ बज उठे । उनका शब्द बड़ा भयंकर हुआ ॥ १३ ॥

कौरवसेनाके बाजे बजनेके बाद क्या हुआ संजय ?

कौरवसेनाके बाजे बजनेके बाद पाण्डवसेनाके बाजे बजने चाहिये थे, पर उस सेनाको कोई आज्ञा नहीं मिली । तब सफेद घोड़ोंसे युक्त महान् रथपर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्णने 'पाञ्चजन्य' नामक और अर्जुनने 'देवदत्त' नामक दिव्य शङ्खको बड़े जोरसे बजाया । उसके बाद भीमने 'पौण्ड्र' नामक, युधिष्ठिरने 'अनन्तविजय' नामक, नकुलने 'सुघोष' नामक और सहदेवने 'मणिपुष्पक' नामक शङ्ख बजाये ॥ १४–१६ ॥

फिर और किसने शङ्ख बजाये ?

हे राजन् ! फिर पाण्डवसेनाके श्रेष्ठ धनुषवाले काशिराज, महारथी शिखण्डी तथा धृष्टद्युम्न, राजा विराट, अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद, द्रौपदीके पाँचों पुत्र और महाबाहु सुभद्रापुत्र अभिमन्यु—इन सभी महारथियोंने अपने-अपने शङ्ख बजाये ॥ १७-१८ ॥

पाण्डवसेनाकी उस शङ्ख-ध्वनिका क्या परिणाम हुआ ?

पाण्डवसेनाके शङ्खोंकी उस भयंकर ध्वनिने आकाश और पृथ्वीको गुँजाते हुए अन्यायपूर्वक राज्य हड़पनेवाले कौरवोंके हृदय विदीर्ण कर दिये ॥ १९ ॥

शङ्ख बजानेके बाद पाण्डवोंने क्या किया संजय ?

हे महीपते ! शङ्खोंके बजनेके बाद युद्ध आरम्भ होनेके समय आपके सम्बन्धियों (कौरवों) को देखकर कपिध्वज अर्जुनने अपना गाण्डीव धनुष उठा लिया और अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णसे कहा कि हे अच्युत ! आप मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा कर दीजिये ॥२०-२१॥

रथको बीचमें क्यों खड़ा करूँ अर्जुन ?

मैं इस रणभूमिमें खड़े हुए इन युद्धकी इच्छावाले शूरवीरोंको देख लूँ कि मुझे किन-किनके साथ युद्ध करना है । यहाँ युद्धमें जो राजालोग दुर्योधनका प्रिय करनेकी इच्छासे इकट्ठे हुए हैं, उन्हें भी मैं देख लूँ ॥२२-२३॥

अर्जुनके ऐसा कहनेपर भगवान्‌ने क्या किया संजय ?

संजय बोले—हे राजन् ! निद्राविजयी अर्जुनके द्वारा ऐसा कहनेपर अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णने दोनों सेनाओंके मध्यभागमें पितामह भीष्म और आचार्य द्रोणके सामने तथा सम्पूर्ण राजाओंके सामने रथको खड़ा करके कहा कि हे पार्थ ! इन इकट्ठे हुए कुरुवंशियोंको देखो ॥ २४-२५ ॥

* दुर्योधन यह जानता था कि द्रोण और भीष्म उभयपक्षपाती हैं, अतः उन्हें प्रसन्न करके अपने पक्षमें लानेके लिये दुर्योधन पहले जैसे द्रोणाचार्यके पास गया, वैसे ही यहाँ भीष्मको प्रसन्न करनेके लिये सभी वीरोंसे भीष्मकी रक्षा करनेके लिये कह रहा है ।

भगवान्के ऐसा कहनेपर क्या हुआ ?

तब वहाँ दोनों सेनाओंमें स्थित पिताओंको, पितामहोंको, आचार्योंको, मामाओंको, भाइयोंको, पुत्रोंको, पौत्रोंको तथा मित्रोंको, ससुरोंको और सुहृदोंको तथा इनके सिवाय अन्य कई सम्बन्धियोंको देखकर अर्जुन अत्यन्त कायरतासे युक्त होकर विषाद करते हुए बोले।

अर्जुन क्या बोले संजय ?

अर्जुन बोले—हे कृष्ण ! अपने मुख्य कुटुम्बियोंको युद्धके लिये सामने खड़े हुए देखकर मेरे सब अङ्ग शिथिल हो रहे हैं, मुख सूख रहा है, शरीरमें कँपकँपी आ रही है, रोंगटे खड़े हो रहे हैं, हाथसे गाण्डीव धनुष गिर रहा है और त्वचा भी जल रही है। मेरा मन भ्रमित हो रहा है और मैं खड़ा रहनेमें भी असमर्थ हो रहा हूँ ॥ २८—३० ॥

इसके सिवा और क्या देख रहे हो अर्जुन ?

हे केशव ! मैं शकुनोंको भी विपरीत देख रहा हूँ और युद्धमें इन कुटुम्बियोंको मारकर कोई लाभ भी नहीं देख रहा हूँ ॥ ३१ ॥

इन्हें मारे बिना राज्य कैसे मिलेगा ?

हे कृष्ण ! मैं न तो विजय चाहता हूँ, न राज्य चाहता हूँ और न सुखोंको ही चाहता हूँ। हे गोविन्द! हमलोगोंको राज्यसे, भोगोंसे अथवा जीनेसे भी क्या लाभ ? ॥ ३२ ॥

तुम विजय आदि क्यों नहीं चाहते ?

हम जिनके लिये राज्य, भोग और सुख चाहते हैं, वे ही ये सब-के-सब लोग अपने प्राणोंकी और धनकी आशाको छोड़कर युद्धके लिये खड़े हैं ॥ ३३ ॥

वे लोग कौन हैं अर्जुन ?

आचार्य, पिता, पुत्र, पितामह, मामा, ससुर, पौत्र, साले तथा और भी बहुत-से सम्बन्धी हैं ॥ ३४ ॥

ये ही लोग यदि तुम्हें मारनेके लिये तैयार हो जायँ तो ?

ये भले ही मुझे मार डालें, पर हे मधुसूदन ! मुझे त्रिलोकीका राज्य मिल जाय तो भी मैं इन्हें मारना नहीं चाहता, फिर पृथ्वीके राज्यके लिये तो कहना ही क्या है ! ॥ ३५ ॥

अरे भैया ! राज्य मिलनेपर तो बड़ी प्रसन्नता होती है, क्या तुम उसे भी नहीं चाहते ?

हे जनार्दन ! इन धृतराष्ट्रके सम्बन्धियोंको (जो कि हमारे भी सम्बन्धी हैं) मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी ? इन आततायियोंको मारनेसे तो हमें पाप ही लगेगा। इसलिये हे माधव ! इन धृतराष्ट्र-सम्बन्धियोंको हम मारना नहीं चाहते; क्योंकि अपने कुटुम्बियोंको मारकर हम कैसे सुखी हो सकते हैं ? ॥ ३६-३७ ॥

ये तो तुम्हें मारनेके लिये तैयार ही हैं, तुम्हीं पीछे क्यों हट रहे हो ?

महाराज ! इनका तो लोभके कारण विवेक-विचार लुप्त हो गया है, इसलिये ये दुर्योधन आदि कुलके नाशसे होनेवाले दोषको और मित्रद्रोहसे होनेवाले पापको नहीं देख रहे हैं, तो भी हे जनार्दन ! कुलके नाशसे होनेवाले दोषको जाननेवाले हमलोगोंको तो इस पापसे बचना ही चाहिये ॥ ३८-३९ ॥

यदि कुलका नाश हो भी जाय तो क्या होगा ?

कुलका नाश होनेपर सदासे चले आये कुलधर्म (कुल-परम्परा) नष्ट हो जाते हैं।

कुलधर्मके नष्ट होनेपर क्या होता है ?

कुलधर्मके नष्ट होनेपर सम्पूर्ण कुलमें अधर्म फैल जाता है ॥ ४० ॥

अधर्मके फैल जानेसे क्या होता है ?

अधर्मके फैल जानेसे कुलकी स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं।

स्त्रियोंके दूषित होनेसे क्या होता है ?

स्त्रियोंके दूषित होनेसे वर्णसंकर पैदा होता है ॥ ४१ ॥

वर्णसंकर पैदा होनेसे क्या होता है ?

यह वर्णसंकर कुलघातियों (कुलका नाश करनेवालों)-को और सम्पूर्ण कुलको नरकोंमें ले जानेवाला होता है तथा पिण्ड और पानी (श्राद्ध-तर्पण) न मिलनेसे उनके पितर भी अपने स्थानसे गिर जाते हैं। इन वर्णसंकर पैदा करनेवाले दोषोंसे कुलघातियोंके सदासे चलते आये कुलधर्म और जातिधर्म—दोनों नष्ट हो जाते हैं ॥ ४२-४३ ॥

जिनके कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, उन मनुष्योंका क्या होता है ?

हे जनार्दन! उन मनुष्योंको बहुत समयतक नरकोंमें निवास करना पड़ता है—ऐसा हम सुनते आये हैं ॥ ४४ ॥

युद्धके ऐसे परिणामको जब तुम पहलेसे ही जानते हो, तब फिर तुम युद्धके लिये तैयार ही क्यों हुए ?

यही तो बड़े आश्चर्य और खेदकी बात है कि हमलोग बड़ा भारी पाप करनेका निश्चय कर बैठे हैं जो कि राज्य और सुखके लोभसे अपने कुटुम्बियोंको मारनेके लिये तैयार हो गये हैं ! ॥ ४५ ॥

अब तुम क्या करना चाहते हो ?

मैं अस्त्र-शस्त्र छोड़कर युद्धसे हट जाऊँगा। यदि मेरे द्वारा ऐसा करनेपर भी दुर्योधन आदि मुझे मार दें तो वह मारना भी मेरे लिये बड़ा हितकारक होगा ॥४६॥

ऐसा कहनेके बाद अर्जुनने क्या किया संजय ?

संजय बोले—ऐसा कहकर शोकसे व्याकुल मनवाले अर्जुनने बाणसहित धनुषका त्याग कर दिया और वे रथके मध्य भागमें बैठ गये ॥ ४७ ॥

दूसरा अध्याय

रथके मध्यभागमें बैठ जानेपर अर्जुनकी क्या दशा हुई संजय ?

संजय बोले—हे राजन्! जो बड़े उत्साहसे युद्ध करने आये थे, पर कायरताके कारण जो विषाद कर रहे हैं और जिनके नेत्रोंमें इतने आँसू भर आये हैं कि देखना भी कठिन हो रहा है, ऐसे अर्जुनसे भगवान् मधुसूदन बोले कि हे अर्जुन! इस कुअवसरपर तुममें यह कायरता कहाँसे आ गयी ? यह कायरता न तो श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा धारण करनेयोग्य है, न स्वर्ग देनेवाली है और न कीर्ति करनेवाली ही है। इसलिये हे पार्थ! तुम इस नपुंसकताको अपनेमें मत आने दो; क्योंकि तुम्हारे-जैसे पुरुषमें इसका आना उचित नहीं है। अतः हे परंतप! हृदयकी इस तुच्छ दुर्बलताको छोड़कर तुम युद्धके लिये खड़ा हो जाओ ॥ १-३ ॥

ऐसा सुनकर अर्जुन क्या बोले संजय ?

अर्जुन बोले—महाराज! मैं मरनेसे थोड़े ही डरता हूँ, मैं तो मारनेसे डरता हूँ। हे अरिसूदन! ये भीष्म और द्रोण तो पूजा करनेयोग्य हैं। इसलिये हे मधुसूदन! ऐसे पूज्यजनोंको तो कटु शब्द भी नहीं कहना चाहिये, फिर उनके साथ मैं बाणोंसे युद्ध कैसे करूँ ? ॥ ४ ॥

अरे भैया! केवल कर्तव्यपालनके सामने और भी कुछ देखा जाता है क्या ?

महाराज! महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर मैं इस मनुष्यलोकमें भिक्षाके अन्नसे जीवन-निर्वाह करना भी श्रेष्ठ समझता हूँ। यदि आपके कथनानुसार मैं युद्ध भी करूँ तो गुरुजनोंको मारकर उनके खूनसे लथपथ तथा धनकी कामनाकी मुख्यतावाले भोगोंको ही तो भोगूँगा! इससे मुझे शान्ति थोड़े ही मिलेगी! ॥ ५ ॥

फिर तुम क्या करना ठीक समझते हो ?

हे भगवन्! हमलोग यह नहीं समझ पा रहे हैं कि युद्ध करना ठीक है या युद्ध न करना ठीक है तथा युद्धमें हम उन्हें जीतेंगे या वे हमें जीतेंगे। सबसे बड़ी बात तो यह है कि भगवन्! हम जिनको मारकर जीना भी नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्रके सम्बन्धी हमारे सामने खड़े हैं। फिर इन्हें हम कैसे मारें ? ॥ ६ ॥

जब तुम निर्णय नहीं कर सकते, तब फिर तुमने क्या उपाय सोचा ?

हे महाराज! कायरताके दोषसे मेरा क्षात्र-स्वभाव दब गया है और धर्मका निर्णय करनेमें मेरी बुद्धि काम नहीं कर रही है, इसलिये जिससे मेरा निश्चित कल्याण हो; वह बात मेरे लिये कहिये। मैं आपका शिष्य हूँ और आपकी ही शरण हूँ। आप मुझे शिक्षा दीजिये। परंतु महाराज! आपने पहले जैसे युद्ध करनेके लिये कह दिया था, वैसे फिर न कहें; क्योंकि युद्धके परिणाममें मुझे यहाँका धन-धान्यसे सम्पन्न और निष्कण्टक राज्य मिल जाय अथवा देवताओंका आधिपत्य मिल जाय, तो भी मेरा यह इन्द्रियोंको सुखानेवाला शोक दूर हो जाय—ऐसा मैं नहीं देखता ॥ ७-८ ॥

फिर क्या हुआ संजय ?

संजय बोले—हे राजन् ! निद्राविजयी अर्जुन अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णसे 'मैं युद्ध नहीं करूँगा'—ऐसा स्पष्ट कहकर चुप हो गये ॥ ९ ॥

अर्जुनके चुप होनेपर भगवान्‌ने क्या कहा ?

अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्ण दोनों सेनाओंके मध्यभागमें विषाद करते हुए अर्जुनसे मुस्कराते हुए कहने लगे—तुम शोक न करनेयोग्यके लिये शोक करते हो और पण्डिताईकी-सी बड़ी-बड़ी बातें बघारते हो; परंतु जो मर गये हैं, उनके लिये और जो जीते हैं, उनके लिये भी पण्डितलोग शोक नहीं करते ॥ १०-११ ॥

शोक क्यों नहीं करते भगवन् !

मैं, तुम और ये राजालोग पहले नहीं थे—यह बात नहीं है और हम सब आगे नहीं रहेंगे—यह बात भी नहीं है अर्थात् हम सब पहले भी थे और आगे भी रहेंगे—ऐसा जानकर पण्डितलोग शोक नहीं करते ॥ १२ ॥

इस बातको कैसे समझा जाय ?

अरे भैया ! देहधारीके इस शरीरमें जैसे कुमार, युवा और वृद्धावस्था होती है; ऐसे ही देहधारीको दूसरे शरीरोंकी प्राप्ति होती है । इस विषयमें पण्डितलोग मोहित नहीं होते ॥ १३ ॥

कुमार आदि अवस्थाएँ शरीरकी होती हैं, यह तो ठीक है, पर अनुकूल-प्रतिकूल, सुखदायी-दुःखदायी पदार्थ सामने आ जायँ, तब क्या करें भगवन् ?

हे कुन्तीनन्दन ! इन्द्रियोंके जितने विषय (जड पदार्थ) हैं, वे सभी अनुकूलता और प्रतिकूलताके द्वारा सुख और दुःख देनेवाले हैं; परंतु वे आने-जानेवाले और अनित्य ही हैं । इसलिये हे अर्जुन ! उन्हें तुम सहन करो अर्थात् उनमें तुम निर्विकार रहो ॥ १४ ॥

उन्हें सहनेसे, उनमें निर्विकार रहनेसे क्या लाभ होता है ?

हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! सुख-दुःखमें समान (निर्विकार) रहनेवाले जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रियोंके विषय (जड पदार्थ) सुखी-दुःखी नहीं करते, वह स्वतःसिद्ध अमरता-(परमात्माकी प्राप्ति)का अनुभव कर लेता है ॥ १५ ॥

वह अमरताका अनुभव कैसे कर लेता है ?

सत् (चेतनतत्त्व)की सत्ताका कभी अभाव नहीं होता और असत्(जड पदार्थों)की सत्ता ही नहीं है—इन दोनोंके तत्त्वको तत्त्वदर्शी (ज्ञानी) महापुरुष जान लेते हैं, इसलिये वे अमर हो जाते हैं ॥ १६ ॥

वह सत् (अविनाशी) क्या है भगवन् ?

जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उसे तुम अविनाशी समझो । इस अविनाशीका विनाश कोई भी नहीं कर सकता ॥ १७ ॥

असत् (अविनाशी) क्या है भगवन् ?

इस अविनाशी, अप्रमेय और नित्य रहनेवाले शरीरीके ये सब शरीर अन्तवाले हैं, विनाशी हैं । इसलिये हे अर्जुन ! तुम अपने युद्धरूप कर्तव्य-कर्मका पालन करो ॥ १८ ॥

युद्धमें तो मरना-मारना ही होता है, इसलिये यदि शरीरीको मरने-मारनेवाला मानें, तो ?

जो इस अविनाशी शरीरीको शरीरोंकी तरह मरनेवाला मानता है और जो इसे मारनेवाला मानता है, वे दोनों ही ठीक नहीं जानते; क्योंकि यह न किसीको मारता है और न स्वयं मारा जाता है ॥ १९ ॥

यह शरीरी मरनेवाला क्यों नहीं है भगवन् ?

यह शरीरी न तो कभी पैदा होता है और न कभी मरता ही है । यह पैदा होकर फिर होनेवाला नहीं है । यह जन्मरहित, नित्य-निरन्तर रहनेवाला, शाश्वत और अनादि है । शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता ॥ २० ॥

ऐसा जाननेसे क्या होगा ?

हे पार्थ ! जो मनुष्य इस शरीरीको अविनाशी, नित्य जन्मरहित और अव्यय जानता है, वह कैसे किसीको मार सकता है और कैसे किसीको मरवा सकता है ? ॥ २१ ॥

तो फिर मरता कौन है भगवन् ?

अरे भैया ! शरीर मरता है । मनुष्य जैसे पुराने कपड़ोंको छोड़कर नये कपड़ोंको धारण करता है, ऐसे ही यह शरीरी पुराने शरीरोंको छोड़कर दूसरे नये शरीरोंमें चला जाता है ॥ २२ ॥

नये-नये शरीरोंको धारण करनेसे इसमें कोई-न-कोई विकार तो आता ही होगा ?

नहीं, इसमें कभी कोई विकार नहीं आता; क्योंकि इस शरीरीको शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, जल गीला नहीं कर सकता और वायु सुखा नहीं सकती ॥ २३ ॥

यह शस्त्र आदिसे कटता, जलता, गलता और सूखता क्यों नहीं ?

यह शरीरी काटा भी नहीं जा सकता, जलाया भी नहीं जा सकता, गीला भी नहीं किया जा सकता और सुखाया भी नहीं जा सकता; क्योंकि यह नित्य रहनेवाला, सबमें परिपूर्ण, स्थिर स्वभाववाला, अचल और अनादि है ॥ २४ ॥

यह देही इन्द्रिय आदिका विषय नहीं है अर्थात् यह प्रत्यक्ष नहीं दीखता। यह अन्तःकरणका भी विषय नहीं है और इसमें कोई विकार भी नहीं होता। इसलिये इस देहीको ऐसा जानकर तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये ॥ २५ ॥

इस शरीरीको निर्विकार माननेपर तो शोक नहीं हो सकता, पर इसे विकारी माननेपर तो शोक हो ही सकता है ?

हे महाबाहो! यदि तुम इस शरीरीको नित्य पैदा होनेवाला और नित्य मरनेवाला भी मान लो तो भी तुम्हें इसका शोक नहीं करना चाहिये; क्योंकि जो पैदा हुआ है वह अवश्य मरेगा और जो मर गया है, वह अवश्य पैदा होगा—इस नियमको कोई हटा नहीं सकता। अतः शरीरोंको लेकर तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये ॥ २६-२७ ॥

शरीरोंको लेकर शोक क्यों नहीं करना चाहिये भगवन् ?

हे भारत! सभी प्राणी जन्मसे पहले अप्रकट थे और मरनेके बाद फिर अप्रटक हो जायँगे, केवल बीचमें प्रकट दीखते हैं; अतः इसमें शोक करनेकी बात ही कौन-सी है ? ॥ २८ ॥

तो फिर शोक क्यों होता है ?

न जाननेसे।

जानना कैसे हो ?

वह जानना अर्थात् अनुभव करना इन्द्रिय-मन-बुद्धिसे नहीं होता, इसलिये इस शरीरीको देखना, कहना, सुनना सब आश्चर्यकी तरह ही होता है। अतः इसे सुनकर कोई भी नहीं जान सकता अर्थात् इसका अनुभव तो स्वयंसे ही होता है ॥ २९ ॥

तो फिर वह कैसा है ?

हे भरतवंशी अर्जुन! सबकी देहमें रहनेवाला वह देही नित्य ही अवध्य है—ऐसा जानकर तुम्हें किसी भी प्राणीके लिये शोक नहीं करना चाहिये ॥ ३० ॥

शोक दूर करनेकी तो आपने बहुत-सी बातें बता दीं, पर मुझे जो पापका भय लग रहा है, वह कैसे दूर हो ?

अपने धर्म (क्षात्र धर्म)को देखकर भी तुम्हें भयभीत नहीं होना चाहिये; क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्ममय युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारक कर्म नहीं है ॥ ३१ ॥

तो क्या क्षत्रियको युद्ध करते ही रहना चाहिये ?

नहीं भैया! जो युद्ध आप-से-आप प्राप्त हो जाय, सामने आ जाय, वह युद्ध तो क्षत्रियके लिये स्वर्ग जानेका खुला दरवाजा है। इसलिये हे पार्थ! ऐसा युद्ध जिन क्षत्रियोंको प्राप्त होता है, वे ही वास्तवमें सुखी हैं* ॥ ३२ ॥

ऐसा आप-से-आप प्राप्त युद्धको मैं न करूँ, तो ?

यदि तुम ऐसे धर्ममय युद्धको नहीं करोगे, तो तुम्हारे क्षात्र-धर्मका और तुम्हारी कीर्तिका नाश होगा तथा तुम्हें कर्तव्यपालन न करनेका पाप भी लगेगा ॥ ३३ ॥

---

* भोगोंका मिलना कोई सुख नहीं है, प्रत्युत वह तो महान् दुःखोंका कारण है (५। २२) वास्तविक सुख वही है, जो दुःखसे रहित हो। दुःखसे रहित सुख यही है कि स्वधर्मरूप कर्तव्य-कर्म करनेका अवसर मिल जाय। अतः जिनको कर्तव्यपालनका अवसर प्राप्त हुआ है, वे ही वास्तवमें सुखी और भाग्यशाली हैं।

अपकीर्तिसे क्या होगा ?

अरे भैया ! तुम युद्ध नहीं करोगे तो सभी मनुष्य तुम्हारी बहुत दिनोंतक रहनेवाली अपकीर्तिका कथन करेंगे । वह अपकीर्ति आदरणीय, सम्माननीय मनुष्यके लिये मृत्युसे भी बढ़कर दुःखदायिनी होती है* ॥ ३४ ॥

और क्या होगा भगवन् ?

जिन भीष्म, द्रोणाचार्य आदि महारथियोंकी दृष्टिमें तुम श्रेष्ठ माने गये हो, उनकी दृष्टिमें तुम तुच्छताको प्राप्त हो जाओगे; और वे महारथीलोग तुम्हें मरनेके भयके कारण युद्धसे उपरत हुआ मानेंगे ॥ ३५ ॥

फिर क्या होगा भगवन् ?

फिर तो बहुत ही भयंकर बात होगी कि तुम्हारे शत्रुओं-को वैरभाव निकालनेका अवसर मिल जायगा । वे तुम्हारी सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए तुम्हें न कहनेयोग्य बहुत-से वचन कहेंगे । उससे बढ़कर और दुःख क्या होगा ! ॥ ३६ ॥

और यदि मैं युद्ध करूँ, तो ?

युद्ध करते हुए यदि तुम मारे जाओगे तो तुम्हें स्वर्ग मिल जायगा और यदि युद्धमें तुम जीत जाओगे तो तुम्हें पृथ्वीका राज्य मिल जायगा । अतः हे कुन्तीनन्दन ! तुम युद्धका निश्चय करके खड़ा हो जाओ ॥ ३७ ॥

पर युद्ध कैसे करना चाहिये भगवन् ?

तुम जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखमें समबुद्धि रखकर युद्ध करो । इस प्रकार युद्ध करनेसे तुम्हें पाप नहीं लगेगा ॥ ३८ ॥

समबुद्धि कैसे रखी जाय भगवन् ?

इस समबुद्धिकी बात मैंने पहले सांख्ययोगमें कह दी है । अब तुम इसे कर्मयोगके विषयमें सुनो ।

इस समबुद्धिकी महिमा क्या है ?

१. इस समबुद्धिसे युक्त हुए तुम सम्पूर्ण कर्मोंके बन्धनसे छूट जाओगे, २. इस समबुद्धिके आरम्भमात्रका भी नाश नहीं होता, ३. इसके अनुष्ठानका कभी उल्टा फल नहीं होता और ४. इसका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान जन्म-मरणरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है ॥ ३९-४० ॥

जिस समबुद्धिकी आपने इतनी महिमा गायी है, उसे प्राप्त करनेका उपाय क्या है ?

इस समबुद्धिकी प्राप्तिके विषयमें व्यवसायात्मिका (एकमात्र परमात्मप्राप्तिके निश्चयवाली) बुद्धि एक ही होती है; परंतु जिनका परमात्मप्राप्तिका एक निश्चय नहीं है, ऐसे मनुष्योंकी बुद्धियाँ (निश्चय) अनन्त और बहुशाखाओंवाली होती है ॥ ४१ ॥

परमात्मप्राप्तिके निश्चयसे रहित मनुष्योंकी बुद्धियाँ अनन्त क्यों होती हैं ?

१. जो कामनाओंमें तन्मय हो रहे हैं, २. स्वर्गको ही श्रेष्ठ माननेवाले हैं, ३. वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मोंमें ही प्रीति रखनेवाले हैं तथा ४. भोगोंके सिवा और कुछ है ही नहीं—ऐसा कहनेवाले हैं, वे बेसमझ मनुष्य इस पुष्पित (दिखाऊ शोभायुक्त) वाणीको कहा करते हैं, जो कि जन्मरूप कर्मफलको देनेवाली है तथा भोग और ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये बहुत-सी क्रियाओंका वर्णन करनेवाली है ॥ ४२-४३ ॥

ऐसे मनुष्य एक निश्चय कर सकते हैं क्या ?

भोगोंका वर्णन करनेवाली पुष्पित वाणीसे जिनका चित्त हर लिया गया है अर्थात् भोगोंकी ओर खिंच गया है और जो भोग तथा ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त है, उन मनुष्योंकी परमात्मामें एक निश्चयवाली बुद्धि नहीं होती ॥ ४४ ॥

भोग और ऐश्वर्यकी आसक्तिसे बचनेके लिये मुझे क्या करना चाहिये भगवन् ?

वेद तीनों गुणोंके कार्य (संसार) का वर्णन करनेवाले हैं, इसलिये हे अर्जुन ! तुम वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मोंसे रहित हो जाओ, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंसे रहित हो जाओ और नित्य-निरन्तर रहनेवाले परमात्मतत्त्वमें स्थित हो जाओ । तुम अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिकी और प्राप्त वस्तुकी रक्षाकी भी चिन्ता मत करो तथा केवल परमात्माके परायण हो जाओ अर्थात् एक परमात्म-प्राप्तिका ही लक्ष्य रखो ॥ ४५ ॥

---

* मरनेमात्रसे अपकीर्ति नहीं होती, क्योंकि मरना तो प्रत्येकका होता ही है । अपकीर्ति तो अपने कर्तव्यसे च्युत होनेसे ही होती है ।

ऐसा कोई कर ले तो उसकी क्या स्थिति होती है ?

जैसे बहुत बड़े सरोवरके प्राप्त होनेपर छोटे सरोवरका कोई महत्त्व नहीं रहता, कोई आवश्यकता नहीं रहती, ऐसे ही वेदों और शास्त्रोंके तात्पर्यको जाननेवाले तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषकी दृष्टिमें संसारका, भोगोंका कोई महत्त्व नहीं रहता ॥ ४६ ॥

मेरे लिये ऐसी स्थितिको प्राप्त करनेका कोई उपाय है ?

हाँ, कर्मयोग है। तुम्हारा कर्तव्य कर्म करनेमें ही अधिकार है, फलमें कभी नहीं अर्थात् तुम फलकी इच्छा न रखकर अपने कर्तव्यका पालन करो। तुम कर्मफलका हेतु भी मत बनो अर्थात् जिनसे कर्म किया जाता है, उन शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदिमें भी ममता न रखो।

तो फिर मैं कर्म करूँ ही क्यों ?

कर्म न करनेमें भी तुम्हारी आसक्ति नहीं होनी चाहिये ॥ ४७ ॥

तो फिर कर्म करूँ कैसे ?

सिद्धि-असिद्धिमें सम होना 'योग' कहलाता है, इसलिये हे धनंजय ! तुम आसक्तिका त्याग करके योग (समता)में स्थित होकर कर्म करो ॥ ४८ ॥

यदि योग (समता)में स्थित होकर कर्म न करूँ तो ?

इस समताके बिना सकाम कर्म अत्यन्त ही निकृष्ट हैं। अतः हे धनंजय ! तुम समबुद्धिका ही आश्रय लो; क्योंकि कर्मफलकी इच्छा करनेवाले कृपण हैं अर्थात् कर्मफलके गुलाम हैं ॥ ४९ ॥

कर्मफलकी इच्छावाले कृपण हैं, तो फिर श्रेष्ठ कौन है ?

समबुद्धिसे युक्त मनुष्य श्रेष्ठ है। समबुद्धिसे युक्त मनुष्य इस जीवित अवस्थामें ही पाप-पुण्यसे रहित हो जाता है। इसलिये तुम समतामें ही स्थित हो जाओ; क्योंकि कर्मोंमें समता ही कुशलता है ॥ ५० ॥

कर्मोंमें समता रखनेसे क्या होगा भगवन् ?

समतासे युक्त मनीषी कर्मजन्य फलका त्याग करके और जन्मरूप बन्धनसे रहित होकर निर्विकार पदको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ५१ ॥

यह मैं कब समझूँ कि मैंने कर्मजन्य फलका त्याग कर दिया ?

जब तुम्हारी बुद्धि मोहरूपी दलदलको तर जायगी, तब तुम्हें सुने हुए और सुननेमें आनेवाले (भुक्त और अभुक्त) भोगोंसे वैराग्य हो जायगा ॥ ५२ ॥

वैराग्य होनेपर फिर समताकी प्राप्ति कब होगी ?

शास्त्रोंके अनेक सिद्धान्तोंसे, मतभेदोंसे विचलित हुई तुम्हारी बुद्धि जब संसारसे सर्वथा विमुख होकर परमात्मामें अचल हो जायगी, तब तुम्हें योग (साध्यरूप समता)की प्राप्ति हो जायगी ॥ ५३ ॥

अर्जुन बोले—समताको प्राप्त हुए स्थिर बुद्धिवाले मनुष्यके क्या लक्षण होते हैं ?

भगवान् बोले—हे पार्थ ! जब साधक मनमें रहनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग कर देता है और अपने-आपसे अपने-आपमें ही संतुष्ट रहता है तब वह स्थितप्रज्ञ (स्थिर बुद्धिवाला) कहलाता है ॥५४-५५॥

वह स्थितप्रज्ञ बोलता कैसे है ?

भैया ! उसका बोलना साधारण क्रियारूपसे नहीं होता, प्रत्युत भावरूपसे होता है। वर्तमानमें व्यवहार करते हुए दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता और सुखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें स्पृहा नहीं होती तथा जो राग, भय और क्रोधसे रहित हो गया है, वह मननशील मनुष्य स्थितप्रज्ञ कहलाता है ॥५६॥

सब जगह आसक्तिरहित हुआ जो मनुष्य प्रारब्धके अनुसार अनुकूल परिस्थितिके आनेपर अभिनन्दित नहीं होता और प्रतिकूल परिस्थितिके आनेपर द्वेष नहीं करता उसकी बुद्धि स्थिर हो गयी है अर्थात् पहले उसने 'मुझे परमात्माकी प्राप्ति ही करनी है'—ऐसा जो निश्चय किया था, वह अब सिद्ध हो गया है ॥ ५७ ॥

वह स्थितप्रज्ञ बैठता कैसे है भगवन् ?

जैसे कछुआ अपने चार पैर, गरदन और पूँछ—इन छहों अङ्गोंको समेटकर बैठता है, ऐसे ही जिस समय वह कर्मयोगी सम्पूर्ण इन्द्रियों और मनको अपने-अपने विषयोंसे समेट लेता है, हटा लेता है, उस समय उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है ॥ ५८ ॥

इन्द्रियोंको समेटनेकी वास्तविक पहचान क्या है ?

इन्द्रियोंको अपने विषयोंसे हटानेवाले मनुष्योंके भी विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, पर रसबुद्धि (सुख-भोग-बुद्धि) निवृत्त नहीं होती; परंतु परमात्माकी प्राप्ति होनेसे इस स्थितप्रज्ञ मनुष्यकी रसबुद्धि भी निवृत्त हो जाती है ॥ ५९ ॥

रसबुद्धि रहनेसे क्या हानि होती है ?

हे कुन्तीनन्दन ! रसबुद्धि रहनेसे साधनपरायण विवेकी मनुष्यकी भी प्रमथनशील इन्द्रियाँ उनके मनको बलपूर्वक विषयोंकी ओर खींच ले जाती हैं ॥ ६० ॥

इस रसबुद्धिको दूर करनेके लिये क्या करना चाहिये भगवन् ?

कर्मयोगी साधक सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके मेरे परायण होकर बैठे अर्थात् मेरे भरोसे निश्चिन्त हो जाय। इस तरह जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हैं, उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है ॥ ६१ ॥

आपके परायण न होनेसे क्या होगा ?

मेरे परायण न होनेसे विषयों (भोगों) का चिन्तन होगा।

विषयोंके चिन्तनसे क्या होगा ?

मनुष्यकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जायगी।

आसक्ति होनेसे क्या होगा ?

उन विषयों (भोगों) को प्राप्त करनेकी कामना पैदा हो जायगी।

कामना पैदा होनेसे क्या होगा ?

कामनाकी पूर्तिमें बाधा पड़नेपर क्रोध आ जायगा ॥ ६२ ॥

क्रोध आनेसे क्या होगा ?

क्रोधके आनेसे सम्मोह हो जायगा अर्थात् मूढ़ता छा जायगी।

मूढ़ता छा जानेसे क्या होगा ?

'मैं साधक हूँ तो मुझे ऐसा व्यवहार करना चाहिये, ऐसा बोलना चाहिये' आदि जो पहले विचार किया था, उसकी स्मृति नष्ट हो जायगी अर्थात् उसकी याद नहीं रहेगी।

स्मृति नष्ट होनेपर क्या होगा ?

बुद्धि (नया विचार करनेकी शक्ति) नष्ट हो जायगी अर्थात् इस समय मुझे क्या करना चाहिये और क्या नहीं—यह विवेक-शक्ति दब जायगी।

बुद्धि नष्ट होनेसे क्या होगा ?

उस मनुष्यका पतन हो जायगा ॥ ६३ ॥

स्थितप्रज्ञके बैठनेकी बात तो आपने बता दी, अब यह बताइये कि वह चलता कैसे है ?

भैया ! उसका चलना क्रियारूपसे नहीं, भावरूपसे होता है। वशीभूत अन्तःकरणवाला साधक राग-द्वेषसे रहित और अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका सेवन करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त हो जाता है ॥ ६४ ॥

अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होनेपर क्या होता है ?

उस प्रसन्नचित्तवाले मनुष्यके सम्पूर्ण दुःखोंका नाश हो जाता है और उसकी बुद्धि बहुत शीघ्र परमात्मामें स्थिर हो जाती है ॥ ६५ ॥

बुद्धि स्थिर किसकी नहीं होती ?

जिनका मन और इन्द्रियाँ संयमित नहीं हैं, ऐसे मनुष्यकी व्यवसायात्मिका (एक निश्चयवाली) बुद्धि नहीं होती। व्यवसायात्मिका बुद्धि न होनेसे उसकी 'मुझे केवल अपने कर्तव्यका पालन करना है'—ऐसी भावना, ऐसा विचार नहीं होता। ऐसी भावना न होनेसे अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन न होनेसे उसे शान्ति नहीं मिलती। फिर अशान्त मनुष्को सुख भी कैसे मिल सकता है ? ॥ ६६ ॥

जो संसारी (भोगी) है, उसकी बुद्धिके स्थिर होनेकी तो सम्भावना ही नहीं है। पर जो साधक है, उसकी बुद्धि स्थिर न होनेमें क्या कारण है ?

कारण यह है कि जैसे जलमें चलती हुई नावको वायु हर लेती है, ऐसे ही साधककी अपने-अपने विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे एक इन्द्रिय भी मनके साथ हो जाती है तो उस इन्द्रियके साथ मिला हुआ वह अकेला मन ही उस साधककी बुद्धिको हर लेता है ॥ ६७ ॥

तो फिर बुद्धि स्थिर किसकी होती है ?

हे महाबाहो ! जिसकी इन्द्रियाँ सब प्रकारसे वशमें हैं अर्थात् जिसके मनसे भी विषयोंका चिन्तन नहीं होता, उसीकी बुद्धि स्थिर होती है ॥ ६८ ॥

जिसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, ऐसे साधारण मनुष्यमें और जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हैं, ऐसे संयमी मनुष्यमें क्या अन्तर है ?

साधारण मनुष्योंकी जो रात है अर्थात् जो परमात्म-प्राप्तिके विषयमें बिल्कुल सोये हुए हैं, उस रातमें संयमी मनुष्य जागता है अर्थात् परमात्मतत्त्वका अनुभव करता है और जिसमें साधारण मनुष्य जागते हैं अर्थात् भोग भोगने और संग्रह करनेमें बड़े सावधान, सजग रहते हैं, वह तो परमात्मतत्त्वको जाननेवाले मननशील मनुष्यकी दृष्टिमें रात है, अँधेरा है ॥ ६९ ॥

तो फिर उस संयमी मनुष्यके सामने भोग-पदार्थ आते ही नहीं होंगे ?

आते हैं; परंतु जैसे अपनी मर्यादामें अटल रहनेवाले और चारों ओरसे जलद्वारा परिपूर्ण समुद्रमें सम्पूर्ण नदियोंका जल आकर मिल जाता है, पर वह समुद्रमें कोई विकार पैदा नहीं करता, ऐसे ही उस संयमी मनुष्यके सामने संसारके सभी भोग आते हैं, पर वे उसमें कोई विकार पैदा नहीं करते। ऐसा मनुष्य ही परम-शान्ति (परमात्मतत्त्व) को प्राप्त होता है, भोगोंकी कामनावाला नहीं ॥ ७० ॥

भोगोंकी कामनावालोंको भी शान्तिकी प्राप्ति कैसे हो ?

उन्हें तो त्यागसे ही शान्ति प्राप्त होगी। जो मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंका तथा स्पृहाका त्याग करके अहंता-ममतासे रहित होकर विचरता है, उसे शान्ति प्राप्त हो जाती है ॥ ७१ ॥

अहंता-ममतासे रहित होनेपर उसकी स्थिति कहाँ होती है ?

उसकी स्थिति ब्रह्ममें होती है। हे पार्थ ! यही ब्राह्मी स्थिति है। इसे प्राप्त होनेपर मनुष्य कभी मोहित नहीं होता। यदि मनुष्य इस ब्राह्मी स्थितिमें अन्तकालमें भी स्थित हो जाय अर्थात् अन्तकालमें भी अहंता-ममता-रहित हो जाय तो वह निर्वाण (शान्त) ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ ७२ ॥

तीसरा अध्याय

अर्जुन बोले—हे जनार्दन ! आपके मतमें जब समबुद्धि ही श्रेष्ठ है, तब फिर हे केशव ! आप मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं ? तथा आप कभी कहते हैं—कर्म करो और कभी कहते हैं—समबुद्धिका आश्रय लो। आपके इन मिले हुए वचनोंसे मेरी बुद्धि मोहित-सी हो रही है। इसलिये एक निश्चित बात कहिये, जिससे मैं कल्याणको प्राप्त हो जाऊँ ॥ १-२ ॥

भगवान् बोले—हे निष्पाप अर्जुन ! इस मनुष्य-लोकमें दो प्रकारसे होनेवाली निष्ठा मेरेद्वारा पहले कही गयी है। उनमें सांख्ययोगियोंकी निष्ठा ज्ञानयोगसे और योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे होती है अर्थात् ज्ञानयोग और कर्मयोगसे एक ही समबुद्धिकी प्राप्ति होती है ॥३॥

उस समताकी प्राप्तिके लिये क्या कर्म करना आवश्यक है ?

हाँ, आवश्यक है; क्योंकि मनुष्य न तो कर्मोंका आरम्भ किये बिना निष्कर्मताको प्राप्त होता है और न कर्मोंके त्यागसे सिद्धिको ही प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि उस समताकी प्राप्ति कर्मोंका आरम्भ किये बिना भी नहीं होती और कर्मोंके त्यागसे भी नहीं होती ॥४॥

कर्मोंके त्यागसे क्यों नहीं होती ?

कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता; क्योंकि प्रकृतिजन्य गुणस्वभावके परवश हुए प्राणियोंसे कर्म कराते हैं तो फिर प्राणी कर्मोंका त्याग कैसे कर सकता है ? ॥५॥

यदि मनुष्य चुपचाप बैठा रहे, कुछ भी करे नहीं तो क्या यह कर्मोंका त्याग नहीं हुआ ?

नहीं, जो मनुष्य चुपचाप बैठकर अर्थात् इन्द्रियोंको केवल बाहरसे रोककर मनसे विषयोंका चिन्तन करता

रहता है, उसका यह चुपचाप बैठना कर्मोंका त्याग करना नहीं हुआ; प्रत्युत उस मूढ़ बुद्धिवालेका यह चुपचाप बैठना मिथ्याचार है ॥ ६ ॥

आपने जो समबुद्धि बतायी, उसकी प्राप्ति न तो कर्मोंके किये बिना होती है, न कर्मोंके त्यागसे होती है और न बाहरसे चुपचाप बैठकर मनसे विषयोंका चिन्तन करते रहनेसे होती है, तो फिर उसकी प्राप्ति कैसे होती है ?

हे अर्जुन ! जो मनुष्य मनसे इन्द्रियोंका नियमन करके आसक्तिरहित होकर इन्द्रियोंके द्वारा कर्मयोग (निष्कामभावपूर्वक अपने कर्तव्य-कर्मों)का आचरण करता है, वह श्रेष्ठ है अर्थात् उसे समबुद्धिकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिये तुम शास्त्रविधिसे नियत किये हुए कर्तव्य-कर्मको करो; क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा उपर्युक्त विधिसे कर्तव्य-कर्म करना श्रेष्ठ है। और तो क्या, बिना कर्म किये तुम्हारे शरीरका निर्वाह भी नहीं होगा ॥ ७-८ ॥

कर्मोंको करनेसे बन्धन तो नहीं होगा भगवन् ?

नहीं, यज्ञ (कर्तव्य-कर्म)को केवल अपने लिये करनेसे ही मनुष्य कर्मोंसे बँधता है। इसलिये हे कुन्ती-नन्दन ! तुम आसक्तिरहित होकर यज्ञ (कर्तव्य-कर्म)-को केवल कर्तव्य-परम्परा सुरक्षित रखनेके लिये ही करो ॥ ९ ॥

मैं कर्म करूँ ही क्यों ?

अरे भैया ! सर्गके आरम्भमें पितामह ब्रह्माजीने भी य. (कर्तव्य-कर्मोंके)सहित मनुष्योंकी रचना करके उनसे यही कहा था कि तुमलोग इस कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञके द्वारा बुद्धिको प्राप्त होओ। यह यज्ञ तुमलोगोंको कर्तव्य-पालनकी आवश्यक सामग्री प्रदान करनेवाला हो ॥ १० ॥

यह यज्ञ हम किस भावसे करें पितामह ?

इसके द्वारा तुमलोग देवताओंकी वृद्धि (उन्नति) करो और वे देवतालोग तुम्हारी वृद्धि करें। इस तरह एक-दूसरेकी वृद्धि करनेसे अर्थात् अपने लिये कर्म न करके केवल दूसरोंके हितके लिये ही सब कर्म करनेसे तुमलोग परमश्रेय (परमात्मा)को प्राप्त हो जाओगे ॥ ११ ॥

पितामह ! यदि हम यज्ञ न करें तो ?

तुम्हारे कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञके द्वारा वृद्धिको प्राप्त हुए देवता तुमलोगोंको बिना माँगे ही कर्तव्य-पालनकी आवश्यक सामग्री देते रहेंगे; परंतु यदि तुमलोग उस कर्तव्य-पालनकी सामग्रीसे देवताओंकी पुष्टि न करके स्वयं ही सुख-आराम भोगोगे तो तुम चोर बन जाओगे ॥ १२ ॥

इस दोषसे कैसे बचा जाय भगवन् ?

भैया ! केवल दूसरोंके हितके लिये ही कर्तव्य-कर्म करनेसे यज्ञशेषके रूपमें समताका अनुभव होता है। उस समताका अनुभव करनेवाले श्रेष्ठ मनुष्य सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाते हैं; परंतु जो केवल अपने सुख-आरामके लिये ही सब कर्म करते हैं, वे पापीलोग तो केवल पाप ही कमाते हैं ॥ १३ ॥

भगवन् ! अभी आपने कर्तव्य-कर्मके विषयमें ब्रह्माजीकी आज्ञा सुनायी, पर कर्तव्य-कर्मके विषयमें आपका क्या कहना है ?

इस विषयमें मेरा यही कहना है कि सृष्टि-चक्रके संचालनके लिये भी कर्तव्य-कर्म अवश्य करने चाहिये; क्योंकि सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे पैदा होते हैं और अन्न वर्षासे पैदा होता है। वर्षा यज्ञ (कर्तव्यपालन) से होती है और यज्ञ निष्कामभावसे किये गये कर्मोंसे होता है। कर्तव्य-कर्म करनेकी विधि वेद बताते हैं और वेद परमात्मासे प्रकट होते हैं। इसलिये सर्वव्यापी परमात्मा यज्ञ (कर्तव्य-कर्म)में नित्य विद्यमान रहते हैं अर्थात् उनकी प्राप्ति अपने कर्तव्यका पालन करनेसे ही होती है। अतः सृष्टि-चक्रकी सुरक्षाके लिये अपने-अपने कर्तव्यका पालन करना मनुष्योंके लिये बहुत आवश्यक है ॥ १४-१५ ॥

यदि कोई इस सृष्टि-चक्रकी सुरक्षाके लिये अपने कर्तव्यका पालन न करे, तो ?

हे पार्थ ! जो मनुष्य इस सृष्टि-चक्रकी परम्पराको सुरक्षित रखनेके लिये कर्तव्य-कर्म नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोग भोगनेवाला तथा पापमय जीवन बितानेवाला मनुष्य संसारमें व्यर्थ ही जीता है अर्थात् वह मर जाय तो अच्छा है ॥ १६ ॥

कोई आसक्तिरहित होकर केवल आपकी आज्ञाके अनुसार सृष्टि-चक्रकी परम्परा सुरक्षित रखनेके लिये ही कर्तव्य-कर्मका पालन करे, तो ?

वह अपने-आपमें ही रमण करनेवाला, अपने-आपमें ही तृप्त और अपने-आपमें ही संतुष्ट हो जाता है। फिर उसके लिये कुछ भी करना शेष नहीं रहता; क्योंकि उस महापुरुषका इस संसारमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्म न करनेसे ही तथा उसका किसी भी प्राणीके साथ कोई भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता ॥ १७-१८ ॥

क्या मैं भी ऐसा बन सकता हूँ भगवन् ?

हाँ, बन सकते हो। तुम निरन्तर आसक्तिरहित होकर अपने कर्तव्यका अच्छी तरह पालन करो; क्योंकि आसक्तिरहित होकर कर्तव्य-कर्म करनेसे मनुष्यको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ॥ १९ ॥

पहले आसक्तिरहित होकर क्या किसीने कर्म किये हैं और क्या उनको परमात्माकी प्राप्ति भी हुई है ?

हाँ, राजा जनक-जैसे अनेक महापुरुष कर्तव्य-कर्म करके ही परमात्माको प्राप्त हुए हैं। परमात्माको प्राप्त होनेपर भी उन्होंने लोकसंग्रह (संसारको कुमार्गसे बचाकर सन्मार्गपर लाने)के लिये कर्म किये हैं। इसलिये तुम भी लोकसंग्रहको ध्यानमें रखते हुए अपने कर्तव्य-कर्मका पालन करो ॥ २० ॥

वह लोकसंग्रह कैसे होता है ?

दो प्रकारसे होता है—अपनी कर्तव्यपरायणतासे और अपने वचनोंसे। श्रेष्ठ मनुष्य जो-जो आचरण करता है, दूसरे मनुष्य भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह अपने वचनोंसे जो कुछ प्रमाणित करता है, दूसरे मनुष्य भी उसीका अनुवर्तन करते हैं ॥ २१ ॥

जैसे आपने परमात्मप्राप्तिके विषयमें जनक आदिका उदाहरण दिया, ऐसे ही लोक-संग्रहके विषयमें भी क्या कोई उदाहरण है ?

हाँ, मेरा ही उदाहरण लो पार्थ ! मेरे लिये त्रिलोकीमें कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं है और प्राप्त करनेयोग्य कोई वस्तु अप्राप्त भी नहीं है, फिर भी मैं लोक-संग्रहके लिये कर्तव्य-कर्म करता हूँ ॥ २२ ॥

आपके लिये कर्तव्य-कर्म करनेकी क्या आवश्यकता है भगवन् ?

हाँ, पार्थ ! आवश्यकता है; क्योंकि यदि मैं निरालस्य होकर कर्तव्य-कर्म न करूँ तो मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करेंगे अर्थात् वे भी कर्तव्य-कर्म करना छोड़ देंगे ॥ २३ ॥

इससे क्या होगा भगवन् ?

यदि मैं कर्तव्य-कर्म न करूँ तो अपना-अपना कर्तव्य-कर्म न करनेसे ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँगे और मैं सब तरहके संकर-दोषोंको पैदा करनेवाला तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँगा ॥ २४ ॥

इस दृष्टिसे आपके लिये तो लोक-संग्रहके लिये कर्तव्य-कर्म करना बहुत आवश्यक है, पर तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषोंके लिये भी कर्तव्य-कर्म करना आवश्यक है क्या ?

हाँ, अर्जुन ! आवश्यक ही नहीं, बहुत आवश्यक है। जैसे अज्ञानी मनुष्य कर्मोंमें आसक्त होकर फलकी इच्छासे तत्परतापूर्वक कर्मोंको करते हैं, ऐसे ही आसक्ति-रहित ज्ञानी महापुरुषको भी लोकसंग्रहके लिये तत्परता-पूर्वक कर्म करने चाहिये। ज्ञानी महापुरुषको चाहिये कि वह कर्मोंमें आसक्त उन अज्ञानी मनुष्योंकी बुद्धिमें किसी प्रकारका भ्रम पैदा न करके स्वयं भी बड़ी सावधानीसे कर्म करे तथा उनसे भी वैसे ही कर्म करवाये ॥ २५-२६ ॥

अज्ञानी और ज्ञानी—इन दोनोंके कर्मोंके करनेमें क्या अन्तर होता है ?

सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं; परंतु अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला अज्ञानी मनुष्य 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मान लेता है; और हे महाबाहो ! गुण-विभाग और कर्म-विभागको* तत्त्वसे जाननेवाला ज्ञानी महापुरुष 'सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं अर्थात् सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिमें ही हो रही हैं'—ऐसा अनुभव करके उनमें आसक्त नहीं होता ॥२७-२८॥

* सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंका कार्य होनेसे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राणी, पदार्थ आदि सब संसार 'गुण-विभाग' है और उसमें होनेवाली सब क्रियाएँ 'कर्म-विभाग' हैं।

जितनी जिम्मेवारी आपपर है, उतनी ही जिम्मेवारी क्या ज्ञानी महापुरुषपर भी होती है ?

नहीं, ज्ञानी महापुरुष अज्ञानियोंकी तरह कर्म न करे तो कोई बात नहीं, पर वह किसी भी रीतिसे कम-से-कम प्रकृतिजन्य गुणोंसे मोहित और गुणों तथा कर्मोंमें आसक्त अज्ञानियोंको विचलित न करे ॥ २९॥

पर मैं तो विचलित हो जाता हूँ भगवन् ! क्या करूँ ?

तुम विवेकवती बुद्धिके द्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको मुझे अर्पण करके कामना, ममता और संतापसे रहित होकर युद्ध (कर्तव्य-कर्म) करो ॥ ३० ॥

सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको आपके अर्पण करनेसे क्या होगा ?

जो मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित होकर श्रद्धापूर्वक सदा मेरे इस मतके अनुसार चलते हैं, वे सम्पूर्ण कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

परंतु जो आपके मतके अनुसार नहीं चलते, उनका क्या होता है ?

जो मेरे इस मतमें दोषदृष्टि करके इसके अनुसार नहीं चलते, उन सम्पूर्ण सांसारिक ज्ञानोंमें मोहित और पारमार्थिक ज्ञानसे रहित अविवेकी मनुष्योंको तुम नष्ट हुए ही समझो ॥ ३२ ॥

आपके मतके अनुसार न चलनेसे उनका नाश (पतन) क्यों होता है ?

ज्ञानी तो अपने राग-द्वेषरहित शुद्ध स्वभावके अनुसार क्रिया करता है; परंतु ये मनुष्य अपने राग-द्वेषयुक्त दूषित स्वभावके अनुसार कर्म करते हैं, इसलिये शास्त्र-मर्यादाके अनुसार कर्म करनेमें उनका वश नहीं चलता, ज्यादती नहीं चलती । इस प्रकार अपने दूषित स्वभावके वशमें होनेके कारण उनका पतन हो जाता है ॥३३॥

इस पतनसे बचनेका क्या उपाय है भगवन् ?

प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग-द्वेष स्थित हैं, इसलिये मनुष्य राग-द्वेषके वशीभूत होकर कर्म न करे; क्योंकि ये दोनों ही मनुष्यके शत्रु हैं ॥ ३४ ॥

तो फिर मनुष्यको क्या करना चाहिये ?

अपने धर्म (कर्तव्य)का पालन करना चाहिये। गुणोंकी कमीवाला भी अपना धर्म श्रेष्ठ है । अपने धर्मका पालन करते हुए यदि मृत्यु भी हो जाय तो वह (अपने धर्मका पालन) कल्याण करनेवाला है; परंतु दूसरोंका धर्म कितना ही गुणवाला होनेपर भी भयको देनेवाला है ॥ ३५ ॥

अर्जुन बोले—जब अपने धर्मका पालन करना ही श्रेष्ठ है, तब फिर मनुष्य न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित होकर अधर्मका, पापका आचरण करता है ? ॥ ३६ ॥

भगवान् बोले—रजोगुणसे उत्पन्न होनेवाले काम (कामना)को ही तुम पाप करनेवाला समझो । इस कामसे ही क्रोध पैदा होता है । यह काम कभी भी तृप्त न होनेवाला और महापापी है ॥ ३७ ॥

यह महापापी काम क्या करता है ?

जैसे धुआँ अग्निको, मैल दर्पणको और जेर गर्भको ढक देता है, ऐसे ही यह काम (कामना) पाप न करनेकी इच्छाको दबाकर मनुष्यको पापमें लगाता है; और हे कुन्तीनन्दन ! यह काम अग्निकी तरह कभी तृप्त न होनेवाला और विवेकी साधकोंका नित्य वैरी है । इस कामके द्वारा मनुष्यका विवेक ढक जाता है ॥३८-३९॥

ऐसा वह काम रहता कहाँ है ?

वह काम इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—इन तीन स्थानोंमें रहता है और इनके द्वारा देहाभिमानी मनुष्यके ज्ञानको ढककर उसे मोहित करता है ॥ ४० ॥

उस कामका नाश कैसे किया जाय ?

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! तुम सबसे पहले इन्द्रियोंको वशमें करके इस ज्ञान और विज्ञानको ढकनेवाले महापापी कामको अवश्य ही मार डालो ॥४१॥

आपने जो उपाय बताया, उसे काममें कैसे लायें भगवन् ?

शरीरसे इन्द्रियाँ पर (श्रेष्ठ, सबल, प्रकाशक, व्यापक और सूक्ष्म) हैं, इन्द्रियोंसे मन पर है, मनसे बुद्धि पर है

और बुद्धिसे काम पर है*। इस तरह कामको बुद्धिसे पर जानकर अपने द्वारा अपने-आपको वशमें करके हे महाबाहो ! तुम इस दुर्जय शत्रु कामको मार डालो ॥ ४२-४३ ॥

चौथा अध्याय

अभी आपने जिस कर्मयोगमें काम (कामना)के नाशके लिये प्रेरणा की है, उस कर्मयोगकी क्या परम्परा है ?

भगवान् बोले—इस अविनाशी योगको मैंने सबसे पहले सूर्यसे कहा था। फिर सूर्यने अपने पुत्र मनुसे और मनुने अपने पुत्र इक्ष्वाकुसे कहा। इस तरह हे परंतप! परम्परासे चलते आये इस योगको राजर्षियोंने जाना; परंतु बहुत समय बीत जानेके कारण वह योग इस मनुष्यलोकमें लुप्तप्राय हो गया है। तुम मेरे भक्त और प्रिय सखा हो। इसीलिये वही पुरातन योग आज मैंने तुमसे कहा है; जो कि बड़े उत्तम रहस्यकी बात है ॥ १—३ ॥

अर्जुन बोले—परंतु भगवन्! जिन सूर्यको आपने उपदेश दिया था, वे तो बहुत पहले उत्पन्न हुए हैं, जब कि आपका जन्म (अवतार) तो अभी हुआ है। अतः मैं यह कैसे जानूँ कि आपने ही सृष्टिके आरम्भमें सूर्यको उपदेश दिया था ? ॥ ४ ॥

भगवान् बोले—हे परंतप अर्जुन! यह बात मेरे इसी जन्म (अवतार)की नहीं है। मेरे और तुम्हारे बहुत-से जन्म हो चुके हैं। उन सबको मैं जानता हूँ अर्थात् किस-किस जन्ममें मैंने और तुमने क्या-क्या किया, उन सब बातोंको मैं जानता हूँ, पर तुम अपने जन्मों और कर्मोंको भी नहीं जानते ॥ ५ ॥

जैसे मेरा जन्म हुआ है ऐसे ही आपका जन्म नहीं हुआ है क्या ?

नहीं भैया! मैं अजन्मा, अविनाशी तथा सम्पूर्ण प्राणियोंका ईश्वर रहता हुआ ही अपनी प्रकृतिको वशमें करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ ॥ ६ ॥

आपके प्रकट होनेका अवसर कौन-सा है ?

हे भरतवंशी अर्जुन! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब मैं अवतार लेता हूँ ॥ ७ ॥

आपका अवतार लेनेका प्रयोजन क्या है ?

साधुओं (भक्तों)की रक्षा; दुष्टोंका विनाश और धर्मकी भली-भाँति स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें अवतार लेता हूँ ॥ ८ ॥

इस तरह बार-बार जन्म (अवतार) लेनेसे क्या आप बँधते नहीं ?

नहीं अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं। अपना कुछ भी स्वार्थ न रखकर केवल जगत्का हित करनेके लिये ही मैं प्रकट होता हूँ—इसे जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीर छूटनेके बाद पुनर्जन्मको न लेकर मुझे ही प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

आपको ही प्राप्त होता है—इसमें कोई प्रमाण भी है ?

हाँ, जो मुझमें ही तल्लीन और मेरे ही आश्रित हो गये हैं, ऐसे बहुत-से मनुष्य ज्ञानसे अर्थात् मेरे जन्म और कर्मकी दिव्यताको तत्त्वसे जाननेसे पवित्र होकर तथा राग, भय और क्रोधसे रहित होकर मुझे प्राप्त हो चुके हैं ॥ १० ॥

वे किस भावसे आपके आश्रित (शरण) होते हैं?

हे पार्थ! जो मनुष्य संसारसे विमुख होकर जिस भावसे मेरी शरण हो जाते हैं, मैं भी उनके साथ उसी भावसे (वैसा ही) बर्ताव करता हूँ। मेरे इस बर्तावका संसारमात्रके मनुष्योंपर बड़ा असर पड़ता है, जिससे वे भी स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके दूसरोंका हित करनेमें तत्पर हो जाते हैं ॥ ११ ॥

---

* काम अहं (कर्ता)में रहता है, इसीलिये कर्ताका पदार्थों आदिमें खिंचाव होता है। अहंमें एक तो प्रकृतिका अंश (जड़-अंश) है और एक परमात्माका अंश (चेतन-अंश) है। प्रकृतिका अंश स्वाभाविक ही प्रकृतिकी ओर और परमात्माका अंश स्वाभाविक ही परमात्माकी ओर (सजातीयता होनेसे) खिंचता है। अतः अहंके जड़-अंशमें काम रहता है और चेतन-अंशमें तत्त्व-जिज्ञासा, प्रेम-पिपासा आदि रहती है।

सूर्य को उपदेश

आप अपनी शरण होनेवालोंके इतने अनुकूल हो जाते हैं, फिर भी मनुष्य आपको छोड़कर देवताओंकी उपासना क्यों करते हैं ?

उनके भीतर संसारका महत्त्व होनेसे वे कर्मजन्य सिद्धिको चाहते हैं। इसलिये वे मुझे छोड़कर देवताओं-की उपासना करते हैं; क्योंकि इस मनुष्यलोकमें कर्मजन्य सिद्धि शीघ्र होती है ॥ १२ ॥

जैसे मनुष्य कर्मजन्य सिद्धिके उद्देश्यसे देवताओं-की उपासना करते हैं अर्थात् शुभकर्म करते हैं, ऐसे ही आप भी किसी फलके उद्देश्यसे किसी कार्यको करते होंगे ?

मैं जीवोंके गुणों और कर्मोंके अनुसार चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) की रचना करता हूँ; परंतु मैं यह सृष्टि-रचना आदिका कार्य कर्तृत्व और फलेच्छासे रहित होकर ही करता हूँ, इसलिये वे कर्म मुझे बाँधते नहीं। इतना ही नहीं, इस प्रकार मुझे तत्त्वसे जाननेवाले भी कर्मोंसे कभी बँधते नहीं* ॥ १३-१४ ॥

इस प्रकार किसीने कर्म किये भी हैं क्या ?

हाँ, पहले जो मुमुक्षु हुए हैं, उन्होंने भी इस प्रकार (कर्मोंके तत्त्वको) जानकर कर्म किये हैं। इसलिये तुम भी पूर्वजोंके द्वारा सदासे किये जानेवाले कर्मोंको उन्हींकी तरह करो ॥ १५ ॥

जिस कर्मको मुमुक्षुओंने किया है और जिस कर्मको करनेके लिये आप आज्ञा दे रहे हैं, वह कर्म क्या है ?

कर्म क्या है और अकर्म क्या है—इस विषयमें बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं। अब मैं वही कर्म-तत्त्व तुम्हें बताता हूँ, जिसे जानकर तुम संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाओगे। वह कर्म तीन प्रकारका है—कर्म, अकर्म और विकर्म। इन तीनोंके तत्त्वको अवश्य जानना चाहिये; क्योंकि कर्मोंका तत्त्व बड़ा ही गहन (गहरा) है ॥ १६-१७ ॥

कर्म और अकर्मके तत्त्वको जानना क्या है ?

कर्ममें अकर्म देखना और अकर्ममें कर्म देखना अर्थात् कर्म करते हुए निर्लिप्त रहना और निर्लिप्त रहते हुए कर्म करना—इस रीतिसे सम्पूर्ण कर्म करनेवाला ही योगी है, बुद्धिमान् है ॥ १८ ॥

वह बुद्धिमानी क्या है ?

जिसके सम्पूर्ण कर्म संकल्प और कामनासे रहित होते हैं तथा जिसके सम्पूर्ण कर्म ज्ञानाग्निसे जल जाते हैं, उसे ज्ञानिजन भी पण्डित (बुद्धिमान्) कहते हैं अर्थात् यही उसकी बुद्धिमानी है ॥ १९ ॥

ऐसे पुरुषकी स्थिति क्या होती है ?

वह कर्म तथा कर्मफलकी आसक्तिसे और उनके आश्रयसे रहित होता है तथा सदा तृप्त रहता है। इसलिये वह सब कुछ करता हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता ॥ २० ॥

यदि कोई साधक निवृत्तिपरायण हो, तो ?

शरीर और अन्तःकरणको वशमें करनेवाला, सब प्रकारके संग्रहका त्याग करनेवाला और संसारकी आशासे रहित साधक केवल शरीर-सम्बन्धी कर्म करता हुआ भी बँधता नहीं ॥ २१ ॥

यदि कोई साधक प्रवृत्ति-परायण हो, तो ?

वह भी जैसी परिस्थिति आती है, उसीमें संतुष्ट रहता है, ईर्ष्या और द्वन्द्वोंसे रहित होता है तथा सिद्धि-असिद्धिमें सम रहता हुआ कर्म करके भी नहीं बँधता। इतना ही नहीं, जो आसक्तिरहित और स्वाधीन है तथा जिसका निश्चय केवल परमात्माको प्राप्त करनेका ही है, ऐसे केवल यज्ञके लिये कर्म करनेवाले साधकके सम्पूर्ण कर्म विलीन (अकर्म) हो जाते हैं ॥ २२-२३ ॥

वह यज्ञ कितने प्रकारका होता है भगवन् ?

१. जिसमें सम्पूर्ण करण, उपकरण, सामग्री, क्रिया, कर्ता आदि ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं, वह 'ब्रह्मयज्ञ' है।

२. जिसमें सम्पूर्ण पदार्थ, क्रिया आदि मेरे अर्पण हो जाती हैं, वह 'भगवदर्पणरूप यज्ञ' है।

३. जिसमें साधक अपने-आपको ब्रह्मके साथ एक कर देता है, वह 'अभिन्नतारूप यज्ञ' है।

* जैसे भगवान् फलेच्छारहित होकर कर्म करते हैं, ऐसे ही हमें भी फलकी इच्छा छोड़कर कर्म करना है—इस प्रकार जानकर जो कर्म करता है, वह कर्मोंसे नहीं बँधता।

४. जिसमें साधक अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंका संयम कर लेता है, उन्हें अपने-अपने विषयोंसे हटा लेता है, वह 'संयमरूप यज्ञ' है।

५. जिसमें साधक राग-द्वेषरहित इन्द्रियोंसे विषयोंका सेवन करता है, वह 'विषय-हवनरूप यज्ञ' है।

६. प्राणों, इन्द्रियों और मनकी क्रियाओंको रोककर बुद्धिकी जागृति रहते हुए निर्विकल्प हो जाना 'समाधिरूप यज्ञ' है।

७. लोकोपकारके लिये अपना धन खर्च करना 'द्रव्ययज्ञ' है।

८. अपने धर्मका पालन करनेमें जो कठिनता आती है, उसे प्रसन्नतापूर्वक सहना 'तपोयज्ञ' है।

९. कार्यकी सिद्धि और असिद्धिमें तथा फलकी प्राप्ति और अप्राप्तिमें सम रहना 'योगयज्ञ' है।

१०. सत्-शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा नाम-जप आदि करना 'स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ' है।

११. पूरक, कुम्भक और रेचकपूर्वक* प्राणायाम करना 'प्राणायामरूप यज्ञ' है।

१२. नियमित आहार करते हुए प्राणोंको अपने-अपने स्थानोंमें ही रोक देना 'स्तम्भवृत्ति प्राणायामरूप यज्ञ' है।

ये सम्पूर्ण यज्ञ केवल कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये ही हैं—इन यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले साधकके सम्पूर्ण पापोंका नाश हो जाता है ॥२४—३०॥

पापोंका नाश होनेपर क्या होता है भगवन्?

हे कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! उन यज्ञ करनेवालोंको अमृतस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है; परंतु जो यज्ञ करता ही नहीं, उसके लिये यह मनुष्यलोक भी लाभदायक नहीं होता, फिर परलोक कैसे लाभदायक हो सकता है॥ ३१॥

ऐसे यज्ञोंका वर्णन और कहाँ हुआ है?

इस प्रकारके बहुत-से यज्ञोंका वर्णन वेदोंमें विस्तारसे हुआ है। उन सब यज्ञोंको तुम कर्मजन्य (कर्मोंसे होनेवाले) जानो। इस प्रकार जानकर यज्ञ करनेसे तुम कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाओगे॥ ३२॥

सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ यज्ञ कौन-सा है भगवन्?

हे परंतप! उन सब कर्मजन्य यज्ञोंसे 'ज्ञानयज्ञ' श्रेष्ठ है; क्योंकि ज्ञानयज्ञमें सम्पूर्ण कर्म और पदार्थ समाप्त हो जाते हैं॥ ३३॥

वह ज्ञान कैसे प्राप्त करें?

उस ज्ञानकी प्राप्तिके लिये तुम ज्ञानी तत्त्वदर्शी महापुरुषोंके पास जाओ, उनके चरणोंमें दण्डवत् प्रणाम करो, उनकी सेवा करो और उनसे आदरपूर्वक तत्त्वकी जिज्ञासाके विषयमें प्रश्न करो, तब वे ज्ञानी महापुरुष तुम्हें ज्ञानका उपदेश देंगे॥ ३४॥

उनके दिये हुए ज्ञानसे क्या होगा?

हे अर्जुन! उस ज्ञानके प्राप्त होनेपर तुम्हें फिर कभी मोह नहीं होगा तथा उस ज्ञानसे तुम सम्पूर्ण प्राणियोंको पहले अपनेमें और फिर मुझमें देखोगे अर्थात् सब जगह एक परमात्मतत्त्वका ही अनुभव करोगे॥३५॥

इस ज्ञानकी क्या और भी कोई महिमा है?

हाँ, यदि तुम सब पापियोंसे भी अत्यन्त पापी हो, तो भी तुम ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा निःसंदेह सम्पूर्ण पापोंसे भलीभाँति तर जाओगे॥ ३६॥

जैसे नौकासे समुद्र तरनेपर समुद्र तो रहता ही है, ऐसे ही पापोंसे तरनेपर पाप तो रहते ही होंगे?

नहीं अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि लकड़ियोंको सर्वथा भस्म कर देती है, ऐसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मों (पापों) को भस्म कर देती है। अतः इस मनुष्यलोकमें ज्ञानके समान पवित्र कोई नहीं है। उसी ज्ञानको कर्मयोगके द्वारा सिद्ध हुआ मनुष्य अवश्य ही स्वयं अपने-आपमें पा लेता है॥३७-३८॥

जो ज्ञान कर्मयोगसे सिद्ध हुए मनुष्यको अपने-आप प्राप्त हो जाता है, वह ज्ञान किस प्रकारके साधकको प्राप्त होता है?

इन्द्रियोंको वशमें करनेवाले, साधनपरायण और श्रद्धावान् साधकको वह ज्ञान प्राप्त हो जाता है और ज्ञानको प्राप्त होकर वह बहुत शीघ्र परमशान्तिको प्राप्त हो जाता है॥ ३९॥

* श्वासको भीतर लेना—पूरक, श्वासको भीतर रोकना—कुम्भक और श्वासको बाहर निकालना—रेचक है।

इस ज्ञानकी प्राप्तिमें बाधा क्या है ?

जो स्वयं तो जानता नहीं और दूसरोंपर श्रद्धा करता नहीं, दूसरोंकी बात मानता नहीं तथा जिसके भीतरमें संशय पड़ा रहता है, ऐसे मनुष्यका पतन हो जाता है। ऐसे संशयवाले मनुष्यके लिये न यह लोक सुखदायी होता है और न परलोक ही ॥ ४० ॥

तो फिर यह संशय किसका दूर होता है ?

हे धनंजय ! जिसने समताके द्वारा सम्पूर्ण कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है और ज्ञान (कर्म-तत्त्वके ज्ञान)के द्वारा सम्पूर्ण संशयोंका नाश कर दिया है, ऐसे स्वरूप-परायण मनुष्यको कर्म नहीं बाँधते ॥ ४१ ॥

कर्म-बन्धन न हो, इसके लिये क्या करना चाहिये ?

हे भरतवंशी अर्जुन ! तुम हृदयमें स्थित अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले संशयका ज्ञानरूप तलवारसे छेदन करके समतामें स्थित हो जाओ और युद्ध (कर्तव्य-पालन)के लिये खड़ा हो जाओ ॥ ४२ ॥

पाँचवाँ अध्याय

अर्जुन बोले—हे कृष्ण ! कभी तो आप कर्मोंके त्यागकी अर्थात् सांख्ययोगकी प्रशंसा करते हैं और कभी कर्मयोगकी । अतः इन दोनों साधनोंमेंसे जो निश्चित कल्याणकारक हो, वह मेरे लिये कहिये ॥१॥

भगवान् बोले—सांख्ययोग और कर्मयोग—ये दोनों ही श्रेष्ठ हैं; परंतु इन दोनोंमें भी सांख्ययोगकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

कर्मयोग श्रेष्ठ क्यों है भगवन् ?

हे महाबाहो ! जो किसीसे भी राग और द्वेष नहीं करता, वह कर्मयोगी नित्य ही संन्यासी जानने योग्य है; क्योंकि द्वन्द्वोंसे रहित होनेसे वह सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

आपने कहा कि दोनों श्रेष्ठ हैं, तो क्या दोनोंकी फलप्राप्तिमें कोई भेद नहीं है ?

बेसमझ लोग ही सांख्ययोग और कर्मयोगको अलग-अलग फलवाले कहते हैं, पण्डित (बुद्धिमान्) लोग नहीं; क्योंकि इन दोनोंमेंसे किसी एकमें भी स्थित होनेपर साधक दोनोंके फलको प्राप्त कर लेता है अर्थात् जो फल सांख्ययोगियोंको प्राप्त होता है, वही फल कर्मयोगियोंको भी प्राप्त होता है । इसलिये जो सांख्ययोग और कर्मयोगको फलमें एक देखता है, वही ठीक देखता है ॥ ४–५ ॥

जब दोनोंका फल एक ही होता है, तब फिर कर्मयोग श्रेष्ठ कैसे है ?

हे महाबाहो ! कर्मयोगके बिना अर्थात् सिद्धि-असिद्धिमें सम हुए बिना सांख्ययोगका सिद्ध होना (समरूप स्वरूपमें स्थित होना) कठिन है; परंतु मननशील कर्मयोगी (सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर) शीघ्र ही समरूप ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है ॥ ६ ॥

वह कर्मयोगसे ब्रह्मको कैसे प्राप्त कर लेता है ?

इन्द्रियोंको जीतनेवाला, निर्मल अन्तःकरणवाला, शरीरको वशमें करनेवाला तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपने-आपको स्थित देखनेवाला कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी कर्मोंसे लिप्त नहीं होता अर्थात् परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ ७ ॥

सांख्ययोगी कर्मोंसे कैसे निर्लिप्त रहता है ?

सत्-असत्के तत्त्वको जानकर सत्में स्थित रहनेवाला सांख्ययोगी देखता, सुनता, स्पर्श करता, सूँघता, खाता, जाता, सोता, श्वास लेता, बोलता, मल-मूत्रका त्याग करता, ग्रहण करता, आँखोंको खोलता और मींचता हुआ भी 'इन्द्रियाँ ही अपने-अपने विषयोंमें बरत रही हैं'—ऐसा समझता है और 'मैं (स्वयं) कुछ भी नहीं करता हूँ' ऐसा अनुभव करके कर्मोंसे निर्लिप्त रहता है ॥ ८–९ ॥

कर्मयोगी और सांख्ययोगी—दोनों ही कर्मोंसे निर्लिप्त रहते हैं। ऐसे निर्लिप्त रहनेका और भी कोई उपाय है क्या ?

हाँ, भक्तियोग है। भक्तियोगी आसक्तिका त्याग करके तथा सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्‌में अर्पण करके कर्म करता है। अतः वह भी जलमें कमलके पत्तेकी तरह पापोंसे, कर्मोंसे लिप्त नहीं होता ॥ १० ॥

भक्तियोगी तो आपके अर्पण करनेके उद्देश्यसे कर्म करता है, अतः वह कर्मोंसे लिप्त नहीं होता; परंतु कर्मयोगी किस उद्देश्यसे कर्म करता है ?

कर्मयोगी इन्द्रियाँ, शरीर, मन, बुद्धिके साथ ममता न करके और फलासक्तिका त्याग करके केवल अन्तः-करणकी शुद्धिके लिये ही कर्म करता है। अतः कर्मयोगी कर्मफलकी इच्छाका त्याग करके सदा रहनेवाली परम-शान्तिको प्राप्त हो जाता है; परंतु जो योगी नहीं है, वह कामनाके कारण कर्मफलमें आसक्त होकर बँध जाता है ॥ ११-१२ ॥

सांख्ययोगीके द्वारा कर्म किस प्रकार होते हैं भगवन् ?

शरीर, इन्द्रियाँ और मनको वशमें किया हुआ सांख्य-योगी मनसे सम्पूर्ण कर्मोंको नौ द्वारोंवाले शरीरमें छोड़कर न करता हुआ और न करवाता हुआ सुखपूर्वक अपने स्वरूपमें स्थित रहता है ॥ १३ ॥

सांख्ययोगी तो न कर्म करता है और न कर्म करवाता है, पर परमात्मा तो कर्म करवाते होंगे ?

परमात्मा न तो किसी मनुष्यके कर्तापनकी रचना करते हैं, न किसीसे कर्म करवाते हैं और न कर्मफलके साथ किसीका सम्बन्ध ही जोड़ते हैं; परंतु मनुष्य अपने-अपने स्वभाव (आदत) के अनुसार ही कर्म करते हैं और अपनेको उन कर्मोंका कर्ता मान लेते हैं। फिर कर्मफलके साथ सम्बन्ध अपने-आप हो जाता है ॥ १४ ॥

वे परमात्मा किसीके कर्तापन आदिकी रचना नहीं करते, पर प्राणियोंके कर्मफलको तो ग्रहण करते ही होंगे ?

वे सर्वव्यापी परमात्मा किसीके भी पाप और पुण्य-कर्मको ग्रहण नहीं करते; किंतु अज्ञानके द्वारा स्वरूपका ज्ञान ढका हुआ होनेसे वे जीव मोहित हो जाते हैं अर्थात् अपनेको कर्मोंका कर्ता और भोक्ता मान लेते हैं, जिससे वे जन्मते-मरते रहते हैं ॥ १५ ॥

तो क्या सभी जीव इसी तरह अपनेको कर्ता-भोक्ता मानकर मोहित होते रहते हैं ?

नहीं, जिन्होंने ज्ञान (विवेक)के द्वारा अपने अज्ञानका नाश कर दिया है, उनका वह ज्ञान सूर्यकी तरह उस कर्तृत्व-भोक्तृत्वरहित परमात्मतत्त्वको प्रकाशित कर देता है अर्थात् उसका अनुभव करा देता है ॥ १६ ॥

उस परमात्मतत्त्वका अनुभव और किसको होता है ?

जिनकी बुद्धि और मन तदाकार हो रहे हैं, जिनकी स्थिति परमात्मतत्त्वमें है, ऐसे परमात्मपरायण साधक ज्ञानके द्वारा पाप-पुण्यसे रहित होकर परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं। उनका पुनर्जन्म नहीं होता ॥ १७ ॥

जो परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं, उन महापुरुषों-का ज्ञान व्यवहारकालमें कैसा रहता है ?

वे तत्त्वज्ञ महापुरुष विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मणमें और चाण्डालमें तथा गाय, हाथी और कुत्तेमें भी एक समरूप परमात्माको ही देखते हैं ॥ १८ ॥

समदर्शी होनेसे क्या होता है ?

जिनका मन सर्वथा साम्यावस्थामें अर्थात् परमात्म-तत्त्वमें स्थित हो गया है, उन्होंने यहीं (जीते-जी) संसारको जीत लिया है अर्थात् वे संसारसे ऊँचे उठ गये हैं। कारण कि ब्रह्म निर्दोष और सम है, इसलिये वे समरूप ब्रह्ममें ही स्थित रहते हैं ॥ १९ ॥

ऐसी साम्यावस्थामें स्थित होनेका उपाय क्या है ?

व्यवहारमें प्रिय-अप्रिय अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होनेपर भी जो हर्ष और शोक नहीं करता, वह मोहरहित स्थिर बुद्धिवाला और ब्रह्मको जाननेवाला मनुष्य परमात्मामें ही स्थित रहता है ॥ २० ॥

यह स्थिति किस क्रमसे प्राप्त होती है भगवन् ?

जो बाह्य पदार्थोंमें आसक्ति नहीं करता, वह पहले अपने-आपमें स्थित सात्त्विक सुखको प्राप्त कर लेता है। फिर वह परमात्माके साथ एक होकर अक्षय सुखका अनुभव करता है ॥ २१ ॥

बाह्य पदार्थोंमें आसक्तिसे कैसे बचें ?

हे कुन्तीनन्दन ! इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे पैदा होनेवाले जितने भी भोग (सुख) हैं, वे सभी दुःखोंके ही कारण हैं और आदि-अन्तवाले (आने-जानेवाले) हैं, इसलिये विवेकी मनुष्य उनमें रमण नहीं करता ॥ २२ ॥

उन भोगोंमें रमण न करनेवालेकी क्या विशेषता है ?

जो मनुष्य शरीर छूटनेसे पहले ही काम-क्रोधके वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है अर्थात् काम-क्रोधके वेगको उत्पन्न ही नहीं होने देता, वही सुखी है, वही योगी है और वही नर अर्थात् बहादुर है ॥ २३ ॥

ऐसा होनेपर क्या होता है ?

काम-क्रोधका वेग उत्पन्न न होनेसे उसे परमात्मतत्त्व-का सुख मिलता है, उसका परमात्मतत्त्वमें ही रमण होता है और उसका ज्ञान सदा अलुप्त रहता है। ऐसा वह ब्रह्मस्वरूप हुआ साधक (शान्त) ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ २४ ॥

उस शान्त ब्रह्मको और कौन प्राप्त होते हैं ?

जिनके शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि वशमें हैं, जिनकी सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रति है, जिनके मनकी सब दुविधाएँ (संशय) मिट गयी हैं और जिनके सब पाप नष्ट हो गये हैं, ऐसे विवेकी साधक निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं ॥ २५ ॥

निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त होनेवालोंके क्या लक्षण होते हैं ?

वे काम-क्रोधसे सर्वथा रहित होते हैं, उनका मन वशमें होता है, वे स्वरूपका साक्षात्कार किये हुए होते हैं, ऐसे सांख्ययोगियोंको जीते-जी और मरनेके बाद निर्वाण ब्रह्म ही प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

यह निर्वाण ब्रह्म किसी दूसरे साधनसे भी प्राप्त किया जा सकता है क्या ?

हाँ, ध्यानयोगसे प्राप्त किया जा सकता है। बाह्य विषयोंको बाहर ही छोड़कर अर्थात् सम्पूर्ण विषयोंका त्याग करके, नेत्रोंकी दृष्टिको भौंहोंके बीचमें स्थित करके और नासिकामें विचरनेवाले प्राण-अपानको अर्थात् रेचक-पूरकको समान करके जिसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि अपने वशमें हैं, ऐसा वह इच्छा, भय और क्रोधसे रहित मोक्षपरायण साधक सदा मुक्त ही है ॥ २७-२८ ॥

और भी दूसरा कोई सुगम साधन है, जिससे सब सुगमतापूर्वक मुक्त हो जायँ ?

हाँ, भक्तियोग है, जो मुझे सम्पूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर, सम्पूर्ण प्राणियोंका परम सुहृद् (स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी) तथा सम्पूर्ण यज्ञों और तपोंका भोक्ता जान लेता है, दृढ़तासे मान लेता है अर्थात् अपनेको कभी भोक्ता नहीं मानता, उसे परमशान्तिकी प्राप्ति हो जाती है ॥ २९ ॥

छठा अध्याय

भगवान् बोले—मैंने कर्मयोगकी बहुत-सी बातें बता दीं, अब मैं कर्मयोगकी सार बात बताता हूँ। जो मनुष्य कर्मफलका अर्थात् उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंका आश्रय न लेकर कर्तव्य-कर्म करता है, वही संन्यासी है और वही योगी है। केवल अग्नि और क्रियाका त्याग करनेवाला संन्यासी और योगी नहीं है। इसलिये हे अर्जुन ! लोग जिसे संन्यास (सांख्ययोग) कहते हैं, उसीको तुम योग (कर्मयोग) समझो।

संन्यासी और योगीमें महिमा किस बातकी है ?

संकल्पोंके त्यागकी; क्योंकि संकल्पोंका त्याग किये बिना अर्थात् अपने मनकी बात छोड़े बिना मनुष्य कोई-सा भी योगी नहीं हो सकता ॥ १-२ ॥

योगी होनेमें मुख्य हेतु क्या है ?

जो योग (समता)में आरूढ़ होना चाहता है, ऐसे मननशील योगीके लिये निष्कामभावसे कर्तव्य-कर्म करना (योगारूढ़ होनेमें) कारण है और उसी

योगारूढ़ मनुष्यकी शान्ति परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें कारण है अर्थात् संसारके त्यागसे मिलनेवाली शान्तिका उपभोग न करना परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें कारण है ॥ ३ ॥

उस योगारूढ़ मनुष्यके लक्षण क्या हैं ?

जिसकी न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्ति है तथा न अपना कोई संकल्प ही है, वह मनुष्य योगारूढ़ है ॥ ४ ॥

मनुष्यको योगारूढ़ होनेके लिये क्या करना चाहिये ?

आप ही अपना उद्धार करना चाहिये, अपना पतन नहीं करना चाहिये; क्योंकि यह आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है ॥ ५ ॥

स्वयं अपना मित्र और अपना शत्रु कैसे है ?

जिसने अपने-आपसे अपनेपर विजय कर ली है अर्थात् जो असत्‌के साथ सम्बन्ध नहीं मानता, वह आप ही अपना मित्र है; और जिसने अपनेपर विजय नहीं की है अर्थात् जो असत्‌के साथ अपना सम्बन्ध मानता है वह आप ही अपना शत्रु है ॥ ६ ॥

आप ही अपना मित्र होनेसे क्या होगा ?

जिसने अपने-आपको जीत लिया है, वह प्रारब्धके अनुसार आनेवाली अनुकूलता-प्रतिकूलतामें, वर्तमानमें किये जानेवाले कर्मोंकी सफलता-विफलतामें तथा दूसरोंके द्वारा किये गये मान-अपमानमें निर्विकार रहता है; अतः उसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ॥ ७ ॥

परमात्माको प्राप्त हुए मनुष्यके क्या लक्षण हैं भगवन् ?

उसका अन्तःकरण सदा ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त रहता है; उसका सम्पूर्ण इन्द्रियोंपर अधिकार रहता है; वह सभी परिस्थितियोंमें निर्विकार रहता है; मिट्टीके ढेले, पत्थर तथा स्वर्णमें उसकी समबुद्धि रहती है। केवल पदार्थोंमें ही नहीं, सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बन्धु, साधु और पापी व्यक्तियोंमें भी उसकी समबुद्धि रहती है। ऐसा समबुद्धिवाला मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है ॥ ८-९ ॥

वह समबुद्धि केवल कर्मयोगसे ही होती है या किसी दूसरे साधनसे भी ?

वह समबुद्धि ध्यानयोगसे भी होती है, इसलिये मैं उस ध्यानयोगकी विधि बताता हूँ। ध्यानयोगी भोगबुद्धिसे संग्रहका त्याग करके, कामनारहित होकर, अन्तःकरण और शरीरको वशमें रखकर तथा एकान्तमें अकेला रहकर अपने मनको निरन्तर परमात्मामें लगाये ॥ १० ॥

मनको परमात्मामें लगानेके लिये अर्थात् ध्यान करनेके लिये उपयोगी बातें क्या हैं ?

शुद्ध, पवित्र स्थानपर ध्यानयोगी क्रमशः कुश, मृगछाला और पवित्र वस्त्र बिछाये। वह आसन न अत्यन्त ऊँचा हो और न अत्यन्त नीचा हो तथा स्थिर हो अर्थात् हिलने-डुलनेवाला न हो ॥ ११ ॥

ऐसा आसन बिछाकर क्या करे ?

उस आसनपर बैठकर चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें रखते हुए मनको एकाग्र करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये ध्यानयोगका अभ्यास करे ॥ १२ ॥

उस आसनपर किस प्रकार बैठना चाहिये ?

शरीर, गरदन और मस्तकको एक सूत (सीधा) में अचल करके तथा इधर-उधर न देखकर केवल अपनी नासिकाके अग्रभागको देखते हुए स्थिर होकर बैठे ॥ १३ ॥

ऐसे आसनसे भी किस भावसे बैठना चाहिये ?

जिसका अन्तःकरण राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंसे रहित है, जो भयरहित है और जो ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करता है, ऐसा सावधान योगी मनको संसारसे हटाकर मुझमें लगाता हुआ मेरे परायण होकर बैठे ॥ १४ ॥

इसका फल क्या होगा ?

इस प्रकार अपने मनको निरन्तर मुझमें लगाते हुए वशमें किये हुए मनवाले योगीको मुझमें रहनेवाली निर्वाणपरमा शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है ॥ १५ ॥

इस प्रकारसे ध्यान करनेवाले तो कई होते हैं, पर उन सबका ध्यानयोग सिद्ध क्यों नहीं होता भगवन् ?

हे अर्जुन ! अधिक खानेवालेका और बिल्कुल न खानेवालेका तथा अधिक सोनेवालेका और बिल्कुल न सोनेवालेका यह योग सिद्ध नहीं होता ॥ १६ ॥

तो फिर यह योग किसका सिद्ध होता है ?

जिसका आहार (भोजन) और विहार (घूमना-फिरना) यथोचित है, जिसकी कर्मोंमें चेष्टा यथोचित है और जिसका सोना-जागना भी यथोचित है, उसीका यह दुःखोंका नाश करनेवाला योग सिद्ध होता है ॥ १७ ॥

दुःखोंका नाश करनेवाला यह योग कब सिद्ध होता है ?

जब अच्छी तरहसे वशमें किया हुआ चित्त अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है और स्वयं सम्पूर्ण पदार्थोंसे विमुख हो जाता है अर्थात् अपने लिये किसी भी पदार्थकी किञ्चिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं समझता, तब वह योगी कहलाता है अर्थात् उसका योग सिद्ध हो जाता है ॥ १८ ॥

योगीके उस चित्तकी क्या अवस्था होती है ?

जैसे स्पन्दनरहित वायुके स्थानपर रखे हुए दीपककी लौ थोड़ी-सी भी हिलती-डुलती नहीं, ऐसी ही अवस्था ध्यानयोगका अभ्यास करनेवाले योगीके स्थिर चित्तकी हो जाती है ॥ १९ ॥

चित्तकी ऐसी अवस्था होनेपर क्या होता है ?

योगके अभ्याससे निरुद्ध हुआ चित्त जब समाधिके सुखसे भी उपराम हो जाता है, तब योगी अपने-आपमें अपने-आपको देखता हुआ अपने-आपमें संतुष्ट हो जाता है ॥ २० ॥

अपने-आपमें संतुष्ट होनेपर क्या होता है ?

योगीको सीमारहित, इन्द्रियोंसे अतीत और बुद्धिसे ग्रहण करने योग्य सुखका अनुभव होता है । ऐसे वास्तविक सुखमें स्थित होनेपर वह ध्यानयोगी फिर कभी अपने स्वरूपसे विचलित नहीं होता ॥ २१ ॥

वह किस कारणसे विचलित नहीं होता ?

वह जिस लाभ (सुख)को प्राप्त करता है, उससे बढ़कर कोई दूसरा लाभ उसके माननेमें भी नहीं आता और उसमें स्थित होनेपर वह बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं किया जा सकता; क्योंकि वह जिस स्थितिमें स्थित है, उसमें सुखकी तो कमी रहती नहीं और दुःख वहाँ पहुँचता नहीं ॥ २२ ॥

ऐसे विलक्षण सुखको प्राप्त करनेके लिये क्या करना चाहिये ?

जिसमें दुःखोंके संयोगका ही वियोग है अर्थात् जिसमें संसारके साथ सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद है, उसीको 'योग' नामसे जानना चाहिये । ऐसे योगको न उकताये हुए चित्तसे निश्चयपूर्वक प्राप्त करना चाहिये ॥ २३ ॥

अपने स्वरूपके ध्यानसे जिस योग (साध्यरूप समता) की प्राप्ति होती है, उसकी प्राप्तिका और भी कोई उपाय है ?

हाँ, निर्गुण-निराकारका ध्यान है । संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंका सर्वथा त्याग करके और मनसे इन्द्रियसमूहको सभी ओरसे हटाकर धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा धीरे-धीरे संसारसे उपराम हो जाय और सब जगह परिपूर्ण परमात्मामें मन-बुद्धिको स्थिर करके फिर कुछ भी चिन्तन न करे ॥ २४-२५ ॥

यदि चिन्तन हो जाय, तो ?

अभ्यास करे अर्थात् यह अस्थिर और चञ्चल मन जहाँ-जहाँ जाय, वहाँ-वहाँसे हटाकर इसे एक परमात्मामें ही लगाये ॥ २६ ॥

ऐसा करनेसे क्या होगा ?

रजोगुणी वृत्तियोंसे रहित शान्त मनवाले, पापरहित और ब्रह्मस्वरूप योगीको उत्तम (सात्त्विक) सुखकी प्राप्ति होगी ॥ २७ ॥

उसके बाद क्या होगा ?

अपने-आपको सदा परमात्मामें लगाते हुए उस पापरहित योगीको सुखपूर्वक ब्रह्मस्वरूप अत्यन्त सुखकी प्राप्ति हो जायगी ॥ २८ ॥

यहाँतक आपने सगुण-साकारका, अपने स्वरूपका और निर्गुण-निराकारका ध्यान करनेवालोंका वर्णन कर दिया, पर वे संसारको किस दृष्टिसे देखते हैं, इसका वर्णन नहीं किया । अब भगवन् ! यह बताइये कि अपने स्वरूपका ध्यान करनेवाला इस संसारको किस दृष्टिसे देखता है ?

ध्यानयोगसे युक्त अन्तःकरणवाला वह योगी अपने-आपको (स्वरूपको) सम्पूर्ण प्राणियोंमें देखता है और सम्पूर्ण प्राणियोंको अपने-आपमें (स्वरूपमें) देखता है, इसलिये वह समदर्शी होता है ॥ २९ ॥

जो आपके सगुण-साकार स्वरूपका ध्यान करता है, वह इस संसारको किस दृष्टिसे देखता है ?

वह सबमें मुझे देखता है और सबको मुझमें देखता है, इसलिये उसके सामने मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे सामने अदृश्य नहीं होता ॥ ३० ॥

आप और वह योगी—दोनों एक-दूसरेके लिये अदृश्य क्यों नहीं होते ?

वह सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित मेरे साथ एक होकर मेरा भजन करता है, इसलिये वह सब वर्ताव करता हुआ भी नित्य-निरन्तर मुझमें ही स्थित रहता है । फिर हम दोनों एक-दूसरेके लिये अदृश्य कैसे हो सकते हैं ? नहीं हो सकते ॥ ३१ ॥

जो आपके निर्गुण-निराकार स्वरूपका ध्यान करता है, वह इस संसारको किस दृष्टिसे देखता है ?

जैसे अज्ञानी मनुष्य अपने शरीरके अङ्गोंमें तथा उनके सुख-दुःखमें अपनेको समान देखता है, ऐसे ही वह योगी अपने शरीरकी उपमासे सम्पूर्ण प्राणियोंमें तथा उनके सुख-दुःखमें अपनेको समान देखता है । इसलिये वह योगी सर्वश्रेष्ठ माना गया है ॥ ३२ ॥

अर्जुन बोले—अभीतक आपने समताकी प्राप्तिके लिये जिस ध्यानयोगका वर्णन किया, हे मधुसूदन ! मनकी चञ्चलताके कारण उस ध्यानयोगमें स्थिर स्थित रहना मुझे बड़ा कठिन दिखायी देता है; क्योंकि हे कृष्ण ! मन बड़ा ही चञ्चल, प्रमथनशील, बलवान् और जिद्दी है । उसका निग्रह करना मैं वायुका निग्रह करनेकी तरह अत्यन्त कठिन मानता हूँ ॥ ३३-३४ ॥

भगवान् बोले—तुम्हारा कहना बहुत ठीक है । महाबाहो ! वास्तवमें यह मन बड़ा चञ्चल है और इसका निग्रह करना बड़ा कठिन है; परंतु हे कुन्तीनन्दन ! अभ्यास और वैराग्यसे इसका निग्रह किया जाता है । इसलिये जिसका मन और इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, उसके द्वारा ध्यानयोग सिद्ध होना कठिन है; परंतु जिसका मन और इन्द्रियाँ वशमें हैं, उसके द्वारा ध्यानयोग सिद्ध हो सकता है—ऐसा मेरा मत है ॥ ३५-३६ ॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण ! जिसकी साधनमें श्रद्धा है, पर जिसका प्रयत्न शिथिल है, ऐसे साधककी अन्तकालमें साधनमें स्थिति न रही, तो वह योग-सिद्धिको प्राप्त न करके किस गतिमें जाता है ? संसारके आश्रयसे रहित और परमात्म-प्राप्तिके मार्गसे विचलित उभयभ्रष्ट साधक छिन्न-भिन्न बादलकी तरह नष्ट तो नहीं हो जाता ? हे कृष्ण ! यह मेरा संदेह है । मेरे इस संदेहको आप ही सर्वथा मिटा सकते हैं; क्योंकि इस संदेहको आपके सिवाय दूसरा कोई मिटा ही नहीं सकता ॥ ३७-३९ ॥

भगवान् बोले—हे पार्थ ! उसका न तो इस लोकमें और न परलोकमें ही पतन होता है; क्योंकि हे प्यारे ! कल्याणकारी काम करनेवाला कोई भी साधक दुर्गतिमें नहीं जाता ॥ ४० ॥

वह दुर्गतिमें नहीं जाता, तो फिर कहाँ जाता है ?

जिस साधकके भीतर सांसारिक सुखकी कुछ इच्छा रह गयी है, ऐसा योगभ्रष्ट साधक पुण्यकर्म करनेवालोंके लोकों (स्वर्ग आदि ऊँचे लोकों) में जाता है और वहाँ बहुत वर्षोंतक रहकर मृत्युलोकमें शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है; परंतु जिस साधकके भीतर सांसारिक सुखकी इच्छा नहीं है और अन्तसमयमें किसी विशेष कारणसे योगभ्रष्ट हो जाता है, वह स्वर्ग आदि लोकोंमें न जाकर सीधे ही तत्त्वज्ञ योगियोंके कुलमें जन्म लेता है । इस प्रकारका जन्म इस लोकमें अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ४१-४२ ॥

तत्त्वज्ञ योगियोंके कुलमें जन्म लेनेपर क्या होता है ?

हे कुरुनन्दन ! वहाँ उसे पूर्वजन्मकृत साधन-सामग्री अनायास ही प्राप्त हो जाती है । उससे वह साधनकी सिद्धिके लिये फिर तत्परतासे प्रयत्न करता है ॥ ४३ ॥

आपने तत्त्वज्ञ योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवालेकी बात तो बता दी, अब यह बताइये कि शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवालेका क्या होता है ?

वह योगभ्रष्ट भोगोंके परवश होते हुए भी पूर्वजन्ममें किये हुए अभ्यास (साधन) के कारण परमात्माकी ओर खिंच जाता है ।

क्यों खिंच जाता है ?

भैया ! जब योगका जिज्ञासु भी वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मोंका अतिक्रमण कर जाता है, फिर जो योग-भ्रष्ट है, योगमें लगा हुआ है, उसका तो कहना ही क्या है ? ॥ ४४ ॥

परमात्माकी ओर खिंच जानेपर क्या होता है ?

वह बड़ी तेजीसे साधनमें लग जाता है और सम्पूर्ण पापोंसे रहित होकर वह अनेक जन्मोंसे सिद्ध हुआ योगी (साधक) परमगति परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ ४५ ॥

जो योगी परमगतिको प्राप्त हो जाता है, उसकी क्या महिमा है ?

वह योगी सकामभाववाले तपस्वियों, ज्ञानियों और कर्मियोंसे भी श्रेष्ठ है—ऐसा मेरा मत है । इसलिये हे अर्जुन ! तुम भी योगी हो जाओ ॥ ४६ ॥

योगियोंमें भी श्रेष्ठ कौन है ?

जो मुझमें तल्लीन हुए अन्तःकरणसे श्रद्धा-प्रेमपूर्वक मेरा भजन करता है, वह मेरा भक्त सम्पूर्ण योगियोंमें श्रेष्ठ है ॥ ४७ ॥

सातवाँ अध्याय

जिसे आप सर्वश्रेष्ठ योगी मानते हैं, वैसा मैं भी बन सकता हूँ क्या ?

अवश्य बन सकते हो ।

कैसे ?

भगवान् बोले—हे पार्थ ! तुम मुझमें ही आसक्त मनवाला और मेरा ही आश्रय लेकर मेरा भजन करते हुए निःसंदेह मेरे समग्र रूपको जान जाओगे । तुम जिस प्रकार मेरे समग्र रूपको जानोगे, वह मुझसे सुनो ! उस समग्र रूपको जाननेके लिये मैं तुम्हें विज्ञानसहित ज्ञान सम्पूर्णतासे बताऊँगा, जिसे जानकर फिर तुम्हारे लिये इस मनुष्यलोकमें कुछ भी जानना शेष नहीं रहेगा ॥ १-२ ॥

जब ऐसी बात है, तब फिर सब मनुष्य आपके समग्र रूपको क्यों नहीं जान लेते ?

इधर स्वतः प्रवृत्ति बहुत कम मनुष्योंकी है । हजारोंमेंसे कोई एक मनुष्य अपने कल्याणके लिये यत्न करता है । उन यत्न करनेवाले सिद्धों (साधकों)में भी कोई एक ही मेरे समग्र रूपको तत्त्वसे जानता है ॥ ३ ॥

आपका वह समग्र रूप क्या है ?

हे महाबाहो ! पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—इन आठ प्रकारके भेदोंवाली मेरी 'अपरा' (जड) प्रकृति है । इससे सर्वथा भिन्न मेरी जीवरूपा 'परा' (चेतन) प्रकृति है, जिसने (अहंता-ममता करके) इस संसारको धारण कर रखा है । इन अपरा और परा—दोनों प्रकृतियोंके संयोगसे ही सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं ।

इनका भी कारण कौन है भगवन् ?

मैं ही सम्पूर्ण संसारका मूल कारण हूँ; क्योंकि संसार मुझसे ही उत्पन्न होता है और मुझमें ही लीन होता है । हे धनंजय ! मेरे सिवाय इस संसारका दूसरा कोई किञ्चिन्मात्र भी कारण नहीं है । जैसे सूतसे बनायी हुई मणियाँ सूतके धागेमें ही पिरोयी जायँ तो उस मालामें सूत-ही-सूत होता है, ऐसे ही सम्पूर्ण संसारमें मैं-ही-मैं हूँ ॥ ४-७ ॥

पर मैं इस बातको कैसे समझूँ भगवन् ?

हे कुन्तीनन्दन ! जलमें रस मैं हूँ, सूर्य और चन्द्रमामें प्रभा (प्रकाश) मैं हूँ, सम्पूर्ण वेदोंमें प्रणव (ओंकार) मैं हूँ, आकाशमें शब्द मैं हूँ, मनुष्योंमें पुरुषार्थ मैं हूँ, पृथ्वीमें पवित्र गन्ध मैं हूँ, अग्निमें तेज मैं हूँ, सम्पूर्ण प्राणियोंमें जीवनी-शक्ति मैं हूँ और तपस्वियोंका तप मैं हूँ । हे पार्थ ! सम्पूर्ण प्राणियोंका अनादि बीज मुझे ही जानो । बुद्धिमानोंकी बुद्धि और तेजस्वी पुरुषोंका तेज (प्रभाव) मैं हूँ । हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! बलवानोंमें कामना और आसक्तिसे रहित

(सात्त्विक) बल मैं हूँ। मनुष्योंमें धर्मसे युक्त काम मैं हूँ। और तो क्या कहूँ, जितने भी सात्त्विक, राजस और तामस भाव हैं, वे सब मुझसे ही होते हैं—ऐसा समझो; परंतु मैं उनमें और वे मुझमें नहीं हैं अर्थात् मैं उनसे सर्वथा अतीत, निर्लिप्त हूँ ॥ ८—१२ ॥

यदि ऐसी बात है तो सब लोग आपको ऐसा क्यों नहीं जानते ?

वे सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंसे मोहित रहते हैं अर्थात् संसारमें ही रचे-पचे रहते हैं। इसलिये वे तीनों गुणोंसे अतीत और अविनाशी मुझे नहीं जानते ॥ १३ ॥

तो फिर आपको कौन जानते हैं ?

मेरी इस तीनों गुणोंवाली मायाको पार करना बड़ा ही कठिन है। जो इस मायासे विमुख होकर केवल मेरी ही शरण हो जाते हैं, वे मेरी कृपासे इस मायाको तर जाते हैं अर्थात् मुझे जान जाते हैं ॥ १४ ॥

जब ऐसी ही बात है, तब फिर सब आपकी शरण क्यों नहीं होते ?

जो आसुर भावका आश्रय लेनेवाले हैं और मायासे जिनका ज्ञान (विवेक) ढका हुआ है, ऐसे मनुष्योंमें महान् नीच तथा पाप-कर्म करनेवाले मूढ़ मनुष्य मेरी शरण नहीं होते ॥ १५ ॥

तो फिर आपकी शरण कौन होते हैं भगवन् ?

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी (प्रेमी)—ये चार प्रकारके सुकृती भक्त मेरा भजन करते हैं अर्थात् मेरी शरण होते हैं ॥ १६ ॥

इन चारोंमें श्रेष्ठ कौन है ?

इन चारों भक्तोंमें अनन्यभक्तिवाला ज्ञानी (प्रेमी) भक्त श्रेष्ठ है; क्योंकि वह निरन्तर मुझमें लगा रहता है। इसलिये मैं उसे और वह मुझे अत्यन्त प्यारा है ॥ १७ ॥

क्या दूसरे भक्त श्रेष्ठ नहीं हैं ?

वे सभी उदार हैं, श्रेष्ठ हैं।

फिर प्रेमी भक्तमें क्या विशेषता हुई ?

प्रेमी भक्त तो मेरी आत्मा (स्वरूप) ही है—ऐसा मेरा मत है; क्योंकि जिससे श्रेष्ठ दूसरी कोई गति नहीं है, ऐसे मुझमें ही वह लगा हुआ है और मुझमें ही दृढ़ आस्थावाला है। तात्पर्य यह है कि अर्थार्थीमें धनकी इच्छा है, आर्तमें दुःख दूर करनेकी इच्छा है और जिज्ञासुमें तत्त्व जाननेकी इच्छा है; परंतु ज्ञानी (प्रेमी)में तो किसी भी तरहकी कोई इच्छा नहीं है ॥ १८ ॥

ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्तकी इतनी महिमा क्यों है ?

बहुत जन्मोंके अन्तिम इस मनुष्य-जन्ममें मेरी शरण होकर जो ज्ञानवान् 'सब कुछ वासुदेव (परमात्मा) ही है'—ऐसा अनुभव करता है, वह महात्मा संसारमें अत्यन्त दुर्लभ है ॥ १९ ॥

ऐसा प्रेमी भक्त न होनेमें क्या कारण है ?

तरह-तरहकी कामनाओंके कारण जिनका 'सब कुछ वासुदेव ही है'—यह ज्ञान ढक गया है, ऐसे वे अपने स्वभावके परवश हुए मनुष्य मेरी शरण न होकर कामनापूर्तिके लिये अनेक उपायों और नियमोंको धारण करते हुए दूसरे देवताओंकी शरण हो जाते हैं अर्थात् उन देवताओंकी उपासनामें लग जाते हैं ॥ २० ॥

उनको आप अपनी ओर क्यों नहीं खींच लेते ?

मैं मनुष्योंको दी हुई स्वतन्त्रताको छीनता नहीं हूँ, प्रत्युत जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक जिस-जिस देवताका पूजन करना चाहता है, उस-उस देवताके प्रति मैं उसकी श्रद्धाको दृढ़ कर देता हूँ और वह उसी श्रद्धासे युक्त होकर सकामभावसे उस देवताकी उपासना करता है। परंतु भैया ! एक विचित्र बात है कि उन्हें उस उपासनासे जो फल मिलता है, वह मेरेद्वारा विधान किया हुआ ही मिलता है, पर सकामभावपूर्वक देवताओंकी उपासना करनेके कारण उन अल्पबुद्धिवाले मनुष्योंको अन्तवाला अर्थात् उत्पन्न और नष्ट होनेवाला फल ही मिलता है, मैं नहीं मिलता। देवताओंका पूजन करनेवाले अधिक-से-अधिक देवताओंके पुनरावर्ती लोकोंमें जा सकते हैं, पर मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं ॥ २१—२३ ॥

जब आपके भक्त आपको ही प्राप्त होते हैं, तब फिर सब आपके भक्त क्यों नहीं हो जाते ?

भैया ! बुद्धिहीन मनुष्य मेरे सर्वश्रेष्ठ अविनाशी परमभावको न जानते हुए मुझ अव्यक्त परमात्माको जन्मने-मरनेवाला मनुष्य ही मानते हैं । फिर वे मेरे भक्त कैसे बन सकते हैं ? ॥ २४ ॥

वे आपके परमभावको नहीं जानते तो न सही, पर आप उनके सामनें अपने असली रूपसे प्रकट क्यों नहीं हो जाते ?

नहीं भैया ! जब वे मूढ़लोग मुझे अजन्मा और अविनाशी नहीं मानते, तब योगमायासे अच्छी तरहसे आवृत हुआ मैं उनके सामने अपने असली रूपसे प्रकट नहीं होता ॥ २५ ॥

क्या उस योगमायाका परदा आपके सामने नहीं रहता ?

नहीं अर्जुन ! मैं तो भूत, भविष्य और वर्तमानमें होनेवाले सम्पूर्ण प्राणियोंको जानता हूँ, पर वे मायासे मोहित जीव मुझे नहीं जानते ॥ २६ ॥

आपको न जाननेमें मुख्य कारण क्या है ?

हे भरतवंशी अर्जुन ! मुझे न जाननेमें मुख्य कारण है—राग और द्वेषसे उत्पन्न होनेवाला द्वन्द्वमोह । हे परंतप ! इसी द्वन्द्वमोहसे मोहित सम्पूर्ण प्राणी संसारमें जन्म-मरणको प्राप्त होते रहते हैं ॥ २७ ॥

तो क्या सभी द्वन्द्वमोहसे मोहित रहते हैं ?

नहीं, जिन पुण्यकर्मा मनुष्योंके पाप नष्ट हो गये हैं, वे द्वन्द्वमोहसे रहित हो जाते हैं और दृढ़व्रती होकर मेरे भजनमें लग जाते हैं ॥ २८ ॥

दृढ़व्रती होकर आपके भजनमें लग जानेसे क्या होता है ?

जो जरा-मरण आदि दुःखोंसे मुक्ति पानेके लिये केवल मेरा ही आश्रय लेकर यत्न करते हैं, वे उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मको जान जाते हैं तथा वे अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित मुझे अर्थात् मेरे समग्र रूपको ('सब कुछ वासुदेव ही है'—इस रूपको) जान जाते हैं । इतना ही नहीं, वे अनन्य भक्त अन्तकालमें मुझे ही प्राप्त होते हैं ॥ २९-३० ॥

आठवाँ अध्याय

अर्जुन बोले—हे पुरुषोत्तम ! अभी आपने अपने आश्रितजनोंके द्वारा अपने ब्रह्म, अध्यात्म आदि समग्र रूपको जाननेकी बात कही; अतः मैं यह पूछना चाहता हूँ कि वह ब्रह्म क्या है ?

भगवान् बोले—उस परम अक्षर अर्थात् निर्गुण-निराकार परमात्माको ब्रह्म कहते हैं ।

वह अध्यात्म क्या है ?

जीवोंकी सत्ता (होनेपन) को अध्यात्म कहते हैं ।

वह कर्म क्या है ?

महाप्रलयमें अपने कर्मोंके सहित मुझमें लीन हुए जीवोंको महासर्गके आदिमें कर्मफल-भोगके लिये अपनेमेंसे प्रकट कर देना अर्थात् शरीरोंके साथ विशेष सम्बन्ध कर देना ही त्यागरूप कर्म है ।

अधिभूत किसको कहा गया है भगवन् ?

हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! नष्ट होनेवाले मात्र पदार्थ अधिभूत हैं ।

अधिदैव किसे कहा जाता है ?

सृष्टिके आरम्भमें सबसे पहले प्रकट होनेवाले हिरण्यगर्भ ब्रह्माजी अधिदैव हैं ।

इस देहमें अधियज्ञ कौन है ?

इस मनुष्य-शरीरमें अन्तर्यामी रूपसे मैं ही अधियज्ञ हूँ ।

हे मधुसूदन ! वशमें किये हुए अन्तःकरणवाले मनुष्योंके द्वारा अन्तकालमें आप कैसे जाननेमें आते हैं ?

जो मनुष्य अन्तकालमें मेरा स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह मुझे ही प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है ॥ १—५ ॥

अन्तकालमें आपका स्मरण करे तो आपको प्राप्त होगा, पर यदि आपका स्मरण न करे, तो ?

हे कुन्तीनन्दन ! मनुष्य अन्तसमयमें जिस-जिस भावका स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह उसी (अन्तसमयके) भावसे सदा भावित हुआ उसी भावको प्राप्त हो जाता है ॥ ६ ॥

तो फिर अन्तकालमें आपके स्मरणके लिये क्या करना चाहिये ?

तुम अपने मन और बुद्धिको मुझमें अर्पण करके सब समय मेरा ही स्मरण करो और प्राप्त कर्तव्य-कर्म भी करो ।

इससे क्या होगा ?

तुम निःसंदेह मुझे ही प्राप्त करोगे ॥ ७ ॥

आपके किस स्वरूपका चिन्तन करें भगवन् ?

मेरे सगुण-निराकार, निर्गुण-निराकार और सगुण-साकार—ये तीन स्वरूप हैं । इनमेंसे पहले मैं सगुण-निराकारके चिन्तनका प्रकार बताता हूँ । हे पार्थ ! जो मनुष्य अभ्यासयोगसे युक्त अनन्य चित्तसे परम दिव्य पुरुषका अर्थात् मेरे सगुण-निराकार स्वरूपका चिन्तन करता हुआ शरीर छोड़ता है, वह मेरे उसी स्वरूपको प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

वह स्वरूप कैसा है भगवन् ?

वह सर्वज्ञ है, सबका आदि है, सबपर शासन करनेवाला है, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म है, सबका धारण-पोषण करनेवाला है, अचिन्त्य स्वरूपवाला है और अज्ञान-अन्धकारसे रहित तथा सूर्यकी तरह प्रकाशस्वरूप है । ऐसे स्वरूपका जो चिन्तन करता है, वह भक्तियुक्त मनुष्य अन्तकालमें योगबलके द्वारा अचल मनसे अपने प्राणोंको भृकुटीके मध्यमें अच्छी तरहसे स्थापन करके शरीर छोड़नेपर उस परम दिव्य पुरुषको प्राप्त हो जाता है ॥९-१०॥

मैंने आपके सगुण-निराकारस्वरूपके चिन्तनका प्रकार सुन लिया, अब निर्गुण-निराकारका चिन्तन कैसे करें ?

वेदवेत्तालोग जिसे अक्षर कहते हैं, रागरहित यतिलोग जिसे प्राप्त करते हैं और जिसे प्राप्त करनेकी इच्छासे ब्रह्मचारीलोग ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उस पदकी प्राप्तिकी बात मैं संक्षेपसे कहूँगा । जो साधक अन्तकालमें सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके मनको हृदयमें स्थापित करके और प्राणोंको मस्तिष्कमें धारण करके योगधारणामें स्थित हुआ 'ॐ' इस एक अक्षर ब्रह्मका उच्चारण और मेरे निर्गुण-निराकार स्वरूपका चिन्तन करता हुआ शरीर छोड़ता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है ॥११-१३॥

मैंने आपके निर्गुण-निराकार स्वरूपके चिन्तनका प्रकार सुन लिया, अब सगुण-साकारका चिन्तन कैसे करें ?

हे पार्थ ! अनन्यचित्तवाला जो मनुष्य नित्य-निरन्तर मेरा ही चिन्तन करता है, मुझमें सदा लगे हुए उस योगीको मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे मैं सुलभतासे प्राप्त हो जाता हूँ ॥ १४ ॥

आपकी प्राप्तिसे क्या होता है भगवन् ?

जो महात्मालोग मेरे परम प्रेमसे युक्त होकर मुझे प्राप्त कर लेते हैं, वे हर समय मिटनेवाले और दुःखोंके घररूप पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होते ॥ १५ ॥

तो फिर पुनर्जन्म किसका होता है ?

हे अर्जुन ! ब्रह्मलोकतक सभी लोक पुनरावर्ती हैं, इसलिये उन लोकोंमें जानेपर फिर लौटकर आना ही पड़ता है अर्थात् फिर जन्म लेना ही पड़ता है; परंतु हे कौन्तेय ! मेरी प्राप्ति होनेपर फिर जन्म नहीं लेना पड़ता ॥ १६ ॥

वे लोक पुनरावर्ती क्यों हैं ?

अवधिवाले होनेसे ।

वह अवधि क्या है ?

दिन-रातके तत्त्वको जाननेवाले पुरुष यह जानते हैं कि एक हजार चतुर्युगी* बीतनेपर ब्रह्माका एक दिन होता है और एक हजार ही चतुर्युगी बीतनेपर ब्रह्माकी एक रात होती है । ब्रह्माके दिनके आरम्भकालमें (नींदसे ब्रह्माके जागनेपर) ब्रह्माके सूक्ष्मशरीरसे सम्पूर्ण प्राणी प्रकट होते हैं और ब्रह्माकी रातके आरम्भकालमें (ब्रह्माके सोनेपर) ब्रह्माके सूक्ष्मशरीरमें सम्पूर्ण प्राणी लीन हो जाते हैं ॥ १७-१८ ॥

* तैंतालीस लाख बीस हजार वर्षोंकी एक चतुर्युगी होती है ।
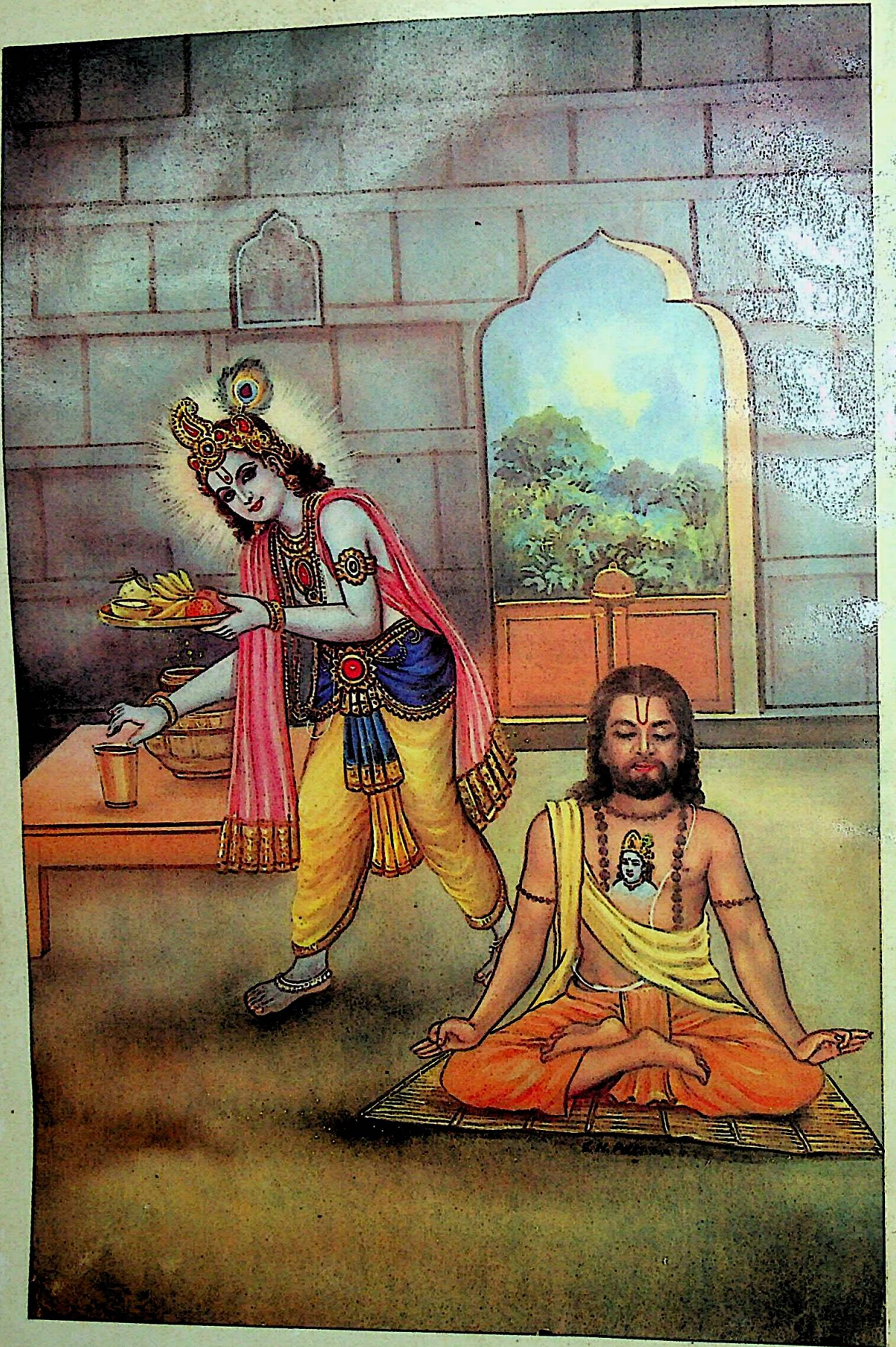
योगक्षेम-वहन

वे प्राणी बार-बार क्यों जन्मते-मरते हैं भगवन् ?

प्राणियोंका समुदाय तो वही रहता है, जो कि पहले सर्गोमें था। पर केवल अपने राग-द्वेषयुक्त स्वभावके परवश होकर वही प्राणिसमुदाय बार-बार ब्रह्माके दिनके समय उत्पन्न होता है और ब्रह्माकी रातके समय लीन होता रहता है ॥ १९ ॥

उस अव्यक्त (ब्रह्माके सूक्ष्मशरीर) से भी श्रेष्ठ और कोई है क्या, जिसका कभी विनाश न होता हो ?

हाँ, उस ब्रह्मासे भी पर (श्रेष्ठ) एक नित्य-निरन्तर रहनेवाला भावरूप अव्यक्त (परमात्मा) है, जो कि सम्पूर्ण प्राणियोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता। उसीको अव्यक्त, अक्षर और परमगति कहते हैं तथा जिसे प्राप्त होनेपर जीव फिर लौटकर संसारमें नहीं आते, वही मेरा परमधाम (स्वरूप) है ॥ २०-२१ ॥

उस परमधामकी प्राप्ति कैसे हो ?

हे पार्थ ! जिसके अन्तर्गत सब संसार है और जिससे सब संसार व्याप्त है, वह परम पुरुष परमात्मा अनन्य-भक्तिसे प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

अन्य (संसार) का सम्बन्ध न रखनेसे और अन्यका सम्बन्ध रखनेसे क्या होता है ?

हे अर्जुन ! जिस मार्गसे गये हुए अन्यका सम्बन्ध न रखनेवाले प्राणी फिर लौटकर संसारमें नहीं आते और जिस मार्गसे गये हुए अन्यका सम्बन्ध रखनेवाले प्राणी फिर लौटकर संसारमें आते हैं, उन दोनों मार्गोंको मैं कहूँगा ॥ २३ ॥

वे दोनों मार्ग कौन-से हैं भगवन् ?

जिस मार्गमें प्रकाशस्वरूप अग्नि, दिन, शुक्लपक्ष और छः महीनोंवाले उत्तरायणके अधिपति देवता हैं, शरीर छोड़कर उस मार्गसे गये हुए ब्रह्मवेत्तालोग ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् फिर लौटकर नहीं आते; और जिस मार्गमें धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और छः महीनोंवाले दक्षिणायनके अधिपति देवता हैं, शरीर छोड़कर उस मार्गसे गये हुए सकाम मनुष्य स्वर्गादि ऊँचे लोकोंका सुख भोगकर फिर लौटकर आते हैं ॥ २४-२५ ॥

ये दोनों मार्ग कबसे आरम्भ हुए हैं ?

प्राणियोंके ये दोनों शुक्ल और कृष्ण-मार्ग अनादि हैं। इनमेंसे शुक्लमार्गसे गये हुएको लौटकर नहीं आना पड़ता और कृष्णमार्गसे गये हुएको लौटकर आना पड़ता है ॥ २६ ॥

लौटकर न आना पड़े—इसके लिये क्या करें भगवन् ?

हे पार्थ ! इन दोनों मार्गोंके परिणामको जाननेसे कोई भी योगी संसारमें मोहित नहीं होता। इसलिये हे अर्जुन ! तुम सब समयमें योगयुक्त हो जाओ अर्थात् संसारमें सदा ही निर्लिप्त, निर्विकार रहो ॥ २७ ॥

योगी होनेसे क्या होगा भगवन् ?

वेद, यज्ञ, तप तथा दान—जो-जो पुण्यफल कहे गये हैं, योगी उन सभी पुण्यफलोंका अतिक्रमण करके आदिस्थान परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ २८ ॥

नवाँ अध्याय

मेरेद्वारा बीचमें ही प्रश्न करनेसे आपने जो बातें कहीं, उन्हें मैंने सुन लिया। मेरेद्वारा प्रश्न करनेसे पहले आप और क्या कहना चाहते थे भगवन् ?

भगवान् बोले—भैया ! मैं पहले विज्ञानसहित ज्ञानकी बात कह रहा था। वही अत्यन्त गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञान दोषदृष्टिरहित तुम्हारे लिये मैं फिर कहूँगा, जिसे जानकर तुम जन्म-मरणरूप संसारसे मुक्त हो जाओगे ॥ १ ॥

वह विज्ञानसहित ज्ञान तो बड़ा कठिन होगा ?

नहीं भैया ! वह विज्ञानसहित ज्ञान सम्पूर्ण विद्याओंका राजा, सकल गोपनीयोंका राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्ममय और अविनाशी है तथा करनेमें (काममें लानेमें) बहुत ही सुगम है ॥ २ ॥

ऐसी सुगम विद्याको सब-के-सब प्राप्त क्यों नहीं कर लेते ?

हे परंतप ! मनुष्य इस ज्ञान-विज्ञानरूप धर्मपर श्रद्धा-विश्वास नहीं करते, इसलिये वे मुझे न प्राप्त होकर

मौतरूपी संसारके मार्गमें लौटते रहते हैं अर्थात् बार-बार जन्मते-मरते रहते हैं ॥ ३ ॥

वह ज्ञान-विज्ञानरूप धर्म (विद्या) क्या है भगवन् ?

मैं अव्यक्तरूपसे सम्पूर्ण प्राणियोंमें हूँ और सम्पूर्ण प्राणी मुझमें हैं तथा मैं सम्पूर्ण प्राणियोंमें नहीं हूँ और सम्पूर्ण प्राणी मुझमें नहीं हैं अर्थात् जहाँ प्राणियोंकी स्वतन्त्र सत्ता मानी जाय, वहाँ तो सब प्राणियोंमें मैं हूँ और सब प्राणी मुझमें हैं; परंतु जहाँ प्राणियोंकी स्वतन्त्र सत्ता न मानी जाय, वहाँ मैं प्राणियोंमें नहीं हूँ और प्राणी मुझमें नहीं हैं; किंतु सब कुछ मैं-ही-मैं हूँ ।

पर इस संसारका उत्पादक और आधार तो कोई होगा ही ?

भैया ! हूँ तो मैं ही; परंतु मेरा स्वरूप सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाला, सबको धारण करनेवाला और उनका भरण-पोषण करनेवाला होता हुआ भी उन प्राणियोंमें स्थित नहीं है, उनसे सर्वथा निर्लिप्त है—मेरे इस ईश्वर-सम्बन्धी योग (सामर्थ्य) को समझो ॥ ४-५ ॥

तो फिर वे प्राणी आपमें किस प्रकार स्थित हैं ?

जैसे सब जगह विचरनेवाली महान् वायु निरन्तर आकाशमें ही स्थित रहती है, ऐसे ही सब प्राणी मेरेमें ही स्थित रहते हैं, ऐसा मानो ॥ ६ ॥

फिर तो वे प्राणी मुक्त हो जाते होंगे ?

नहीं कुन्तीनन्दन ! प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रखनेवाले वे प्राणी महाप्रलयमें मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं और महासर्गके आरम्भमें मैं फिर उनकी रचना कर देता हूँ ॥७॥

आप उनकी रचना कबतक करते रहते हैं ?

जबतक वे अपनी प्रकृति (स्वभाव) के परवश रहते हैं, तबतक मैं अपनी प्रकृतिको वशमें करके उनकी बार-बार रचना करता रहता हूँ ॥ ८ ॥

जब आप उनकी बार-बार रचना करते हैं, तब आपका उनकी रचनारूप कर्मोंके साथ सम्बन्ध रहता होगा भगवन् ?

नहीं धनंजय ! मैं उन कर्मोंमें आसक्तिरहित तथा उदासीनकी तरह सर्वथा निर्लिप्त रहता हूँ, इसलिये वे कर्म मुझे नहीं बाँधते ॥ ९ ॥

तो फिर आप सृष्टिकी रचना किस तरहसे करते हैं ?

वास्तवमें तो प्रकृति ही मेरी अध्यक्षतामें अर्थात् मुझसे सत्ता-स्फूर्ति पाकर सम्पूर्ण चर-अचर प्राणियोंकी रचना करती है । हे कौन्तेय ! मेरी अध्यक्षताके कारण ही संसारमें विविध परिवर्तन हो रहा है ॥ १० ॥

आपकी शक्तिसे ही संसारमें सब कुछ हो रहा है, फिर भी सब लोग आपपर श्रद्धा क्यों नहीं करते ?

मूढ़लोग मेरे सम्पूर्ण प्राणियोंके महान् ईश्वररूप परमभावको न जानते हुए मुझे साधारण मनुष्य मानकर मेरी अवज्ञा करते हैं ॥ ११ ॥

वे मूढ़लोग किस तरहके होते हैं भगवन् ?

वे मूढ़लोग आसुरी, राक्षसी और मोहिनी प्रकृतिका आश्रय लेनेवाले होते हैं और उनकी सब आशाएँ, सब शुभकर्म तथा सब ज्ञान व्यर्थ होते हैं अर्थात् सत्-फल देनेवाले नहीं होते ॥ १२ ॥

फिर आपपर श्रद्धा करनेवाले कौन होते हैं भगवन् ?

हे पृथानन्दन ! जो महात्मालोग मुझे सम्पूर्ण प्राणियोंका आदि और अविनाशी मानते हैं, वे मेरी दैवी सम्पत्तिका आश्रय लेकर अनन्यभावसे मेरा भजन करते हैं ॥ १३ ॥

आपका भजन करनेवालोंके क्या लक्षण होते हैं ?

निरन्तर मुझमें लगे हुए वे दृढ़व्रती मनुष्य भक्ति-पूर्वक मेरे नामका कीर्तन करते हैं, मेरी प्राप्तिके लिये यत्न (लगनपूर्वक साधन) करते हैं और मुझे नमस्कार करते हुए मेरी उपासना करते हैं ॥ १४ ॥

आपकी उपासना करनेवालोंका और भी कोई प्रकार है भगवन् ?

हाँ, है । कई साधक ज्ञानयज्ञके द्वारा अभिन्नभावसे मेरा पूजन करते हुए मेरी उपासना करते हैं और दूसरे कई साधक अपनेको पृथक् मानकर (सेव्य-सेवकभावसे) तथा विश्वको मेरा स्वरूप समझकर मेरी अनेक प्रकारसे उपासना करते हैं ॥ १५ ॥

विश्वकी उपासना आपकी उपासना कैसे हुई भगवन् ?

मैं ही क्रतु, यज्ञ, स्वधा, औषध, मन्त्र, घृत, अग्नि और हवनरूप क्रिया हूँ। मैं ही जाननेयोग्य विधि, पवित्रता, ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद हूँ। इस सम्पूर्ण जगत्का पिता, धाता, माता, पितामह, गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, आश्रय, सुहृद्, उत्पत्ति, प्रलय, स्थान, निधान और अविनाशी बीज भी मैं ही हूँ। हे अर्जुन ! मैं ही सूर्यरूपसे तपता हूँ, जलको ग्रहण करता हूँ और फिर उस जलको वर्षारूपसे बरसा देता हूँ। मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ। अधिक क्या कहूँ, सत् और असत् (जड-चेतन) भी मैं ही हूँ ॥ १६–१९ ॥

जब विश्वरूपसे सब कुछ आप ही हैं, तब फिर आपको छोड़कर मनुष्य देवताओंकी उपासना क्यों करते हैं ?

सुखभोगकी इच्छावाले मनुष्य तीनों वेदोंमें कहे हुए यज्ञादि शुभकर्मोंके अनुष्ठानद्वारा इन्द्रका पूजन करते हुए स्वर्गकी याचना करते हैं। फिर सोमरसको पीनेवाले और स्वर्गके प्रतिबन्धक पापसे रहित वे मनुष्य पुण्यके बलपर विशाल स्वर्गलोकमें जाते हैं और वहाँ देवताओंके दिव्य भोगोंको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर पुनः मृत्युलोकमें आ जाते हैं। इस तरह तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम अनुष्ठानोंका आश्रय लेनेवाले और भोगोंकी कामना करनेवाले मनुष्य बार-बार जन्मते और मरते हैं ॥ २०-२१ ॥

यह दशा तो सकाम अनुष्ठानोंका आश्रय लेनेवालोंकी होती है, पर कोई आपका आश्रय ले, तो ?

जो अनन्य होकर मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उन मुझमें निरन्तर लगे हुए भक्तोंका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ अर्थात् अप्राप्तकी प्राप्ति करा देने और प्राप्तकी रक्षा करनेका काम मैं स्वयं करता हूँ ॥ २२ ॥

परंतु आपकी उपासना न करके कोई श्रद्धापूर्वक अन्य देवताओंकी उपासना करे, तो ?

हे कुन्तीनन्दन ! जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक अन्य देवताओंका पूजन (उपासना) करते हैं, वे भी वास्तवमें ('सत्-असत् सब कुछ मैं ही हूँ'—इस दृष्टिसे) मेरा ही पूजन करते हैं, पर उनके द्वारा किया हुआ वह पूजन विधिपूर्वक नहीं होता ॥ २३ ॥

जब वह पूजन भी आपका ही है, तब फिर उनका वह पूजन अविधिपूर्वक क्यों है भगवन् ?

यज्ञ, दान, तप आदि सम्पूर्ण शुभ कर्मोंका भोक्ता और समस्त संसारका स्वामी मैं ही हूँ; परंतु वे मुझे इस तरह तत्त्वसे नहीं जानते। इसलिये उनका पतन हो जाता है ॥ २४ ॥

वह पतन क्या है ?

देवताओंके भक्त देवताओंको, पितरोंके भक्त पितरोंको और भूत-प्रेतोंके भक्त भूत-प्रेतोंको प्राप्त होते हैं; परंतु मेरे भक्त तो मुझे ही प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

जिस भक्तिसे आपके भक्त आपको ही प्राप्त होते हैं, वह भक्ति तो बड़ी कठिन होगी ?

नहीं भैया ! वह तो बड़ी सुगम है। जो भक्त प्रेमसे मुझे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस मुझमें तल्लीन हुए भक्तके द्वारा भक्तिपूर्वक दिये हुए उपहारको मैं स्वयं खा लेता हूँ ॥ २६ ॥

मुझे क्या करना चाहिये ?

हे कुन्तीपुत्र ! तुम जो कुछ खाते हो, जो कुछ यज्ञ करते हो, जो कुछ दान देते हो, जो कुछ तप करते हो और इसके सिवाय जो कुछ भी करते हो, वह सब मेरे अर्पण कर दो ॥ २७ ॥

अर्पण करनेसे क्या होगा भगवन् ?

भैया ! तुम बन्धनकारक सम्पूर्ण शुभ-अशुभ कर्मोंके फलसे मुक्त होकर मुझे प्राप्त हो जाओगे ॥ २८ ॥

जो सब कुछ आपके अर्पण कर दे, उसे तो आप बन्धनसे मुक्त कर दें और जो सब कुछ आपके अर्पण न करे, वह बन्धनमें ही रहे ! आपमें इतना पक्षपात क्यों ?

यह पक्षपात नहीं है भैया ! मैं तो सम्पूर्ण प्राणियोंमें समान हूँ। मेरा न तो कोई द्वेषी है और न कोई प्रिय है ? परंतु जो प्रेमपूर्वक मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें और मैं उनमें विशेषतासे हूँ ॥ २९ ॥

कोई मनुष्य दुराचारी हो तो क्या वह भी आपका भजन कर सकता है? आपका भक्त हो सकता है?

हाँ, अवश्य हो सकता है। यदि कोई दुराचारी-से-दुराचारी मनुष्य भी दूसरोंका आश्रय छोड़कर मेरा भजन करता है तो उसे साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि उसने निश्चय बहुत अच्छा कर लिया है ॥ ३० ॥

उसे केवल साधु ही मान लें क्या?

नहीं, वह तो तत्काल धर्मात्मा (महान् पवित्र) बन जाता है और सदा रहनेवाली शान्तिको प्राप्त हो जाता है। हे कुन्तीनन्दन! तुम प्रतिज्ञा करो कि मेरे भक्तका कभी पतन नहीं होता ॥ ३१ ॥

आपकी भक्तिके अधिकारी और भी हो सकते हैं क्या?

हाँ, पार्थ! पापयोनिवाले तथा स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र भी मेरा आश्रय लेकर मुझे प्राप्त हो जाते हैं। फिर जो जन्म और कर्मसे पवित्र ब्राह्मण और क्षत्रिय हैं, वे मेरे भक्त हो जायँ, इसमें तो कहना ही क्या है?

मैं ऐसा भक्त कैसे बनूँ भगवन्?

इस नाशवान् और सुखरहित शरीरको प्राप्त करके तुम मेरा भजन करो ॥ ३२-३३ ॥

आपका भजन मैं कैसे करूँ?

तुम स्वयं मेरा ही भक्त हो जाओ, मुझमें ही मनवाला हो जाओ, मेरा ही पूजन करनेवाला हो जाओ और मुझे ही नमस्कार करो। इस तरह मेरे साथ अपने-आपको लगाकर मेरे परायण हुए तुम मेरेको ही प्राप्त होओगे ॥ ३४ ॥

दसवाँ अध्याय

भगवान् बोले—अरे भैया! तुम फिर मेरे परम वचन* (एक बहुत श्रेष्ठ बात)को सुनो, जिसे मैं तुम्हारे हितकी दृष्टिसे कहूँगा; क्योंकि हे महाबाहो! तुम मुझसे अत्यन्त प्रेम रखते हो।

वह परम वचन क्या है भगवन्?

यह सब संसार मेरा ही प्रकट किया हुआ है, इस बातको पूरी तरहसे न देवता जानते हैं और न महर्षि ही जानते हैं; क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओं और महर्षियोंका आदि हूँ ॥ १-२ ॥

जब सबके मूल आपको देवता और महर्षिलोग भी नहीं जानते, तब फिर मनुष्य आपको कैसे जानेगा और उसका कल्याण कैसे होगा?

जो मनुष्य मुझे अजन्मा, अविनाशी और सम्पूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर जानता है अर्थात् दृढ़तासे मानता है, वह मनुष्योंमें जानकार है और वह सब पापोंसे छूट जाता है ॥ ३ ॥

वह आपका परम वचन मैं कैसे समझूँ भगवन्?

बुद्धि, ज्ञान, मोहरहित होना, क्षमा, सत्य, इन्द्रियोंको वशमें करना, मनको वशमें करना, सुख, दुःख, उत्पन्न होना, लीन होना, भय, अभय, अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, यश और अपयश—प्राणियोंके ये अनेक प्रकारके और अलग-अलग भाव मुझसे ही होते हैं। केवल ये भाव ही नहीं, जो मुझमें श्रद्धा-भक्ति रखते हैं और जिनकी संसारमें यह सम्पूर्ण प्रजा है, वे सात महर्षि और उनसे भी पहले होनेवाले चार सनकादि तथा चौदह मनु भी मेरे मनसे पैदा हुए हैं अर्थात् उन सबका उत्पादक और शिक्षक मैं ही हूँ ॥ ४—६ ॥

* सबके मूलमें अपने-आपको बताना ही भगवान्‌का परम वचन है।

बुद्धि, ज्ञान आदि और महर्षि आदि मुझसे ही उत्पन्न होते हैं—यह कहनेमें आपका क्या तात्पर्य है?

जो मेरी इस विभूति और योगको* श्रद्धासे दृढ़तापूर्वक मान लेता है, उसकी मुझमें अविचल भक्ति हो जाती है, इसमें कोई संदेह नहीं है ॥ ७ ॥

वह दृढ़तासे मानना क्या है?

मैं संसारमात्रका मूल कारण हूँ और मुझसे ही सारा संसार चेष्टा कर रहा है—ऐसा मुझे दृढ़तासे मानकर मुझमें ही श्रद्धा-प्रेम रखते हुए बुद्धिमान् भक्त मेरा ही भजन करते हैं ॥ ८ ॥

उनके भजनका प्रकार क्या है भगवन्?

मुझमें मनवाले, मुझमें प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन आपसमें मेरे गुण, प्रभाव आदिको जनाते हुए और उनका कथन करते हुए नित्य-निरन्तर संतुष्ट रहते हैं और मुझसे ही प्रेम करते हैं ॥ ९ ॥

ऐसे भक्तोंके लिये आप क्या करते हैं?

ऐसे नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवाले भक्तोंको मैं ही अपनी ओरसे वह बुद्धियोग (समता) देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं ॥ १० ॥

इसके सिवाय क्या आप और भी कुछ करते हैं?

हाँ, उन भक्तोंपर कृपा करनेके लिये उनके स्वरूपमें स्थित हुआ मैं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारको देदीप्यमान ज्ञान-दीपकके द्वारा सर्वथा नष्ट कर देता हूँ ॥ ११ ॥

अर्जुन बोले—अहो भगवन्! भक्तोंपर आपकी अलौकिक, विलक्षण कृपाकी बात सुनकर मैं गद्गद हो रहा हूँ। हे प्रभो! निर्गुण-निराकार ब्रह्म, सबके परम स्थान और महान् पवित्र आप ही हैं। आप शाश्वत, दिव्य पुरुष, आदिदेव, अजन्मा और विभु (व्यापक) हैं—ऐसा सब-के-सब ऋषि, देवर्षि नारद, असित, देवल तथा व्यास कहते हैं और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं ॥ १२-१३ ॥

मैं जो कहता हूँ, उसपर तुम्हें विश्वास है अर्जुन?

हाँ, केशव! मुझसे आप जो कुछ कह रहे हैं, वह सब मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवन्! आपके प्रकट होनेको न तो दिव्यशक्तिवाले देवता जानते हैं और न विलक्षण मायाशक्तिवाले दानव ही जानते हैं ॥ १४ ॥

देवता भी नहीं जानते, तो फिर कौन जानता है?

हे भूतभावन! हे भूतेश! हे देवदेव! हे जगत्पते! हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपने-आपसे अपने-आपको जानते हैं। इसलिये आप जिन विभूतियोंसे सम्पूर्ण संसारको व्याप्त करके स्थित हैं, उन सभी अपनी दिव्य विभूतियोंको सम्पूर्णतासे कहनेमें आप ही समर्थ हैं ॥ १५-१६ ॥

विभूतियोंको सुनकर क्या करोगे?

हे योगिन्! निरन्तर साङ्गोपाङ्ग चिन्तन करता हुआ मैं आपको कैसे जानूँ? और हे भगवन्! किन-किन भावोंमें मैं आपका चिन्तन करूँ? इसलिये हे जनार्दन! आप अपनी विभूति और योगको विस्तारसे फिर कहिये; क्योंकि आपके अमृतमय वचनको सुनकर मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ॥ १७-१८ ॥

भगवान् बोले—हाँ, ठीक है, मैं अपनी दिव्य विभूतियोंको तुम्हारे लिये संक्षेपसे कहूँगा; क्योंकि हे कुरुश्रेष्ठ! मेरी विभूतियोंके विस्तारका अन्त नहीं है ॥ १९ ॥

आपकी वे दिव्य विभूतियाँ कौन-सी हैं भगवन्?

हे गुडाकेश! सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें भी मैं ही हूँ और प्राणियोंके अन्तःकरणमें आत्मरूपसे भी मैं ही स्थित हूँ। अदितिके पुत्रोंमें विष्णु (वामन) और प्रकाशमान वस्तुओंमें किरणोंवाला सूर्य हूँ। मरुतोंका तेज और नक्षत्रोंका अधिपति चन्द्रमा मैं हूँ। वेदोंमें सामवेद, देवताओंमें इन्द्र, इन्द्रियोंमें मन और प्राणियोंकी चेतना (प्राणशक्ति) मैं हूँ। रुद्रोंमें शंकर, यक्ष-राक्षसोंमें कुबेर, वसुओंमें अग्नि और शिखरवाले पर्वतोंमें मेरु मैं हूँ। हे पार्थ! पुरोहितोंमें मुख्य बृहस्पतिको मेरा स्वरूप समझो।

और आपकी कौन-सी विभूतियाँ हैं?

सेनापतियोंमें स्कन्द और जलाशयोंमें समुद्र मैं हूँ। महर्षियोंमें भृगु, वाणियों (शब्दों) में एक अक्षर

* भगवान्‌की सामर्थ्यका नाम 'योग' है और इस योगसे प्रकट होनेवाला जितना ऐश्वर्य है, उसका नाम 'विभूति' है।

(प्रणव), सम्पूर्ण यज्ञोंमें जपयज्ञ और स्थिर रहनेवालोंमें हिमालय मैं हूँ। सम्पूर्ण वृक्षोंमें पीपल, देवर्षियोंमें नारद, गन्धर्वोंमें चित्ररथ और सिद्धोंमें कपिल मुनि मैं हूँ। घोड़ोंमें अमृतके साथ समुद्रसे प्रकट होनेवाले उच्चैःश्रवा नामक घोड़ेको, श्रेष्ठ हाथियोंमें ऐरावत नामक हाथीको और मनुष्योंमें राजाको मेरी विभूति मानो ॥२०-२७॥

और किनको आपकी विभूतियाँ मानूँ भगवन् ?

अस्त्र-शस्त्रोंमें वज्र और धेनुओंमें कामधेनु मैं हूँ। धर्मके अनुकूल संतान-उत्पत्तिका हेतु कामदेव मैं हूँ और सर्पोंमें वासुकि मैं हूँ। नागोंमें शेषनाग, जल-जन्तुओंका अधिपति वरुण, पितरोंमें अर्यमा और शासन करनेवालोंमें यमराज मैं हूँ। दैत्योंमें प्रह्लाद, गणना करनेवालोंमें काल, पशुओंमें सिंह और पक्षियोंमें गरुड़ मैं हूँ। पवित्र करनेवालोंमें वायु, शस्त्रधारियोंमें राम, जल-जन्तुओंमें मगर और बहनेवाले स्रोतोंमें गङ्गाजी मैं हूँ ॥२८-३१॥

और आप किन-किनमें हैं ?

हे अर्जुन ! सम्पूर्ण सर्गोंके आदि, मध्य और अन्तमें मैं ही हूँ। विद्याओंमें अध्यात्मविद्या और परस्पर शास्त्रार्थ करनेवालोंका तत्त्व-निर्णयके लिये किया जानेवाला वाद मैं हूँ। अक्षरोंमें अकार और समासोंमें द्वन्द्व समास मैं हूँ। अक्षय काल अर्थात् कालका भी महाकाल तथा सब ओर मुखवाला धाता भी मैं हूँ ॥ ३२-३३ ॥

और आप किन-किन रूपोंमें हैं ?

सबका हरण करनेवाली मृत्यु और उत्पन्न होनेवालोंकी उत्पत्तिका हेतु मैं हूँ। स्त्री-जातिमें कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं हूँ। गायी जानेवाली श्रुतियोंमें बृहत्साम और वैदिक छन्दोंमें गायत्री छन्द मैं हूँ। बारह महीनोंमें मार्गशीर्ष और छः ऋतुओंमें वसन्त मैं हूँ। छल करनेवालोंमें जूआ और तेजस्वियोंमें तेज मैं हूँ। जीतनेवालोंकी विजय, निश्चय करनेवालोंका निश्चय और सात्त्विक पुरुषोंका सात्त्विक भाव मैं हूँ ॥ ३४-३६ ॥

और आपके कौन-से स्वरूप हैं भगवन् ?

वृष्णिवंशियोंमें वासुदेव, पाण्डवोंमें धनंजय (तुम), मुनियोंमें वेदव्यास और कवियोंमें शुक्राचार्य मैं हूँ। दमन करनेवालोंमें दण्ड, विजय चाहनेवालोंमें नीति, गोपनीय भावोंमें मौन और ज्ञानवानोंमें ज्ञान मैं हूँ। और तो क्या कहूँ, सम्पूर्ण प्राणियोंका बीज (कारण) मैं ही हूँ; क्योंकि हे अर्जुन ! मेरे बिना कोई भी चर-अचर प्राणी नहीं है अर्थात् चर-अचर सब कुछ मैं ही हूँ ॥ ३७-३९ ॥

क्या आपने अपनी पूरी विभूतियाँ कह दीं ?

नहीं परंतप ! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है। मैंने तुम्हारे सामने अपनी विभूतियोंका जो विस्तार कहा है, वह तो केवल संक्षेपसे कहा है। मैं अपनी विभूतियोंको पूरी तरह तो कह ही नहीं सकता, पर भैया ! मैं तुम्हें अपनी विभूतियोंकी एक पहचान बताता हूँ ॥ ४० ॥

वह पहचान क्या है महाराज ?

संसारमात्रमें जो-जो भी ऐश्वर्ययुक्त, शोभायुक्त और बलयुक्त वस्तु है, उस-उसको तुम मेरे ही तेज (योग) के किसी अंशसे उत्पन्न हुई समझो ॥ ४१ ॥

और पहचान क्या है भगवन् ?

हे भैया अर्जुन ! सम्पूर्ण जगत् (अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों) को अपने किसी एक अंशमें व्याप्त करके मैं तुम्हारे सामने हाथमें लगाम और चाबुक लिये बैठा हूँ, तुम्हारी आज्ञाका पालन करता हूँ, फिर तुम्हें इस प्रकारकी बहुत बातें जाननेकी क्या आवश्यकता है ? ॥ ४२ ॥

ग्यारहवाँ अध्याय

अर्जुन बोले—हे भगवन् ! केवल मुझपर कृपा करनेके लिये ही आपने जो परम गोपनीय आध्यात्मिक बात (सबके मूलमें मैं हूँ) कही है, उससे मेरा मोह चला गया है। हे कमलनयन ! मैंने आपसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयकी बातें सुनीं तथा आपका अविनाशी माहात्म्य भी विस्तारसे सुना ॥ १-२ ॥

*

अब तुम और क्या चाहते हो ?

हे पुरुषोत्तम ! आप अपनेको जैसा कहते हैं, बात वास्तवमें ठीक ऐसी ही है। अब हे परमेश्वर ! मैं आपका वह परम ऐश्वर रूप देखना चाहता हूँ, जिसके एक अंशमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड व्याप्त हैं। परंतु हे प्रभो ! मेरे द्वारा आपका वह परम ऐश्वर रूप देखा जा सकता है—ऐसा यदि आप मानते हैं तो हे योगेश्वर ! आप अपने उस अविनाशी स्वरूपको मुझे दिखा दीजिये न ! ॥ ३-४ ॥

भगवान् बोले—हे पार्थ ! तुम मेरे एक रूपको ही क्यों, मेरे सैकड़ों-हजारों रूपोंको देखो, जो कि दिव्य हैं, अनेक प्रकारके हैं, अनेक रंगोंके हैं और अनेक तरहकी आकृतियोंके हैं ॥ ५ ॥

और क्या देखूँ भगवन् ?

हे भारत ! तुम आदित्योंको, वसुओंको, रुद्रोंको, अश्विनीकुमारोंको तथा मरुतोंको भी देखो। जिन रूपोंको तुमने पहले कभी नहीं देखा है, ऐसे बहुत-से आश्चर्यजनक रूपोंको भी तुम देखो ॥ ६ ॥

मैं कहाँ देखूँ ?

हे नींदको जीतनेवाले अर्जुन ! मेरे इस शरीरके किसी भी एक अंशमें चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्‌को तुम अभी देखो। यदि इसके सिवाय तुम और भी कुछ देखना चाहते हो तो वह भी तुम देखो* ॥ ७ ॥

आप तो बार बार 'तुम देखो, तुम देखो' ऐसा कह रहे हैं, पर मुझे तो वह नहीं दीख रहा है, कैसे देखूँ ?

भैया ! तुम अपने इस चर्मचक्षुसे मुझे नहीं देख सकते। लो, मैं तुम्हें दिव्यचक्षु देता हूँ, उससे तुम मेरी इस ईश्वर-सम्बन्धी सामर्थ्यको देखो ॥ ८ ॥

ऐसा कहकर भगवान्‌ने क्या किया संजय ?

संजय बोले—हे राजन् ! ऐसा कहकर महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको अपना परम ऐश्वर्यमय रूप दिखाया ॥ ९ ॥

किस तरहका रूप दिखाया ?

जिसके अनेक मुख और नेत्र हैं, अनेक तरहके अद्भुत दर्शन हैं, अनेक दिव्य गहने हैं; और जिसने हाथोंमें अनेक तरहके दिव्य अस्त्र-शस्त्र उठा रखे हैं, अनेक दिव्य मालाएँ और दिव्य वस्त्र धारण कर रखे हैं, शरीरपर अनेक दिव्य चन्दन आदि लगा रखे हैं, ऐसे सर्वथा आश्चर्यमय और चारों ओर मुखवाले अपने अनन्त रूपको दिखाया ॥ १०-११ ॥

वह रूप आश्चर्यमय क्यों था संजय ?

यदि आकाशमें हजारों सूर्योंका एक साथ उदय हो जाय तो भी उन सबका प्रकाश मिलकर उस विश्वरूपके प्रकाशके सामने कुछ भी नहीं है ! ॥ १२ ॥

अर्जुनने वह रूप कहाँ देखा ?

अर्जुनने देवोंके देव भगवान्‌के शरीरके एक अंशमें सम्पूर्ण संसारको अनेक विभागोंसे युक्त देखा ॥ १३ ॥

उस रूपको देखकर अर्जुनने क्या किया संजय ?

भगवान्‌के उस विश्वरूपको देखकर अर्जुन बहुत आश्चर्यचकित हुए और उनके रोंगटे खड़े हो गये। वे हाथ जोड़कर और सिर झुकाकर प्रणाम करते हुए विश्वरूप भगवान्‌की स्तुति करने लगे ॥ १४ ॥

अर्जुन क्या बोले संजय ?

अर्जुन बोले—हे देव ! मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण देवताओंको, प्राणियोंके विशेष-विशेष समुदायोंको, कमलासनपर बैठे हुए ब्रह्माजीको, कैलासपर विराजमान शंकरको, सम्पूर्ण ऋषियोंको तथा दिव्य सर्पोंको देख रहा हूँ ॥ १५ ॥

हे विश्वरूप ! हे विश्वेश्वर ! मैं आपको अनेक हाथों, पेटों, मुखों और नेत्रोंवाला तथा सब ओरसे अनन्त रूपोंवाला देख रहा हूँ। मैं आपके आदि, मध्य और अन्तको भी नहीं देख रहा हूँ। मैं आपको सिरपर मुकुट तथा हाथोंमें गदा, चक्र, (शङ्ख और पद्म) धारण किये हुए, तेजका समूह, सब ओर प्रकाश करनेवाले, देदीप्यमान अग्नि और सूर्यके समान कान्तिवाले, नेत्रोंसे कठिनतासे देखे जानेयोग्य और सब ओरसे अप्रमेयस्वरूप देख रहा हूँ ॥ १६-१७ ॥

---

* अर्जुन और क्या देखना चाहते थे ? अर्जुनके मनमें यह संदेह था कि युद्धमें जीत हमारी होगी या कौरवोंकी ? (गीता २ । ६)। इसलिये भगवान् कहते हैं कि वह भी तुम मेरे इस शरीरके एक अंशमें देख लो।

हे नाथ ! आप ही परम अक्षरब्रह्म हैं, आप ही इस सम्पूर्ण विश्वके परम आधार हैं और आप ही सनातनधर्मकी रक्षा करनेवाले सनातन पुरुष हैं—ऐसा मैं मानता हूँ ॥ १८ ॥

केवल मानते ही हो या देख भी रहे हो अर्जुन ?

मैं आपको आदि, मध्य और अन्तसे रहित, अनन्त प्रभावशाली, अनन्त भुजाओंवाले, चन्द्र और सूर्यरूप नेत्रोंवाले, प्रज्वलित अग्निके समान मुखोंवाले और अपने तेजसे सम्पूर्ण संसारको संतप्त करते हुए देख रहा हूँ ॥ १९ ॥

हे महात्मन् ! यह स्वर्ग और पृथ्वीके बीचका अन्तराल और दसों दिशाएँ एक आपसे ही परिपूर्ण हो रही हैं। आपके इस अद्भुत और उग्र रूपको देखकर तीनों लोक व्यथित हो रहे हैं। अहो ! वे ही देवताओंके समुदाय (जिन्हें मैंने पहले स्वर्गमें देखा था) आपमें प्रविष्ट हो रहे हैं। उनमेंसे कई तो भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए आपके नामों और गुणोंका कीर्तन कर रहे हैं। महर्षियों और सिद्धोंके समुदाय 'कल्याण हो ! मङ्गल हो !' ऐसा कहकर उत्तम-उत्तम स्तोत्रोंद्वारा आपकी स्तुति कर रहे हैं ॥ २०–२१ ॥

जो रुद्र, आदित्य, वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुद्गण, पितर, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धोंके समुदाय हैं, वे सभी आश्चर्यचकित होकर आपको देख रहे हैं ॥ २२ ॥

हे महाबाहो ! आपके अनेक मुखों और नेत्रोंवाले, अनेक भुजाओं, जंघाओं और चरणोंवाले, अनेक उदरोंवाले तथा अनेक विकराल दाढ़ोंवाले महान् रूपको देखकर सब प्राणी भयभीत हो रहे हैं तथा मैं स्वयं भी भयभीत हो रहा हूँ ॥ २३ ॥

हे विष्णो ! आकाशको स्पर्श करनेवाले, फैलाये हुए मुखवाले तथा प्रदीप्त और विशाल नेत्रोंवाले आपके देदीप्यमान रूपको देखकर भीतरसे भयभीत हुआ मैं धैर्य और शान्तिको नहीं पा रहा हूँ। आपके प्रलयकालकी अग्निके समान प्रज्वलित और दाढ़ोंके कारण भयानक मुखोंको देखकर मुझे न तो दिशाओंका पता लग रहा है और न शान्ति ही मिल रही है। इसलिये हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न होइये ॥ २४-२५ ॥

हमारे पक्षके मुख्य योद्धाओंके सहित भीष्म, द्रोण और कर्ण भी आपमें प्रविष्ट हो रहे हैं। राजाओंके समुदायोंके सहित धृतराष्ट्रके वे सब-के-सब पुत्र आपके विकराल दाढ़ोंके कारण भयंकर मुखोंमें बड़ी तेजीसे प्रवेश कर रहे हैं। उनमेंसे कई-एक तो चूर्ण हुए सिरों-सहित आपके दाँतोंके बीचमें फँसे हुए दीख रहे हैं ॥ २६-२७ ॥

जैसे नदियोंके बहुत-से जलके प्रवाह स्वाभाविक ही समुद्रकी ओर दौड़ते हैं, ऐसे ही मनुष्यलोकके वे भीष्म, द्रोण आदि महान् शूरवीर आपके प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं। जैसे पतंगे मोहवश अपने नाशके लिये बड़ी तेजीसे दौड़ते हुए प्रज्वलित अग्निमें प्रविष्ट होते हैं, ऐसे ही ये दुर्योधन आदि सब लोग मोहवश अपना नाश करनेके लिये बड़ी तेजीसे दौड़ते हुए आपके मुखोंमें प्रविष्ट हो रहे हैं और आप भी अपने प्रज्वलित मुखोंके द्वारा सबको खाते हुए चारों ओरसे बार-बार चाट रहे हैं। हे विष्णो ! आपका उग्र प्रकाश अपने तेजसे सम्पूर्ण जगत्को परिपूर्ण करके सबको संतप्त कर रहा है ॥ २८–३० ॥

हे देवश्रेष्ठ ! आपको नमस्कार है। आप प्रसन्न होइये। आदिरूप आपको मैं तत्त्वसे जानना चाहता हूँ। मुझे यह बताइये कि उग्ररूपवाले आप कौन हैं ?

भगवान् बोले—मैं सम्पूर्ण लोकोंका नाश करनेवाला बढ़ा हुआ काल हूँ।

आप यहाँ क्यों आये हैं भगवन् ?

इस समय मैं इन सब लोगोंका संहार करनेके लिये यहाँ प्रवृत्त हुआ हूँ।

यहाँ आपसे कोई बचेगा कि नहीं ?

तुम्हारे प्रतिपक्षमें जितने योद्धालोग खड़े हैं, वे सब तुम्हारे युद्ध किये बिना भी नहीं रहेंगे। ये सब-के-सब मेरेद्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं। इसलिये तुम युद्धके लिये खड़ा हो जाओ और यशको प्राप्त करो तथा शत्रुओंको जीतकर धन-धान्यसे सम्पन्न राज्यको प्राप्त करो।

तो फिर मुझे युद्ध करनेकी क्या आवश्यकता है ?

हे सव्यसाचिन् ! तुम केवल निमित्तमात्र बन जाओ ॥ ३१-३३ ॥

परंतु महाराज ! भीष्म, द्रोण, जयद्रथ, कर्ण आदि शूरवीरोंपर विजय कैसे होगी ?

भीष्म, द्रोण, जयद्रथ, कर्ण तथा और भी जितने शूरवीर हैं, वे सब मेरेद्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं। उन मेरेद्वारा मारे हुए शूरवीरोंको ही तुम मारो। अतः तुम भयभीत मत होओ और युद्ध करो। युद्धमें तुम सम्पूर्ण शत्रुओंको जीतोगे ॥ ३४ ॥

इसके बाद क्या हुआ संजय ?

संजय बोले—भगवान् केशवके ऐसे वचनोंको सुनकर भयसे काँपते हुए अर्जुन हाथ जोड़कर नमस्कार करके और अत्यन्त भयभीत होकर फिर प्रणाम करके गद्गद वाणीसे भगवान् कृष्णकी स्तुति करने लगे ॥३५॥

अर्जुन बोले—हे अन्तर्यामी भगवन् ! आपके नाम, गुण आदिका कीर्तन करनेसे यह सम्पूर्ण जगत् हर्षित हो रहा है और अनुरागको प्राप्त हो रहा है। आपके नाम, गुण आदिके कीर्तनसे भयभीत होकर राक्षसलोग दसों दिशाओंमें भाग रहे हैं और सिद्धोंके समुदाय आपको नमस्कार कर रहे हैं। यह सब होना उचित ही है ॥ ३६ ॥

यह सब उचित क्यों है अर्जुन ?

क्योंकि आप अनन्त हैं, सम्पूर्ण देवताओंके स्वामी हैं और इस जगत्के आधार हैं। आप अक्षरस्वरूप हैं। आप सत् भी हैं, असत् भी हैं और सत्-असत्से भी पर जो कुछ है, वह भी आप ही हैं। हे महात्मन् ! आप गुरुओंके भी गुरु और ब्रह्माको भी उत्पन्न करनेवाले हैं—ऐसे आपके लिये वे सिद्धोंके समुदाय नमस्कार क्यों न करें ?॥ ३७ ॥

आप ही आदिदेव और पुराणपुरुष हैं। आप ही इस संसारके परम आधार हैं। आप ही सबको जाननेवाले और जाननेयोग्य हैं। आप ही सबके परम गन्तव्य स्थान हैं। हे अनन्तरूप ! आपसे ही सम्पूर्ण संसार व्याप्त है ॥ ३८ ॥

आप ही वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति और पितामह ब्रह्माजीके भी पिता हैं। इसलिये आपको हजारों बार नमस्कार हो। नमस्कार हो। और फिर भी आपको बार-बार नमस्कार हो। नमस्कार हो। हे सर्व ! आपको सामनेसे नमस्कार हो। पीछेसे नमस्कार हो। सब ओरसे ही नमस्कार हो ! हे अनन्तवीर्य ! आप अमित विक्रमवाले हैं। आपने सम्पूर्ण संसारको व्याप्त कर रखा है; अतः सब कुछ आप ही हैं ॥ ३९-४० ॥

हे भगवन् ! आपकी इस महिमा और स्वरूपको न जानते हुए मैं आपको सखा मानकर प्रमादसे अथवा प्रेमसे (बिना सोचे-समझे) 'हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे !' इस प्रकार जो कुछ कहा है; और हे अच्युत ! चलते-फिरते, सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते समयमें अकेले अथवा उन सखाओं, कुटुम्बियों आदिके सामने मैंने हँसी-दिल्लगीमें आपका जो तिरस्कार किया है, उसके लिये मैं अप्रमेयस्वरूप आपसे क्षमा माँगता हूँ ॥ ४१-४२ ॥

आप ही इस चराचर जगत्के पिता हैं, आप ही पूजनीय हैं और आप ही गुरुओंके महान् गुरु हैं। हे असीम प्रभाववाले भगवन् ! इस त्रिलोकीमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर आपसे अधिक तो कोई हो ही कैसे सकता है ! इसलिये शरीरसे लम्बा पड़कर स्तुति करनेयोग्य आप ईश्वरको मैं प्रणाम करके प्रसन्न करना चाहता हूँ। जैसे पिता पुत्रके, सखा सखाके और पति पत्नीके तिरस्कारको सह लेता है, ऐसे ही हे देव ! आप मेरेद्वारा किये गये तिरस्कारको सह लीजिये ॥४३-४४॥

ठीक है भैया ! अब तुम क्या चाहते हो ?

आपके ऐसे अपूर्व रूपको देखकर मैं हर्षित भी हो रहा हूँ और साथ-ही-साथ भयसे मेरा मन व्याकुल भी हो रहा है। अतः हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न हो जाइये और अपना वही देवरूप (विष्णुरूप) दिखाइये, जो सिरपर मुकुट धारण किये हुए और हाथोंमें गदा, चक्र, शङ्ख और पद्म लिये हुए है। मैं अब आपके उसी रूपको देखना चाहता हूँ। हे सहस्रबाहो ! हे विश्वमूर्ते ! आप उसी चतुर्भुजरूपसे प्रकट हो जाइये ॥ ४५-४६ ॥

भगवान् बोले—हे अर्जुन ! मैंने बहुत प्रसन्न होकर अपनी सामर्थ्यसे तुम्हें यह अत्यन्त श्रेष्ठ, तेजोमय सबका आदि और अनन्त विश्वरूप दिखाया है, जिसे तुम्हारे सिवाय पहले किसीने नहीं देखा है ॥ ४७ ॥

आपके इस विश्वरूपको मनुष्य किस साधनसे देख सकता है भगवन् ?

किसी भी साधनसे नहीं । हे कुरुप्रवीर ! मनुष्यलोकमें तुम-जैसे कृपापात्रके सिवाय इस तरहके रूपको कोई वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, उग्र तपस्या और बड़ी-बड़ी क्रियाओंसे भी नहीं देख सकता ॥ ४८ ॥

परंतु भगवन् ! इस समय तो मैं आपके घोर रूपको देखकर बहुत भयभीत हो रहा हूँ; क्या करूँ ?

भैया ! मेरा ऐसा घोर रूप देखकर तुम्हें भयभीत नहीं होना चाहिये और अपनेमें विमूढ़भाव (मोह) भी नहीं आने देना चाहिये । अब तुम भयरहित और प्रसन्न मनवाला होकर मेरे उसी रूपको फिर देखो ॥ ४९ ॥

ऐसा कहकर भगवान्ने अर्जुनको कौन-सा रूप दिखाया संजय ?

संजय बोले—ऐसा कहकर भगवान् वासुदेवने अर्जुनको अपना चतुर्भुजरूप दिखाया । फिर भगवान्ने पुनः सौम्य द्विभुजरूप होकर भयभीत अर्जुनको आश्वासन दिया ॥ ५० ॥

अब तो तुम्हारा भय दूर हो गया न अर्जुन ?

अर्जुन बोले—हे जनार्दन ! आपके इस सौम्य मनुष्य-रूपको देखकर अब मैं स्थिरचित्त हो गया हूँ और अपनी स्वाभाविक स्थितिमें आ गया हूँ ॥ ५१ ॥

भगवान् बोले—तुमने मेरा यह जो चतुर्भुजरूप देखा है, इसके दर्शन अत्यन्त ही दुर्लभ हैं । देवतालोग भी इस रूपको देखनेके लिये नित्य लालायित रहते हैं । तुमने मुझे जैसा देखा है, वैसा मैं वेदोंसे, तपसे, दानसे और यज्ञसे भी नहीं देखा जा सकता हूँ ॥५२-५३॥

तो फिर आप कैसे देखे जा सकते हैं ?

हे शत्रुतापन अर्जुन ! इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं अनन्य-भक्तिके द्वारा ही देखा जा सकता हूँ । केवल देखा ही नहीं जा सकता, प्रत्युत तत्त्वसे जाना भी जा सकता हूँ और प्राप्त भी किया जा सकता हूँ ॥ ५४ ॥

वह अनन्यभक्ति कैसी होती है भगवन् ?

हे पाण्डव ! सब कर्मोंको मेरे लिये करना, मेरे ही परायण होना, मेरा ही भक्त होना, आसक्तिरहित होना और किसी भी प्राणीके साथ वैर न रखना—ऐसी भक्तिसे युक्त भक्त मुझे प्राप्त हो जाता है ॥५५॥

बारहवाँ अध्याय

अर्जुन बोले—अभी आपने जैसा कहा है, कई तो निरन्तर आपमें लगे रहकर आप (सगुण-साकार) की उपासना करते हैं और कई आपके अक्षर अव्यक्त-रूप (निर्गुण-निराकार) की उपासना करते हैं । उन दोनों प्रकारके उपासकोंमें कौन-से उपासक श्रेष्ठ हैं ? ॥ १ ॥

भगवान् बोले—मुझमें मनको लगाकर नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए जो भक्त परम श्रद्धासे युक्त होकर मेरी उपासना करते हैं, उन्हें मैं सर्वश्रेष्ठ उपासक मानता हूँ ॥ २ ॥

परंतु जो आपके अव्यक्त रूपकी उपासना करते हैं; उन्हें ?

सब जगह समबुद्धिवाले और प्राणिमात्रके हितमें रत रहनेवाले जो मनुष्य अपनी इन्द्रियोंका संयम करके सब जगह परिपूर्ण, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, अनिर्देश्य, ध्रुव, अक्षर और अव्यक्तकी उपासना करते हैं, वे भी मुझे ही प्राप्त होते हैं ॥ ३-४ ॥

तो फिर आपकी भक्ति करनेवाले श्रेष्ठ कैसे हुए भगवन् ?

अव्यक्तमें आसक्त चित्तवाले जो मनुष्य अव्यक्त स्वरूपकी उपासना करते हैं, उन्हें अपने साधनमें कष्ट अधिक होता है; क्योंकि देहाभिमानियोंको अव्यक्तकी प्राप्ति बड़ी कठिनतासे होती है; परंतु जो सम्पूर्ण

कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मेरे परायण हो गये हैं और अनन्यभावसे मेरा ही ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं, हे पार्थ ! उन मुझमें लगे हुए चित्तवाले भक्तोंका मैं स्वयं मृत्युरूप संसार-सागरसे बहुत शीघ्र उद्धार करनेवाला बन जाता हूँ ॥ ५-७ ॥

ऐसा भक्त मैं कैसे बन सकता हूँ भगवन् ?

तुम मुझमें ही मनको लगाओ और मुझमें ही बुद्धिको लगाओ। मुझमें ही मन-बुद्धि लगानेके बाद तुम मुझमें ही निवास करोगे—इसमें संशय नहीं है। यदि इस तरह मन-बुद्धिको मुझमें स्थिर करनेमें तुम असमर्थ हो तो हे धनंजय ! तुम अभ्यासयोगके द्वारा मेरी प्राप्तिकी इच्छा करो। यदि तुम अभ्यासयोगमें भी असमर्थ हो तो मेरे लिये कर्म करनेके परायण हो जाओ। मेरे लिये कर्म करनेसे भी तुम सिद्धिको प्राप्त हो जाओगे। यदि तुम मेरे लिये कर्म करनेमें भी असमर्थ हो तो तुम मेरे भक्तियोगके आश्रित होकर मन, बुद्धिको वशमें रखते हुए सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्याग करो ॥ ८—११ ॥

इस क्रमसे तो कर्मोंके फलका त्याग करना चौथे नम्बरका (निकृष्ट) साधन हुआ न भगवन् ?

नहीं भैया ! योग (समता) रहित अभ्याससे शास्त्रीय ज्ञान श्रेष्ठ है, योगरहित शास्त्रीय ज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ है और योगरहित ध्यानसे कर्मोंके फलका त्याग करना श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परमशान्ति प्राप्त हो जाती है ॥ १२ ॥

भगवन् ! उपर्युक्त चारों साधनोंमेंसे किसी एक साधनसे आपको प्राप्त हुए सिद्ध भक्तके क्या लक्षण होते हैं अर्थात् उसमें कौन-कौनसे गुण होते हैं ?

उसका किसी भी प्राणीके साथ द्वेष नहीं होता। इतना ही नहीं, उसकी सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ मित्रता (प्रेम) और सबपर करुणा (दया) रहती है। वह अहंता और ममतासे रहित, क्षमाशील तथा सुख-दुःखकी प्राप्तिमें सम रहता है। वह प्रत्येक परिस्थितिमें निरन्तर संतुष्ट रहता है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि उसके वशमें रहते हैं। उसके मन-बुद्धि मेरे ही अर्पित रहते हैं। ऐसा वह दृढ़निश्चयी भक्त मुझे प्यारा है ॥ १३-१४ ॥

और कौन आपका प्यारा है ?

जिस भक्तसे दूसरोंको उद्वेग नहीं होता और जिसे स्वयं भी दूसरोंसे उद्वेग नहीं होता, ऐसा हर्ष, ईर्ष्या, भय और उद्वेगसे रहित भक्त मुझे प्यारा है ॥ १५ ॥

और कौन आपका प्यारा है भगवन् ?

जो अपने लिये किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदिकी आवश्यकता नहीं रखता, जो बाहर-भीतरसे पवित्र है, जो दक्ष (चतुर) है अर्थात् जिसके लिये मनुष्यशरीर मिला है, वह काम (भगवान्‌को प्राप्त करना) उसने कर लिया है, जो संसारसे उपराम रहता है, जिसके हृदयमें हलचल नहीं होती तथा जो भोग और संग्रहके लिये किये जानेवाले सम्पूर्ण कर्मोंका सर्वथा त्यागी है, ऐसा भक्त मुझे प्यारा है ॥ १६ ॥

और कौन आपका प्यारा है ?

जो न तो अनुकूलताके प्राप्त होनेपर हर्षित होता है और न प्रतिकूलताके प्राप्त होनेपर द्वेष करता है तथा जो न दुःखदायी परिस्थितिके प्राप्त होनेपर शोक करता है और न सुखदायी परिस्थितिकी इच्छा ही करता है, तथा जो शुभ-अशुभ कर्मोंमें राग-द्वेषका त्यागी है, ऐसा भक्त मुझे प्यारा है ॥ १७ ॥

और कौन आपका प्यारा है भगवन् ?

जो शत्रु-मित्र, मान-अपमान, अनुकूलता-प्रतिकूलता और सुख-दुःखमें समता रखनेवाला और संसारकी आसक्तिसे रहित है, जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला है, जो मननशील है, जो जिस-किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें संतुष्ट है, जो रहनेके स्थान तथा शरीरमें भी ममता-आसक्तिसे रहित है और जो स्थिर बुद्धिवाला है, ऐसा भक्त मुझे प्यारा है* ॥ १८-१९ ॥

---

* यहाँतक पाँच प्रकारके सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन हुआ है। पाँचों प्रकारके भक्तोंके अलग-अलग लक्षण बतानेका तात्पर्य यह है कि भक्तोंके स्वभाव, उनकी साधन-पद्धतियाँ अलग-अलग होती हैं। इसलिये किसी भक्तमें मुख्यरूपसे कोई लक्षण घटता है तो किसीमें कोई अन्य लक्षण घटता है; परंतु संसारके सम्बन्धका त्याग और भगवान्‌में प्रेम सबका समान ही होता है।

अभीतक तो आपने अपने सिद्ध भक्तोंको प्यारा बताया, अब यह बताइये कि आपको अत्यन्त प्यारा कौन है ?

जो श्रद्धा-प्रेमपूर्वक मेरे परायण हो गये हैं और अभी कहे हुए सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंका रुचिपूर्वक सेवन करनेवाले हैं, ऐसे साधक भक्त मुझे अत्यन्त प्यारे हैं ॥२०॥

तेरहवाँ अध्याय

जो आपके सगुण-साकार रूपकी उपासना करते हैं, वे तो आपको अत्यन्त प्यारे होते हैं, अब यह बताइये कि जो आपके निर्गुण-निराकार रूपकी उपासना करते हैं, वे कैसे होते हैं ?

भैया ! वे विवेकी होते हैं।

विवेक किसका होता है भगवन् ?

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका। हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! 'यह'-रूपसे कहे जानेवाले शरीरको 'क्षेत्र' कहते हैं और जो इस क्षेत्रको जानता है, उसे ज्ञानीलोग 'क्षेत्रज्ञ' (शरीरी) कहते हैं ॥१॥

उस क्षेत्रज्ञका स्वरूप क्या है ?

हे भारत ! सम्पूर्ण क्षेत्रों (शरीरों) में क्षेत्रज्ञ (शरीरी)-रूपसे मैं ही हूँ—ऐसा तुम जानो*।

वह जानना क्या है भगवन् ?

क्षेत्र अलग है और क्षेत्रज्ञ अलग है—इसे ठीक-ठीक जानना ही मेरे मतमें ज्ञान है। तात्पर्य यह है कि क्षेत्रकी संसारके साथ एकता है और क्षेत्रज्ञकी मेरे साथ एकता है—इसका ठीक-ठीक अनुभव करना ही मेरे मतमें ज्ञान है ॥ २ ॥

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके ज्ञानके लिये कौन-सी बातें जाननी आवश्यक होती हैं ?

छः बातें जाननी आवश्यक होती हैं—क्षेत्रके विषयमें चार और क्षेत्रज्ञके विषयमें दो। वह 'क्षेत्र' जो है, जैसा है, जिन विकारोंवाला है और जिससे पैदा हुआ है; तथा वह 'क्षेत्रज्ञ' जो है और जिस प्रभाववाला है, वह सब संक्षेपसे तुम मुझसे सुनो ॥ ३ ॥

तो इसका विस्तारसे वर्णन कहाँ हुआ है भगवन् ?

ऋषियोंने, वेदोंकी ऋचाओंने और युक्तियुक्त तथा निश्चित किये हुए ब्रह्मसूत्रके पदोंने इसे विस्तारसे कहा है ॥ ४ ॥

वह क्षेत्र क्या है ?

मूल प्रकृति, समष्टि बुद्धि (महत्तत्त्व), समष्टि अहंकार, पाँच महाभूत, दस इन्द्रियाँ, एक मन और इन्द्रियोंके पाँच विषय—यह चौबीस तत्त्वोंवाला क्षेत्र है† ॥ ५ ॥

वह क्षेत्र किन विकारोंवाला है ?

इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, शरीर, प्राणशक्ति और धारणशक्ति—इन सात विकारोंसहित यह क्षेत्र मैंने संक्षेपसे कहा है ॥ ६ ॥

विकारोंसहित क्षेत्र 'यह'-रूपसे (अपनेसे अलग) कैसे दीखे भगवन् ?

१. अपनेमें श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव।

२. अपनेमें दिखावटीपनका न होना।

---

* यहाँ 'सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मुझे जानो'—ऐसा कहनेका तात्पर्य यह है कि यह शरीर तो प्रकृतिका अंश है, इसलिये तुम इससे सर्वथा विमुख हो जाओ और तुम मेरे अंश हो, इसलिये तुम सर्वथा मेरे सम्मुख हो जाओ। दूसरा तात्पर्य यह है कि तुमने जहाँ क्षेत्र (शरीर) के साथ अपनी एकता स्वीकार कर रखी है, वहाँ मेरे साथ अपनी एकता स्वीकार कर लो; क्योंकि वास्तवमें तुम्हारी एकता शरीरके साथ है नहीं और मेरे साथ तुम्हारी स्वतःसिद्ध एकता है। इसे तुम जान लो।

† मूल प्रकृति सबकी माँ है। उस प्रकृतिसे बुद्धिरूपी पुत्री पैदा हुई। बुद्धिसे अहंकाररूपी पुत्र पैदा हुआ। अहंकारकी संतान हुई—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पाँच महाभूत। पाँच महाभूतोंकी संतान हुई—दस इन्द्रियाँ, एक मन तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय। इन्द्रियाँ, मन और पाँच विषयोंसे कोई संतान नहीं पैदा हुई।

३. शरीर, मन और वाणीसे किसीको किञ्चिन्मात्र भी दुःख न देना
४. क्षमाका भाव ।
५. शरीर, मन और वाणीकी सरलता ।
६. ज्ञानप्राप्तिके लिये गुरुके पास जाकर उनकी सेवा आदि करना ।
७. शरीर और अन्तःकरणकी शुद्धि ।
८. अपने लक्ष्यसे विचलित न होना ।
९. मनको वशमें करना ।
१०. इन्द्रियोंके विषयोंसे वैराग्य होना ।
११. अहंकाररहित होना ।
१२. वैराग्यके लिये जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और रोगोंमें दुःखरूप दोषोंके मूल कारणको देखना ।
१३. आसक्तिरहित होना ।
१४. स्त्री, पुत्र, घर आदिमें तल्लीन न होना ।
१५. अनुकूलता-प्रतिकूलताकी प्राप्तिमें चित्तका सदा सम रहना।
१६. मुझमें अनन्ययोगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्तिका होना ।
१७. एकान्त स्थानमें रहनेका स्वभाव होना ।
१८. जन-समुदायमें प्रीतिका न होना ।
१९. परमात्माकी सत्ताका नित्य-निरन्तर मनन करना।
२०. सब जगह परमात्माको ही देखना ।

——इन बीस साधनोंसे शरीर 'यह'-रूपसे दीखने लग जायगा । शरीरको 'यह'-रूपसे (अपनेसे अलग) देखना ज्ञान है और इसके विपरीत शरीरको अपना स्वरूप देखना अज्ञान है ॥ ७-११ ॥

इस ज्ञानसे प्राप्त होनेवाला तत्त्व क्या है ?

ज्ञेय-तत्त्व (परमात्मा) है । मैं उस ज्ञेय-तत्त्वका वर्णन करूँगा, जिसे जाननेसे अमरताकी प्राप्ति हो जाती है ।

उस ज्ञेय-तत्त्वका स्वरूप क्या है ?

वह आदि-अन्तसे रहित और परम ब्रह्म है । वह न सत् कहा जा सकता है और न असत् कहा जा सकता है* ॥ १२ ॥

तो भी वह कैसा है भगवन् ?

वह सब जगह ही हाथों और पैरोंवाला, सब जगह ही नेत्रों, सिरों और मुखोंवाला तथा सब जगह ही कानोंवाला है । वह सभीको व्याप्त करके स्थित है । वह सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे रहित है और सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको प्रकाशित करनेवाला है । वह आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण संसारका भरण-पोषण करनेवाला है । वह गुणोंसे रहित है और गुणोंका भोक्ता है ॥ १३-१४ ॥

एक ही तत्त्वमें दो विरोधी लक्षण कैसे हुए ?

अनेक विरोधी भाव उस एकमें ही समा जाते हैं और विरोध उसमें रहता नहीं; क्योंकि स्थावर-जंगम आदि सम्पूर्ण प्राणियोंके बाहर भी वही है और भीतर भी वही है तथा चर-अचर प्राणियोंके रूपमें भी वही है अर्थात् उसके सिवाय दूसरी कोई सत्ता है ही नहीं । दूर-से-दूर भी वही है और समीप-से-समीप भी वही है† । वह अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है अर्थात् इन्द्रियों और अन्तःकरणका विषय नहीं है । इसलिये उसमें विरोध नहीं है ॥ १५ ॥

उसमें विरोध न होनेका कारण क्या है भगवन् ?

वह परमात्मा विभागरहित होता हुआ भी अनेक विभागवाले प्राणियों (वस्तुओं) में विभक्तकी तरह स्थित

---

* उस तत्त्वको सत्-असत् नहीं कह सकते । कारण कि असत्के भाव (सत्ता) के बिना 'सत्' शब्दका प्रयोग नहीं होता, जबकि असत्का अत्यन्त अभाव है । अतः उस परमात्मतत्त्वको 'सत्' भी नहीं कह सकते । उस परमात्मतत्त्वका कभी अभाव होता ही नहीं, इसलिये उसको 'असत्' भी नहीं कह सकते । तात्पर्य यह है कि उस तत्त्वमें सत्-असत् शब्दोंकी अर्थात् वाणीकी प्रवृत्ति होती ही नहीं । ऐसा वह निरपेक्ष परमात्मतत्त्व है ।

† दूर और समीप तीन प्रकारसे होता है—देशकृत, कालकृत और वस्तुकृत । देशको लेकर—दूर-से-दूर देशमें भी वही है और समीप-से-समीप देशमें भी वही है । कालको लेकर—पहले-से-पहले भी वही था, पीछे-से-पीछे भी वही रहेगा और अब भी वही है । वस्तुको लेकर—सम्पूर्ण वस्तुओंके पहले भी वही है, वस्तुओंके अन्तमें भी वही है और वस्तुओंके रूपमें भी वही है । इसलिये वह दूर-से-दूर और समीप-से-समीप है ।

यह श्लोक इस प्रकरणका सार है। इस श्लोकके विषयको ठीक तरहसे जान लेनेपर, इसके भावका मनन करनेपर मनुष्य चाहे व्यवहारमें रहे, चाहे एकान्तमें रहे, इस भावकी जागृति उसमें स्वतः (बिना परिश्रम, उद्योग किये ही) रहेगी ।

है। वह परमात्मा ही सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाला, उनका भरण-पोषण करनेवाला और संहार करनेवाला है अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय-रूप भी वही है। उस परमात्माको जानना चाहिये ॥ १६ ॥

उसका स्वरूप क्या है ?

इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिके द्वारा जितने ज्ञान होते हैं, वे सभी उसीसे प्रकाशित होते हैं। इसलिये वह सम्पूर्ण ज्योतियों (ज्ञानों) का भी ज्योति (प्रकाशक) है। उसमें अज्ञानका अत्यन्त अभाव है। वह ज्ञानस्वरूप है। जानने-योग्य भी वही है। वह ज्ञान (साधन-समुदाय) से प्राप्त करनेयोग्य है। वह सबके हृदयमें विराजमान है* ॥१७॥

अन्य किस-किसको जानना है और जाननेका क्या माहात्म्य है भगवन् ?

क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय—इन तीनोंको जानना है, जिनका वर्णन मैंने संक्षेपसे कर दिया है। इन तीनोंको ठीक-ठीक जाननेवाला मेरा भक्त मेरे भावको प्राप्त हो जाता है अर्थात् उसे मेरे साथ अभिन्नताका अनुभव हो जाता है ॥ १८ ॥

भक्त तो क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय—इन तीनोंको जानकर आपसे अभिन्नताका अनुभव कर लेता है, पर जो साधक केवल ज्ञानमार्गपर ही चलना चाहता है, उसके लिये क्या जानना आवश्यक है ?

उसके लिये प्रकृति (क्षेत्र) और पुरुष (क्षेत्रज्ञ)—इन दोनोंको अलग-अलग जानना आवश्यक है। प्रकृति और पुरुष—ये दोनों ही अनादि हैं।

जब ये दोनों अनादि हैं, तब फिर ये गुण और विकार किससे पैदा हुए ?

गुण और विकार प्रकृतिसे पैदा होते हैं। इसके सिवाय कार्य, करण और कर्तापनमें भी प्रकृति ही हेतु होती है।

पुरुष किसमें हेतु होता है महाराज ?

पुरुष तो सुख-दुःखके भोक्तापनमें हेतु होता है ॥१९-२० ॥

पुरुष भोक्तापनमें हेतु कब बनता है ?

प्रकृतिमें स्थित होनेसे, उसके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे ही पुरुष गुणोंका भोक्ता बनता है और गुणोंका सङ्ग होनेसे ही वह ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेता है ॥ २१ ॥

उस पुरुषका स्वरूप क्या है भगवन् ?

वह पुरुष प्रकृतिके कार्य शरीरके साथ सम्बन्ध रखनेसे 'उपद्रष्टा', उसके साथ मिलकर सम्मति देनेसे 'अनुमन्ता', अपनेको उसका भरण-पोषण करनेवाला माननेसे 'भर्ता', उसके सङ्गसे सुख-दुःख भोगनेसे 'भोक्ता' और अपनेको उसका स्वामी माननेसे 'महेश्वर' बन जाता है; परंतु स्वरूपसे वह पुरुष 'परमात्मा' कहा जाता है। वह इस शरीरमें रहता हुआ भी वास्तवमें शरीरके सम्बन्धसे रहित ही है ॥ २२ ॥

इस तरह प्रकृति और पुरुषके स्वरूपको जाननेसे क्या होता है ?

इस तरह गुणोंके सहित प्रकृतिको और पुरुषको जो मनुष्य ठीक-ठीक जान लेता है, वह सब तरहका शास्त्रविहित बर्ताव (कर्तव्य-कर्म) करता हुआ भी फिर जन्म नहीं लेता अर्थात् जन्म-मरणसे मुक्त हो जाता है ॥ २३ ॥

उस पुरुषको जाननेका और भी कोई उपाय है क्या ?

हाँ, है। कई मनुष्य ध्यानयोगके द्वारा, कई सांख्ययोगके द्वारा और कई कर्मयोगके द्वारा अपने-आपमें अपने स्वरूपको जान लेते हैं ॥ २४ ॥

और भी कोई सरल उपाय है क्या ?

हाँ, है। जो मनुष्य ध्यानयोग, सांख्ययोग आदि साधनोंको नहीं जानते, केवल जीवन्मुक्त महापुरुषोंकी आज्ञाके परायण हो जाते हैं, वे भी मृत्युको तर जाते हैं अर्थात् मुक्त हो जाते हैं ॥ २५ ॥

वे मृत्युको कैसे तर जाते हैं भगवन् ?

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! स्थावर और जंगम जितने भी प्राणी पैदा होते हैं, वे सभी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके माने हुए संयोगसे ही पैदा होते हैं—ऐसा तुम समझो। इसलिये क्षेत्रके साथ अपना संयोग न माननेसे वे तर जाते हैं, जन्म-मरणसे मुक्त हो जाते हैं ॥२६ ॥

* इस अध्यायके तेरहवें श्लोकमें विराट्‌रूपका और इस श्लोकमें ज्योतिःस्वरूप, प्रकाशस्वरूप परमात्माका वर्णन है।

इस संयोगसे छूटनेके लिये मनुष्यको क्या करना चाहिये ?

दो बातें करनी चाहिये—परमात्माके स्वतः सिद्ध सम्बन्धको पहचानना और प्रकृति (शरीर) से सम्बन्ध तोड़ना । विषम संसारमें जो समरूपसे स्थित है और नष्ट होनेवालोंमें जो अविनाशीरूपसे स्थित है तथा जो परम ईश्वर है—ऐसे अपने परम स्वरूपको जो देखता है, वही वास्तवमें सही देखता है अर्थात् उसे वास्तविक स्वरूपका अनुभव हो जाता है । सब जगह समानरूपसे परिपूर्ण परमात्माके साथ एकता होनेसे शरीरके साथ तादात्म्यका अभाव हो जाता है । फिर वह अपनेद्वारा अपनी हत्या नहीं करता अर्थात् शरीरके मरनेसे अपना मरना नहीं मानता । इसलिये वह परमगति (परमात्मा) को प्राप्त हो जाता है ॥ २७-२८ ॥

अपने परमात्माके सम्बन्धको पहचाननेकी बात तो बता दी, अब यह बताइये कि प्रकृति (शरीर) से सम्बन्ध कैसे तोड़ें ?

सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा ही होती हैं—ऐसा ठीक बोध होनेसे वह अपने कर्तृत्वके अभावका अनुभव करता है तथा जिस समय वह सम्पूर्ण प्राणियोंके अलग-अलग भावों (शरीरों)को एक प्रकृतिमें ही स्थित और प्रकृतिसे ही उत्पन्न देखता है, उस समय वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है । फिर उसका प्रकृतिके साथ सम्बन्ध नहीं रहता ॥ २९-३० ॥

ऐसा क्यों होता है ?

हे कुन्तीनन्दन ! यह पुरुष स्वयं अनादि और गुण-रहित होनेसे स्वयं अविनाशी परमात्मस्वरूप ही है । यह शरीरमें रहता हुआ भी वास्तवमें न करता है और न लिप्त होता है अर्थात् यह कर्ता और भोक्ता नहीं है ॥ ३१ ॥

यह लिप्त कैसे नहीं होता है ?

जैसे आकाश सर्वत्र व्याप्त होते हुए भी अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण किसी वस्तु, व्यक्ति आदिमें कभी लिप्त नहीं होता, ऐसे ही यह पुरुष सब जगह परिपूर्ण होते हुए भी किसी भी शरीरमें किञ्चिन्मात्र भी लिप्त नहीं होता ॥ ३२ ॥

यह पुरुष कर्ता कैसे नहीं बनता भगवन् ?

हे भारत ! जैसे एक ही सूर्य सम्पूर्ण विश्वको प्रकाशित करता है, पर उसमें प्रकाशित करनेका कर्तृत्व नहीं आता । ऐसे ही यह क्षेत्रज्ञ सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है, पर उसमें कर्तृत्व नहीं आता, प्रत्युत प्रकाशकमात्र ही रहता है । इस तरह जो ज्ञानरूपी नेत्रसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको तथा प्रकृति और उसके कार्यसे अपनेको अलग अनुभव कर लेते हैं, वे परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३३-३४ ॥

चौदहवाँ अध्याय

भगवान् बोले—जिसे जानकर सब-के-सब मननशील मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो गये हैं, उस सम्पूर्ण ज्ञानोंमें उत्तम और पर ज्ञानको मैं फिर कहूँगा ॥ १ ॥

उस ज्ञानकी और क्या महिमा है भगवन् ?

इस ज्ञानका आश्रय लेकर जो मनुष्य मेरी सधर्मताको प्राप्त हो गये हैं अर्थात् मेरे समान हो गये हैं, वे महासर्गमें भी पैदा नहीं होते और महाप्रलयमें भी व्यथित नहीं होते ॥ २ ॥

महासर्गमें प्राणी कैसे पैदा होते हैं ?

हे भारत ! मेरी मूल प्रकृति तो उत्पत्ति-स्थान है और मैं उसमें जीव (चेतन) रूप गर्भ स्थापन करता हूँ, जिससे सम्पूर्ण प्राणी पैदा होते हैं । अतः हे कौन्तेय ! अलग-अलग योनियोंमें जितने भी प्राणी पैदा होते हैं, उन सबकी उत्पत्तिमें माताके स्थानपर मेरी मूल प्रकृति है और बीज-स्थापन करनेमें पिताके स्थानपर मैं हूँ* ॥ ३-४ ॥

* महासर्गके आरम्भमें जीवोंका (अपने-अपने गुण, कर्म और स्वभावके अनुसार) प्रकृतिके साथ विशेष सम्बन्ध करा देना ही भगवान्‌के द्वारा बीज-स्थापन करना है ।

आप सब जीवोंके पिता हैं, तो फिर वे जीव बन्धनमें क्यों पड़ जाते हैं ?

हे महाबाहो ! सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण पैदा तो प्रकृतिसे होते हैं, पर इनका सङ्ग करनेसे ये अविनाशी देहीको देहमें बाँध देते हैं ॥ ५ ॥

सत्त्वगुणका क्या स्वरूप है और वह देहीको देहमें कैसे बाँधता है भगवन् ?

हे निष्पाप अर्जुन ! उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण स्वरूपसे तो निर्मल होनेके कारण प्रकाशक और निर्विकार है, पर वह सुख और ज्ञानकी आसक्तिसे देहीको देहमें बाँध देता है ॥ ६ ॥

रजोगुणका क्या स्वरूप है और वह देहीको कैसे बाँधता है ?

हे कुन्तीनन्दन ! तृष्णा और आसक्तिको पैदा करनेवाले रजोगुणको तुम राग-स्वरूप समझो । वह कर्मोंकी आसक्तिसे देहीको देहमें बाँधता है ॥ ७ ॥

तमोगुणका क्या स्वरूप है और वह देहीको कैसे बाँधता है ?

हे भरतवंशी अर्जुन ! तमोगुण अज्ञानसे उत्पन्न होता है और सम्पूर्ण प्राणियोंको मोहित करनेवाला है । वह प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा देहीको देहमें बाँधता है ॥ ८ ॥

बाँधनेसे पहले तीनों गुण क्या करते हैं भगवन् ?

हे भारत ! सत्त्वगुण तो सुखमें लगाकर मनुष्यपर अपना अधिकार जमाता है, रजोगुण कर्ममें लगाकर मनुष्यपर अपना अधिकार जमाता है और तमोगुण ज्ञानको ढककर तथा प्रमादमें लगाकर मनुष्यपर अपना अधिकार जमाता है ॥ ९ ॥

तीनों गुणोंमेंसे एक-एक गुण मनुष्यपर अपना अधिकार कैसे जमाता है भगवन् ?

हे भरतवंशी अर्जुन ! रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुण बढ़ता है, सत्त्वगुण और तमोगुणको दबाकर रजोगुण बढ़ता है तथा सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुण बढ़ता है ॥ १० ॥

बढ़े हुए सत्त्वगुणके क्या लक्षण होते हैं ?

जब इस मनुष्यशरीरमें सम्पूर्ण इन्द्रियों और अन्तःकरणमें स्वच्छता और जाननेकी शक्ति विकसित होती है, तब जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा है ॥ ११ ॥

बढ़े हुए रजोगुणके क्या लक्षण होते हैं भगवन् ?

हे भरतवंशमें श्रेष्ठ अर्जुन ! जब अन्तःकरणमें धन आदिका लोभ, क्रिया करनेकी प्रवृत्ति, भोग और संग्रहके उद्देश्यसे नये-नये कर्मोंका आरम्भ करना, अशान्ति, स्पृहा आदिकी वृत्तियाँ बढ़ती हैं, तब जानना चाहिये कि रजोगुण बढ़ा है ॥ १२ ॥

बढ़े हुए तमोगुणके क्या लक्षण होते हैं ?

हे कुरुनन्दन ! जब इन्द्रियों और अन्तःकरणमें स्वच्छता (समझनेकी शक्ति) नहीं रहती, किसी कार्यको करनेका मन नहीं करता, मनुष्य करनेयोग्य कामको नहीं करता तथा न करनेयोग्य काममें लग जाता है, अन्तःकरणमें मोह छाया रहता है, तब (ऐसी वृत्तियोंके बढ़नेपर) समझना चाहिये कि तमोगुण बढ़ा है ॥ १३ ॥

गुणोंके तात्कालिक बढ़नेपर यदि कोई मनुष्य मर जाय तो उसकी क्या गति होती है ?

सत्त्वगुणके बढ़नेपर मरनेवाला मनुष्य पुण्यात्माओंद्वारा प्राप्त करनेयोग्य निर्मल (उत्तम) लोकोंमें जाता है; रजोगुणके बढ़नेपर मरनेवाला मनुष्ययोनिमें जन्म लेता है और तमोगुणके बढ़नेपर मरनेवाला पशु, पक्षी आदि मूढ़ योनियोंमें जन्म लेता है ॥ १४-१५ ॥

इन गुणोंसे ऐसी गतियाँ क्यों होती हैं भगवन् ?

कारण कि गुणोंकी वृत्तियाँ जैसी होती हैं, वैसे ही कर्म होते हैं । इसलिये सात्त्विक कर्मका फल निर्मल होता है, राजस कर्मका फल दुःख होता है और तामस कर्मका फल अज्ञान (मूढ़ता) होता है । तात्पर्य यह है कि जैसे सात्त्विक आदि गुणोंकी वृत्तियोंका फल होता है, ऐसे ही सात्त्विक आदि कर्मोंका भी फल होता है ॥ १६ ॥

वृत्तियों और कर्मोंके मूलमें क्या है ?

तीनों गुण हैं । सत्त्वगुणसे ज्ञान पैदा होता है, रजोगुणसे लोभ पैदा होता है और तमोगुणसे प्रमाद, मोह तथा अज्ञान पैदा होता है ॥ १७ ॥

इन तीनों गुणोंमें स्थित रहनेवालोंकी क्या गति होती है भगवन् ?

सत्त्वगुणमें स्थित रहनेवाले स्वर्गादि ऊँचे लोकोंमें जाते हैं; रजोगुणमें स्थित रहनेवालोंका मनुष्यलोकमें जन्म होता है और निन्दनीय तमोगुणमें स्थित रहनेवाले नरकों आदिमें जाते हैं ॥ १८ ॥

तो फिर आपको कौन प्राप्त करता है ?

जो मात्र कर्मोंके होनेमें गुणोंके सिवाय अन्यको कर्ता नहीं देखता और अपनेको गुणोंसे अतीत अनुभव करता है, वह मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है तथा वह विवेकी मनुष्य देहको उत्पन्न करनेवाले इन तीनों गुणोंका अतिक्रमण करके जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्था-रूप दुःखोंसे मुक्त होकर अमरताका अनुभव करता है ॥ १९-२० ॥

अर्जुन बोले—हे प्रभो ! इन तीनों गुणोंसे अतीत हुआ मनुष्य किन लक्षणोंसे युक्त होता है ?

भगवान् बोले—हे पाण्डव ! सत्त्वगुणकी 'प्रकाश', रजोगुणकी 'प्रवृत्ति' और तमोगुणकी 'मोह'—इन तीनों वृत्तियोंके आनेपर वह इनसे द्वेष नहीं करता और इनके न आनेपर इनकी इच्छा नहीं करता; उदासीनकी तरह रहता है, गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता तथा गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं— ऐसा अनुभव करते हुए अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है और स्वयं चेष्टारहित है।

गुणातीत मनुष्यके आचरण कैसे होते हैं भगवन् ?

उसके आचरण समतापूर्वक होते हैं। जो धैर्यवान् मनुष्य अपने स्वरूपमें निरन्तर स्थित रहता है तथा सुख-दुःखमें, मिट्टीके ढेले, पत्थर और स्वर्णमें, शरीर, इन्द्रियों आदिके प्रिय-अप्रियमें, नामकी निन्दा-स्तुतिमें, शरीरके मान-अपमानमें, शत्रु-मित्रके पक्षमें सम रहता है और जो कामना-आसक्तिको लेकर कोई नया कर्म आरम्भ नहीं करता, वह गुणातीत कहा जाता है।

गुणातीत होनेका उपाय क्या है ?

जो मनुष्य अव्यभिचारी (अनन्य) भक्तियोगसे मेरा ही भजन करता है, वह इन तीनों गुणोंका अतिक्रमण करके ब्रह्मप्राप्तिका पात्र बन जाता है ॥ २१-२६ ॥

भक्ति तो करे आपकी और पात्र बन जाय ब्रह्मप्राप्तिका, यह कैसे सम्भव है भगवन् ?

भैया ! ब्रह्म, अविनाशी अमृत, सनातनधर्म और ऐकान्तिक सुखका आश्रय मैं ही हूँ अर्थात् ये सभी मेरे ही नाम हैं ॥ २७ ॥

पंद्रहवाँ अध्याय

ब्रह्म, अविनाशी अमृत आदिका आधार (आश्रय) आप हैं, तो फिर इस संसारका आधार कौन है भगवन् ?

भगवान् बोले—इस संसार-वृक्षका आधार, आश्रय मैं ही हूँ। यह वृक्ष ऊपरकी ओर मूलवाला तथा नीचेकी ओर शाखावाला है। कल दिनतक भी स्थिर न रहनेके कारण इसे 'अश्वत्थ' कहते हैं। इसके आदि-अन्तका पता न होनेसे तथा प्रवाहरूपसे नित्य रहनेके कारण इसे 'अव्यय' कहते हैं। वेदोंमें आये हुए सकाम अनुष्ठानोंका वर्णन इसके पत्ते कहे गये हैं। ऐसे संसार-वृक्षको जो यथार्थरूपसे जानता है, वही वास्तवमें वेदोंके तत्त्वको जाननेवाला है ॥ १ ॥

यह संसारवृक्ष और कैसा है भगवन् ?

इस संसारवृक्षकी सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके द्वारा बढ़ी हुई शाखाएँ नीचे, मध्य और ऊपरके सभी लोकोंमें फैली हुई हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय इस वृक्षकी शाखाओंकी कोंपलें हैं (इन विषयोंका चिन्तन करना ही नयी-नयी कोंपलोंका निकलना है)। परंतु इस वृक्षकी शाखाओंका मूल यह मनुष्यलोक ही है; क्योंकि इस मनुष्यलोकमें किये हुए कर्मोंका फल ही सभी लोकोंमें भोगा जाता है ॥ २ ॥

इस वृक्षका स्वरूप क्या है ?

इस संसारवृक्षका जैसा सत्य और सुन्दर-सुखदायी रूप लोगोंके देखनेमें आता है, वैसा रूप विचार करनेपर मिलता नहीं; इसका न तो आदि है, न अन्त है और न स्थिति ही है।

तो फिर इससे सम्बन्ध तोड़नेके लिये मनुष्यको क्या करना चाहिये ?

तादात्म्य, ममता और कामनारूपी शाखाओंके दृढ़ मूलवाले संसारवृक्षको असङ्गता-रूप शस्त्रके द्वारा काटकर उस परमपद परमात्माकी खोज करनी चाहिये।

खोज न कर सके तो भगवन् ?

जिसे प्राप्त होनेपर मनुष्य फिर लौटकर संसारमें नहीं आते और जिससे अनादिकालसे यह सृष्टि फैली हुई है, उस आदिपुरुष परमात्माकी शरण हो जाना चाहिये ॥ ३-४ ॥

शरण होनेसे क्या होगा ?

शरण होनेवाले मनुष्य मान और मोहसे रहित हो जाते हैं, आसक्ति न रहनेके कारण उनमें ममता आदि दोष नहीं रहते, वे नित्य-निरन्तर परमात्मामें ही स्थित रहते हैं, वे सम्पूर्ण कामनाओंसे रहित हो जाते हैं, वे सुख-दुःखरूप द्वन्द्वोंसे रहित होकर अविनाशी पदको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ५ ॥

वह अविनाशी पद कैसा है भगवन् ?

सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि जिसे प्रकाशित नहीं कर सकते तथा जहाँ जानेपर मनुष्य लौटकर संसारमें नहीं आते, वह अविनाशी पद ही मेरा परमधाम है ॥ ६ ॥

लौटकर संसारमें क्यों नहीं आते ?

इस शरीरमें जीव बना हुआ यह आत्मा (जीवात्मा) सदासे मेरा ही अंश है, इसलिये मुझे प्राप्त होनेपर यह फिर लौटकर संसारमें नहीं आता; परंतु इससे भूल यह होती है कि यह प्रकृतिके कार्य इन्द्रियों और मनको अपना मान लेता है ॥ ७ ॥

इन्द्रियों आदिको अपना माननेसे क्या होता है ?

वायु जैसे गन्धके स्थानसे गन्धको ग्रहण करके ले जाती है, ऐसे ही शरीर, इन्द्रियों आदिका स्वामी बना हुआ जीवात्मा भी जिस शरीरको छोड़ता है, वहाँसे मनसहित इन्द्रियोंको ग्रहण करके फिर जिस शरीरको प्राप्त होता है, उसमें चला जाता है अर्थात् मरता-जन्मता रहता है ॥ ८ ॥

वह वहाँ क्या करता है भगवन् ?

वहाँ वह मनका आश्रय लेकर श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और नासिका—इन पाँचों इन्द्रियोंके द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँचों विषयोंका रागपूर्वक सेवन करता है ॥ ९ ॥

रागपूर्वक विषयोंका सेवन करनेसे क्या होता है ?

गुणोंसे युक्त होकर जन्मते-मरते और भोगोंको भोगते समय भी यह जीवात्मा स्वरूपसे निर्लिप्त ही रहता है—ऐसा रागपूर्वक विषयोंका सेवन करनेवाले मूढ़ मनुष्य नहीं जानते ।

तो फिर कौन जानता है ?

ज्ञानरूपी नेत्रवाले विवेकी मनुष्य ही जानते हैं ॥ १० ॥

ज्ञान-नेत्र किसके खुलते हैं और किसके नहीं खुलते भगवन् ?

जिन्होंने अपने अन्तःकरणको शुद्ध कर लिया है, अर्थात् नित्यप्राप्तको महत्त्व दिया है, ऐसे यत्नशील योगीलोग तो अपने-आपमें स्थित तत्त्वको जानते हैं अर्थात् उनके तो ज्ञान-नेत्र खुलते हैं; पर जिन्होंने अपना अन्तःकरण शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अविवेकी मनुष्य यत्न करनेपर भी इस तत्त्वको नहीं जानते अर्थात् उनके ज्ञान-नेत्र नहीं खुलते ॥ ११ ॥

अपने-आपमें स्थित तत्त्व क्या है ?

मैं ही हूँ । सूर्यमें आया हुआ जो तेज सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है और जो तेज चन्द्रमामें है तथा जो तेज अग्निमें है, उसे तुम मेरा ही तेज जानो । तात्पर्य यह है कि सूर्य, चन्द्र और अग्निमें मैं ही तेजरूपसे स्थित होकर सम्पूर्ण संसारको प्रकाशित करता हूँ ॥ १२ ॥

आप और क्या करते हैं भगवन् ?

मैं ही पृथ्वीमें प्रवेश करके अपनी शक्तिसे सम्पूर्ण प्राणियोंको धारण करता हूँ और मैं ही रसमय चन्द्रमा होकर सम्पूर्ण वनस्पतियोंको पुष्ट करता हूँ ॥ १३ ॥

और आप क्या काम करते हैं ?

प्राणियोंके शरीरमें रहनेवाला मैं ही प्राण-अपानसे युक्त वैश्वानर (जठराग्नि) बनकर प्राणियोंके द्वारा खाये गये चार प्रकारके (भोज्य, पेय, चोष्य और लेह्य) अन्नको पचाता हूँ ॥ १४ ॥

और आपकी क्या विलक्षणता है ?

मैं ही सबके हृदयमें रहता हूँ । मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन (संशय आदि दोषोंका नाश) होता

है। सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा मैं ही जाननेयोग्य हूँ। वेदोंके तत्त्वका निर्णय करनेवाला और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ ॥ १५ ॥

आप सबके हृदयमें विराजमान हैं, तो वे सब कौन हैं ?

इस मनुष्यलोकमें क्षर (विनाशी) और अक्षर (अविनाशी)—ये दो प्रकारके पुरुष हैं। इनमें सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीर विनाशी और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है ॥ १६ ॥

क्षर और अक्षरके सिवाय और भी कोई है ?

हाँ, क्षर और अक्षरसे अन्य उत्तम पुरुष है, जो संसारमें परमात्मा नामसे कहा गया है और जो त्रिलोकीका भरण-पोषण करनेवाला अविनाशी ईश्वर है ॥ १७ ॥

उत्तम पुरुष तो अन्य है, पर आप कौन हैं भगवन् ?

भैया ! वह उत्तम पुरुष मैं ही हूँ। मैं क्षरसे तो अतीत हूँ और अक्षरसे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें और वेदमें मैं पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ ॥ १८ ॥

आप पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हैं, तो इससे मनुष्यको क्या लाभ है भगवन् ?

हे भारत ! जो मोहरहित भक्त मुझे इस प्रकार पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ हो जाता है अर्थात् उसके लिये कुछ भी जानना शेष नहीं रहता। फिर वह सब प्रकारसे केवल मेरा ही भजन करता है अर्थात् मुझमें ही लगा रहता है ॥ १९ ॥

जब ऐसी ही बात है, तब सब आपमें ही क्यों नहीं लग जाते भगवन् ?

हे निष्पाप अर्जुन ! मैंने जो बात तुमसे कही है, यह अत्यन्त गोपनीय है। इसे जानकर मेरा भक्त ज्ञात-ज्ञातव्य, कृतकृत्य और प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाता है ॥२०॥

सोलहवाँ अध्याय

उस अत्यन्त गोपनीय बातका अधिकारी कौन होता है भगवन् ?

दैवी सम्पत्तिवाला होता है*।

दैवी सम्पत्तिवाले मनुष्यके क्या लक्षण होते हैं ?

भगवान् बोले—वे इस प्रकार हैं—

१. मेरे ही दृढ़ भरोसे अभय रहना।
२. अन्तःकरणमें मुझे प्राप्त करनेका एक दृढ़ निश्चय होना।
३. मुझे तत्त्वसे जाननेके लिये हरेक परिस्थितिमें सम रहना।
४. सात्त्विक दान देना।
५. इन्द्रियोंको वशमें करना।
६. अपने कर्तव्यका पालन करना।
७. शास्त्रोंके सिद्धान्तोंको अपने जीवनमें उतारना।
८. अपने कर्तव्यका पालन करते समय जो कष्ट आये, उसे प्रसन्नतापूर्वक सहना।
९. तन-मन-वाणीकी सरलता।
१०. तन-मन-वाणीसे किसी भी प्राणीको कभी किञ्चिन्मात्र भी कष्ट न पहुँचाना।
११. जैसा देखा, सुना और समझा हो, वैसा-का-वैसा प्रिय शब्दोंमें कह देना।
१२. मेरा स्वरूप समझकर किसीपर कभी क्रोध न करना।
१३. सांसारिक कामनाओंका त्याग करना।
१४. अन्तःकरणमें राग-द्वेषजनित हलचल न होना।
१५. चुगली न करना।

* 'देव' नाम परमात्माका है। उस परमात्माकी जो सम्पत्ति है, गुण है, वे 'दैवी सम्पत्ति' कहलाते हैं अर्थात् जो साधन परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु (निमित्त) बनते हैं, वे 'दैवी सम्पत्ति' कहलाते हैं।

१६. सम्पूर्ण प्राणियोंपर दयाका भाव होना।
१७. सांसारिक विषयोंमें न ललचाना।
१८. हृदयका कोमल होना।
१९. अकर्तव्य करनेमें लज्जा होना।
२०. चपलता (उतावलापन) न होना।
२१. शरीर और वाणीमें तेज (प्रभाव) होना।
२२. अपनेमें दण्ड देनेकी सामर्थ्य होनेपर भी अपराधीको क्षमा कर देना।
२३. प्रत्येक परिस्थितिमें धैर्य रखना।
२४. शरीरको शुद्ध रखना।
२५. बदला लेनेकी भावना न होना।
२६. अपनेमें श्रेष्ठताका भाव न होना।

हे भरतवंशी अर्जुन ! ये सभी दैवी सम्पत्तिको प्राप्त हुए मनुष्यके लक्षण हैं अर्थात् इन लक्षणोंवालेको मेरी भक्तिका अधिकारी मानना चाहिये* ॥ १-३ ॥

अनधिकारी कौन होता है भगवन् ?

आसुरी सम्पत्तिवाला† ।

आसुरी सम्पत्तिवाले मनुष्यके क्या लक्षण होते हैं ?

वे इस प्रकार हैं—

१. दम्भ (दिखावटीपन) करना।
२. घमंड करना अर्थात् ममतावाली वस्तुओंको लेकर अपनेमें बड़प्पनका अनुभव करना।
३. अहंतावाली वस्तुओंको लेकर अभिमान करना।
४. क्रोध करना।
५. मन, वाणी, बर्ताव आदिमें कठोरता रखना।
६. सत्-असत, कर्तव्य-अकर्तव्य आदिके ज्ञान (विवेक)को महत्त्व न देना।

हे पृथानन्दन ! ये सभी आसुरी सम्पत्तिको प्राप्त हुए मनुष्यके लक्षण हैं अर्थात् इन लक्षणोंवाला मनुष्य प्रायः मेरी भक्तिका अधिकारी नहीं होता ॥ ४ ॥

इस दैवी और आसुरी सम्पत्तिका क्या फल होता है भगवन् ?

दैवी सम्पत्ति मुक्ति देनेवाली और आसुरी सम्पत्ति बाँधनेवाली होती है; परंतु हे पाण्डव ! तुम्हें शोक (चिन्ता) नहीं करना चाहिये; क्योंकि तुम दैवी सम्पत्तिको प्राप्त हुए हो ॥ ५ ॥

आसुरी सम्पत्ति बन्धनकारक कैसे होती है ?

इस लोकमें दो तरहके प्राणियोंकी सृष्टि है—दैवी और आसुरी। दैवी सम्पत्तिको तो मैंने विस्तारसे कह दिया, अब हे पार्थ ! तुम आसुरी सम्पत्तिको विस्तारसे सुनो। आसुरी सम्पत्तिवाले मनुष्य किसमें प्रवृत्त होना चाहिये और किससे निवृत्त होना चाहिये—इसे नहीं जानते तथा उनमें न तो शौचाचार (बाह्य शुद्धि) होता है, न सदाचार (श्रेष्ठ आचरण) होता है और न सत्य-पालन ही होता है ॥ ६-७ ॥

उनमें शौचाचार आदि क्यों नहीं होते हैं भगवन् ?

उनकी दृष्टि ही विपरीत होती है। वे कहते हैं कि यह संसार असत्य है अर्थात् इसमें कोई भी बात (शास्त्र, धर्म आदि) सत्य नहीं है। इस संसारमें धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप आदिकी कोई मर्यादा नहीं है। इस संसारको रचनेवाला कोई ईश्वर नहीं है; किंतु स्त्रीको पुरुषकी और पुरुषको स्त्रीकी इच्छा हुई, तो दोनोंके संयोगसे यह संसार पैदा हो गया। इसलिये इस संसारकी उत्पत्तिका हेतु काम ही है, इसके सिवाय और कोई कारण नहीं है ॥ ८ ॥

उन आसुरी सम्पत्तिवालोंके कर्म कैसे होते हैं ?

उपर्युक्त नास्तिक दृष्टिका आश्रय लेनेवाले वे लोग अपने नित्य-स्वरूप (आत्मा)को नहीं मानते, उनकी बुद्धि तुच्छ होती है, उनके कर्म अत्यन्त उग्र (भयानक) होते हैं, वे जगत्के शत्रु होते हैं। ऐसे मनुष्योंकी सामर्थ्य दूसरोंका नाश करनेके लिये ही होती है ॥ ९ ॥

---

* यहाँ यह शङ्का होती है कि जो ऐसे लक्षणोंवाले हैं, वे तो भक्तिके अधिकारी हैं, पर जिनमें ऐसे लक्षण नहीं हैं, वे दुराचारी मनुष्य तो भक्तिके अधिकारी हो ही नहीं सकते ? बात तो ठीक ही है, परंतु यदि कोई दुराचारी मनुष्य भी अनन्यभावसे भगवान्में लग जाता है तो वह बहुत ही शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है अर्थात् उसमें भगवत्कृपासे दैवी सम्पत्तिके लक्षण बहुत शीघ्र आ जाते हैं (गीता ९ । ३०-३१)।

† 'असु' नाम प्राणोंका है। उन प्राणोंमें ही जो रमण करना चाहते हैं, प्राणोंको ही रखना चाहते हैं, उन्हें 'असुर' कहते हैं। तात्पर्य यह है कि शरीरके साथ एकता मानकर 'मैं, कभी मरूँ नहीं; सदा जीता रहूँ और सुख भोगता रहूँ'—ऐसी इच्छावाले मनुष्य 'असुर' हैं। उन असुरोंकी जो सम्पत्ति (लक्षण) है, वह 'आसुरी सम्पत्ति' कहलाती है।

नास्तिक दृष्टिका आश्रय लेकर वे क्या करते हैं ?

वे कभी पूरी न होनेवाली कामनाओंका आश्रय लेकर दम्भ, अभिमान और मदमें चूर रहनेवाले तथा अपवित्र नियमोंको धारण करनेवाले मनुष्य मोहके कारण अनेक दुराग्रहोंको पकड़कर संसारमें विचरते रहते हैं ॥ १० ॥

उनके भाव कैसे होते हैं ?

वे मृत्युपर्यन्त रहनेवाली बड़ी-बड़ी चिन्ताओंका आश्रय लेते हैं। वे पदार्थोंका संग्रह और उनका भोग करनेमें ही लगे रहनेवाले और 'जो कुछ है, वह इतना (सुख भोगना और संग्रह करना) ही है'—ऐसा निश्चय करनेवाले होते हैं ॥ ११ ॥

वे किस उद्देश्यको लेकर चलते हैं भगवन् ?

सैकड़ों आशाओंकी फाँसियोंसे बँधे हुए वे मनुष्य काम और क्रोधके परायण होकर केवल भोग भोगनेके उद्देश्यसे ही अन्यायपूर्वक धनका संग्रह करनेकी चेष्टा करते रहते हैं ॥ १२ ॥

उनके मनोरथ कैसे होते हैं ?

आज इतना धन तो हमने प्राप्त कर लिया और अब इस मनोरथको प्राप्त कर लेंगे। इतना धन तो हमारे पास है ही, इतना धन और हो जायगा ॥ १३ ॥

उनके और कैसे मनोरथ होते हैं ?

उस शत्रुको तो हमने मार दिया और उन दूसरे शत्रुओंको भी हम मार डालेंगे। हम सर्वसमर्थ हैं, सिद्ध हैं, बलवान् हैं, सुखी हैं और भोगोंको भोगनेवाले हैं। हम बड़े धनवान् हैं। बहुत-से मनुष्य हमारा साथ देनेवाले हैं। हमारे समान दूसरा कौन हो सकता है ? हम खूब यज्ञ करेंगे, दान देंगे और फिर मौज करेंगे। इस तरह वे अज्ञानसे मोहित होकर मनोरथ करते रहते हैं ॥ १४-१५ ॥

ऐसे मनुष्योंकी मरनेपर क्या गति होती है भगवन् ?

तरह-तरहके भ्रमोंमें पड़े हुए, मोहजालमें उलझे हुए तथा पदार्थोंके संग्रह और भोगमें आसक्त हुए वे मनुष्य भयंकर नरकोंमें गिरते हैं ॥ १६ ॥

भोगोंमें आसक्त हुए उन आसुरी सम्पत्तिवाले मनुष्योंके भाव क्या होते हैं ?

वे अपनेको ही पूज्य (श्रेष्ठ) माननेवाले, अकड़ रखनेवाले तथा धन और मानके मदमें चूर रहनेवाले होते हैं।

ऐसे लोग शुभ कर्म भी तो कर सकते हैं भगवन् ?

हाँ, वे यज्ञ आदि शुभ कर्म करते तो हैं, पर करते हैं दम्भ (दिखावटीपन) और अविधिपूर्वक तथा नाम-मात्रके लिये ॥ १७ ॥

वे ऐसा क्यों करते हैं ?

कारण कि वे अहंकार, हठ, घमंड, काम और क्रोधका आश्रय लिये हुए रहते हैं।

उनके और क्या भाव होते हैं भगवन् ?

वे मनुष्य अपने और दूसरोंके शरीरोंमें रहनेवाले मुझ अन्तर्यामीके साथ द्वेष करते हैं तथा मेरे और दूसरोंके गुणोंमें दोषदृष्टि रखते हैं ॥ १८ ॥

ऐसे आसुर भावोंका क्या परिणाम होता है भगवन् ?

उन द्वेष करनेवाले, क्रूर स्वभाववाले तथा संसारमें महान् नीच और अपवित्र मनुष्योंको मैं बार-बार कुत्ता, गधा, बाघ, कौआ, उल्लू, गीध, साँप, बिच्छू आदि आसुरी योनियोंमें गिराता हूँ ॥ १९ ॥

फिर क्या होता है ?

हे कुन्तीनन्दन ! वे मूढ़ मनुष्य मुझे प्राप्त न करके जन्म-जन्मान्तरमें आसुरी योनियोंको प्राप्त होते हैं और फिर उससे भी अधिक अधम गतिमें अर्थात् भयंकर नरकोंमें चले जाते हैं ॥ २० ॥

उनका अधम योनिमें और अधम गति (नरक) में जानेका प्रधान कारण क्या है भगवन् ?

काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके दरवाजे मनुष्यका पतन करनेवाले हैं। इसलिये इन तीनोंका त्याग कर देना चाहिये ॥ २१ ॥

इनका त्याग करनेसे क्या होगा ?

हे कौन्तेय ! जो मनुष्य नरकके इन तीनों द्वारोंसे रहित होकर अपने कल्याणका आचरण करता है अर्थात् जो शास्त्रनिषिद्ध आचरणका त्याग करके केवल अपने कल्याणके उद्देश्यसे निष्कामभावपूर्वक विहित आचरण करता है, वह परमगतिको प्राप्त हो जाता है ॥ २२ ॥

परमगतिकी प्राप्ति किसको नहीं होती ?

जो शास्त्रविधिका त्याग करके अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है अर्थात् अपने मनसे जिस कामको अच्छा समझता है उसे करता है और जिसे अच्छा नहीं समझता, उसे नहीं करता, ऐसे मनुष्यको न तो सिद्धि (अन्तःकरणकी शुद्धि) प्राप्त होती है, न सुख प्राप्त होता है और न परमगति ही प्राप्त होती है ॥ २३ ॥

अच्छे और बुरे कामकी पहचान कैसे हो ?

कर्तव्य और अकर्तव्यके विषयमें शास्त्र ही प्रमाण है—ऐसा जानकर तुम्हें शास्त्रविधिसे नियत किये हुए कर्तव्य-कर्मको ही करना चाहिये अर्थात् शास्त्रको सामने रखकर ही प्रत्येक काम करना चाहिये ॥ २४ ॥

सत्रहवाँ अध्याय

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! जो मनुष्य शास्त्र-विधिको न जानकर श्रद्धापूर्वक यजन-पूजन करते हैं, उनकी श्रद्धा सात्त्विकी होती है अथवा राजसी या तामसी ? ॥ १ ॥

भगवान् बोले—मनुष्योंकी स्वभावसे उत्पन्न होनेवाली श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी और तामसी—ऐसे तीन प्रकार-की होती है ॥ २ ॥

वह स्वभावजा श्रद्धा तीन प्रकारकी क्यों होती है ?

हे भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह मनुष्य श्रद्धामय है। इसलिये जो जैसी श्रद्धावाला है, वैसा ही उसका स्वरूप है अर्थात् वैसी ही उसकी निष्ठा (स्थिति) है ॥ ३ ॥

उस श्रद्धा (निष्ठा) की पहचान कैसे हो ?

सात्त्विक मनुष्य देवताओंका पूजन करते हैं। राजस मनुष्य यक्ष-राक्षसोंका तथा तामस मनुष्य भूत-प्रेतोंका पूजन करते हैं ॥ ४ ॥

अश्रद्धालु मनुष्योंकी पहचान क्या है भगवन् ?

अश्रद्धालु मनुष्य दम्भ, अहंकार, कामना, आसक्ति और हठसे युक्त होकर शास्त्रविधिसे रहित घोर तप करते हैं और अपने पाञ्चभौतिक शरीरको तथा (मुझसे विरुद्ध चलकर) अन्तःकरणमें स्थित मुझे भी कष्ट देते हैं। ऐसे अज्ञानी मनुष्योंको तुम आसुरी स्वभाववाले समझो ॥ ५-६ ॥

अभीतक आपने पूजन और तपसे श्रद्धालु और अश्रद्धालु मनुष्योंकी पहचान बतायी; परंतु जो पूजन, तप आदि नहीं करते, उनकी पहचान किससे होगी ?

भोजनकी रुचिसे उनकी पहचान हो जायगी; क्योंकि सबको आहार भी तीन तरहका प्रिय होता है। ऐसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन तरहके प्रिय होते हैं, उनके इस भेदको तुम सुनो ॥ ७ ॥

सात्त्विक मनुष्यकी रुचि किस आहारमें होती है ?

आयु, सत्त्वगुण, बल, आरोग्य, सुख और प्रसन्नताको बढ़ानेवाले, स्थिर रहनेवाले, हृदयको बल देनेवाले, रसयुक्त और चिकने—ऐसे भोजनके पदार्थ सात्त्विक मनुष्यको प्रिय होते हैं ॥ ८ ॥

राजस मनुष्यकी रुचि किस आहारमें होती है ?

अधिक कड़वे, खट्टे, नमकवाले, गरम, तीखे, रूखे और दाहकारक भोजनके पदार्थ राजस मनुष्यको प्रिय होते हैं, जो कि दुःख, शोक और रोगको देनेवाले हैं ॥ ९ ॥

तामस मनुष्यकी रुचि किस आहारमें होती है ?

अधपके, रसरहित, दुर्गन्धित (मदिरा, प्याज, लहसुन आदि), बासी, उच्छिष्ट (जूठे) और महान् अपवित्र (मांस, मछली, अंडा आदि) भोजनके पदार्थ तामस मनुष्यको प्रिय होते हैं ॥ १० ॥

अभी आपने यज्ञ, तप और दानके भी तीन-तीन भेद सुननेकी आज्ञा दी थी*। अतः अब यह बताइये कि यज्ञ तीन प्रकारका कैसे होता है ?

* पहले यजन-पूजन और भोजनके द्वारा जो श्रद्धाकी पहचान बतायी, उससे शास्त्रविधिका अज्ञतापूर्वक त्याग करनेवालोंकी तो पहचान हो जाती है, पर जो मनुष्य शास्त्रविधिके अनुसार यज्ञ आदि शुभकर्म करते हैं, उनकी पहचान कैसे हो—यह बतानेके लिये भगवान्‌ने यज्ञ, तप और दानके तीन-तीन भेदोंको सुननेकी आज्ञा दी है।

यज्ञ करना कर्तव्य है—इस तरह मनको समाधान करके फलेच्छारहित मनुष्योंके द्वारा शास्त्रविधिके अनुसार जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक होता है ॥ ११ ॥

राजस यज्ञ कैसे होता है भगवन् ?

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन ! जो यज्ञ फलकी इच्छासे अर्थात् अपने स्वार्थके लिये किया जाय अथवा केवल लोगोंको दिखानेके लिये किया जाय, उसे तुम राजस समझो॥ १२ ॥

तामस यज्ञ कैसे होता है ?

जो यज्ञ शास्त्रविधिसे हीन, अन्न-दानसे रहित, बिना मन्त्रोंके, बिना दक्षिणाके और बिना श्रद्धाके किया जाता है, वह तामस कहलाता है ॥ १३ ॥

भगवन् ! अब यह बताइये कि तप कितने प्रकार-का होता है ?

तप तीन प्रकारका होता है—शरीरका, वाणीका और मनका । देवता, ब्राह्मण, गुरुजन और जीवन्मुक्त महापुरुषोंका पूजन करना; जल, मृत्तिका आदिसे शरीरको पवित्र रखना; शारीरिक क्रियाओंको सीधी-सरल रखना अर्थात् ऐंठ-अकड़ न रखना; ब्रह्मचर्यका पालन करना; और शरीरसे किसीको भी किसी तरहका कष्ट न देना—यह शरीरका तप है ॥ १४ ॥

वाणीका तप कैसे होता है ?

उद्वेग न करनेवाले, सत्य, प्रिय और हितकारक वचन बोलना; स्वाध्याय करना और अभ्यास (नाम-जप आदि) करना—यह वाणीका तप है ॥१५ ॥

मनका तप कैसे होता है ?

मनकी प्रसन्नता, सौम्य भाव, मननशीलता, मनका निग्रह और भावोंकी शुद्धि—यह मनका तप है ॥ १६ ॥

उपर्युक्त तीन प्रकारका तप यदि परम श्रद्धासे युक्त फलेच्छारहित मनुष्योंके द्वारा किया जाता है तो वह तप सात्त्विक कहलाता है ॥ १७ ॥

राजस तप क्या होता है भगवन् ?

जो तप अपने सत्कार, मान और पूजाके लिये अथवा दूसरोंको दिखानेके भावसे किया जाता है, वह इस लोकमें अनिश्चित और नाशवान् फल देनेवाला तप राजस होता है ॥ १८ ॥

तामस तप क्या होता है ?

जो तप मूढ़तापूर्वक हठसे अपनेको पीड़ा देकर अथवा दूसरोंको कष्ट देनेके लिये किया जाता है, वह तप तामस होता है ॥ १९ ॥

भगवन् ! अब यह बताइये कि दान तीन प्रकारका कैसे होता है ?

दान देना कर्तव्य है—इस भावसे जो दान प्रत्युपकारकी भावनासे रहित होकर देश, काल और सुपात्रके प्राप्त होनेपर दिया जाता है, वह दान सात्त्विक होता है ॥ २० ॥

राजस दान क्या होता है ?

जो दान प्रत्युपकार पानेके लिये अथवा फलकी इच्छा रखकर 'देना पड़ रहा है'—ऐसे दुःखपूर्वक दिया जाता है, वह दान राजस होता है ॥ २१ ॥

तामस दान क्या होता है ?

जो दान बिना सत्कारके तथा अवज्ञापूर्वक अयोग्य देश और कालमें कुपात्रको दिया जाता है, वह दान तामस होता है ॥ २२ ॥

श्रद्धालु मनुष्य शास्त्रविहित यज्ञ, तप और दानकी क्रियाओंको कैसे आरम्भ करे महाराज ?

ॐ, तत् और सत्—इन तीनों नामोंसे जिस परमात्माका निर्देश किया गया है, उसी परमात्माने सृष्टिके आरम्भमें वेदों, ब्राह्मणों और यज्ञोंकी रचना की है। अतः परमात्माका नाम लेकर ही यज्ञादि क्रियाओंको आरम्भ करना चाहिये ॥ २३ ॥

'ॐ'का प्रयोग कहाँ होता है भगवन् ?

वैदिक सिद्धान्तोंको माननेवाले मनुष्योंकी शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा 'ॐ'का उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं ॥ २४ ॥

'तत्'का प्रयोग कहाँ होता है ?

'तत्' नामसे कहे जानेवाले परमात्माके लिये ही सब कुछ है—ऐसा मानकर मुक्ति चाहनेवाले मनुष्योंके द्वारा फलकी इच्छासे रहित होकर अनेक प्रकारकी यज्ञ, तप और दानरूप क्रियाएँ की जाती हैं ॥ २५॥

'सत्'का प्रयोग कहाँ होता है ?

हे पार्थ ! परमात्माके 'सत्' नामका प्रयोग सत्तामात्रमें और श्रेष्ठ भावमें किया जाता है। प्रशंसनीय (श्रेष्ठ) कर्मके साथ भी 'सत्' शब्द जोड़ा जाता है। यज्ञ, तप और दानमें मनुष्योंकी जो स्थिति (निष्ठा, श्रद्धा) है, वह भी 'सत्' कही जाती है। कहाँतक कहा जाय, उस परमात्माके लिये जो कर्म किया जाता है, वह सब 'सत्' कहा जाता है; क्योंकि वह कर्म अविनाशी फल देनेवाला होता है ॥ २६-२७ ॥

'असत्' कर्म कौन-से कहे जाते हैं भगवन् ?

हे पार्थ ! अश्रद्धासे किया हुआ हवन, दिया हुआ दान और तपा हुआ तप तथा और भी जो कुछ किया जाय, वह सब 'असत्' कहा जाता है। उनका फल न यहाँ होता है और न मरनेके बाद ही होता है अर्थात् उनका कहीं भी 'सत्' फल नहीं होता ॥ २८ ॥

अठारहवाँ अध्याय

अर्जुन बोले—हे महाबाहो ! हे अन्तर्यामिन् ! हे केशिनिषूदन ! मैं संन्यास (सांख्ययोग) और त्याग (कर्मयोग)का तत्त्व अलग-अलग जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥

भगवान् बोले—मैं संन्यास और त्यागके विषयमें अन्य दार्शनिकोंके चार मत बताता हूँ।

वे चार मत कौन-से हैं महाराज ?

१. कई विद्वान् काम्य कर्मोंके त्यागको संन्यास कहते हैं, २. कई सम्पूर्ण कर्मोंके फलके त्यागको त्याग कहते हैं, ३. कई विद्वान् कहते हैं कि कर्मोंको दोषकी तरह छोड़ देना चाहिये और ४. कई कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये ॥ २-३ ॥

ये तो दार्शनिकोंके चार मत हुए, पर आपका इस विषयमें क्या मत है भगवन् ?

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! संन्यास और त्याग—इन दोनोंमेंसे पहले तुम त्यागके विषयमें मेरा मत सुनो; क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ ! त्याग तीन प्रकारका कहा गया है। यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत उनको यदि न करते हों तो अवश्य करना चाहिये। कारण कि उनमेंसे एक-एक कर्म मनीषियोंको पवित्र करनेवाला है ॥ ४-५ ॥

बस, इतने ही कर्म करने हैं क्या ?

हे पार्थ ! अभी कहे हुए यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा इनके सिवाय दूसरे भी शास्त्रविहित कर्मोंको आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके करना चाहिये—यही मेरा निश्चित किया हुआ उत्तम मत है ॥ ६ ॥

जो तीन तरहका त्याग कहा गया है, उसका क्या स्वरूप है भगवन् ?

नियत कर्मोंका त्याग करना किसीके लिये भी उचित नहीं है*। मोहके कारण इनका त्याग करना तामस त्याग है ॥ ७ ॥

राजस त्यागका क्या स्वरूप है ?

कर्तव्य-कर्म करनेमें केवल दुःख ही है—ऐसा समझकर शारीरिक क्लेशके भयसे कर्मोंका त्याग करना राजस त्याग है। ऐसा त्याग करनेवालेको त्यागका फल—शान्ति नहीं मिलती ॥ ८ ॥

---

* विहित कर्म और नियत कर्ममें क्या अन्तर है ? शास्त्रोंने जिन कर्मोंको करनेकी आज्ञा दी है, वे सभी 'विहित कर्म' कहलाते हैं। उन सम्पूर्ण विहित कर्मोंका पालन एक व्यक्ति कर ही नहीं सकता; क्योंकि शास्त्रोंमें सम्पूर्ण वारों तथा तिथियोंके व्रतका विधान आता है। यदि एक ही मनुष्य सब वारोंमें या सब तिथियोंमें व्रत करेगा तो फिर वह भोजन कब करेगा ? इससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्यके लिये सभी विहित कर्म लागू नहीं होते; परंतु उन विहित कर्मोंमें भी वर्ण-आश्रम और परिस्थितिके अनुसार जिसके लिये जो कर्तव्य आवश्यक होता है, उसके लिये वह 'नियत कर्म' है। जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—चारों वर्णोंमें जिस-जिस वर्णके लिये जीविका और शरीर-निर्वाह-सम्बन्धी जितने भी नियम हैं, उस-उस वर्णके लिये वे सभी 'नियत कर्म' हैं।

सात्त्विक त्यागका क्या स्वरूप है ?

हे अर्जुन ! नियत कर्म करना मनुष्यका आवश्यक कर्तव्य है—ऐसा समझकर कर्मोंकी आसक्ति और फलकी इच्छाका त्याग करके नियत कर्मोंको करना सात्त्विक त्याग है ॥ ९ ॥

त्याग करनेवाला मनुष्य कैसा होता है भगवन् ?

वह सकाम और निषिद्ध कर्मोंका त्याग तो करता है, पर द्वेषपूर्वक नहीं और शास्त्र-नियत कर्तव्य-कर्मोंका आचरण तो करता है, पर रागपूर्वक नहीं । ऐसा बुद्धिमान् त्यागी मनुष्य संदेहरहित होकर अपने स्वरूपमें स्थित रहता है ॥ १० ॥

कर्मोंको करनेमें राग न हो और छोड़नेमें द्वेष न हो—इतनी झंझट करें ही क्यों ? कर्मोंका सर्वथा त्याग ही कर दें, तो ?

देहधारी मनुष्यके द्वारा कर्मोंका स्वरूपसे सर्वथा त्याग हो ही नहीं सकता । इसलिये जो कर्मोंके फलका त्याग करनेवाला है, वही त्यागी कहलाता है ॥ ११ ॥

कर्मफल कितने तरहका होता है भगवन् ?

कर्मफल तीन तरहका होता है—(१) इष्ट—जिस परिस्थितिको मनुष्य चाहता है, (२) अनिष्ट—जिस परिस्थितिको मनुष्य नहीं चाहता और (३) मिश्र—जिसमें कुछ भाग इष्टका और कुछ भाग अनिष्टका होता है । ये तीनों तरहके कर्मफल फलकी इच्छा रखकर कर्म करनेवालोंको मरनेके बाद भी प्राप्त होते हैं; परंतु फलेच्छाका त्याग करनेवालोंको कहीं भी नहीं प्राप्त होते ॥ १२ ॥

जिस कर्मका फल तीन तरहका होता है, उस कर्मके होनेमें कौन हेतु बनता है ?

हे महाबाहो ! कर्मोंका अन्त करनेवाले सांख्य-सिद्धान्तमें सम्पूर्ण कर्मोंके सिद्ध होनेमें पाँच हेतु बताये गये हैं, इन्हें तुम मुझसे समझो ॥ १३ ॥

वे हेतु कौन-से हैं भगवन् ?

शरीर, कर्ता, तरह-तरहके करण और उनकी विविध प्रकारकी अलग-अलग चेष्टाएँ तथा संस्कार—ये पाँच हेतु हैं । मनुष्य शरीर, वाणी और मनके द्वारा शास्त्र-विहित अथवा शास्त्रनिषिद्ध जो कुछ भी कर्म आरम्भ करता है, उसके ये पाँचों हेतु होते हैं ॥ १४-१५ ॥

कर्मोंके होनेमें ये पाँच हेतु बतानेका क्या तात्पर्य है ?

कर्म तो शरीर, वाणी और मनसे ही होते हैं, आत्मामें कर्तापन नहीं है; परंतु जो कर्मोंके विषयमें आत्माको कर्ता मानता है, वह दुर्मति ठीक नहीं समझता; क्योंकि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है ॥ १६ ॥

आत्माको अकर्ता माननेसे क्या होता है भगवन् ?

जिसमें 'मैं करता हूँ'—ऐसा अहंकृतभाव नहीं है और जिसकी बुद्धि कर्मोंके फलमें लिप्त नहीं है, वह सम्पूर्ण प्राणियोंको मारकर भी न तो मारता है और न बँधता है ॥ १७ ॥

जब कर्मोंके साथ आत्माका सम्बन्ध नहीं है, तब फिर कर्म किसकी प्रेरणासे होते हैं और कर्मोंमें हेतु कौन बनता है ?

ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता—इन तीनोंसे कर्मप्रेरणा होती है तथा करण, कर्म और कर्ता—इन तीनोंसे कर्मसंग्रह होता है ॥ १८ ॥

कर्मप्रेरणा और कर्मसंग्रहमें मुख्य कौन है और उसके मुख्य भेद क्या हैं भगवन् ?

गुणोंके सम्बन्धसे प्रत्येक पदार्थके भिन्न-भिन्न भेदोंकी गणना करनेवाले शास्त्रमें गुणोंके अनुसार ज्ञान, कर्म और कर्ताके तीन-तीन मुख्य भेद कहे गये हैं, उन्हें भी तुम ठीक तरहसे सुनो ॥ १९ ॥

ज्ञानके तीन भेदोंमेंसे सात्त्विक ज्ञान कौन-सा है ?

जिस ज्ञानसे साधक सम्पूर्ण विभक्त प्राणियोंमें विभागरहित एक अविनाशी सत्ताको देखता है, वह ज्ञान सात्त्विक है ॥ २० ॥

राजस ज्ञान कौन-सा है भगवन् ?

जिस ज्ञानसे मनुष्य अलग-अलग सम्पूर्ण प्राणियोंमें भाव (सत्ता)को अलग-अलग देखता है, वह ज्ञान राजस है ॥ २१ ॥

तामस ज्ञान कौन-सा है ?

जो उत्पन्न होनेवाले शरीरमें ही पूर्णकी तरह आसक्त है तथा जो युक्तिसंगत नहीं है, तात्त्विक ज्ञानसे रहित है और तुच्छ है, वह ज्ञान तामस है ॥ २२ ॥

तीन तरहके कर्मोंमें सात्त्विक कर्म कौन-सा है भगवन् ?

जो नियत कर्म फलेच्छारहित मनुष्यके द्वारा राग-द्वेष और कर्तृत्व-अभिमानसे रहित होकर किया जाय, वह सात्त्विक है ॥ २३ ॥

राजस कर्म कौन-सा है ?

जो कर्म भोगोंकी इच्छावाले मनुष्यके द्वारा अहंकार अथवा परिश्रमपूर्वक किया जाता है, वह राजस है ॥२४॥

तामस कर्म कौन-सा है ?

जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और अपनी सामर्थ्यको न देखकर मोहपूर्वक आरम्भ किया जाता है, वह तामस है ॥ २५ ॥

तीन तरहके कर्ताओंमें सात्त्विक कर्ता कौन-सा है भगवन् ?

जो कर्ता आसक्तिरहित, अहंकाररहित, धैर्य और उत्साहसे युक्त तथा कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धिमें निर्विकार रहता है, वह सात्त्विक है ॥ २६ ॥

राजस कर्ता कौन-सा है ?

जो कर्ता रागी, कर्मफलकी इच्छावाला, लोभी, हिंसाके स्वभाववाला, अशुद्ध और हर्ष-शोकसे युक्त है, वह राजस है ॥ २७ ॥

तामस कर्ता कौन-सा है ?

जो कर्ता असावधान, कर्तव्य-अकर्तव्यकी शिक्षासे रहित, ऐंठ-अकड़वाला, जिद्दी, कृतघ्नी, आलसी, विषादी और दीर्घसूत्री (थोड़े समयमें होनेवाले काममें भी अधिक समय लगा देनेवाला) है, वह तामस है ॥ २८ ॥

ज्ञान, कर्म और कर्ताके तीन-तीन भेद तो आपने बता दिये, अब इनके सिवाय और किन-किनके भेदोंको जाननेकी आवश्यकता है ?

हे धनंजय ! कर्म-संग्राहक करणोंमें बुद्धि और धारणा शक्ति मुख्य हैं, जिनके भेदोंको जाननेकी बहुत आवश्यकता है । अतः अब तुम गुणोंके अनुसार बुद्धि और धृतिके भी तीन प्रकारके भेद अलग-अलगरूपसे सुनो, जिन्हें मैं पूर्णरूपसे कहूँगा । हे पृथानन्दन ! जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्तिको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको ठीक-ठीक जानती है, वह सात्त्विकी है ॥ २९-३० ॥

राजसी बुद्धि क्या है ?

हे पार्थ ! जो बुद्धि धर्म और अधर्मको, कर्तव्य और अकर्तव्यको भी ठीक तरहसे नहीं जानती, वह राजसी है ॥ ३१ ॥

तामसी बुद्धि क्या है ?

हे पृथानन्दन ! तमोगुणसे घिरी हुई जो बुद्धि धर्मको अधर्म और अधर्मको धर्म तथा सब बातोंको उल्टा ही मान लेती है, वह तामसी है ॥ ३२ ॥

सात्त्विकी धृति कौन-सी होती है भगवन् ?

हे पार्थ ! समतासे युक्त जिस अव्यभिचारिणी धृतिके द्वारा मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है ॥ ३३ ॥

राजसी धृति कौन-सी होती है ?

हे पृथानन्दन ! फलको चाहनेवाला मनुष्य जिस धृतिसे धर्म, अर्थ और काम (भोग) को अत्यन्त आसक्तिपूर्वक धारण करता है, वह धृति राजसी है ॥ ३४ ॥

तामसी धृति कौन-सी होती है ?

हे पार्थ ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धृतिसे निद्रा, भय, शोक (चिन्ता), विषाद (दुःख) और मद (घमंड) को भी नहीं छोड़ता, वह धृति तामसी है ॥ ३५ ॥

तामसी पुरुष निद्रा आदिको क्यों नहीं छोड़ता ?

इनसे सुख मिलनेके कारण ही नहीं छोड़ता ।

वह सुख क्या है भगवन् ?

हे भरतर्षभ ! उस सुखके भी तीन भेद तुम मुझसे सुनो । जिस सुखमें अभ्याससे रमण होता है और जिससे दुःखोंका अन्त हो जाता है, ऐसा वह परमात्मविषयक बुद्धिकी प्रसन्नतासे पैदा होनेवाला जो सुख सांसारिक आसक्तिके कारण आरम्भमें जहरकी तरह और परिणाममें अमृतकी तरह होता है, वह सात्त्विक सुख है ॥३६-३७॥

राजस सुख कौन-सा होता है ?

जो सुख इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंके सम्बन्धसे आरम्भमें अमृतकी तरह और परिणाममें जहरकी तरह होता है, वह राजस सुख है ॥ ३८ ॥

तामस सुख कौन-सा होता है ?

निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न हुआ जो सुख आरम्भमें और परिणाममें स्वयंको मोहित करनेवाला होता है, वह तामस सुख है ॥ ३९ ॥

भगवन् ! अब यह बताइये कि तीनों गुणोंको लेकर और किन-किन वस्तुओंके तीन-तीन भेद होते हैं ?

भैया ! पृथ्वीमें, स्वर्गमें, देवताओंमें तथा इनके सिवाय और कहीं भी ऐसी कोई भी वस्तु, पदार्थ आदि नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो अर्थात् सम्पूर्ण त्रिलोकी तीनों गुणोंमें ही है ॥ ४० ॥

इन गुणोंसे छूटनेका उपाय क्या है भगवन् ?

हे परंतप ! इस संसारमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णोंका विभाग मनुष्योंके स्वभावसे उत्पन्न हुए गुणोंके अनुसार ही किया गया है। अतः अपने-अपने वर्णके अनुसार नियत कर्म करना ही गुणोंसे छूटनेका उपाय है ॥ ४१ ॥

ब्राह्मणके कौन-से कर्म हैं भगवन् ?

(१) मनका निग्रह करना, (२) इन्द्रियोंको वशमें करना, (३) धर्म-पालनके लिये कष्ट सहना, (४) बाहर-भीतरसे शुद्ध रहना, (५) दूसरोंके अपराधको क्षमा करना, (६) शरीर, मन आदिमें सरलता रखना, (७) वेद, शास्त्र, आदिका ज्ञान सम्पादन करना, (८) यज्ञविधिको अनुभवमें लाना और (९) परमात्मा, वेद आदिमें आस्तिक-भाव रखना—ये ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं ॥ ४२ ॥

क्षत्रियके कौन-से कर्म हैं ?

(१) शूरवीरता, (२) तेज, (३) धैर्य, (४) प्रजाके संचालन आदिकी विशेष चतुरता, (५) युद्धमें कभी पीठ न दिखाना, (६) दान देना और (७) शासन करनेका भाव—ये क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं ॥ ४३ ॥

वैश्यके कौन-से कर्म हैं ?

(१) खेती करना, (२) गायोंकी रक्षा करना और (३) शुद्ध व्यापार करना—ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं।

शूद्रके कौन-से कर्म हैं ?

चारों वर्णोंकी सेवा करना—यह शूद्रका स्वाभाविक कर्म है ॥ ४४ ॥

अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंको करनेसे क्या होता है भगवन् ?

अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें निष्कामभावसे तत्परतापूर्वक लगा हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर लेता है। अपने स्वाभाविक कर्मोंमें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकार परमात्माको प्राप्त होता है, उस प्रकारको तुम मुझसे सुनो ॥ ४५ ॥

वह प्रकार क्या है ?

जिस परमात्मासे सम्पूर्ण संसार पैदा हुआ है और जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उस परमात्माका-अपने कर्मोंके द्वारा पूजन करके मनुष्य सिद्धि (परमात्मा)-को प्राप्त हो जाता है ॥ ४६ ॥

अपने ही कर्मोंका अनुष्ठान क्यों करें भगवन् ?

भैया ! जिसका अपने लिये निषेध किया गया है, ऐसे गुणयुक्त परधर्मसे अपना दोषयुक्त धर्म (स्वाभाविक कर्म) श्रेष्ठ है; क्योंकि स्वभावसे नियत किये हुए स्वधर्म-रूप कर्मको करता हुआ मनुष्य पापका भागी नहीं होता। हे कुन्तीनन्दन ! दोषयुक्त होनेपर भी अपने धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि जैसे आग जलानेके आरम्भमें धुआँ होता ही है, ऐसे ही प्रत्येक कर्मके आरम्भमें कोई-न-कोई दोष होता ही है ॥ ४७-४८ ॥

कर्मोंका आंशिक दोष भी न लगे, ऐसा कोई और भी उपाय है क्या भगवन् ?

हाँ, सांख्ययोग है। जिसकी बुद्धि सब जगह सर्वथा आसक्तिरहित होती है, जिसका शरीर वशमें होता है और जिसे किसी वस्तु आदिकी किञ्चिन्मात्र भी परवाह नहीं होती, ऐसा मनुष्य सांख्ययोगके द्वारा नैष्कर्म्य-सिद्धि (ब्रह्म)को प्राप्त हो जाता है अर्थात् उसके सब कर्म अकर्म हो जाते हैं और उसे कर्मोंका आंशिक दोष भी नहीं लगता ॥ ४९ ॥

उस नैष्कर्म्यसिद्धिको प्राप्त करनेका क्या क्रम है ?

अन्तःकरणकी शुद्धिरूप सिद्धिको प्राप्त हुआ मनुष्य ब्रह्मको, जो कि ज्ञानकी परानिष्ठा है, जिस क्रमसे प्राप्त

होता है, उस क्रमको तुम मुझसे संक्षेपमें ही समझो। जो सात्त्विकी बुद्धिसे युक्त, वैराग्यके आश्रित, एकान्तमें रहनेके स्वभाववाला और नियमित भोजन करनेवाला साधक धैर्यपूर्वक इन्द्रियोंका नियमन करके, शरीर-वाणी-मनको वशमें करके, शब्दादि विषयोंका त्याग करके और राग-द्वेषको छोड़कर निरन्तर परमात्माके ध्यानमें लगा रहता है, वह अहंकार, हठ, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रह (भोगबुद्धिसे वस्तुओंके संग्रह)का त्याग करके तथा ममतारहित एवं शान्त होकर ब्रह्मप्राप्तिका पात्र हो जाता है ॥ ५०—५३ ॥

ऐसा पात्र होनेपर क्या होता है भगवन् ?

वह ब्रह्मभूत-अवस्थाको प्राप्त प्रसन्न मनवाला साधक न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी इच्छा करता है तथा उसका सम्पूर्ण प्राणियोंमें समभाव हो जाता है। ऐसे साधकको मेरी पराभक्ति प्राप्त हो जाती है ॥ ५४ ॥

पराभक्ति प्राप्त होनेसे क्या होता है ?

उस पराभक्तिसे वह मैं जो कुछ हूँ और जैसा हूँ—इस तरह मुझे तत्त्वसे जानकर तत्काल मुझमें प्रविष्ट हो जाता है ॥ ५५ ॥

आपकी प्राप्तिका क्या और भी कोई बढ़िया उपाय है ?

हाँ, बहुत बढ़िया उपाय है।

वह क्या है महाराज ?

जो अनन्यभावसे मेरा आश्रय लेता है, वह भक्त सदा सब कर्म करता हुआ भी मेरी कृपासे निरन्तर रहनेवाले अविनाशी पदको प्राप्त हो जाता है ॥ ५६ ॥

तो मुझे क्या करना चाहिये ?

भैया ! तुम केवल मेरे परायण होकर सम्पूर्ण कर्मोंको चित्तसे मेरे अर्पण कर दो, अर्थात् सम्पूर्ण कर्म, पदार्थ आदिसे अपनापन हटा लो और समताको धारण करके निरन्तर मुझमें मनवाला हो ॥ ५७ ॥

आपमें मनवाला होनेसे क्या होगा ?

मुझमें मनवाला होनेसे तुम मेरी कृपासे सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंको तर जाओगे; परंतु यदि तुम अहंकारके कारण मेरी बात नहीं मानोगे तो तुम्हारा पतन हो जायगा ॥ ५८ ॥

पतन कैसे होगा ?

अहंकारका आश्रय लेकर तुमने युद्ध न करनेका जो निश्चय किया है, तुम्हारा वह निश्चय झूठा है; क्योंकि तुम्हारा क्षात्र स्वभाव तुम्हें युद्धमें लगा ही देगा। हे कुन्तीनन्दन ! अपने स्वभावजन्य कर्मसे बँधे हुए तुम मोहके कारण जो युद्ध नहीं करना चाहते, उसे तुम क्षात्र स्वभावके परवश होकर करोगे ॥ ५९-६० ॥

वह क्षात्र स्वभाव कैसे युद्धरूप कर्म करायेगा महाराज ?

हे अर्जुन ! अन्तर्यामी ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदय-में स्थित है। वह अपनी मायासे शरीररूपी यन्त्रपर आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको उनके स्वभावके अनुसार घुमाता है ॥ ६१ ॥

इस परवशतासे निकलनेका उपाय क्या है ?

हे भरतवंशी अर्जुन ! तुम सर्वभावसे उस अन्तर्यामी ईश्वरकी ही शरणमें चले जाओ। उसकी कृपासे तुम्हें संसारसे सर्वथा उपरति और अविनाशी परमपदकी प्राप्ति हो जायगी। मैंने यह गोपनीय-से-गोपनीय शरणागतिरूप ज्ञान तुम्हें बतला दिया। अब तुम इसपर अच्छी तरहसे विचार करके जैसा चाहते हो, वैसा करो ॥ ६२-६३ ॥

मैं तो अपनी इच्छाके अनुसार कुछ नहीं करना चाहता भगवन् ! आप ही बतायें कि मैं क्या करूँ ?

तब तुम मेरे इस सम्पूर्ण गोपनीय-से-गोपनीय परम वचनको फिर सुनो। तुम मुझे अत्यन्त प्यारे हो, इसलिये मैं तुम्हारे हितकी बात कहूँगा ॥ ६४ ॥

वह हितकी बात क्या है भगवन् ?

तुम मेरा भक्त हो जाओ, मुझमें मनवाला हो जाओ, मेरा पूजन करो और मुझे ही नमस्कार करो। ऐसा करनेसे तुम मुझे ही प्राप्त हो जाओगे—यह मैं तुम्हारे सामने सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तुम मेरे अत्यन्त प्यारे हो ॥ ६५ ॥

यदि मैं ऐसा न कर पाऊँ, तो ?

सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर तुम केवल एक मेरी शरणमें आ जाओ। मैं तुम्हें सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तुम चिन्ता मत करो ॥ ६६ ॥

यह तो आपने बहुत सुगम और बढ़िया बात बतायी भगवन् ! इस बातको मैं सबसे कह सकता हूँ क्या ?

नहीं-नहीं, भैया ! इस अत्यन्त गोपनीय बातको असहिष्णु मनुष्यसे मत कहना; जो मेरा भक्त नहीं है, उससे भी कभी मत कहना; जो इस बातको सुनना नहीं चाहता, उससे भी मत कहना; और जो मुझमें दोषदृष्टि रखता है, उससे भी मत कहना ॥६७॥

पर इसके सिवाय आपने जो और बातें कही हैं, उन्हें सबसे कहना चाहिये क्या ?

हाँ, मेरे भक्तोंसे कहना चाहिये । जो मनुष्य मेरी पराभक्तिके उद्देश्यसे इस परम गोपनीय गीता-ग्रन्थ-को मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह निःसंदेह मुझे ही प्राप्त हो जायगा । इतना ही नहीं, उसके समान मेरा अत्यन्त प्रिय कार्य करनेवाला भी मनुष्योंमें कोई नहीं होगा और इस भूमण्डलपर उसके समान मेरा प्रिय भी कोई नहीं होगा॥ ६८-६९ ॥

यदि कोई ऐसा कार्य न कर सके, तो ?

जो मेरे और तुम्हारे इस धर्ममय संवादका अध्ययन भी करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है ॥ ७० ॥

कोई अध्ययन भी न कर सके, तो ?

दोष-दृष्टिरहित जो मनुष्य केवल श्रद्धापूर्वक मेरे इस उपदेशको सुन भी लेगा, वह भी सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर पुण्यकारियोंके ऊँचे लोकोंको प्राप्त हो जायगा ॥ ७१ ॥

हे पार्थ ! मैं तुमसे यह पूछता हूँ कि क्या तुमने इस उपदेशको एकाग्रचित्तसे सुना ? और हे धनंजय ! क्या तुम्हारा अज्ञानसे उत्पन्न मोह नष्ट हुआ ? ॥७२॥

अर्जुन बोले—हे अच्युत ! मेरा मोह नष्ट हो गया है और स्मृति प्राप्त हो गयी है, पर यह सब हुआ है आपकी कृपासे, उपदेश सुननेसे नहीं । मैं संदेहरहित होकर स्थित हूँ । अब मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा ॥ ७३ ॥

संजय बोले—हे राजन् ! इस प्रकार मैंने भगवान् वासुदेव और महात्मा अर्जुनका यह रोमाञ्चकारी अद्भुत संवाद सुना ॥ ७४ ॥

यह संवाद तुम्हें सुननेको कैसे मिला संजय ?

यह अत्यन्त गोपनीय संवाद मैंने व्यासजीकी कृपासे साक्षात् योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके कहते-कहते सुना है, परम्परासे नहीं ॥ ७५ ॥

इस संवादको सुननेसे तुम्हारेपर क्या असर हुआ संजय ?

हे राजन् ! भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस पवित्र और अद्भुत संवादको स्मरण कर-करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ ॥ ७६ ॥

हर्षित होनेका और क्या कारण है ?

हे राजन् ! भगवान् श्रीकृष्णके उस अत्यन्त अद्भुत विराट् रूपको स्मरण कर-करके मुझे बड़ा भारी आश्चर्य हो रहा है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ ॥ ७७ ॥

अब तुम किस निर्णयपर पहुँचे हो संजय ?

जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन हैं, वहाँ ही श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है—यही मेरा निश्चय है ॥ ७८ ॥

यह गीता-माधुर्य तो अति संक्षेपमें लिखा गया है । इसे विस्तारसे ठीक समझनेके लिये साधक-संजीवनी टीका देखनी चाहिये ।

गीतामें संवाद

गीतायामस्ति संवादः संजयधृतराष्ट्रयोः ।
श्रीकृष्णार्जुनयोश्चैव द्विविधस्तत्तुमुत्तमः ॥

गीतामें दो संवाद हैं—धृतराष्ट्र और संजयका संवाद तथा श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवाद ।

गीताके पहले अध्यायके पहले श्लोकमें ही धृतराष्ट्र बोले हैं, उसके बाद अठारह अध्यायतक धृतराष्ट्र बोले ही नहीं । संजय बीच-बीचमें कई बार बोले हैं ।

पहले अध्यायमें **'हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह'** (१ । २१), **'उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति'** (१ । २५) आदि वचनोंके रूपमें श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवाद तो आया है, पर यह आया है संजयके वचनोंके अन्तर्गत ही । श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवाद दूसरे अध्यायके दूसरे श्लोकसे आरम्भ होता है ।

उपर्युक्त दोनों संवादोंके अतिरिक्त दुर्योधन और प्रजापति ब्रह्माजीके वचन भी गीतामें आते हैं, जैसे—पहले अध्यायके तीसरे श्लोकसे ग्यारहवें श्लोकतक (कुल नौ श्लोकोंमें) दुर्योधनके वचन हैं; और तीसरे अध्यायके दसवें श्लोकके उत्तरार्धसे बारहवें श्लोकके पूर्वार्धतक ब्रह्माजीके वचन हैं । इनमेंसे दुर्योधनके वचन तो संजयके वचनोंके अन्तर्गत हैं और ब्रह्माजीके वचन भगवान्‌के वचनोंके अन्तर्गत हैं । इसीलिये वहाँ 'दुर्योधन उवाच' और 'प्रजापतिरुवाच' नहीं दिया गया ।

दूसरी बात, सम्पूर्ण महाभारत वैशम्पायन और जनमेजयका संवाद है । उसमेंसे गीतामें धृतराष्ट्र और संजयका संवाद है*, जिसमें संजय श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवाद सुना रहे हैं, न कि दुर्योधन आदिका । प्रत्येक अध्यायके अन्तमें जो पुष्पिका दी गयी है, उसमें भी **'श्रीकृष्णार्जुनसंवादे'** पद दिया गया है । अतः गीतामें दो ही संवाद हैं ।

गीतामें अर्जुनद्वारा स्तुति, प्रार्थना और प्रश्न

यत्र यत्र च गीतायां प्रोक्तं कृष्णसखेन वै ।
प्रार्थना कुत्रचित्तत्र क्वचित्प्रश्नः क्वचित्स्तुतिः ॥

स्तुतिमें भगवान्‌की महिमा, गुण, प्रभाव आदिका कथन (गान) होता है । प्रार्थनामें भगवान्‌के गुणों आदिको तत्त्वसे जाननेकी अथवा भगवान्‌से कुछ पानेकी इच्छा होती है । अपने हृदयमें कोई हलचल, संदेह, जिज्ञासा होती है, उसे दूर करनेके लिये प्रश्न होता है ।

---

* महाभारतके वक्ता वैशम्पायन ऋषि हैं और श्रोता राजा जनमेजय हैं । महाभारतमें कुल अठारह पर्व हैं । उनमेंसे भीष्मपर्वके आरम्भमें राजा जनमेजय वैशम्पायनजीसे प्रश्न करते हैं कि कौरवों और पाण्डवोंने कैसे युद्ध किया ? इसके उत्तरमें वैशम्पायनजीने दोनों सेनाओंके हर्षोल्लास आदिकी बातें बतायीं । फिर वेदव्यासजी धृतराष्ट्रके पास आये और उन्होंने धृतराष्ट्रको अवश्यम्भावी युद्धके विषयमें बहुत-सी बातें कहीं तथा संजयको दिव्यदृष्टि दी; जिससे वे धृतराष्ट्रको युद्ध आदिकी सभी बातें सुनाते रहें । वेदव्यासजीके चले जानेपर धृतराष्ट्रने संजयसे कहा कि जिस भूमिके लिये मेरे और पाण्डुके पुत्र लड़नेके लिये तैयार हो रहे हैं, उसका मुझे विस्तारसे वर्णन सुनाइये । इसपर संजयने भारतवर्षकी भूमिका; द्वीपों, नदियों, पहाड़ों आदिका वर्णन किया । फिर श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके आरम्भमें (जो कि भीष्मपर्वका तेरहवाँ अध्याय है) वैशम्पायनजीने राजा जनमेजयसे कहा कि एक दिनकी बात है, संजयने युद्धभूमिसे लौटकर धृतराष्ट्रको भीष्म पितामहको शरशय्यापर गिरा दिये जानेका समाचार दिया । इसे लेकर धृतराष्ट्र और संजयके बीचमें दोनों सेनाओंकी बहुत-सी बातें होती रहीं । अन्तमें भीष्मपर्वके पचीसवें अध्यायके आरम्भमें (जो कि गीताका पहला अध्याय है) धृतराष्ट्रने युद्धका क्रमशः और विस्तारपूर्वक वर्णन सुननेके लिये संजयसे प्रश्न किया ।

स्तुतिमें भगवान्‌के प्रति आस्तिकभाव अधिक होता है। प्रार्थनामें आस्तिकभावके साथ-साथ अपनी इच्छा भी रहती है। प्रश्नमें केवल अपनी जिज्ञासाकी पूर्ति करना होता है।

स्तुतिमें पूज्यभाव अधिक होता है। प्रार्थनामें पूज्य-भावके साथ-साथ विश्वास और अपनी इच्छा भी होती है। प्रश्नमें केवल विषयका समाधान करनेकी इच्छा रहती है।

स्तुतिमें भगवान्‌के गुणगानकी मुख्यता रहती है। प्रार्थनामें गुणगानकी मुख्यता होते हुए भी साथमें अपनी माँग रहती है। प्रश्नमें भी गुणगान होता है, पर उसमें जिज्ञासाकी पूर्ति करना, संदेह दूर करना मुख्य रहता है। इस दृष्टिसे प्रश्नमें जितने अंशमें भगवान्‌की विशेषता दीखती है, उतना अंश स्तुति है और जितने अंशमें समाधानकी इच्छा है, उतना अंश प्रार्थना है।

जहाँ भक्तका भगवान्‌के साथ घनिष्ठ अपनापन (सख्यभाव) होता है, वहाँ भगवान्‌के गुण दीखते हुए भी स्तुति, प्रार्थना और प्रश्न नहीं होते। कारण कि जब 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं', तब भगवान्‌में क्या विशेषता है और मुझमें क्या कमी है। भक्तका भगवान्‌के साथ जो घनिष्ठ अपनापन, आत्मीयता, एकता, प्रेम है, उससे भगवान्‌को विशेष आनन्द मिलता है (भगवान्‌का यह विशेष आनन्द ही भक्तका आनन्द होता है; भक्तका अपना कोई विशेष आनन्द नहीं होता)। इस प्रेमका नाम ही माधुर्य है। इसमें स्तुति, प्रार्थना और प्रश्न—ये तीनों ही नहीं होते।

गीतामें अर्जुन जहाँ-जहाँ बोले हैं, वहाँ किसमें स्तुति है, किसमें प्रार्थना है और किसमें प्रश्न है—इसे संक्षेपसे नीचे दिया जाता है—

दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकके पूर्वार्धमें अपनी कमजोरीके कारण 'मुझे क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये'—इस विषयमें अर्जुनका प्रश्न है; और उत्तरार्धमें 'मेरा निश्चित कल्याण हो जाय'—इसके लिये अर्जुनकी भगवान्‌से शरणागतिपूर्वक प्रार्थना है। फिर चौवनवें श्लोकमें 'स्थितप्रज्ञके क्या लक्षण हैं ? वह कैसे बोलता है ? कैसे बैठता है ? और कैसे चलता है ?'—इस तरह जिज्ञासापूर्वक चार प्रश्न हैं।

तीसरे अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकोंमें 'जब कर्मसे बुद्धि ही श्रेष्ठ है, तब फिर मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं ? जिससे मैं कल्याणको प्राप्त हो जाऊँ, वह एक बात कहिये'—इस तरह प्रार्थनापूर्वक प्रश्न है। छत्तीसवें श्लोकमें 'पाप करना न चाहते हुए भी मनुष्यके द्वारा पाप करानेवाला कौन है ?'—इस तरह जिज्ञासापूर्वक प्रश्न है।

चौथे अध्यायके चौथे श्लोकमें 'आपने सूर्यको उपदेश कैसे दिया ?'—इस तरह भगवान्‌के अवतारके विषयमें अर्जुनका जिज्ञासापूर्वक प्रश्न है।

पाँचवें अध्यायके पहले श्लोकमें संन्यास और योगके विषयमें अर्जुनका प्रार्थनापूर्वक प्रश्न है।

छठे अध्यायके सैंतीसवें-अड़तीसवें श्लोकोंमें योगभ्रष्टकी गतिके विषयमें अर्जुनका संदेहपूर्वक प्रश्न है। उन्तालीसवें श्लोकमें संदेहको दूर करनेके लिये अर्जुनने (भगवान्‌की महत्ताको समझाते हुए) भगवान्‌से प्रार्थना की है।

आठवें अध्यायके पहले-दूसरे श्लोकोंमें ब्रह्म, अध्यात्म आदिके विषयमें अर्जुनका जिज्ञासापूर्वक प्रश्न है।

दसवें अध्यायके बारहवेंसे पंद्रहवें श्लोकतक अर्जुनने भगवान्‌के प्रभावको लेकर उनकी स्तुति की है। फिर सोलहवेंसे अठारहवें श्लोकतक अर्जुनका प्रार्थनापूर्वक प्रश्न है (सोलहवें और अठारहवें श्लोकोंमें प्रार्थना है तथा सत्रहवें श्लोकमें प्रश्न है)।

ग्यारहवें अध्यायके पहलेसे चौथे श्लोकतक विश्वरूप दिखानेके लिये अर्जुनकी भगवान्‌से नम्रतापूर्वक प्रार्थना है। पंद्रहवेंसे तीसवें श्लोकतक भगवान्‌के अलौकिक प्रभावको लेकर स्तुति है और इकतीसवें श्लोकमें प्रार्थनापूर्वक प्रश्न है। छत्तीसवेंसे चालीसवें श्लोकतक नमस्कारपूर्वक स्तुति है और इकतालीसवेंसे चौवालीसवें श्लोकतक पूर्वकृत तिरस्कारको क्षमा करनेके लिये प्रार्थना है। पैंतालीसवें-छियालीसवें श्लोकोंमें भगवान्‌से चतुर्भुज-रूप दिखानेके लिये प्रार्थना है।

बारहवें अध्यायके पहले श्लोकमें 'सगुण और निर्गुण उपासकोंमें कौन श्रेष्ठ है ?'—इस विषयमें अर्जुनका प्रश्न है।

चौदहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें गुणातीतके विषयमें अर्जुनका प्रश्न है।

सत्रहवें अध्यायके पहले श्लोकमें निष्ठाको लेकर अर्जुनका प्रश्न है।

अठारहवें अध्यायके पहले श्लोकमें संन्यास और योगके विषयमें अर्जुनका प्रश्न है*।

गीतामें अर्जुनकी युक्तियाँ और उनका समाधान

यावत्यो युक्तयः सन्ति शोकमग्नार्जुनस्य च।
तासां प्रत्युत्तरं दत्तं भक्तानां वै हिताय च॥

पहले और दूसरे अध्यायमें अर्जुनने युद्ध न करनेके विषयमें जितनी भी युक्तियाँ दी हैं, वे सभी शोक और मोहसे आविष्ट होनेके कारण अविवेकपूर्ण हैं। गीतामें भगवान्‌ने ऐसा विवेचन किया है, जिससे अर्जुनकी युक्तियोंका स्वाभाविक ही समाधान हो जाता है। भगवान्‌के विवेकपूर्ण विवेचनके सामने केवल अर्जुनकी ही नहीं, किसीकी भी अविवेकपूर्ण युक्तियाँ टिक नहीं सकतीं।

अर्जुन कहते हैं—मैं शकुनोंको, लक्षणोंको विपरीत देखता हूँ (१ । ३१), तो भगवान् कहते हैं—कर्मयोगी शकुनोंकी परवाह नहीं करता, प्रत्युत वह तो शुभ-अशुभ परिस्थितियोंसे भी राग-द्वेष नहीं करता (२ । ५७); मेरा भक्त शुभ-अशुभ शकुनोंका, परिस्थितियोंका त्यागी होता है (१२ । १७); तुम मुझमें चित्तवाला होकर मेरी कृपासे सम्पूर्ण विघ्नोंको तर जाओगे (१८ । ५८)।

अर्जुन कहते हैं—मैं युद्धमें स्वजनोंको मारकर परिणाममें अपना कल्याण नहीं देखता (१ । ३१), तो भगवान् कहते हैं—क्षत्रियके लिये धर्ममय युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणका साधन नहीं है (२ । ३१); क्योंकि अपने धर्मका पालन करते हुए यदि मृत्यु भी हो जाय, तो भी कल्याण हो जाता है (३ । ३५)।

अर्जुन कहते हैं—मैं न तो विजय चाहता हूँ, न राज्य चाहता हूँ और न सुख ही चाहता हूँ (१ । ३२), तो भगवान् कहते हैं—तुम्हें किसी प्रकारकी कामना न रखकर जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान करके युद्ध करना चाहिये (२ । ३८)।

अर्जुन कहते हैं—मैं जिनके लिये राज्य, भोग आदि चाहता हूँ, वे ही मरनेके लिये सामने खड़े हैं (१ । ३३), तो भगवान् कहते हैं—तुम सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके संताप (शोक) और ममतासे रहित होकर युद्ध करो (३ । ३०)। जो सम्पूर्ण कामनाओंको और स्पृहाको छोड़ देता है तथा अहंता-ममतारहित हो जाता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है (२ । ७१)।

अर्जुन कहते हैं—युद्धमें इन धृतराष्ट्रके सम्बन्धियोंको मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी ? (१ । ३६), तो भगवान् कहते हैं—प्रसन्नता युद्ध करने अथवा न करनेसे नहीं होती, प्रत्युत राग-द्वेषसे रहित अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा व्यवहार करनेसे प्रसन्नता होती है (२ । ६४)।

अर्जुन कहते हैं—युद्धमें इन आततायियोंको मारनेसे हमें पाप लगेगा (१ । ३६), तो भगवान् कहते हैं—जब तुम इस धर्ममय युद्धको नहीं करोगे, तब तुम्हें पाप लगेगा (२ । ३३)।

* अर्जुनके प्रश्नके सिवाय गीतामें धृतराष्ट्र और भगवान्‌के भी प्रश्न हैं। पहले अध्यायके पहले श्लोकमें धृतराष्ट्रने संजयसे प्रश्न किया कि 'हे संजय ! धर्मभूमि कुरुक्षेत्रमें युद्धकी इच्छासे इकट्ठे हुए मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया ?' और अठारहवें अध्यायके बहत्तरवें श्लोकमें भगवान्‌ने (पूरी गीता सुनानेके बाद) अर्जुनसे प्रश्न किया कि 'हे धनंजय ! क्या तुमने एकाग्रचित्तसे गीता सुनी ? और क्या तुम्हारा अज्ञानसे उत्पन्न हुआ मोह नष्ट हुआ ?'

अर्जुन कहते हैं—युद्धमें स्वजनोंको मारकर हम सुखी कैसे होंगे ? (१ । ३७), तो भगवान् कहते हैं—जिन क्षत्रियोंको अनायास ही ऐसा धर्ममय युद्ध प्राप्त हो जाता है, वे ही सुखी होते हैं (२ । ३२)।

अर्जुन कहते हैं—हम कुलके नाशसे होनेवाले दोषोंको जानते हैं, इसलिये हमें तो युद्धसे निवृत्त हो जाना चाहिये (१ । ३९), तो भगवान् कहते हैं—यह तुम्हारी नपुंसकता है, कायरता है, हृदयकी तुच्छ दुर्बलता है, इसे तुम स्वीकार मत करो और अपने कर्तव्यका पालन करनेके लिये खड़ा हो जाओ (२ । ३)।

अर्जुन कहते हैं—युद्ध करनेसे परिणाममें धर्मका नाश हो जायगा (१ । ४०), तो भगवान् कहते हैं—युद्ध न करनेसे धर्मका नाश होगा (२ । ३३)

अर्जुन कहते हैं—युद्ध करनेसे परिणाममें वर्णसंकरता पैदा हो जायगी, जिससे पितरोंका पतन हो जायगा और कुलधर्म तथा जातिधर्म नष्ट हो जायँगे (१ । ४१–४३), तो भगवान् कहते हैं—यदि मैं सावधान होकर अपने कर्तव्य-कर्मका पालन न करूँ तो संकरताको पैदा करनेवाला बनूँ अर्थात् युद्धरूप कर्तव्य-कर्म न करनेसे ही वर्णसंकरता पैदा होगी (३ । २४)।*

अर्जुन कहते हैं—युद्धके परिणाममें नरककी प्राप्ति होगी (१ । ४४), तो भगवान् कहते हैं—युद्ध करनेसे स्वर्गकी प्राप्ति होगी (२ । ३२, ३७)।

अर्जुन कहते हैं—हमलोग लोभके कारण पाप करनेमें प्रवृत्त हो गये हैं (१ । ४५), तो भगवान् कहते हैं—इस कामरूप लोभका त्याग करना चाहिये; क्योंकि यह मनुष्यका शत्रु है, पाप करानेमें हेतु है (३ । ३७)।

अर्जुन कहते हैं—मैं भीष्म और द्रोणको बाणोंसे कैसे मारूँ ? (२ । ४), तो भगवान् कहते हैं—ये सभी कालरूपसे मेरे द्वारा मारे हुए हैं, तुम केवल अपना कर्तव्यपालन करते हुए निमित्तमात्र बन जाओ (११ । ३३)।

अर्जुन कहते हैं—मैं गुरुजनोंको न मारकर अर्थात् युद्ध न करके भिक्षाका अन्न खाना श्रेष्ठ मानता हूँ (२ । ५), तो भगवान् कहते हैं—दूसरेका धर्म भय देनेवाला है और अपने धर्मका पालन करते हुए यदि मृत्यु भी हो जाय, तो भी अपना धर्म कल्याण करनेवाला है (३ । ३५)।

अर्जुन कहते हैं—हमलोग यह भी नहीं जानते कि युद्ध करना ठीक है या युद्ध न करना ठीक है (२ । ६), तो भगवान् कहते हैं—तुम नियत कर्म करो; क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है (३ । ८); युद्धमें तुम वैरियोंको जीतोगे (११ । ३४)।

गीतामें भगवान्का विविध रूपोंमें प्रकट होना

करुणानिधिकृष्णेन स्वकीयं प्रकटीकृतम् ।
विभिन्नरूपं सर्वेषु चाध्यायेष्वर्जुनं प्रति ॥†

अवतारके समय भगवान् गुप्तरूपसे रहते हैं और सबके सामने अपने-आपको भगवद्रूपसे प्रकट नहीं करते (७ । २५), परंतु अर्जुनके भावको देखते हुए उनके सामने भगवान् गीतामें कृपापूर्वक अनेक रूपोंमें प्रकट होते हैं; जैसे—

* अर्जुनकी युक्तिके अनुसार भी यदि विचार किया जाय तो वास्तवमें कर्तव्यका पालन न करना ही वर्णसंकरताका कारण है। युद्धमें कुलका नाश होनेपर स्त्रियोंका दूषित होना उनका कर्तव्यच्युत होना ही है और कर्तव्यच्युत होनेसे ही वर्णसंकरता आती है। यदि स्त्रियोंमें यह भाव रहे कि हमारे पतियोंने युद्धरूप कर्तव्यका पालन करते हुए अपने प्राणोंका त्याग कर दिया, पर अपने कर्तव्यका त्याग नहीं किया, फिर हम अपने कर्तव्यका त्याग क्यों करें ? तो वे कर्तव्यच्युत नहीं होंगी। कर्तव्यच्युत न होनेसे उनका सतीत्व सुरक्षित रहेगा, जिससे वर्णसंकरता आयेगी ही नहीं।

† यहाँ (इस श्लोकमें) 'म-विपुला'का प्रयोग हुआ है। ऐसे ही प्रत्येक लेखके आरम्भमें दिये हुए अन्य श्लोकोंमें कहीं-कहीं 'विपुला'का प्रयोग हुआ है। इस प्रकारके प्रयोगको 'पिङ्गलच्छन्दःसूत्रम्' ग्रन्थके अनुसार 'पथ्यावक्त्र' नामक छन्दके अन्तर्गत ही माना गया है।

भक्त मुझसे जो काम कराना चाहता है और मुझे जिस रूपमें देखना चाहता है, मैं वही काम करता हूँ और उसके भावके अनुसार वैसा ही बन जाता हूँ—इस प्रकार अपनेको भक्तोंके अधीन बतानेके लिये भगवान् पहले अध्यायमें अर्जुनके सामने 'सारथि'-रूपसे प्रकट होते हैं (१ । २१, २४)।

जो मनुष्य कर्तव्य-अकर्तव्य, सत्-असत् आदिके विषयमें उलझा हो, स्वयं कोई निर्णय नहीं कर पा रहा हो, वह मेरी शरण होकर मुझे पुकारे तो मैं उसे सब बता देता हूँ, उसकी उलझनको सुलझा देता हूँ—यह बात बतानेके लिये भगवान् दूसरे अध्यायमें किंकर्तव्यविमूढ़ और शरणापन्न अर्जुनके सामने 'गुरु'-रूपसे प्रकट होते हैं (२ । ७)।

जो मनुष्य मुझे प्राप्त हो जाय, उसे भी लोक-संग्रहके लिये तत्परतासे अपने कर्तव्यका पालन करते रहना चाहिये। कारण कि मुझे त्रिलोकीमें कुछ भी करना और कुछ भी पाना शेष नहीं है, फिर भी मैं निरालस्य होकर अपने कर्तव्यमें ही लगा रहता हूँ—यह बात बतानेके लिये भगवान् तीसरे अध्यायमें अर्जुनके सामने 'आदर्श'-रूपसे प्रकट होते हैं (३ । २२–२४)।

मैं चाहे गुणों और कर्मोंके अनुसार प्राणियोंकी रचना करूँ, चाहे सूर्य आदिको उपदेश देनेवाला बनूँ, चाहे अवतार लेकर धर्मकी स्थापना, दुष्टोंका विनाश और भक्तोंकी रक्षा करूँ, चाहे पुत्ररूपसे माता-पिताकी आज्ञाका पालन करूँ, चाहे मात्र प्राणियोंका स्वामी बनूँ, पर मेरी ईश्वरतामें कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता—यह बात बतानेके लिये भगवान् चौथे अध्यायमें अर्जुनके सामने 'ईश्वर'-रूपसे प्रकट होते हैं (४ । ६)।

सभी यज्ञों और तपोंका भोक्ता मैं ही हूँ, सम्पूर्ण लोकोंका स्वामी मैं ही हूँ तथा प्राणियोंका बिना कारण हित करनेवाला भी मैं ही हूँ—इस प्रकार अपनी महत्ता बताकर अर्जुनको तथा मनुष्योंको अपना भक्त बनानेके लिये भगवान् पाँचवें अध्यायमें अर्जुनके सामने 'महेश्वर'-रूपसे प्रकट होते हैं (५ । २९)।

ध्यान करनेवाले साधकोंके लिये सबमें मुझे और मुझमें सबको देखना अर्थात् जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँ (सब जगह) मुझे देखना बहुत आवश्यक है। कारण कि ऐसा होनेपर ही मन मुझमें तल्लीन हो सकता है—यह बात बतानेके लिये भगवान् छठे अध्यायमें अर्जुनके सामने 'व्यापक'-रूपसे प्रकट होते हैं (६ । ३०)।

मैं ही सम्पूर्ण संसारमें सूतके धागेमें पिरोयी हुई सूतकी मणियोंकी तरह ओतप्रोत हूँ; सम्पूर्ण प्राणियोंका सनातन बीज भी मैं ही हूँ; ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ-रूपसे भी मैं ही हूँ—इस प्रकार **'वासुदेवः सर्वम्'** का बोध करानेके लिये भगवान् सातवें अध्यायमें अर्जुनके सामने **'समग्र'**-रूपसे प्रकट होते हैं (७ । २९-३०)।

सगुण-निराकार और निर्गुण-निराकारके ध्यानमें योग-बलकी आवश्यकता होनेसे उन दोनोंके ध्यानमें कठिनता है; परंतु मैं अपने अनन्य भक्तोंको सुलभतासे प्राप्त हो जाता हूँ—यह बात बतानेके लिये भगवान् आठवें अध्यायमें अर्जुनके सामने **'सुलभ'**-रूपसे प्रकट होते हैं (८ । १४)।

इस संसारका माता, पिता, धाता, पितामह, गति, भर्ता, निवास, बीज आदि मैं ही हूँ अर्थात् कार्य-कारण, सत्-असत्, नित्य-अनित्य आदि सब कुछ मैं ही हूँ—यह बात बतानेके लिये भगवान् नवें अध्यायमें अर्जुनके सामने **'सत्-असत्'**-रूपसे प्रकट होते हैं (९ । १९)।

सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि, मध्य और अन्तमें मैं ही हूँ; सर्गोंके आदि, मध्य और अन्तमें मैं हूँ; सम्पूर्ण प्राणियोंका बीज मैं ही हूँ; साधकको जहाँ कहीं सुन्दरता, महत्ता, अलौकिकता दीखे, वह सब वास्तवमें मेरी ही है—यह बात बतानेके लिये भगवान् दसवें अध्यायमें अर्जुनके सामने **'सर्वैश्वर्य'**-रूपसे प्रकट होते हैं (१० । ४१-४२)।

मैं अपने किसी एक अंशसे सम्पूर्ण संसारको व्याप्त करके स्थित हूँ—इसे बतानेके लिये भगवान् ग्यारहवें अध्यायमें अर्जुनको दिव्यचक्षु देकर उनके सामने **'विश्वरूप'**-से प्रकट होते हैं (११ । ५–८)।

जो भक्त मेरे परायण होकर सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके अनन्य भक्तियोगसे मुझ सगुण-साकार

परमेश्वरका ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उनका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला बन जाता हूँ—इसे बतानेके लिये भगवान् बारहवें अध्यायमें अर्जुनके सामने **'समुद्धर्ता'**-रूपसे प्रकट होते हैं (१२ । ७)।

जाननेके जितने विषय हैं, उन सबमें अवश्य जाननेयोग्य तो एक परमात्मतत्त्व ही है। इस परमात्म-तत्त्वके सिवाय दूसरे जितने भी जाननेयोग्य विषय हैं, उन्हें मनुष्य कितना ही जान ले, पर उससे पूर्णता नहीं होगी। यदि वह परमात्मतत्त्वको जान ले तो फिर अपूर्णता रहेगी ही नहीं—यह बात जनानेके लिये भगवान् तेरहवें अध्यायमें अर्जुनके सामने **'ज्ञेयतत्त्व'**-रूपसे प्रकट होते हैं (१३ । १२–१८)।

जिस प्रकृतिसे सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण उत्पन्न होते हैं, उसका अधिष्ठाता (स्वामी) मैं ही हूँ, महासर्गके आदिमें मैं ही संसारकी रचना करता हूँ; ब्रह्म, अविनाशी अमृत, सनातनधर्म तथा ऐकान्तिक सुखकी प्रतिष्ठा मैं ही हूँ—यह बात बतानेके लिये भगवान् चौदहवें अध्यायमें अर्जुनके सामने **'आदिपुरुष'**-रूपसे प्रकट होते हैं (१४ । २७)।

इस संसारका मूल मैं ही हूँ; सूर्य, चन्द्र आदिमें मेरा ही तेज है; मैं ही पृथ्वीको धारण करता हूँ; वेदोंको जाननेवाला, वेदोंके तत्त्वका निर्णय करनेवाला तथा वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य भी मैं ही हूँ; मैं क्षर (संसार)से अतीत एवं अक्षर (जीवात्मा)से श्रेष्ठ हूँ; वेदोंमें और शास्त्रोंमें मैं ही श्रेष्ठ पुरुषके नामसे प्रसिद्ध हूँ—अपनी यह सर्वश्रेष्ठता बतानेके लिये भगवान् पंद्रहवें अध्यायमें अर्जुनके सामने **'पुरुषोत्तम'**-रूपसे प्रकट होते हैं (१५ । १७–१९)।

दम्भ, दर्प, अभिमान आदि जितने भी दुर्गुण हैं, वे सभी मनुष्योंके अपने बनाये हुए हैं अर्थात् ये मेरे नहीं हैं; परंतु अभय, अहिंसा, सत्य, दया, क्षमा आदि जितने भी उत्तम गुण हैं, वे सभी मेरे हैं और मेरी प्राप्ति करानेवाले हैं—यह बात बतानेके लिये भगवान् सोलहवें अध्यायमें अर्जुनके सामने **'दैवी सम्पत्ति'**-रूपसे प्रकट होते हैं (१६ । १–३)।

यदि मनुष्य किसी भी कार्यके आरम्भमें श्रद्धापूर्वक मेरा अथवा मेरे नामका स्मरण नहीं करेगा तो उसके उस कार्यकी पूर्ति नहीं होगी; परंतु जो किसी भी कार्यके आरम्भमें श्रद्धापूर्वक मेरा या मेरे नामका स्मरण करेगा, उसके उस कार्यकी पूर्ति हो जायगी—यह बात बतानेके लिये भगवान् सत्रहवें अध्यायमें अर्जुनके सामने **'ॐ तत् सत्'** नामोंके रूपसे प्रकट होते हैं (१७ । २३)।

सम्पूर्ण गीतोपदेशका सार अर्थात् कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग आदि सभी साधनोंका सार बतानेके लिये भगवान् अठारहवें अध्यायमें अर्जुनके सामने **'सर्वशरण्य'**-रूपसे प्रकट होते हैं (१८ । ६६)।

तात्पर्य यह है कि साधकका भगवान्‌के प्रति ज्यों-ज्यों भाव बढ़ता है, त्यों-त्यों भगवान् उसके भावके अनुसार अपनेको प्रकट करते हैं, जिससे साधक भक्तके भाव, श्रद्धा, विश्वास भी बढ़ते रहते हैं। इनके बढ़ते-बढ़ते अन्तमें भगवत्प्राप्ति हो जाती है। साधकको सावधानी इस बातकी रखनी है कि उसका अनन्यभाव कभी डिगे नहीं, अनन्यभावसे वह कभी विचलित न हो।

गीतामें ईश्वरवाद

षट्स्वेव दर्शनेष्वीशो न तथापेक्षितो मतः।
कल्याणार्थं तु जीवानां गीयते गीतयेश्वरः॥

अन्य दर्शनोंकी अपेक्षा गीतामें ईश्वरवाद विशेषरूपसे आया है। न्याय, वैशेषिक, योग, सांख्य, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा—ये छहों दर्शन केवल जीवके कल्याणके लिये ही हैं; परंतु इनमें ईश्वरका वर्णन मुख्यतासे नहीं हुआ है। इनमेंसे 'न्यायदर्शन'में 'जो कुछ होता है, वह सब ईश्वरकी इच्छासे ही होता है'—इस

तरह ईश्वरका आदर तो किया गया है, पर मुक्तिमें वह ईश्वरकी आवश्यकता नहीं मानता । वह इक्कीस प्रकारके दुःखोंके ध्वंसको ही मुक्ति बताता है । 'वैशेषिकदर्शन'में भी जीवके कल्याणके लिये ईश्वरकी आवश्यकता न बताकर आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—इन तीनों तापोंका नाश बताया गया है । 'योगदर्शन'में मुख्यरूपसे चित्तवृत्तियोंके निरोधकी बात आयी है । चित्तवृत्तियोंके निरोधसे स्वरूपमें स्थिति हो जाती है । हाँ, चित्तवृत्ति-निरोधमें ईश्वरप्रणिधान (शरणागति)को भी एक उपाय बताया गया है, पर इस उपायकी प्रधानता नहीं है । 'सांख्यदर्शन' और 'पूर्वमीमांसादर्शन' तो जीवके कल्याणके लिये ईश्वरकी कोई आवश्यकता ही नहीं समझते । 'उत्तरमीमांसादर्शन' (वेदान्तदर्शन)में ईश्वरकी बात विशेषरूपसे नहीं आयी है, प्रत्युत जीव और ब्रह्मकी एकताकी बात ही विशेषरूपसे आयी है । वैष्णवाचार्योंने भी ईश्वरकी विशेषता तो बतायी है, पर जैसी गीताने बतायी है, वैसी नहीं बतायी ।

गीतामें ईश्वर-भक्तिकी बात मुख्यरूपसे आयी है । अर्जुन जबतक भगवान्‌की शरण नहीं हुए, तबतक भगवान्‌ने उपदेश नहीं दिया । जब अर्जुनने भगवान्‌की शरण होकर अपने कल्याणकी बात पूछी, तब भगवान्‌ने गीताका उपदेश आरम्भ किया । उपदेशके अन्तमें भी भगवान्‌ने **'मामेकं शरणं व्रज'** (१८ । ६६) कहकर अपनी शरणागतिको अत्यन्त गोपनीय तत्त्व बताया और अर्जुनने भी **'करिष्ये वचनं तव'** (१८ । ७३)कहकर पूर्ण शरणागतिको स्वीकार किया ।

गीतोक्त कर्मयोगमें भी ईश्वरकी आज्ञारूपसे ईश्वरकी मुख्यता आयी है; जैसे—**'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'** (२ । ४७); **'योगस्थः कुरु कर्माणि'** (२ । ४८); **'नियतं कुरु कर्म त्वम्'** (३ । ८); **'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्'** (४ । १५) आदि-आदि । ऐसे ही गीतोक्त ज्ञानयोगमें भी ईश्वरकी अव्यभिचारिणी भक्तिको ज्ञान-प्राप्तिका साधन बताया गया है (१३ । १०; १४ । २६) ।

गीताके मूल पाठका अध्ययन करनेसे ही पता चलता है कि जीवके कल्याणके लिये ईश्वरकी कितनी आवश्यकता है ।

गीतामें परमात्मा और जीवात्मा

जीवात्मा परमात्मा च तत्त्वतोऽभिन्न एव च ।
लक्षणेषु द्वयोः साम्यं कृष्णेन कथितं स्वयम् ॥

उपासनाकी दृष्टिसे परमात्माके तीन स्वरूप माने गये हैं—सगुण-निराकार, निर्गुण-निराकार और सगुण-साकार । सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य आदि दिव्य गुणोंसे युक्त और प्रकृति तथा उसके कार्य संसारमें परिपूर्णरूपसे व्यापक परमात्मा **'सगुण-निराकार'** कहलाते हैं । जब साधक परमात्माको दिव्य गुणोंसे रहित मानता है अर्थात् उसकी दृष्टि केवल निर्गुण परमात्माकी ओर रहती है, तब परमात्माका वह स्वरूप **'निर्गुण-निराकार'** कहलाता है । सगुण-निराकार परमात्मा जब अपनी दिव्य प्रकृतिको अधिष्ठित करके अपनी योगमायासे लोगोंके सामने प्रकट हो जाते हैं, तब वे **'सगुण-साकार'** कहलाते हैं । इन तीनों स्वरूपोंका वर्णन गीतामें इस प्रकार हुआ है—

(१) **सगुण-निराकार**—अभ्यासयोगसे युक्त एकाग्र-मनसे परम पुरुषका चिन्तन करते हुए शरीर छोड़नेवाला मनुष्य उसीको प्राप्त होता है (८ । ८) । जो सर्वज्ञ, पुराण, सबका शासक, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, सबको धारण करनेवाला, अचिन्त्यरूप, अज्ञानसे अत्यन्त परे और सूर्यकी तरह प्रकाशस्वरूप है, उसका चिन्तन करते हुए अचल मन एवं योगबलके द्वारा प्राणोंको भृकुटीके मध्यमें लगाकर शरीर छोड़नेवाला मनुष्य उसी परम दिव्य पुरुषको प्राप्त हो जाता है (८ । ९-१०) । जिसके अन्तर्गत सब प्राणी हैं और जो सबमें व्याप्त है, उस परम पुरुषको अनन्यभक्तिसे प्राप्त करना चाहिये (८ । २२) । जिससे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति
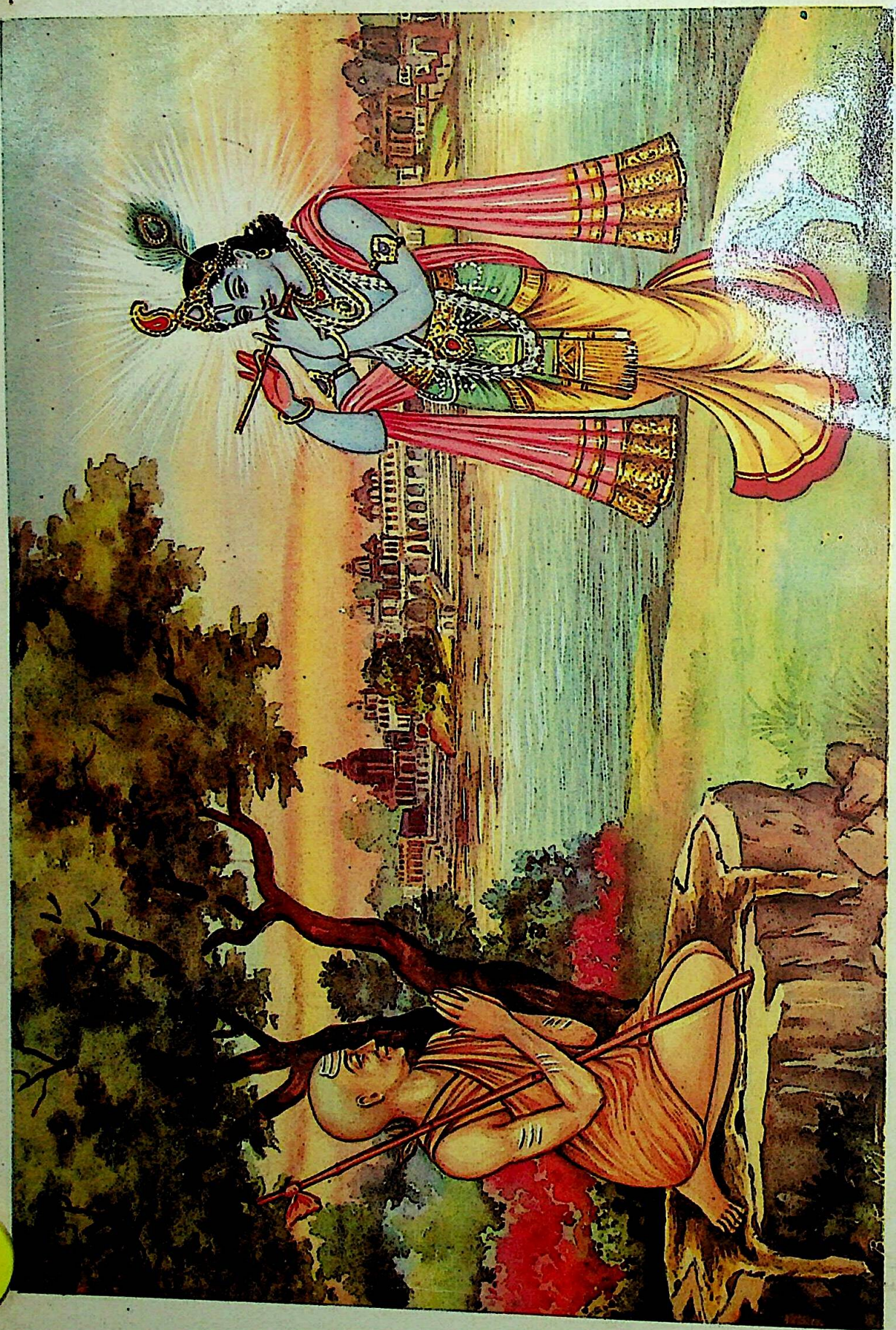
मधुसूदन सरस्वती को परमतत्त्व के दर्शन

होती है और जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उस परमात्माका अपने कर्मोंके द्वारा पूजन करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो जाता है (१८ । ४६); आदि-आदि ।

(२) **निर्गुण-निराकार**—जिसे वेदवेत्तालोग अक्षर कहते हैं, वीतराग यतिलोग जिसमें प्रवेश करते हैं और जिसे प्राप्त करनेकी इच्छासे ब्रह्मचारी लोग ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उस पदको मैं कहूँगा (८ । ११)। जो अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल और ध्रुव तत्त्वकी उपासना करते हैं (१२ । ३); आदि-आदि ।

(३) सगुण-साकार—अनन्यचित्तवाले जो भक्त नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करते हैं, उनके लिये मैं सुलभ हूँ (८ । १४)। महात्मा लोग मुझे प्राप्त होकर फिर दुःखालय और अशाश्वत पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होते (८ । १४-१५)। दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्मा-लोग मुझे सम्पूर्ण प्राणियोंका आदि और अव्यय मानकर अनन्यचित्तसे मेरा भजन करते हैं (९ । १३)। जो भक्त भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल, जल आदि मुझे अर्पण करता है, प्रेमपूर्वक दिये हुए उस उपहारको मैं खा लेता हूँ (९ । २६)। अनन्य-भक्तिसे ही मैं जाना जा सकता हूँ, देखा जा सकता हूँ और प्राप्त किया जा सकता हूँ (११ । ५४); आदि-आदि ।

सगुण-निराकार, निर्गुण-निराकार और सगुण-साकारकी एकता—तेरहवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें भगवान्‌ने इन तीनों रूपोंकी एकता की है; जैसे—**'सर्वेन्द्रियगुणाभासम्'** अर्थात् वह तत्त्व सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको प्रकाशित करनेवाला होनेसे सगुण-निराकार है; **'सर्वेन्द्रियविवर्जितम्, निर्गुणम्'** अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे और सत्त्व-रज-तम तीनों गुणोंसे रहित होनेसे निर्गुण-निराकार है; **'सर्वभृत्, गुणभोक्तृ'**—अर्थात् सम्पूर्ण संसारका भरण-पोषण करनेवाला तथा गुणोंका भोक्ता होनेसे सगुण-साकार है । इसके सिवाय अन्यत्र भी तीनों रूपोंकी एकता बतायी गयी है; जैसे—उसीको अव्यक्त और अक्षर कहा गया है तथा उसीको परमगति कहा गया है और जिसे प्राप्त होनेपर जीव फिर लौटकर नहीं आते, वह मेरा परमधाम है (८ । २१)। ब्रह्म, अविनाशी अमृत, शाश्वत धर्म और ऐकान्तिक सुखका आश्रय मैं ही हूँ (१४ । २७)।

अर्जुनने भी विराट्‌रूप भगवान्‌की स्तुति करते हुए ग्यारहवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें तीनों रूपोंकी एकता की है; जैसे—**'त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम्'** अर्थात् आप ही जाननेयोग्य परम अक्षर (अक्षरब्रह्म) होनेसे निर्गुण-निराकार हैं; **'त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्'** अर्थात् आप ही इस विश्वके परम आश्रय होनेसे सगुण-निराकार हैं; **'त्वं शाश्वतधर्मगोप्ता'** अर्थात् आप ही सनातनधर्मके रक्षक होनेसे सगुण-साकार हैं ।

जीवात्माका स्वरूप—गीतामें जीवात्माके स्वरूपके विषयमें भगवान् कहते हैं कि यह जीव मेरा ही सनातन अंश है; परंतु मेरा अंश होकर भी यह इस जीवलोकमें जीव बना हुआ है और प्रकृतिमें स्थित इन्द्रियाँ, मन आदिको अपना मानता है (१५ । ७)। प्रकृतिमें स्थित होकर अर्थात् शरीरको 'मैं' और 'मेरा' मानकर यह सुख-दुःखका भोक्ता बन जाता है । प्रकृतिजन्य गुणोंका, विषयोंका सङ्ग ही इसे ऊँच-नीच योनियोंमें ले जानेका कारण बनता है (१३ । २१)। यह जीवात्मा मेरी 'परा प्रकृति' है, पर इसने 'अपरा प्रकृति' (शरीर-संसार) के साथ अहंता-ममता करके इस जगत्‌को धारण कर रखा है (७ । ५)। अपरा प्रकृतिके साथ इस परा प्रकृतिके सम्बन्धको जोड़नेसे ही सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है (७ । ६; १३ । २६)।

इस जीवात्माका वर्णन दूसरे अध्यायके ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक देही, शरीरी, नित्य, अविनाशी, अप्रमेय आदि शब्दोंसे किया गया है । तेरहवें अध्यायके पहले-दूसरे श्लोकोंमें इसे 'क्षेत्रज्ञ' और उन्नीसवें श्लोकमें 'पुरुष' कहा गया है । इसीको पंद्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें 'अक्षर' कहा गया है । तात्पर्य यह है कि वास्तवमें यह परमात्माका अंश होनेसे परमात्मस्वरूप ही है । रागके कारण प्रकृतिके कार्य शरीर-संसारके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही यह जीव बना है । वास्तवमें यह शरीरमें स्थित रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है (१३ । ३१)।

सगुण-निराकारके साथ जीवात्माकी एकता—जीवात्माके लिये कहा गया है कि उसे तुम अविनाशी समझो, जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है (२ । १७); और सगुण-निराकार परमात्माके लिये कहा गया है कि जिसके अन्तर्गत सम्पूर्ण प्राणी हैं और जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, वह परम पुरुष अनन्यभक्तिसे प्राप्त होता है (८ । २२)। मुझ अव्यक्तमूर्तिसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है (९ । ४); जिस परमात्मासे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, उसका अपने कर्मोंके द्वारा पूजन करना चाहिये (१८ । ४६)।

जीवात्माको भी 'ईश्वर' कहा गया है (१५ । ८) और सगुण-निराकार परमात्माको भी 'ईश्वर' कहा गया है (१८ । ६१)।

निर्गुण-निराकारके साथ जीवात्माकी एकता—जीवात्माको भी सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त बताया गया है (२ । १७) और निर्गुण-निराकार परमात्माको भी सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंमें व्याप्त बताया गया है (१३ । १५)।

जीवात्माको नित्य, सर्वव्यापी, स्थाणु, अचल, अव्यक्त और अचिन्त्य (२ । २४-२५), अप्रमेय (२ । १८) तथा कूटस्थ (१५ । १६) कहा गया है और निर्गुण-निराकार परमात्माको अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल और ध्रुव कहा गया है (१२ । ३)।

जीवात्माको भी 'परमात्मा' कहा गया है (१३ । २२) और निर्गुण-निराकार परमात्माको भी 'परमात्मा' कहा गया है (६ । ७)।

जीवात्माको भी 'निर्गुण' कहा गया है (१३ । ३१) और निर्गुण-निराकार परमात्माको भी 'निर्गुण' कहा गया है (१३ । १४)।

सगुण-साकारके साथ जीवात्माकी एकता—जीवात्माको भी 'महेश्वर' कहा गया है (१३ । २२) और सगुण-साकार परमात्माको भी 'महेश्वर' कहा गया है (५ । २९; ९ । ११; १० । ३)।

तेरहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान्‌ने 'तुम सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मुझे ही जानो'—ऐसा कहकर जीवात्माकी अपने (सगुण-साकारके) साथ एकता बतायी है।

सब स्वरूपोंके साथ जीवात्माकी एकता बतानेका तात्पर्य यह है कि इस जीवात्माकी परमात्माके साथ एकता स्वतः है; परंतु शरीरके साथ एकता माननेसे परमात्माके साथ एकताका अनुभव नहीं होता। अतः साधकको चाहिये कि वह शरीरके साथ अपनी एकता न माने, प्रत्युत परमात्माके साथ दृढ़तासे एकता मानकर साधन-परायण हो जाय, तो फिर उस एकताका अनुभव हो जायगा।

गीतामें ईश्वर और जीवात्माकी स्वतन्त्रता

कर्तुं तथान्यथाकर्तुं स्वतन्त्र ईश्वरः सदा।
प्रकृतेर्वशतात्यागे जीवात्मा स्ववशः सदा॥

'स्व' नाम स्वयंका है, 'पर' नाम दूसरेका है और 'तन्त्र' नाम अधीनका है। अतः जो स्वयंके अधीन होता है, उसे 'स्वतन्त्र' (स्वाधीन) कहते हैं और जो दूसरोंके अधीन होता है, उसे 'परतन्त्र' (पराधीन) कहते हैं। स्वतन्त्र और परतन्त्रके भावका नाम ही स्वतन्त्रता और परतन्त्रता है।

*

यद्यपि ईश्वरमें कर्तृत्व नहीं है और ईश्वरके अंश इस जीवात्मामें भी तत्त्वतः कर्तृत्व नहीं है, तथापि ईश्वरमें प्रकृतिको लेकर कर्तृत्व है और जीवात्मामें शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदिको लेकर कर्तृत्व है; परंतु इन दोनोंके कर्तृत्वमें बड़ा भारी अन्तर है। ईश्वर तो प्रकृतिके अधिपति होते हुए ही प्रकृतिको अपने वशमें करके स्वतन्त्रतासे

संसारकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आदि कार्य करते हैं (४ । ६; ९ । ८) और यह जीवात्मा सुखासक्तिके कारण शरीर आदिके वशीभूत होकर परतन्त्रतासे कार्य करता है (१५ । ७–९) । जैसे भगवान् प्रकृतिको स्वीकार करने और न करनेमें स्वतन्त्र हैं और स्वीकार करनेपर भी भगवान् परतन्त्र नहीं होते, ऐसे ही यह जीवात्मा भी शरीर आदिको 'मैं-मेरा' मानने और न माननेमें स्वतन्त्र है, पर उन्हें 'मैं-मेरा' माननेपर जीवात्मा अपनी स्वतन्त्रताको भूलकर उनके अधीन (परतन्त्र) हो जाता है । अतः परिणाममें यह जन्म-मरणके चक्करमें पड़ जाता है ।

जीवात्माकी यह परतन्त्रता स्वाभाविक नहीं है, प्रत्युत स्वयंकी बनायी हुई, स्वयंकी मानी हुई है । तात्पर्य यह है कि जब यह जीवात्मा स्वयं रागके कारण प्रकृतिके कार्य शरीरादिकी अधीनता स्वीकार कर लेता है, तब यह परतन्त्र हो जाता है और जब यह प्रकृतिके कार्यकी अधीनताको अस्वीकार कर देता है, तब यह स्वतन्त्र हो जाता है अर्थात् अपनी स्वतःसिद्ध स्वतन्त्रताका, अपने स्वरूपका अनुभव कर लेता है । ऐसा अनुभव करनेमें यह स्वतन्त्र है ।

जब यह जीवात्मा अपनी स्वतःसिद्ध स्वतन्त्रताको लेकर भी संतुष्ट नहीं होता, तब उसका भगवान्के चरणोंमें प्रेम हो जाता है । प्रेम होनेपर भगवान् उसके वशमें हो जाते हैं । तात्पर्य यह है कि जब यह प्रकृतिके कार्यको छोड़कर भगवान्को स्वीकार कर लेता है, तब सर्वस्वतन्त्र भगवान् भी इसके अधीन हो जाते हैं । इतना ही नहीं, इसके अधीन होकर वे आनन्दका अनुभव करते हैं । इतनी स्वतन्त्रता भगवान्ने इस जीवात्माको दे रखी है ।

गीतामें ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृतिकी अलिङ्गता

ईश्वरश्चैव जीवात्मा तृतीया प्रकृतिस्तथा ।
एते त्रयोऽपिगीतायां त्रिषु लिङ्गेषु दर्शिताः ॥

सामान्य दृष्टिसे तो यही दीखता है कि ईश्वर और जीवात्मा तो पुरुषरूपसे हैं तथा प्रकृति स्त्रीरूपसे है, परंतु वास्तवमें 'ईश्वर', ईश्वरका अंश 'जीवात्मा' और ईश्वरकी शक्ति 'प्रकृति'—ये तीनों ही अलिङ्ग हैं अर्थात् पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग—इन तीनों लिङ्गोंसे रहित हैं । अतः इन तीनोंको न पुरुषरूपसे कह सकते हैं, न स्त्रीरूपसे कह सकते हैं और न नपुंसकरूपसे कह सकते हैं ।

पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग—इन तीनों लिङ्गोंका भेद तो स्थावर-जङ्गम प्राणियोंके शरीरोंको लेकर ही है, जिससे उन प्राणियोंमें 'यह पुरुष-जाति है, यह स्त्री-जाति है, यह नपुंसक-जाति है'—इस तरह व्यवहार होता है; परंतु ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति—ये तीनों ही लिङ्गातीत विलक्षण तत्त्व हैं । अतः गीतामें इन तीनोंके लिये पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग—इन तीनों ही लिङ्गोंका प्रयोग हुआ है; जैसे—

(१) ईश्वरके लिये—

पुँल्लिङ्ग शब्दोंका प्रयोग—'पिता, पितामहः' (९ । १७); 'भर्ता, प्रभुः' (९ । १८); 'पुरुषः' (११ । १८); 'आदिदेवः पुरुषः' (११ । ३८); 'ईश्वरः' (१५ । १७); 'पुरुषोत्तमः' (१५ । १८) आदि ।

स्त्रीलिङ्ग शब्दोंका प्रयोग—'गतिम्' (७ । १८); 'माता' (९ । १७); 'गतिः' (९ । १८); विभूतिरूपसे 'कीर्तिः, श्रीः, वाक्, स्मृतिः, मेधा, धृतिः, क्षमा' (१० । ३४) आदि ।

नपुंसकलिङ्ग शब्दोंका प्रयोग—'ब्रह्मणि' (५ । १०); 'बीजम्' (७ । १०); 'शरणम्, स्थानम्, बीजम्, अव्ययम्' (९ । १८); 'ब्रह्म, धाम, पवित्रम्' (१० । १२); 'अक्षरम्' (११ । १८) आदि ।

(२) जीवात्माके लिये—

पुँल्लिङ्ग शब्दोंका प्रयोग—'अजः, नित्यः, शाश्वतः, पुराणः' (२ । २०); 'सर्वगतः, स्थाणुः, अचलः, सनातनः' (२ । २४); 'जीवभूतः, (१५ । ७) आदि ।

स्त्रीलिङ्ग शब्दोंका प्रयोग—'परां प्रकृतिम्' जीवभूताम्' (७ । ५) आदि ।

नपुंसकलिङ्ग शब्दोंका प्रयोग—'अविनाशि' (२।१७); 'अध्यात्मम्' (७ । २९; ८ । १, ३) आदि ।

(३) प्रकृतिके लिये—

पुँल्लिङ्ग शब्दोंका प्रयोग—'क्षरो भावः' (८ । ४); 'पुरुषौ, क्षरः' (१५ । १६) आदि ।

स्त्रीलिङ्ग शब्दोंका प्रयोग—'प्रकृतिः'(७।४;९।१०); 'अपराम्' (७ । ५); 'प्रकृतिम्' (९ । ७) आदि।

नपुंसकलिङ्ग शब्दोंका प्रयोग—'अधिभूतम्' (८ । १, ४); 'अव्यक्तम्' (१३ । ५); 'महद्ब्रह्म' (१४ । ३-४) आदि ।

गीतामें धर्म

वर्णे तु यस्मिन् मनुजः प्रजातस्तत्रत्यकार्यं कथितः स्वधर्मः ।
शास्त्रेण तस्मान्नियतं हि कर्म कर्तव्यमित्यत्र विधानमस्ति ॥

गीतामें धर्मका वर्णन मुख्य है । यदि गीताके आरम्भ और अन्तके अक्षरोंका प्रत्याहार बनाया जाय अर्थात् आरम्भके **'धर्मक्षेत्रे'** (१ । १) पदसे **'धर्'** और अन्तके **'मतिर्मम'** (१८ । ७८) पदसे **'म'** लिया जाय, तो **'धर्म'** प्रत्याहार बन जाता है । अतः पूरी गीता ही धर्मके अन्तर्गत आ जाती है ।

गीताने **'कुलधर्माः सनातनाः'** (१ । ४०), **'जातिधर्माः'** (१ । ४३) पदोंसे सदासे चलती आयी कुलकी मर्यादाओं, रीतियों, परम्पराओं और जातिकी रिवाजोंको भी 'धर्म' कहा है; **'धर्मसम्मूढचेताः'** (२ । ७), **'स्वधर्मम्, धर्म्यात्'** (२ । ३१), **'धर्म्यम्, स्वधर्मम्'** (२ । ३३), **'स्वधर्मः'** (३ । ३५; १८ । ४७) आदि पदोंसे अपने-अपने वर्णके अनुसार शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मोंको भी 'धर्म' अथवा 'स्वधर्म' कहा है; और **'त्रयीधर्मम्'** (९।२१) पदसे वैदिक अनुष्ठानोंको भी 'धर्म' कहा है । इन सभी धर्मोंको कर्तव्यमात्र समझकर निष्कामभावपूर्वक तत्परतासे किया जाय, तो परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है (१८ । ४५) ।

जो मनुष्य जिस वर्णमें पैदा हुआ है, उस वर्णके अनुसार शास्त्रने उसके लिये कर्तव्यरूपसे जो कर्म नियत कर दिया है, वह कर्म उसके लिये 'स्वधर्म' है; परंतु शास्त्रने जिसके लिये जिस कर्मका निषेध कर दिया है, वह कर्म दूसरे वर्णवालेके लिये विहित होनेपर भी उसके लिये 'परधर्म' है । अच्छी तरहसे अनुष्ठानमें लाये हुए परधर्मकी अपेक्षा गुणोंकी कमीवाला भी अपना धर्म श्रेष्ठ है । अपने धर्मका पालन करते हुए मृत्यु भी हो जाय, तो भी अपना धर्म कल्याण करनेवाला है; परंतु परधर्मका आचरण करना भयको देनेवाला है (३ । ३५) ।

वर्ण-आश्रमके कर्मके अतिरिक्त मनुष्यको परिस्थितिरूपसे जो कर्तव्य प्राप्त हो जाय, उस कर्तव्यका पालन करना भी मनुष्यका स्वधर्म है । जैसे—कोई विद्यार्थी है तो तत्परतासे विद्या पढ़ना उसका स्वधर्म है; कोई शिक्षक है तो विद्यार्थियोंको पढ़ाना उसका स्वधर्म है; कोई नौकर है तो अपने कर्तव्यका पालन करना उसका स्वधर्म है आदि-आदि । जो स्वीकार किये हुए कर्म (स्वधर्म) का निष्कामभावसे पालन करता है, उसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है (१८ । ४५) ।

शम, दम, तप, क्षमा आदि ब्राह्मणके स्वधर्म हैं (१८ । ४२) । इनके अतिरिक्त पढ़ना-पढ़ाना, दान देना-लेना आदि भी ब्राह्मणके स्वधर्म हैं । शौर्य,

तेज आदि क्षत्रियके स्वधर्म हैं (१८ । ४३)। इनके अतिरिक्त परिस्थितिके अनुसार प्राप्त कर्तव्यका ठीक पालन करना भी क्षत्रियका 'स्वधर्म' है। खेती करना, गायोंका पालन करना और व्यापार करना वैश्यके 'स्वधर्म' हैं (१८ । ४४)। इनके अतिरिक्त परिस्थिति-के अनुसार कोई आवश्यक कार्य सामने आ जाय तो उसे सुचारुरूपसे करना भी वैश्यका 'स्वधर्म' है। सबकी सेवा करना शूद्रका 'स्वधर्म' है (१९ । ४४)। इसके अतिरिक्त परिस्थितिके अनुसार प्राप्त और भी कर्मोंको साङ्गोपाङ्ग करना शूद्रका 'स्वधर्म' है।

भगवान्ने कृपाके परवश होकर अर्जुनके माध्यमसे सभी मनुष्योंको एक विशेष बात बतायी है कि तुम (उपर्युक्त कहे हुए) सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर केवल एक मेरी शरणमें आ जाओ तो मैं तुम्हें सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तुम चिन्ता मत करो (१८।६६)। तात्पर्य यह है कि अपने-अपने वर्ण-आश्रमकी मर्यादामें रहनेके लिये, अपने-अपने कर्तव्यका पालन करनेके लिये उपर्युक्त सभी धर्मोंका पालन करना बहुत आवश्यक है और संसार-चक्रको दृष्टिमें रखकर इनका पालन करना ही चाहिये (३ । १४-१६); परंतु इनका आश्रय नहीं लेना चाहिये। आश्रय केवल भगवान्का ही लेना चाहिये। कारण कि वास्तवमें ये स्वयंके धर्म नहीं हैं, प्रत्युत शरीरको लेकर होनेसे परधर्म ही हैं।

भगवान्ने **'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य'** (२ । ४०) पदोंसे समताको, **'धर्मस्यास्य'** (९ । ३) पदसे ज्ञान-विज्ञानको और **'धर्म्यामृतम्'** (१२ । २०) पदसे सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंको भी 'धर्ममय' कहा है। इनको धर्म कहनेका तात्पर्य यह है कि परमात्माका स्वरूप होनेसे समता सभी प्राणियोंका स्वधर्म (स्वयंका धर्म) है; परमात्मा-की प्राप्ति करानेवाला होनेसे ज्ञान-विज्ञान भी साधकका स्वधर्म है और स्वतःसिद्ध होनेसे सिद्ध भक्तोंके लक्षण भी सबके स्वधर्म हैं।

गीतामें सनातनधर्म

वरिष्ठोऽखिलधर्मेषु धर्म एव सनातनः।
जायन्ते सर्वधर्मास्तु सनातनः सनातनः॥

संसारमें मुख्यरूपसे चार धर्म प्रचलित हैं—सनातन-धर्म, मुस्लिमधर्म, बौद्धधर्म और ईसाईधर्म। इन चारों धर्मोंमेंसे एक-एक धर्मको माननेवाले करोड़ों आदमी हैं। इन चारों धर्मोंमें भी अवान्तर कई धर्म हैं। सनातन-धर्मको छोड़कर शेष तीनों धर्मोंके मूलमें धर्म चलानेवाला कोई व्यक्ति मिलेगा; जैसे—मुस्लिमधर्मके मूलमें मोहम्मद साहब, बौद्धधर्मके मूलमें गौतम बुद्ध और ईसाईधर्मके मूलमें ईसा मसीह मिलेंगे; परंतु सनातनधर्मके मूलमें कोई व्यक्ति नहीं मिलेगा। कारण यह है कि सनातनधर्म किसी व्यक्तिके द्वारा चलाया हुआ धर्म नहीं है। यह तो अनादिकालसे चलता आ रहा है। जैसे भगवान् शाश्वत (सनातन) हैं, ऐसे ही सनातनधर्म भी शाश्वत है। भगवान्ने भी सनातनधर्मको अपना स्वरूप बताया है—**'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहं······शाश्वतस्य च धर्मस्य'** (१४ । २७)। जिस-जिस युगमें जब-जब इस सनातन-धर्मका ह्रास होता है, हानि होती है, तब-तब भगवान् अवतार लेकर इसकी संस्थापना करते हैं (४ । ७-८)। तात्पर्य यह है कि भगवान् भी इसकी संस्थापना, रक्षा करनेके लिये ही अवतार लेते हैं; इसे बनानेके लिये, उत्पन्न करनेके लिये नहीं। अर्जुनने भी भगवान्को सनातनधर्मका रक्षक बताया है—**'त्वमव्ययः शाश्वत-धर्मगोप्ता'** (११ । १८)।

एक उपज होती है और एक खोज होती है। जो वस्तु पहले वर्तमान न हो, उसकी उपज होती है; और जो वस्तु पहलेसे ही वर्तमान हो, उसकी खोज होती है। मुस्लिम, बौद्ध और ईसाई—ये तीनों ही धर्म व्यक्तिके मस्तिष्ककी उपज हैं; परंतु सनातनधर्म किसी व्यक्तिके मस्तिष्ककी उपज नहीं है, प्रत्युत यह विभिन्न

ऋषियोंके द्वारा किया गया अन्वेषण है, खोज है—'**ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः**'। अतः सनातनधर्मके मूलमें किसी व्यक्तिविशेषका नाम नहीं लिया जा सकता। यह अनादि, अनन्त एवं शाश्वत है। अन्य सभी धर्म तथा मत-मतान्तर भी इसी सनातनधर्मसे उत्पन्न हुए हैं। इसलिये उन धर्मोंमें मनुष्योंके कल्याणके लिये जो साधन बताये गये हैं, उन्हें भी सनातनधर्मकी ही देन मानना चाहिये। अतः उन धर्मोंमें बताये गये अनुष्ठानोंका भी निष्कामभावसे कर्तव्य समझकर पालन किया जाय तो कल्याण होनेमें संदेह नहीं करना चाहिये। प्राणिमात्रके कल्याणके लिये जितना गहरा विचार सनातनधर्ममें किया गया है, उतना दूसरे धर्मोंमें नहीं मिलता। सनातनधर्मके सभी सिद्धान्त पूर्णतया वैज्ञानिक और कल्याण करनेवाले हैं।

सनातनधर्ममें जितने साधन कहे गये हैं, नियम कहे गये हैं, वे भी सभी सनातन हैं, अनादिकालसे चलते आ रहे हैं। जैसे—भगवान्‌ने कर्मयोगको अव्यय कहा है—'**इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्**' (४।१) तथा शुक्ल और कृष्ण गतियों (मार्गों)को भी सनातन कहा है—'**शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते**' (८।२६)। गीताने परमात्माको भी सनातन कहा है—'**सनातनस्त्वम्**' (११।१८), जीवात्माको भी सनातन कहा है—'**जीवभूतः सनातनः**' (१५।७), धर्मको भी सनातन कहा है—'**शाश्वतस्य च धर्मस्य**' (१४।२७), परमात्माके पदको भी सनातन कहा है—'**शाश्वतं पदमव्ययम्**' (१८।५६)। तात्पर्य यह है कि सनातनधर्ममें सभी वस्तुएँ सनातन हैं, अनादिकालसे हैं।

सभी धर्मोंमें और उनके नियमोंमें तो भेद है, पर सनातनधर्मकी खोज करनेवाले और मुस्लिम, बौद्ध तथा ईसाई धर्मको चलानेवाले महापुरुषोंको जिस तत्त्वका अनुभव हुआ है, उस तत्त्वमें भेद नहीं है। अर्थात् वह अनुभूत तत्त्व सबका एक ही है। तात्पर्य यह है कि सभी धर्मोंमें और उनके नियमोंमें एकता कभी नहीं हो सकती, उनमें ऊपरसे भिन्नता रहेगी ही; परंतु उनके द्वारा प्राप्त किये जानेवाले तत्त्वमें कभी भिन्नता नहीं हो सकती।

> **पहुँचे पहुँचे एक मत, अनपहुँचे मत और।**
> **संतदास घड़ी अरठ की, ढुरे एक ही ठौर॥**
> **जब लगि काची खीचड़ी, तब लगि खदबद होय।**
> **संतदास सीझ्यां पछे, खदबद करै न कोय॥**

जबतक साधन करनेवालोंका संसारके साथ सम्बन्ध रहता है तथा उनमें महापुरुषोंके चलाये हुए धर्मोंका, मत-मतान्तरोंका विशेष आग्रह रहता है, तबतक मतभेद, वाद-विवाद रहता है; परंतु तत्त्वकी प्राप्ति होनेपर तत्त्व-भेद नहीं रहता।

जो मतवादी केवल अपनी टोली बनानेमें ही लगे रहते हैं, उनमें तत्त्वकी सच्ची जिज्ञासा नहीं होती और टोली बनानेसे उनकी कोई महत्ता बढ़ती भी नहीं। टोली बनानेवाले व्यक्ति तो सभी धर्मोंमें हैं; वे धर्मके नामपर अपने व्यक्तित्वकी ही पूजा करते हैं। परंतु जिनमें तत्त्वकी सच्ची जिज्ञासा होती है, वे टोली नहीं बनाते। वे तो तत्त्वकी खोज करते हैं। गीताने भी टोलियोंको मुख्यता नहीं दी है, प्रत्युत जीवके कल्याणको मुख्यता दी है। गीताके अनुसार किसी भी धर्मपर विश्वास करनेवाला व्यक्ति निष्कामभावपूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करके अपना कल्याण कर सकता है। गीता सनातनधर्मको आदर देते हुए भी किसी धर्मका आग्रह नहीं रखती और किसी धर्मका विरोध भी नहीं करती। अतः गीता सार्वभौम ग्रन्थ है।

गीतामें भगवन्नाम

> **प्रतिरोमणि नामानि यस्य कृष्णसखस्य च।**
> **तं प्रति प्रोक्तगीतायां न नाममहिमा भवेत्॥**

नाम और नामीमें अर्थात् भगवन्नाम और भगवान्‌में अभेद है; अतः दोनोंके स्मरणका एक ही माहात्म्य है।

भगवन्नाम तीन तरहसे लिया जाता है—

(१) **मनसे**—मनसे नामका स्मरण होता है,

जिसका वर्णन भगवान्ने **'यो मां स्मरति नित्यशः'** (८ । १४) पदोंसे किया है ।

(२) **वाणीसे**—वाणीसे नामका जप होता है, जिसे भगवान्ने **'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'** (१० । २५) पदोंसे अपना स्वरूप बताया है ।

(३) **कण्ठसे**—कण्ठसे जोरसे उच्चारण करके कीर्तन किया जाता है, जिसका वर्णन भगवान्ने **'कीर्तयन्तः'** (९ । १४) पदसे किया है ।

गीतामें भगवान्ने ॐ, तत् और सत्—ये तीन परमात्माके नाम बताये हैं—**'ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः'** (१७ । २३) । प्रणव-(ओंकार)को भगवान्ने अपना स्वरूप बताया है—**'प्रणवः सर्ववेदेषु'** (७ । ८), **'गिरामस्म्येकमक्षरम्'** (१० । २५) । भगवान् कहते हैं कि जो मनुष्य 'ॐ'—इस एक अक्षर प्रणवका उच्चारण करके और मेरा स्मरण करके शरीर छोड़कर जाता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है (८ । १३) ।

अर्जुनने भी भगवान्के विराट् रूपकी स्तुति करते हुए नामकी महिमा कही है; जैसे—'हे प्रभो ! कई देवता भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए आपके नाम आदिका कीर्तन कर रहे हैं' (११ । २१); 'हे अन्तर्यामी भगवन् ! आपके नाम आदिका कीर्तन करनेसे यह सम्पूर्ण जगत् हर्षित हो रहा है और अनुराग (प्रेम)-को प्राप्त हो रहा है । आपके नाम आदिके कीर्तनसे भयभीत होकर राक्षसलोग दसों दिशाओंमें भागते हुए जा रहे हैं और सम्पूर्ण सिद्धगण आपको नमस्कार कर रहे हैं । यह सब होना उचित ही है' (११ । ३६)

गीतामें मूर्तिपूजा

ये सनातनधर्मस्थाः श्रद्धाप्रेमसमन्विताः ।
मूर्तिपूजां न कुर्वन्ति मूर्तौ तु प्रभुपूजनम् ॥

हमारे सनातन वैदिक सिद्धान्तमें भक्तलोग मूर्तिका पूजन नहीं करते, प्रत्युत परमात्माका ही पूजन करते हैं । तात्पर्य यह है कि जो परमात्मा सब जगह परिपूर्ण है, उसका विशेष ध्यान करनेके लिये मूर्ति बनाकर उस मूर्तिमें उस परमात्माका पूजन करते हैं, जिससे सुगमतापूर्वक परमात्माका ध्यान-चिन्तन होता रहे ।

यदि मूर्तिकी ही पूजा होती है तो पूजकके भीतर मूर्तिका ही भाव होना चाहिये कि 'तुम अमुक पर्वतसे निकले हो, अमुक व्यक्तिने तुम्हें बनाया है, अमुक व्यक्तिने तुम्हें यहाँ लाकर रखा है; अतः हे पत्थरदेव ! तुम मेरा कल्याण करो ।' परंतु ऐसा कोई कहता ही नहीं, तो फिर मूर्तिपूजा कहाँ हुई ? अतः भक्तलोग मूर्तिकी पूजा नहीं करते; किंतु मूर्तिमें भगवान्की पूजा करते हैं अर्थात् मूर्तिभाव मिटाकर भगवद्भाव करते हैं । इस प्रकार मूर्तिमें भगवान्का पूजन करनेसे सब जगह भगवद्भाव हो जाता है । भगवत्पूजनसे भगवान्की भक्ति आरम्भ होती है । भक्तके सिद्ध हो जानेपर भी भगवत्पूजन होता ही रहता है ।

मूर्तिमें अपनी पूजाके विषयमें भगवान्ने गीतामें कहा है कि 'भक्तलोग भक्तिपूर्वक मुझे नमस्कार करते हुए मेरी उपासना करते हैं' (९ । १४); 'जो भक्त श्रद्धा-प्रेमपूर्वक पत्र, पुष्प, फल, जल आदि मेरे अर्पण करता है, उसके दिये हुए उपहारको मैं खा लेता हूँ' (९ । २६); देवताओं (विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश और सूर्य—ये ईश्वरकोटिके पञ्चदेवता), ब्राह्मणों, आचार्य, माता-पिता आदि बड़े-बूढ़ों और ज्ञानी जीवन्मुक्त महात्माओंका पूजन करना शारीरिक तप है (१७ । १४) । यदि सामने मूर्ति न हो तो किसे नमस्कार किया जायगा ? किसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि चढ़ाये

जायँगे ? और किसका पूजन किया जायगा ? इससे यही सिद्ध होता है कि गीतामें मूर्तिपूजाकी बात भी आयी है।

इसी तरह गाय, तुलसी, पीपल, ब्राह्मण, तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त, गिरिराज गोवर्धन, गङ्गा, यमुना आदिका पूजन भी भगवत्पूजन है। इनका पूजन करनेसे 'सब जगह परमात्मा हैं'—यह बात सुगमतासे अनुभवमें आ जाती है अर्थात् सब जगह परमात्माका अनुभव करनेमें गाय आदिका पूजन बहुत सहायक है। कारण कि पूजा करनेवालेने 'सब जगह परमात्मा हैं'—ऐसा मानना तो आरम्भ कर दिया है; परंतु जो किसीका भी पूजन नहीं करता, केवल बातें ही करता है, उसे 'सब जगह परमात्मा हैं'—इसका अनुभव नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि मूर्तिमें भगवान्‌का पूजन करना कल्याणका, श्रेयका साधन है।

भगवत्पूजनके सिवाय हाड़-मांसकी पूजा करना अर्थात् अपने शरीरको सुन्दर-सुन्दर गहनों, कपड़ोंसे सजाना, मकानको बढ़िया बनवाना तथा उसे सुन्दर-सुन्दर सामग्रीसे सजाना, शृङ्गार करना आदि ही मूर्तिपूजा है जो कि पतनमें ले जानेवाली है।

गीतामें ज्योतिष्

महाप्रलयपर्यन्तं कालचक्रं हि विद्यते।
कालचक्रविमोक्षार्थं श्रीकृष्णं शरणं व्रज॥

ज्योतिष्‌में काल मुख्य है अर्थात् कालको लेकर ही ज्योतिष् चलता है। उसी कालको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बताया है कि 'गणना करनेवालोंमें मैं काल हूँ'—**'कालः कलयतामहम्'** (१० । ३०)। उस कालकी गणना सूर्यसे होती है। इसी सूर्यको भगवान्‌ने **'ज्योतिषां रविरंशुमान्'** (१० । २१) कहकर अपना स्वरूप बताया है।

सत्ताईस नक्षत्र होते हैं। नक्षत्रोंका वर्णन भगवान्‌ने **'नक्षत्राणामहं शशी'** (१० । २१) पदोंसे किया है। इनमेंसे सवा दो नक्षत्रोंकी एक राशि होती है। इस तरह सत्ताईस नक्षत्रोंकी बारह राशियाँ होती हैं। उन बारह राशियोंपर सूर्य भ्रमण करता है अर्थात् एक राशि-पर सूर्य एक महीना रहता है। महीनोंका वर्णन भगवान्‌ने **'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्'** (१० । ३५) पदोंसे किया है। दो महीनोंकी एक ऋतु होती है, जिसका वर्णन **'ऋतूनां कुसुमाकरः'** पदोंसे किया गया है। तीन ऋतुओंका एक अयन होता है। अयन दो होते हैं—उत्तरायण और दक्षिणायन; जिनका वर्णन आठवें अध्यायके चौबीसवें-पचीसवें श्लोकोंमें हुआ है। इन दोनों अयनोंको मिलाकर एक वर्ष होता है। लाखों वर्षोंका एक युग होता है*, जिसका वर्णन भगवान्‌ने **'सम्भवामि युगे युगे'** (४ । ८) पदोंसे किया है। ऐसे चार (सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि) युगोंकी एक चतुर्युगी होती है। ऐसी एक हजार चतुर्युगीका ब्रह्माका एक दिन (सर्ग) और एक हजार चतुर्युगीका ही ब्रह्माकी एक रात (प्रलय) होती है, जिसका वर्णन आठवें अध्यायके सत्रहवें श्लोकसे उन्नीसवें श्लोकतक किया गया है। इस तरह ब्रह्माकी सौ वर्षकी आयु होती है। ब्रह्माकी आयु पूरी होनेपर महाप्रलय होता है, जिसमें सब कुछ परमात्मामें लीन हो जाता है। इसका वर्णन भगवान्‌ने **'कल्पक्षये'** (९ । ७) पदसे किया है। इस महाप्रलयमें केवल 'अक्षयकाल'-रूप एक परमात्मा ही रह जाते हैं, जिसका वर्णन भगवान्‌ने **'अहमेवाक्षयः कालः'** (१० । ३३) पदोंसे किया है।

तात्पर्य यह हुआ कि महाप्रलयतक ही ज्योतिष चलता है अर्थात् प्रकृतिके राज्यमें ही ज्योतिष् चलता

* सत्रह लाख अट्ठाईस हजार वर्षोंका 'सत्ययुग', बारह लाख छियानवे हजार वर्षोंका 'त्रेतायुग,' आठ लाख चौंसठ हजार वर्षोंका 'द्वापरयुग' और चार लाख बत्तीस हजार वर्षोंका 'कलियुग' होता है।

है, प्रकृतिसे अतीत परमात्मामें ज्योतिष् नहीं चलता। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह इस प्राकृत कालचक्रसे छूटनेके लिये, इससे अतीत होनेके लिये अक्षयकाल-रूप परमात्माकी शरण ले।

गीता और वेद

वासुदेवेन वेदानां माहात्म्यं प्रकटीकृतम्।
वेदानां स्वस्वरूपाणां खण्डनं क्रियते कथम्॥

'वेद' नाम ज्ञानका है*। उस ज्ञानसे ही सबका व्यवहार चलता है, सबका हित होता है अर्थात् साधारण व्यवहारसे लेकर मोक्षतक उसी ज्ञानसे सिद्ध होता है। वही ज्ञान संसारमें ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद—इन चार संहिताओंके रूपमें प्रसिद्ध है। पुराणों, स्मृतियों, इतिहासों आदिमें तथा अलग-अलग सम्प्रदायोंमें अनेक रूपोंसे जो कुछ ज्ञान मिलता है, वह सब ज्ञान मूलमें वेदका ही है। अतः उस ज्ञानका कोई खण्डन (निरादर) कर ही नहीं सकता। यदि कोई उसका खण्डन करता है तो वह वास्तवमें स्वयंका ही खण्डन (निरादर) करता है।

भगवान्‌ने गीतामें वेदोंका बहुत आदर किया है। भगवान्‌ने कहा है कि जिनसे लौकिक और पारमार्थिक सिद्धि होती है, उन सब कर्मोंकी विधिका ज्ञान वेदोंसे ही होता है—**'कर्म ब्रह्मोद्भवम्'** (३। १५); बहुत-से यज्ञ अर्थात् परमात्मप्राप्तिके साधन वेदकी वाणीमें विस्तारसे कहे गये हैं—**'एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे'** (४। ३२)। भगवान्‌ने अपने लिये भी कहा है कि ऋक्, साम और यजुः मैं ही हूँ—**'ऋक्साम यजुरेव च'** (९। १७); वेदोंमें सामवेद मेरा ही स्वरूप है—**'वेदानां सामवेदोऽस्मि'** (१०।२२) वेदोंकी माता गायत्री मेरा ही स्वरूप है—**'गायत्री छन्दसामहम्'** (१०। ३५); सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा मैं ही जाननेयोग्य हूँ अर्थात् चारों वेदोंमें मेरे ही स्वरूपका प्रतिपादन है तथा वेदोंके तत्त्वका निर्णय करनेवाला और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ—**'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्'** (१५। १५); लोकमें और वेदमें पुरुषोत्तम नामसे मैं ही प्रसिद्ध हूँ—**'अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः'** (१५। १८)।

गीतामें **'यामिमां पुष्पितां वाचम्'** (२। ४२) 'दिखावटी शोभायुक्त वाणी'; **'वेदवादरताः'** (२।४२) 'वेदोंके वादमें रत रहनेवाले'; **'क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति'** (२। ४३) 'भोग तथा ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये बहुत-सी क्रियाओंका वर्णन करनेवाली वाणी'; **'त्रैगुण्यविषया वेदाः'** (२। ४५) 'वेद तीनों गुणोंके कार्यरूप संसारका प्रतिपादन करनेवाले हैं'; **'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते'** (६।४४) 'समताका जिज्ञासु भी वेदमें कहे हुए सकाम अनुष्ठानोंका अतिक्रमण कर जाता है'; **'वेदेषु ... यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्। अत्येति तत्सर्वमिदं ......'** (८।२८) 'वेदों आदिमें जो-जो पुण्यफल कहे गये हैं, योगी उन सबका अतिक्रमण कर जाता है'; **'एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते'** (९। २१) 'इस तरह तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम धर्मका आश्रय लिये हुए भोगोंकी कामना करनेवाले मनुष्य आवागमनको प्राप्त होते हैं' आदि पदोंमें जो वेदोंका निरादर (निन्दा) प्रतीत होता है, वह वास्तवमें वेदोंका नहीं है, प्रत्युत सकामभावका है। कारण कि सकामभाव ही बार-बार जन्म-मरण देनेवाला है, बन्धनमें डालनेवाला है। अतः भगवान्‌ने सकामभावकी निन्दा की है, वेदोंकी नहीं।

गीतामें वेदोंके पाठ, अध्ययन आदिसे भगवान्‌के विश्वरूप और चतुर्भुजरूपके दर्शनका जो निषेध किया

* 'वेद' शब्द 'विद ज्ञाने' धातुसे बना है।

गया है (११ । ४८, ५३), उसका तात्पर्य यह है कि वेदोंके पाठ, अध्ययनमात्रके बलसे भगवान्‌के दर्शन नहीं होते, प्रत्युत भगवान्‌के दर्शन तो अनन्य प्रेमसे ही होते हैं । यदि वेदोंका पाठ, अध्ययन आदि निष्कामभाव-पूर्वक केवल भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही किया जाय तो भगवान्‌की कृपासे उनके दर्शन हो सकते हैं । कारण कि भगवान् भावग्राही हैं, क्रियाग्राही नहीं ।

वेद श्रुतिमाता है और माता सब बालकोंके लिये समान होती है । अतः वेदमाताने अपने बच्चोंकी भिन्न-भिन्न रुचियोंके अनुसार लौकिक और पारमार्थिक सब तरहकी सिद्धियोंके उपाय (साधन) बताये हैं । अपनी माताका निरादर, निन्दा कौन बालक कर सकता है ? और क्यों करना चाहेगा ? भगवान्‌ने भी गीतामें वेदोंको अपना स्वरूप बताया है । अतः भगवान् अपने स्वरूप-का निरादर कैसे कर सकते हैं ? और भगवान्‌के द्वारा अपने स्वरूपका निरादर हो ही कैसे सकता है ?

गीता और गुरु-तत्त्व

स्वतीव्रोत्कण्ठया चैव लक्ष्यसिद्धिर्भवेत् सदा ।
प्रेरयति ततो गीता ह्यात्मनाऽऽत्मानमुद्धरेत् ॥

अर्जुन सदा भगवान्‌के साथ ही रहते थे; भगवान्‌के साथ ही खाते-पीते, उठते-बैठते, सोते-जागते थे; परंतु भगवान्‌ने उन्हें गीताका उपदेश तभी दिया, जब उनके भीतर अपने श्रेयकी, कल्याणकी, उद्धारकी इच्छा जाग्रत् हो गयी—**'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे'** (२ । ७)। ऐसी इच्छा जाग्रत् होनेके बाद वे अपनेको भगवान्‌का शिष्य मानते हैं और भगवान्‌की शरण होकर शिक्षा देनेके लिये प्रार्थना करते हैं—**'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'** (२ । ७) । इस प्रकार कल्याणकी इच्छा जाग्रत् होनेके बाद अर्जुनने अपनेको भगवान्‌का शिष्य मानकर शिक्षा देनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना की है, न कि गुरु-शिष्य-परम्पराकी रीतिसे भगवान्‌को गुरु माना है। भगवान्‌ने भी शास्त्रपद्धतिके अनुसार अर्जुनको शिष्य बनानेके बाद, गुरु-मन्त्र देनेके बाद, सिरपर हाथ रखनेके बाद उपदेश दिया हो—ऐसी बात नहीं है । इससे सिद्ध होता है कि पारमार्थिक उन्नतिमें गुरु-शिष्यका सम्बन्ध जोड़ना आवश्यक नहीं है, प्रत्युत अपनी तीव्र जिज्ञासा, अपने कल्याणकी तीव्र लालसाका होना ही अत्यन्त आवश्यक है । अपने उद्धारकी बलवती लगन होनेसे साधकको भगवत्कृपासे, संत-महात्माओंके वचनोंसे, शास्त्रोंसे, ग्रन्थोंसे, किसी घटना-परिस्थितिसे, किसी वायु-मण्डलसे अपने-आप पारमार्थिक उन्नतिकी बातें, साधन-सामग्री मिल जाती है और वह उसे ग्रहण कर लेता है ।

गीता बाह्य विधियोंको, बाह्य परिवर्तनको उतना आदर नहीं देती, जितना आदर भीतरके भावोंको, विवेकको, बोधको, जिज्ञासाको, त्यागको देती है । यदि गीता बाह्य विधियोंको, परिवर्तनको, गुरु-शिष्यके सम्बन्धको ही आदर देती तो वह सब सम्प्रदायोंके लिये उपयोगी तथा आदरणीय नहीं होती अर्थात् गीता जिस सम्प्रदायकी विधियोंका वर्णन करती, वह उसी सम्प्रदायकी मानी जाती । फिर गीता प्रत्येक सम्प्रदायके लिये उपयोगी नहीं होती और उसके पठन-पाठन, मनन-चिन्तन आदिमें सब सम्प्रदायवालोंकी रुचि भी नहीं होती; परंतु गीताका उपदेश सार्वभौम है । वह किसी विशेष सम्प्रदाय या व्यक्तिके लिये नहीं है, प्रत्युत मानव-मात्रके लिये है ।

गीताने ज्ञानके प्रकरणमें **'प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया'** (४ । ३४) और **'आचार्योपासनम्'** (१३ । ७) पदोंसे आचार्यकी सेवा, उपासनाकी बात कही है । उसका तात्पर्य यही है कि ज्ञानमार्गी साधकमें 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा अभिमान रहनेकी अधिक सम्भावना रहती है । अतः साधकको चेतानेके लिये तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त आचार्य या गुरुकी अधिक आवश्यकता रहती है; परंतु वह आवश्यकता भी तभी रहती है, जब साधकमें तीव्र जिज्ञासाकी कमी हो अथवा उसकी ऐसी भावना हो कि

गुरुजी उपदेश देंगे, तभी ज्ञान होगा। तीव्र जिज्ञासा होनेपर साधक तत्त्वका अनुभव किये बिना किसी भी अवस्थामें संतोष नहीं कर सकता, किसी भी सम्प्रदायमें अटक नहीं सकता और किसी भी विशेषताको लेकर अपनेमें अभिमान नहीं ला सकता। ऐसे साधककी जिज्ञासा-पूर्ति भगवत्कृपासे हो जाती है।

गुरु-शिष्यके सम्बन्धसे ही ज्ञान होता है—ऐसी बात देखनेमें नहीं आती। कारण कि जिन लोगोंने गुरु बना लिया है, गुरु-शिष्यका सम्बन्ध स्वीकार कर लिया है, उन सबको ज्ञान हो गया हो——ऐसा देखनेमें नहीं आता; परंतु तीव्र जिज्ञासा होनेपर ज्ञान हो जाता है——ऐसा देखनेमें, सुननेमें आता है। तीव्र जिज्ञासुके लिये गुरु-शिष्यका सम्बन्ध स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। तात्पर्य यह है कि जबतक स्वयंकी तीव्र जिज्ञासा नहीं होती, तबतक गुरु-शिष्यका सम्बन्ध स्वीकार करनेपर भी ज्ञान नहीं होता और तीव्र जिज्ञासा होनेपर साधक गुरु-शिष्यके सम्बन्धके बिना ही किसीसे भी ज्ञान ले लेता है।

शिष्य बननेपर गुरुके उपदेशसे ज्ञान हो ही जायगा—यह नियम नहीं है। कारण कि उपदेश मिलनेपर भी यदि स्वयंकी जिज्ञासा, लगन नहीं होगी तो शिष्य उस उपदेशको धारण नहीं कर सकेगा; परंतु तीव्र जिज्ञासा, श्रद्धा-विश्वास होनेपर मनुष्य बिना किसी सम्बन्धके ही उपदेशको धारण कर लेता है—**'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्'** (४। ३९)। तात्पर्य यह है कि ज्ञान स्वयंकी जिज्ञासा, लगनसे ही होता है, गुरु बनानेमात्रसे नहीं।

यदि किसीको असली गुरु मिल भी जाय, तो भी वह स्वयं उन्हें गुरु, महात्मा मानेगा, स्वयं उनपर श्रद्धा-विश्वास करेगा, तभी उसे लाभ होगा। यदि वह स्वयं श्रद्धा-विश्वास न करे तो साक्षात् भगवान्‌के मिलनेपर भी उसका कल्याण नहीं होगा। दुर्योधनको भगवान्‌ने उपदेश दिया और पाण्डवोंसे संधि करनेके लिये बहुत समझाया, फिर भी उसपर कोई असर नहीं पड़ा। उसके माने बिना भगवान् भी कुछ नहीं कर सके। तात्पर्य यह है कि स्वयंके मानने, स्वीकार करनेसे ही कल्याण होता है। अतः गीता अपने-आपसे ही अपने-आपका उद्धार करनेकी प्रेरणा करती है—**'उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानम्'** (६। ५)।

ज्ञानमार्गमें तो गीताने आचार्य आदिकी उपासना बतायी है, पर कर्मयोग और भक्तिमार्गमें गुरु आदिकी आवश्यकता नहीं बतायी। कारण कि जब किसी घटना, परिस्थिति आदिसे ऐसी भावना जाग्रत् हो जाती है कि 'स्वार्थभावसे कर्म करनेपर अभावकी पूर्ति नहीं होती, स्वार्थभाव रखना पशुता है, मानवता नहीं है', तब मनुष्य स्वार्थभावका, कामनाका त्याग करके सेवा-परायण हो जाता है। सेवा-परायण होनेसे उस कर्मयोगीको अपने-आप तत्त्वज्ञान हो जाता है—**'तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति'** (४। ३८)।

कोई एक विलक्षण शक्ति है, जिससे सम्पूर्ण संसारका संचालन हो रहा है। उस शक्तिपर जब मनुष्यको विश्वास हो जाता है, तब वह भगवान्‌की ओर चल पड़ता है। भगवान्‌में लगे हुए ऐसे भक्तके अज्ञान-अन्धकारका नाश भगवान् स्वयं कर देते हैं (१०। ११); और भगवान् स्वयं उसका मृत्यु-संसार-सागरसे उद्धार करनेवाले बन जाते हैं (१२। ७)।

भगवान्‌की यह एक विलक्षण उदारता, दयालुता है कि जो उन्हें नहीं मानता, उनका खण्डन करता है अर्थात् नास्तिक है, उसके भीतर भी यदि तत्त्वको, अपने स्वरूपको जाननेकी तीव्र जिज्ञासा हो जाय तो उसे भी भगवत्कृपासे ज्ञान मिल जाता है।

जिससे प्रकाश मिले, ज्ञान मिले, सही मार्ग दीख जाय, अपना कर्तव्य दीख जाय, अपना ध्येय दीख जाय, वह गुरु-तत्त्व है। वह गुरु-तत्त्व सबके भीतर विराजमान है। वह गुरु-तत्त्व जिस व्यक्ति, शास्त्र आदिसे प्रकट हो जाय, उसीको अपना गुरु मानना चाहिये।

वास्तवमें भगवान् ही सबके गुरु हैं; क्योंकि संसारमें जिस-किसीको ज्ञान, प्रकाश मिलता है, वह भगवान्‌से ही मिलता है। वह ज्ञान जहाँ-जहाँसे, जिस-जिससे प्रकट होता है अर्थात् जिस व्यक्ति, शास्त्र आदिसे प्रकट होता

है, वह गुरु कहलाता है; परंतु मूलमें भगवान् ही सबके गुरु हैं। भगवान्ने गीतामें कहा है कि 'मैं ही देवताओं और महर्षियोंका आदि अर्थात् उनका उत्पादक, संरक्षक, शिक्षक हूँ' —**'अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः'** (१० । २)। अर्जुनने भी विराट्रूप भगवान्की स्तुति करते हुए कहा है कि 'भगवन्! आप ही सबके गुरु हैं' **'गरीयसे'** (११ । ३७); **'गुरुर्गरीयान्'** (११ । ४३)। अतः साधकको गुरुकी खोज करनेकी आवश्यकता नहीं है। उसे तो **'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्'** के अनुसार भगवान् श्रीकृष्णको ही गुरु और उनकी वाणी गीताको उनका मन्त्र, उपदेश मानकर उनके आज्ञानुसार साधनमें लग जाना चाहिये। यदि साधकको लौकिक दृष्टिसे गुरुकी आवश्यकता पड़ेगी तो वे जगद्गुरु अपने-आप गुरुसे मिला देंगे; क्योंकि वे भक्तोंका योगक्षेम वहन करनेवाले हैं—**'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** (९ । २२)।

गीतामें स्वभावका वर्णन

चतुर्विधः स्वभावश्च प्राकृतो वर्णगस्तथा।
उत्पादितश्च सङ्गेन शुद्धश्च ज्ञानिनां स्मृतः॥

गीतामें चार प्रकारके स्वभावका वर्णन हुआ है, जो इस प्रकार है—

(१) **समष्टि प्रकृतिगत स्वभाव**—पेड़-पौधोंका उत्पन्न होना, बड़ा होना, फल-फूलोंका लगना आदि; और ऐसे ही मनुष्य, पशु, पक्षी आदिके शरीरोंका उत्पन्न होना, बच्चेसे जवान होना, जवानसे बूढ़ा होना तथा शरीरोंमें बलका घटना, बढ़ना आदि जो कुछ परिवर्तन संसारमें हो रहा है, वह सब समष्टि प्रकृतिका स्वभाव है।

समष्टि प्रकृतिगत स्वभाव किसीके लिये भी दोषी नहीं होता, प्रत्युत शुद्ध, पवित्र करनेवाला होता है। बचपनसे जवान और जवानसे बूढ़ा होना एवं रोगीसे नीरोग और नीरोगसे रोगी होना* क्या दोषी होगा? नहीं, यह तो पाप-पुण्यका फल भुगताकर शुद्ध करता है, परंतु प्रकृतिके इस स्वभाव (स्वाभाविक परिवर्तन)में मनुष्य अपनी मनमानी करने लग जाता है अर्थात् राग-द्वेषपूर्वक शास्त्रकी आज्ञासे विरुद्ध मनमाने ढंगसे कर्म करने लग जाता है, जिससे वह बन्धनमें पड़ जाता है।

इस स्वभावका वर्णन गीतामें कई जगह हुआ है; जैसे—प्रकृतिके गुणोंद्वारा ही सब क्रियाएँ होती हैं (३ । २७); गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं (३ । २८; १४ । २३); इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके विषयोंमें बरत रही हैं (५ । ८-९); प्रकृतिके द्वारा ही सब कर्म होते हैं (१३ । २९)। तात्पर्य यह है कि समष्टि प्रकृतिके द्वारा होनेवाली क्रियाओंमें मनुष्यको न तो अपनी मनमानी करनी चाहिये और न उनसे सुखी-दुःखी ही होना चाहिये।

(२) **वर्णगत स्वभाव**—यह स्वभाव व्यक्तिगत होता है; क्योंकि यह पूर्वकर्मोंके अनुसार तथा इस जन्ममें माता-पिताके रज-वीर्यके अनुसार बनता है। अतः यह स्वभाव भी किसी व्यक्तिके लिये दोषी और पापजनक नहीं होता। जैसे—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारोंके जो अलग-अलग कर्म होते हैं, उन कर्मोंकी भिन्नतामें वर्णगत स्वभाव ही कारण है। ब्राह्मणके खान-पान आदि कर्मोंमें स्वाभाविक ही पवित्रता रहती है, क्षत्रियके युद्ध करना, दान करना आदि कर्मोंमें स्वाभाविक ही निर्भयता, शूरवीरता, उदारता रहती है,

---

* रोग दो प्रकारका होता है—प्रारब्धजन्य और कुपथ्यजन्य। प्रारब्धजन्य रोग दवासे नहीं मिटता। जबतक प्रारब्धका वेग होगा, तबतक वह रहेगा ही। कुपथ्यजन्य रोग पथ्यका सेवन करनेसे और दवा लेनेसे मिट जाता है। यहाँ (समष्टि प्रकृतिगत स्वभावमें) प्रारब्धजन्य रोग ही लिया गया है।

वैश्यकी खेती करना, गायोंका पालन करना, व्यापार करना आदि कर्मोंमें स्वाभाविक ही प्रवृत्ति रहती है और शूद्रकी सभी वर्णोंकी सेवा करनेमें स्वाभाविक ही प्रवृत्ति रहती है। वर्तमानमें यदि इन चारों वर्णोंमें कहीं ऐसा स्वभाव देखनेमें न आये तो इसमें सङ्ग-दोष ही कारण है। इसलिये मनुष्यको अच्छे सङ्गका ग्रहण और बुरे सङ्गका त्याग करना चाहिये।

इस वर्णगत (जातिगत) स्वभावका वर्णन गीताके अठारहवें अध्यायमें विस्तारसे हुआ है (१८।४२-४८, ५९-६०)। तात्पर्य यह है कि मनुष्यको अपने वर्णगत स्वभावके अनुसार अपने-अपने कर्तव्यका तत्परतासे पालन करना चाहिये और कुसङ्गका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। ऐसा करनेसे मनुष्यका स्वतः कल्याण हो सकता है*।

(३) **उत्पादित स्वभाव**—यह स्वभाव मनुष्यका अपना बनाया हुआ होता है और सबका अलग-अलग होता है। मनुष्य जैसा शास्त्र पढ़ता है, जैसे लोगोंका सङ्ग करता है, जैसे वातावरणमें रहता है, वैसा ही उसका स्वभाव बन जाता है। तात्पर्य यह है कि विहित कर्म, सत्सङ्ग तथा पवित्र आचरणोंसे स्वभाव सुधरता है और निषिद्ध कर्म, कुसङ्ग तथा अपवित्र आचरणोंसे स्वभाव बिगड़ता है (१६।१—१८)। इस स्वभावको सुधारनेके लिये भगवान्‌ने गीतामें जगह-जगह आज्ञा दी है (३।३०, ३४; १६।२१, २४ आदि)। तात्पर्य यह है कि अपने स्वभावको शुद्ध, पवित्र बनानेमें अथवा उसे बिगाड़नेमें मनुष्य स्वतन्त्र और सबल है। इसमें कोई भी पराधीन और निर्बल नहीं है। अतः मनुष्यको बड़ी सावधानीसे अपने स्वभावको शुद्ध बनाना चाहिये। स्वभावके बिगड़नेका कभी अवसर ही नहीं आने देना चाहिये। इसीमें मनुष्यजन्मकी सफलता है।

(४) **ज्ञानीका स्वभाव**—ज्ञानीका स्वभाव अतिशय शुद्ध होता है। सभी ज्ञानी (तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त) महापुरुषोंके स्वभावमें शुद्धि, निर्मलता, त्याग, वैराग्य आदि तो समानरूपसे रहते हैं, पर वर्ण, आश्रम, साधना-पद्धति आदिको लेकर उनके स्वभाव और आचरण एक समान नहीं होते, प्रत्युत भिन्न-भिन्न होते हैं (३।३३)। उनके लिये यह भिन्नता दोषी नहीं होती; क्योंकि उनमें राग-द्वेष, अभिमान आदि दोषोंका अभाव रहता है। तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञान होनेपर भी ज्ञानी महात्मा अपने वर्ण, आश्रम, साधना-पद्धति आदिके अनुसार ही आचरण, कर्तव्य-कर्म करते हैं।

उपर्युक्त सभी स्वभावोंके वर्णनका तात्पर्य यही लेना चाहिये कि मनुष्य अपने स्वभावका सुधार करे, उसे बिगाड़े नहीं और किसीके स्वभावको लेकर दोषदृष्टि न करे। वह सावधानीपूर्वक दुष्कर्मोंका त्याग करे और सत्कर्मोंको ग्रहण करे।

गीतामें जातिका वर्णन

जन्मना मन्यते जातिः कर्मणा मन्यते कृतिः।
तस्मात् स्वकीयकर्तव्यं पालनीयं प्रयत्नतः॥

ऊँच-नीच योनियोंमें जितने भी शरीर मिलते हैं, वे सब गुण और कर्मके अनुसार ही मिलते हैं (१३।२१; १४।१६, १८)। गुण और कर्मके अनुसार ही मनुष्यका जन्म होता है अर्थात् पूर्वजन्ममें मनुष्यके जैसे गुण थे और जैसे कर्म थे, उनके अनुसार ही उसका जन्म होता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि प्राणियोंके गुणों और कर्मोंके अनुसार ही मैंने चारों वर्णों—(ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) की रचना

* जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है, उसे शास्त्रविहित भोगोंका भी त्याग कर देना चाहिये और परम्परागत स्वाभाविक दोषी आचरणोंका भी त्याग करके शुद्ध, पवित्र आचरणोंको ग्रहण करना चाहिये।

की है—'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' (४ । १३)। अतः गीता जन्म (उत्पत्ति)से ही जाति मानती है अर्थात् जो मनुष्य जिस वर्णमें जिस जातिके माता-पितासे पैदा हुआ है, उसीसे उसकी जाति मानी जाती है।

'जाति' शब्द **'जनी प्रादुर्भावे'** धातुसे बनता है, इसलिये जन्मसे ही जाति मानी जाती है, कर्मसे नहीं। कर्मसे तो 'कृति' होती है, जो 'कृ' धातुसे बनती है; परंतु जातिकी पूर्ण रक्षा उसके अनुसार कर्तव्य-कर्म करनेसे ही होती है।

भगवान्‌ने (१८ । ४१ में) जन्मके अनुसार ही कर्मोंका विभाग किया है। मनुष्य जिस वर्ण (जाति) में जन्मा है और शास्त्रोंने उस वर्णके लिये जिन कर्मोंका विधान किया है, वे कर्म उस वर्णके लिये 'स्वधर्म' हैं और उन्हीं कर्मोंका जिस वर्णके लिये निषेध किया है, उस वर्णके लिये वे कर्म 'परधर्म' हैं। जैसे—यज्ञ करना, दान लेना आदि कर्म ब्राह्मणके लिये शास्त्रकी आज्ञा होनेसे 'स्वधर्म' हैं; परंतु वे ही कर्म क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके लिये शास्त्रका निषेध होनेसे 'परधर्म' हैं। स्वधर्मका पालन करते हुए यदि मनुष्य मर जाय, तो भी उसका कल्याण ही होता है; परंतु परधर्म (दूसरोंके कर्तव्य-कर्म)का आचरण जन्म-मृत्युरूप भयको देनेवाला है (३ । ३५)। अर्जुन क्षत्रिय थे; अतः युद्ध करना उनका स्वधर्म है। इसलिये भगवान् उनके लिये बड़े स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं कि क्षत्रियके लिये युद्धके सिवाय और कोई कल्याणकारक काम नहीं है (२।३१); यदि तुम इस धर्ममय युद्धको नहीं करोगे, तो स्वधर्म और कीर्तिका त्याग करके पापको प्राप्त होओगे (२ । ३३)।

भगवान्‌ने गीतामें अपने-अपने वर्णके अनुसार कर्तव्य-कर्म करनेपर बड़ा बल देकर कहा है कि अपने-अपने कर्तव्य कर्ममें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर लेता है (१८ । ४५); अपने कर्मोंके द्वारा परमात्माका पूजन करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो जाता है (१८ । ४६)। परमात्माका पूजन पवित्र वस्तुसे होता है, अपवित्र वस्तुसे नहीं। अपना कर्म ही पवित्र वस्तु है और दूसरोंका कर्म अपने लिये (निषिद्ध होनेसे) अपवित्र वस्तु है। अतः अपने कर्मसे परमात्माका पूजन करनेसे ही कल्याण होता है और दूसरोंके कर्मसे पतन होता है। अपने कर्म (स्वकर्म)को भगवान्‌ने 'सहज कर्म' कहा है। सहज कर्मका अर्थ है—'साथमें पैदा हुआ'। जैसे कोई क्षत्रियके घरमें पैदा हुआ तो क्षत्रियके कर्म भी उसके साथ ही पैदा हो गये। अतः क्षत्रियके कर्म उसके लिये सहज कर्म हैं। भगवान्‌ने भी चारों वर्णोंके सहज, स्वभावज कर्मोंका विधान किया है (१८ । ४२-४४)। इन स्वभावज कर्मोंको करता हुआ मनुष्य पापका भागी नहीं होता (१८ । ४७)। जैसे स्वतः प्राप्त हुए न्याययुक्त युद्धमें मनुष्योंकी हत्या होती है, पर शास्त्रविहित सहज कर्म होनेसे क्षत्रियको पाप नहीं लगता।

मनुष्य जिस जातिमें पैदा हुआ है, उसके अनुसार शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म करनेसे उस जातिकी रक्षा हो जाती है और विपरीत कर्म करनेसे उस जातिमें कर्म-संकर होकर वर्णसंकर पैदा हो जाता है। भगवान्‌ने भी अपने लिये कहा है कि यदि मैं अपने वर्णके अनुसार कर्तव्यका पालन न करूँ तो मैं वर्णसंकर पैदा करनेवाला तथा सम्पूर्ण प्रजाका नाश (पतन) करनेवाला बनूँ (३ । २३-२४)। अतः जो मनुष्य अपने वर्णके अनुसार कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला और पापमय जीवन बितानेवाला मनुष्य संसारमें व्यर्थ ही जीता है (३।१६)।

सभी मनुष्योंको चाहिये कि वे अपने-अपने कर्तव्य कर्मोंके द्वारा अपनी जातिकी रक्षा करें। इसके लिये पाँच बातोंका ध्यान रखना आवश्यक है—

(१) **विवाह**—कन्याको लेना और देना अपनी जातिमें ही होना चाहिये; क्योंकि दूसरी जातिकी कन्या लेनेसे रज-वीर्यकी विकृतिके कारण उनकी संतानोंमें भी विकृति (वर्णसंकरता) आयेगी। विकृत संतानोंमें अपने पूर्वजोंके प्रति श्रद्धा नहीं होगी। श्रद्धा न होनेसे वे उन पूर्वजोंके लिये श्राद्ध-तर्पण नहीं करेंगे, उन्हें

पिण्ड-पानी नहीं देंगे। कभी लोक-लज्जामें आकर दे भी देंगे, तो भी वह श्राद्ध-तर्पण, पिण्ड-पानी पितरोंको मिलेगा नहीं। इससे पितरलोग अपने स्थानसे गिर जायँगे (१ । ४२)। गीता कहती है कि जो शास्त्र-विधिको छोड़कर मनमाने ढंगसे कर्म करता है, उसे न तो अन्तःकरणकी शुद्धिरूप सिद्धि मिलती है, न सुख मिलता है और न परमगतिकी प्राप्ति ही होती है (१६।२३)। अतः मनुष्यको कर्तव्य-अकर्तव्यके विषयमें शास्त्रको ही सामने रखना चाहिये (१६ । २४)।

(२) **भोजन**—भोजन भी अपनी जातिके अनुसार ही होना चाहिये। जैसे ब्राह्मणके लिये लहसुन, प्याज खाना दोष है; परंतु शूद्रके लिये लहसुन, प्याज खाना दोष नहीं है। यदि हम दूसरी जातिवालेके साथ भोजन करेंगे तो अपनी शुद्धि तो उनमें जायगी नहीं, पर उनकी अशुद्धि अपनेमें अवश्य आ जायगी। अतः मनुष्यको अपनी जातिके अनुसार ही भोजन करना चाहिये।

(३) **वेशभूषा**—पाश्चात्त्य देशका अनुकरण करनेसे आज अपनी जातिकी वेशभूषा प्रायः भ्रष्ट हो गयी है। प्रायः सभी जातियोंकी वेशभूषामें दोष आ गया है, जिससे 'कौन किस जातिका है'—इसका पता ही नहीं लगता। अतः मनुष्यको अपनी जातिके अनुसार ही वेशभूषा रखनी चाहिये।

(४) **भाषा**—अन्य भाषाओंको, लिपियोंको सीखना दोष नहीं है, पर उनके अनुसार स्वयं भी वैसे बन जाना बड़ा भारी दोष है। जैसे अँग्रेजी सीखकर अपनी वेश-भूषा, खान-पान, रहन-सहन अंग्रेजोंका-सा ही बना लेना उस भाषाको लेना नहीं है, प्रत्युत अपने-आपको खो देना है। अपनी वेशभूषा, खान-पान, रहन-सहन वैसा-का-वैसा रखते हुए ही अंग्रेजो सीखना अंग्रेजी भाषा एवं लिपिको लेना है। अतः अन्य भाषाओंका ज्ञान होनेपर भी बोलचाल अपनी भाषामें ही होनी चाहिये।

(५) **व्यवसाय**—व्यवसाय (काम-धंधा) भी अपनी जातिके अनुसार ही होना चाहिये। गीताने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके लिये अलग-अलग कर्मोंका विधान किया है (१८ । ४२-४४)।

गीतामें चार आश्रम

यथा सर्वेषु शास्त्रेषु प्रोक्ताश्चत्वार आश्रमाः।
गीतया न तथा प्रोक्ताः संकेतेनैव दर्शिताः॥

गीतामें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंका वर्णन तो स्पष्टरूपसे आया है; जैसे—**'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्'** (४ । १३); **'ब्राह्मण-क्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप'** (१८ । ४१) आदि; परंतु ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—इन चारों आश्रमोंका वर्णन स्पष्टरूपसे नहीं आया है। इन चारों आश्रमोंका वर्णन गीतामें गौणतासे, संकेतरूपसे माना जा सकता है; जैसे—

(१) जिस परमात्मतत्त्वकी इच्छा रखकर ब्रह्मचारी-लोग ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं—**'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति'** (८ । ११) पदोंसे ब्रह्मचर्य-आश्रमका संकेत मान सकते हैं।

(२) जो मनुष्य दूसरोंको उनका भाग न देकर स्वयं अकेले ही भोग करता है, वह चोर ही है—**'तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः'** (३ । १२); जो केवल अपने शरीरके पोषणके लिये ही पकाते हैं, वे पापीलोग तो पापका ही भक्षण करते हैं—**'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्'** (३ । १३) आदि पदोंसे गृहस्थ-आश्रमका संकेत मान सकते हैं।

(३) कितने ही मनुष्य तपस्यारूप यज्ञ करनेवाले हैं—'तपोयज्ञाः' पदसे वानप्रस्थ-आश्रमका संकेत मान सकते हैं।

(४) जिसने सब प्रकारके संग्रहका सर्वथा त्याग कर दिया है—'त्यक्तसर्वपरिग्रहः' (४। २१) पदोंसे संन्यास-आश्रमका संकेत मान सकते हैं।

गीतामें वर्णोंका स्पष्टरूपसे और आश्रमोंका संकेत-रूपसे वर्णन करनेका कारण यह है कि उस समय प्राप्त कर्तव्य-कर्मरूप युद्धका प्रसङ्ग था, आश्रमोंका नहीं। अतः भगवान्‌ने गीतामें वर्णगत कर्तव्य-कर्मका अधिकतर वर्णन किया है। उसमें भी यदि देखा जाय तो क्षत्रियके कर्तव्य-कर्मका जितना वर्णन है, उतना ब्राह्मण, वैश्य और शूद्रके कर्तव्य-कर्मका वर्णन नहीं है

आश्रमोंका स्पष्टरूपसे वर्णन न करनेका दूसरा कारण यह है कि अन्य शास्त्रोंमें जहाँ आश्रमोंका वर्णन हुआ है, वहाँ क्रमशः आश्रम बदलनेकी बात कही गयी है। आश्रम बदलनेकी बात भी मनुष्योंके कल्याणके लिये ही है; परंतु गीताके अनुसार अपना कल्याण करनेके लिये आश्रम बदलनेकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत जो जिस परिस्थितिमें, जिस वर्ण, आश्रम आदिमें स्थित है, उसीमें रहते हुए वह अपने कर्तव्यका पालन करके अपना कल्याण कर सकता है। इतना ही नहीं, युद्ध-जैसे घोर कर्ममें लगा हुआ मनुष्य भी अपना कल्याण कर सकता है। तात्पर्य यह है कि आश्रमोंके भेदसे जीवके कल्याणमें भेद नहीं होता। वर्णोंका भेद भी कर्तव्य-कर्मकी दृष्टिसे ही है अर्थात् जो भी कर्तव्य-कर्म किया जाता है, वह वर्णकी दृष्टिसे किया जाता है। इसलिये भगवान्‌ने चारों वर्णोंका स्पष्ट वर्णन किया है। वर्णोंका वर्णन करनेसे चारों आश्रमोंका वर्णन भी उसके अन्तर्गत आ जाता है; क्योंकि चारों वर्णोंवाले मनुष्य ही चार आश्रमोंमें जाते हैं, आश्रम बदलते हैं। इस दृष्टिसे भी स्वतन्त्ररूपसे आश्रमोंका वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं होती।

गीतामें सैनिकोंके लिये शिक्षा

पालनीयं स्वकर्तव्यं धृत्युत्साहसमन्वितैः।
नित्यत्वादात्मनो मृत्योर्भेतव्यं नैव सैनिकैः॥

भारतीय शिक्षा यह कह रही है कि किसी भी समय, किसी भी परिस्थितिमें मनुष्यमें कायरता, डरपोकपना, कर्तव्य-विमुखता आदि किञ्चिन्मात्र भी नहीं आने चाहिये, प्रत्युत मनुष्यको प्रत्येक परिस्थितिमें उत्साहित रहना चाहिये। अठारहवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें 'सात्त्विक कर्ता'के लक्षण बताते हुए भगवान्‌ने छः बातें कही हैं—आसक्ति और अहंकार—इन दो बातोंका त्याग करना, धैर्य और उत्साह—इन दो बातोंको धारण करना तथा सिद्धि और असिद्धि—इन दो बातोंमें निर्विकार रहना। इन छः बातोंमेंसे मनुष्यमात्रके लिये दो बातें मुख्य हैं—धैर्य और उत्साह। जो कार्य स्वीकार किया है, उसमें डटे रहना 'धैर्य' है और उस स्वीकृतिके अनुसार कार्यमें प्रवण, तत्पर रहना 'उत्साह' है।

जैसे पर्वत अचल होता है, ऐसे ही सैनिकको अपने कर्तव्यमें अचल रहना चाहिये। किसी भी विपरीत अवस्था, परिस्थिति आदिमें किञ्चिन्मात्र भी विचलित नहीं होना चाहिये। कारण कि शरीर तो प्रतिक्षण ही मर रहा है, मौतमें जा रहा है; और स्वयं अमर है, वह कभी मरता नहीं (२। २३—२५)। अतः मरनेसे कभी भी डरना नहीं चाहिये। दूसरी बात, अपने कर्तव्यका पालन करते हुए मर भी जाय तो उसमें कल्याण है—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' (३। ३५)। परंतु अपने कर्तव्यसे च्युत होनेमें भय है अर्थात् इस लोकमें भी अपमान, तिरस्कार, हानि है और परलोकमें

योद्धावेश में श्रीकृष्ण

भी दुर्गति है—'परधर्मो भयावहः' (३ । ३५)। अतः जो युद्ध कर्तव्यरूपसे स्वतः प्राप्त हो जाय, उसे करनेमें विशेष उत्साह रहना चाहिये। सैनिकोंके लिये युद्धके समान कल्याणकारक दूसरा कोई धर्म नहीं है; अतः वे सैनिक बड़े भाग्यशाली हैं, जिन्हें अनायास युद्ध प्राप्त हो जाय (२ । ३१-३२)।

अपने कर्तव्यके पालनमें बहुत उत्साह होना चाहिये। किसी कार्यमें प्रतिदिन सफलता-ही-सफलता होती हो तो उसमें जैसा उत्साह रहता है, वैसा ही उत्साह अपने कर्तव्यके पालनमें रहना चाहिये। अपने कर्तव्य-पालनके सामने कार्यकी सिद्धि-असिद्धि, सफलता-विफलता आदिका कोई मूल्य नहीं है; क्योंकि वास्तवमें लौकिक सफलता भी विफलता है और विफलता भी विफलता है; परंतु अपने कर्तव्यका पालन करते हुए सफलता आ जाय तो सफलता है और विफलता आ जाय तो सफलता है (२ । ३७)।

हमारे भारतवर्षके सैनिकोंका युद्धमें इतना उत्साह रहता था कि सिर धड़से अलग हो जानेपर भी वे शत्रुओंको मारते रहते थे। शूरवीर सैनिकोंके शरीरमें घाव हो जानेपर भी उनका उत्साह बढ़ता ही रहता है। पीड़ाका भान होनेपर भी उन्हें दुःख नहीं होता, प्रत्युत अपने कर्तव्यका पालन करनेमें एक सुख होता है, जो उनके उत्साहको बढ़ाता रहता है। ऐसे शूरवीर सैनिकोंके उत्साहका दूसरे सैनिकोंपर भी असर पड़ता है। उन उत्साही शूरवीर सैनिकोंके वचनोंको सुनकर कायर भी उत्साही हो जाते हैं।

गीतामें द्विविध सत्ताका वर्णन

द्विविधा दृश्यते सत्ता विकारिण्यविकारिणी।
भूत्वाऽसतो भवित्री च सतो नित्या सनातनी॥

सत्ता दो प्रकारकी होती है—विकारी और अविकारी। उत्पन्न होनेके बाद जो सत्ता होती है, वह 'विकारी सत्ता' कहलाती है; क्योंकि उसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। जो सत्ता स्वतःसिद्ध है, वह 'अविकारी सत्ता' कहलाती है; क्योंकि उसमें कभी किञ्चिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता। अतः गीतामें दूसरे अध्यायके सोलहवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि जिसका कभी भाव (सत्ता) नहीं होता, वह असत् है, विकारी सत्ता है और जिसका कभी अभाव नहीं होता, वह सत् है, अविकारी सत्ता है—**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'**

उत्पन्न होना, उत्पन्न होनेके बाद सत्तावाला दीखना, बढ़ना, अवस्थान्तर होना (बदलना), क्षीण होना और नष्ट होना—ये छः विकार मात्र संसारमें होते हैं, जैसे बच्चा पैदा होता है, पैदा होनेके बाद 'बच्चा है' ऐसा दीखता है, वह बढ़ता है, उसकी अवस्थाओंका परिवर्तन होता है, वह क्षीण होता है और अन्तमें मर जाता है। ये छः विकार शरीर-संसारमें ही होते हैं, आत्मामें नहीं। कारण कि आत्मा न जन्मता है, न पैदा होकर सत्तावाला होता है, न बढ़ता है, न बदलता है, न क्षीण होता है और न मरता ही है (२ । २०)।

गीतामें जहाँ-जहाँ शरीर और संसारका वर्णन है, वह सब 'विकारी सत्ता'का वर्णन है और जहाँ-जहाँ परमात्मा और आत्माका वर्णन है, वह सब 'अविकारी सत्ता' का वर्णन है।

गीतामें द्विविधा इच्छा

इच्छा तु द्विविधा प्रोक्ता जगतः परमात्मनः ।
अपूर्तिर्जगदिच्छायाः पूर्तिश्च परमात्मनः ॥

गीतामें सत् और असत्—इन दोका वर्णन आया है। मनुष्यमें एक इच्छा तो 'सत्'की प्राप्तिकी होती है और एक इच्छा 'असत्' (सांसारिक भोगों)की प्राप्तिकी होती है। सत्की इच्छा भावरूप है अर्थात् सदा रहनेवाली है, कभी मिटनेवाली नहीं है और असत्की इच्छा अभावरूप है अर्थात् मिटनेवाली है (२ । १६)। अतः सत्की इच्छाकी पूर्ति होती है और असत्की इच्छाकी निवृत्ति होती है, अभाव होता है।

वास्तवमें देखा जाय तो यह जीव साक्षात् परमात्मा (सत्)का अंश है और इसने प्रकृतिके अंश (असत्)-को पकड़ा है, उसके साथ तादात्म्य किया है (१५।७)। इसी कारण इसमें दो इच्छाएँ उत्पन्न हो गयी हैं। यदि यह प्रकृतिके अंशको न पकड़े तो असत्की इच्छाकी निवृत्ति हो जायगी और सत्की इच्छाकी पूर्ति हो जायगी। कारण कि परमात्माका अंश होनेसे परमात्म-प्राप्ति तो स्वतःसिद्ध है ही, केवल असत्को पकड़नेसे अपूर्तिका, अभावका अनुभव हो रहा था।

कर्मयोगके प्रकरणमें इन्हीं दो इच्छाओंको व्यवसायात्मिका और अव्यवसायात्मिका बुद्धिके नामसे कहा गया है (२ । ४१)। परमात्मप्राप्तिकी इच्छाको 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' और भोगोंकी इच्छाको 'अव्यवसायात्मिका बुद्धि' कहा गया है। व्यवसायात्मिका बुद्धि एक होती है; क्योंकि परमात्मतत्त्व एक है। मार्गभेदसे, पद्धतिभेदसे, रुचि और श्रद्धा-विश्वासके भेदसे इस परमात्मतत्त्वकी इच्छाको मुमुक्षा, प्रेमपिपासा, भगवद्दिदृक्षा आदि नामोंसे कह देते हैं; परंतु अव्यवसायात्मिका बुद्धि अनेक होती है; क्योंकि सांसारिक भोग और पदार्थ अनेक तरहके हैं। सांसारिक भोग और संग्रहकी इच्छाओंका कभी अन्त नहीं आता; अतः उनकी कभी पूर्ति हो ही नहीं सकती, उनका तो त्याग ही हो सकता है। इसलिये भगवान्‌ने गीतामें असत्की इच्छाके त्यागपर बहुत बल दिया है (२ । ४७, ५५, ७१; ३ । ४३; ५ । ११-१२; ६ । २४; १६ । २१-२२ आदि)।

तात्पर्य यह है कि मनुष्यमें केवल सत् (परमात्मा)-की ही इच्छा होनी चाहिये। मनुष्यका जन्म असत्की इच्छा करनेके लिये हुआ ही नहीं है। कारण कि असत् अपना नहीं है और कभी साथमें नहीं रहता; परंतु सत् अपना है और सदा ही साथमें रहता है, कभी अलग नहीं हो सकता।

गीतामें त्रिविध चक्षु

भवति त्रिविधं चक्षुश्चर्मचक्षुश्च देहिनाम् ।
कृष्णदत्तं दिव्यचक्षुर्ज्ञानचक्षुर्विवेकिनाम् ॥

गीतामें भगवान्‌ने तीन चक्षुओंका अर्थात् नेत्रोंमें देखनेकी शक्तियोंका वर्णन किया है—स्वचक्षु (चर्म-चक्षु), दिव्यचक्षु और ज्ञानचक्षु। प्राणियोंके अपने-अपने नेत्रोंमें जो देखनेकी शक्ति है, वह उनके **'स्वचक्षु'** हैं। इसके विषयमें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है कि 'तुम इस स्वचक्षुसे मेरे दिव्य विश्वरूपको नहीं देख सकते'—**'न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा'** (११ । ८)। तात्पर्य यह हुआ कि इस स्वचक्षुसे सांसारिक वस्तुओंको ही देखा जा सकता है। भगवान्‌के विराट्‌रूपको और शरीर-संसारसे अपने अलगाव (भेद)-को नहीं देखा जा सकता।
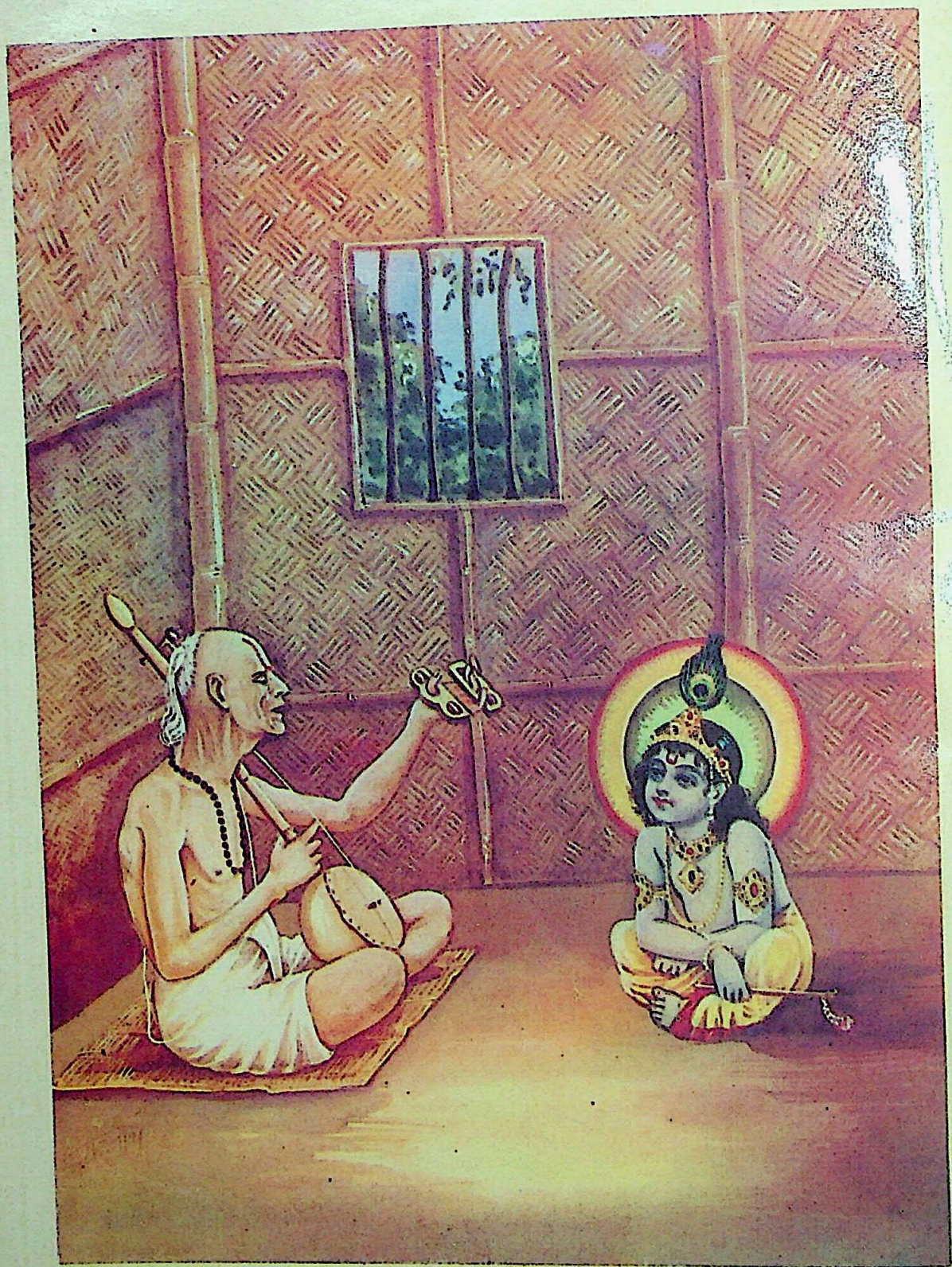
सूरदासजी की प्रेमा भक्ति

जिसमें भगवान्‌के अलौकिक, दिव्य, ऐश्वर्ययुक्त विराट-रूपको देखनेकी शक्ति होती है तथा जिसमें भूत, वर्तमान और भविष्यकी बातोंको जाननेकी और प्राणियोंके मनमें उत्पन्न होनेवाले भावोंको देखनेकी सामर्थ्य होती है, उसे **'दिव्यचक्षु'** कहते हैं। गीतामें अर्जुनने भगवान्‌के किसी एक अंशमें स्थित विश्वरूपको देखनेकी इच्छा प्रकट की, तो भगवान्‌ने अपना विश्वरूप दिखाते हुए चार बार 'देख! देख! देख! देख' कहा; पर अर्जुनको विश्वरूपके दर्शन नहीं हुए। तब भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा कि 'भैया! तुम अपने स्वचक्षुसे मेरे इस रूपको नहीं देख सकते, अतः मैं तुम्हें दिव्यचक्षु देता हूँ, जिससे तुम मेरे विराटरूपको देखो'—**'दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्'** (११ । ८)। ऐसा कहकर भगवान्‌ने अर्जुनको दिव्यचक्षु दिये, जिससे अर्जुनने भगवान्‌के अलौकिक दिव्य विश्वरूपके दर्शन किये, जो सर्वसाधारण मनुष्योंके लिये अत्यन्त दुर्लभ है। उसकी महिमा गाते हुए भगवान्‌ने कहा कि मैंने कृपा करके यह तेजोमय दिव्यरूप दिखाया है, इसे पहले तुम्हारे सिवाय किसीने भी नहीं देखा है (११ । ४७)। तात्पर्य यह है कि ऐसे विश्वरूपके दर्शन तो दिव्यचक्षुसे ही हो सकते हैं, चर्मचक्षु और ज्ञानचक्षुसे नहीं।

स्वयं भगवान् और भगवान्‌से अधिकार प्राप्त किये हुए भगवत्स्वरूप कारक महापुरुष ही कृपा करके किसी कृपापात्रको दिव्यचक्षु दे सकते हैं। दिव्यचक्षु देनेकी सामर्थ्य प्रत्येक संत-महात्मामें नहीं होती। वेदव्यासजी महाराजने महाभारत-युद्धके आरम्भमें अपने कृपापात्र संजयको दिव्यचक्षु दिये थे, जिससे संजयने भी भगवान्‌के विश्वरूपको देख लिया (१८ । ७७)।

जिससे नित्य-अनित्य, सत्-असत्, जड़-चेतनका ठीक तरहसे बोध हो जाता है और जिससे अपने स्वरूपका अनुभव हो जाता है, उसे **'ज्ञानचक्षु'** (विवेकदृष्टि) कहते हैं। गीतामें भगवान्‌ने दो जगह ज्ञानचक्षुका वर्णन किया है—(१) जो ज्ञानचक्षुसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको ठीक देख लेते हैं तथा कार्य-कारणसहित सम्पूर्ण प्रकृतिसे अपनेको अलग अनुभव कर लेते हैं, वे परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं (१३ । ३४) और (२) जन्मते-मरते और भोगोंको भोगते समय भी यह जीवात्मा स्वरूपसे निर्लिप्त ही रहता है—ऐसा रागपूर्वक विषयोंका सेवन करनेवाले मूढ़ मनुष्य नहीं जानते, प्रत्युत ज्ञानचक्षुवाले ज्ञानी मनुष्य ही जानते हैं (१५ । १०)। इस प्रकार जानना ज्ञानचक्षुसे ही होता है, स्वचक्षुसे नहीं।

भगवान् और तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुष ही ज्ञान-चक्षु दे सकते हैं, सामान्य मनुष्य नहीं। कारण कि सामान्य मनुष्योंको स्वयंको ही ऐसा ज्ञानचक्षु प्राप्त नहीं है, फिर वे दूसरोंको कैसे दे सकते हैं? शास्त्रोंका जानकार (पण्डित) भी सत्-असत्‌का विवेचन तो कर सकता है, पर किसीको ज्ञानचक्षु नहीं दे सकता; क्योंकि उसे स्वयंको ही अनुभव नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक मनुष्य ऐसा ज्ञानचक्षु प्राप्त नहीं कर सकता, प्रत्युत इस ज्ञानचक्षुको प्राप्त करनेके मात्र मनुष्य अधिकारी हैं। इतना ही नहीं, पापी-से-पापी मनुष्य भी इसे प्राप्त करनेका अधिकारी है (४ । ३६)। कारण कि मनुष्यशरीर केवल अपना उद्धार करनेके लिये ही मिला है। अतः मनुष्य इस ज्ञानचक्षुको भक्ति करके भगवान्‌से प्राप्त कर सकता है (१० । ११) अथवा तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषोंके अनुकूल बनकर प्राप्त कर सकता है (४ । ३४) अथवा तत्परतासे श्रद्धापूर्वक साधन करके भी प्राप्त कर सकता है (४ । ३९)। इस ज्ञानचक्षुके प्राप्त होनेपर मोह (अज्ञानान्धकार) सदाके लिये मिट जाता है (४ । ३५)।

गीतामें त्रिविध रतियाँ

साध्यसाधनरूपाभ्यां प्रसिद्धा रतयस्त्रिधा।
आदौ साधनरूपास्ता अनन्तो यान्ति साध्यताम्॥

एक 'आसक्ति' होती है और एक 'रति' (प्रीति) होती है। ये दोनों सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं। आसक्तिमें अपने सुखकी इच्छा रहती है और रतिमें अपने सुख (स्वार्थ) का त्याग और दूसरेके हितकी इच्छा रहती है।

आसक्ति जडताको लेकर होती है और रति चिन्मय तत्त्वको लेकर होती है। आसक्तिसे पतन होता है और रतिसे कल्याण होता है। आसक्तिमें विनाशी वस्तुओंका महत्त्व रहता है और रतिमें अविनाशी तत्त्वका महत्त्व रहता है। आसक्तिसे अवनति होती है और रतिसे उन्नति होती है। अतः मनुष्यमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये, प्रत्युत रति होनी चाहिये। अतः गीतामें कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही योगोंमें आसक्तिका त्याग करनेकी बात आयी है। जैसे—कर्मयोगमें **'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि'** (२ । ४७), **'सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये'** (५ । ११) आदि; ज्ञानयोगमें **'असक्तिरनभिष्वङ्गः'** (१३ । ९), **'असक्तबुद्धिः सर्वत्र'** (१८ । ४९) आदि; और भक्तियोगमें **'सङ्गं त्यक्त्वा'** (५ । १०), **'सङ्गवर्जितः'** (११ । ५५) आदि।

तीनों ही योगोंमें पहले साधनमें रति होती है, फिर वही रति अपने लक्ष्य, ध्येयमें परिणत हो जाती है। जैसे—

कर्मयोगीकी अपने कर्तव्य-कर्मको करनेमें रति होती है—**'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः'** (१८ । ४५), फिर वही रति अपने स्वरूपमें हो जाती है—**'यस्त्वात्मरतिः'** (३ । १७)।

ज्ञानयोगी सबको अपना स्वरूप समझता है। अतः पहले उसकी सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रति होती है—**'सर्वभूतहिते रताः'** (५ । २५; १२ । ४), फिर वही रति अपने स्वरूपमें हो जाती है—**'योऽन्तःसुखोऽन्तरारामः'** (५ । २४)।

भक्तियोगीकी रति पहले भगवान्‌के नामजप, कथा-कीर्तन, गुणगान आदिमें होती है—**'रमन्ति'** (१० । ९), फिर वही रति भगवान्‌में हो जाती है—**'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः'** (७ । १७)।

गीतामें भगवान्‌की शक्तियाँ

आद्या गुणमयी दैवी तथान्या दिव्यचिन्मयी।
योगमायेति च प्रोक्ता गीतायां पञ्चशक्तयः॥

गीतामें भगवान्‌की पाँच शक्तियोंका वर्णन हुआ है; जैसे—

(१) **मूलप्रकृति**—महाप्रलयके समय सम्पूर्ण प्राणी इसी मूल प्रकृतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् इसी मूल प्रकृतिमें लीन होते हैं—**'सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्। कल्पक्षये ....'** (९ । ७)। महासर्गके समय भगवान् इसी मूल प्रकृतिको वशमें करके अपने-अपने स्वभावके वशमें हुए प्राणियोंकी रचना करते हैं अर्थात् सृष्टिकी रचना करते हैं—**'प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य'..... 'प्रकृतेर्वशात्'** (९ । ८); और यही प्रकृति भगवान्‌की अध्यक्षतामें सम्पूर्ण संसारकी रचना करती है (९ । १०)। इसी मूल प्रकृतिको भगवान्‌ने **'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्'** (१४ । ३) और **'तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता'** (१४ । ४)—इन पदोंसे सम्पूर्ण प्राणियोंका उत्पत्ति-स्थान और अपनेको बीज प्रदान करनेवाला पिता बताया है।

(२) **दिव्य चिन्मय शक्ति**—भगवान् स्वयं जब कभी अवतार लेते हैं, तब इसी दिव्य चिन्मय-शक्तिका आश्रय लेकर लेते हैं। इसी शक्तिसे भगवान् भक्तोंको आनन्द देनेवाली प्रेमकी लीला करते हैं। यह शक्ति दिव्य चिन्मय गुणोंवाली होती है। अतः भगवान्‌का अवतारी शरीर भी दिव्य चिन्मय होता है। इसी दिव्य चिन्मय शक्तिको भगवान्‌ने **'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवामि'** (४ । ६) पदोंसे कहा है।

(३) **योगमाया-शक्ति**—इसी शक्तिसे सामान्य प्राणी भगवान्‌को मनुष्य मानकर उनकी अवहेलना करते

हैं। इस शक्तिसे ब्रह्माजी भी मोहित हो जाते हैं। इसी योगमाया-शक्तिको भगवान्‌ने **'आत्ममायया'** (४ । ६) और **'योगमायासमावृतः'** (७ । २५) पदोंसे कहा है।

(४) **दैवी प्रकृति**—'देव' नाम भगवान्‌का है। भगवान्‌की प्रकृति (स्वभाव) होनेसे यह 'दैवी प्रकृति' कहलाती है। इसमें दया, क्षमा, अहिंसा आदि दैवी गुण रहते हैं। साधक भक्त इस दैवी प्रकृतिका आश्रय लेकर भगवान्‌की ओर चलते हैं—**'महात्मानस्तु मां पार्थ'** ······ **भूतादिमव्ययम्'** (९ । १३)। इसीको 'दैवी सम्पद्' नामसे कहा गया है (१६ । ३, ५)। साक्षात् भगवान्‌का अंश होनेसे जीवमें इस दैवी सम्पत्तिके गुण स्वतः-स्वाभाविक रहते हैं; परंतु जबतक यह जीव भगवान्‌से विमुख रहता है, तबतक ये गुण उसमें प्रकट नहीं होते, विकसित नहीं होते, प्रत्युत दबे रहते हैं; परंतु जब वह भगवान्‌के सम्मुख हो जाता है, तब उसमें ये गुण स्वतः-स्वाभाविक प्रकट होने लगते हैं, विकसित होने लगते हैं।

(५) **गुणमयी माया**—यह माया लौकिक सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंवाली है। इस मायाके साथ जीव जितना ही घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़ता है, अपनेको उसका अधिपति मानता है और उससे सुख लेना चाहता है, उतना ही वह उसमें मोहित हो जाता है, उसके अधीन हो जाता है और उसमें फँस जाता है। इसी गुणमयी मायाको भगवान्‌ने प्रकृति (३ । २७, २९; १३ । १९—२१, २३, २९, ३४; १४ । ५), अपरा प्रकृति (७ । ४-५), दैवी गुणमयी माया (७ । १४-१५), माया (१८ । ६१) और अव्यक्त (१३ । ५) नामसे कहा है। इस गुणमयी मायामें अत्यधिक तादात्म्य, ममता, आसक्ति होनेसे यह माया ही आसुरी, राक्षसी और मोहिनी-रूप धारण कर लेती है (९ । १२)।

वास्तवमें भगवान्‌की शक्ति एक ही है, जो भगवत्स्वरूपा है। उसी शक्तिको लेकर भगवान् सृष्टि-रचना आदि भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं, अनेक प्रकारकी लीलाएँ करते हैं। अतः वह एक ही शक्ति कार्य या लीलाके अनुसार उपर्युक्त पाँच नामसे कही जाती है।

गीतामें दैवी और आसुरी सम्पत्ति

अभयसत्त्वशुद्ध्यादिः सम्पद् दैवीति कथ्यते।
दम्भदर्पाभिमानादिरासुरी सम्पदा तथा॥

दैवी और आसुरी—इन दोनों शब्दोंमें **'देव'** नाम देवताओंका नहीं है, प्रत्युत परमात्माका है; और **'असुर'** नाम राक्षसोंका नहीं है, प्रत्युत प्राणोंमें रमण करनेवालोंका है। गीतामें **'देवदेव'** (१० । १५); **'देवम्'** (११ । ११, १४); **'देवदेवस्य'** (११ । १३); **'देव'** (११ । १५) आदि पदोंमें परमात्माके लिये 'देव' शब्दका प्रयोग हुआ है। **'आसुरं भावम्'** (७ । १५); **'आसुरः'** (१६ । ६); **'आसुरनिश्चयान्'** (१७ । ६) आदि पदोंमें प्राणोंमें आसक्ति रखनेवालोंके लिये 'असुर' शब्दका प्रयोग हुआ है।

'देव' अर्थात् परमात्माके जितने गुण हैं, वे सभी 'दैवी गुण' कहलाते हैं। ये दैवी गुण परमात्माकी प्राप्ति करानेवाली पूँजी होनेसे **'दैवी सम्पत्ति'** कहलाते हैं—**'दैवी सम्पद्विमोक्षाय'** (१६ । ५)। साधकलोग इसी दैवी सम्पत्तिका आश्रय लेकर भगवान्‌का भजन करते हैं (९ । १३)।

'असु' नाम प्राणोंका है। उन प्राणोंमें ही जो रमण करनेवाले हैं, प्राणोंका ही भरण-पोषण-रक्षण करना चाहते हैं, वे 'असुर' कहलाते हैं; और उन असुरोंका जो स्वभाव है, उनके जो गुण हैं, वे, 'आसुरी गुण'

कहलाते हैं। ये आसुरी गुण बार-बार जन्म-मरण देनेवाली चौरासी लाख योनियोंमें और नरकोंमें ले जानेवाली पूँजी होनेसे **'आसुरी सम्पत्ति'** कहलाते हैं—**'निबन्धायासुरी मता'** (१६ । ५)। मूढ़लोग इसी आसुरी सम्पत्तिका आश्रय लेते हैं (९ । १२)।

संसारसे विमुख होकर और दैवी सम्पत्तिका आश्रय लेकर परमात्माकी प्राप्ति चाहनेवाले दो प्रकारके होते हैं—

(१) **सगुणोपासक (भक्त)**—सगुणोपासकमें श्रद्धा-विश्वासकी, भावकी प्रधानता होती है; अतः वह **'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः ······ नातिमानिता'** (१६ । १-३)—इन छब्बीस गुणोंको धारण करता है। यह साधक भगवान्‌को सब जगह देखकर सबसे पहले अभय हो जाता है, फिर इसमें अमानित्व स्वतः आ जाता है।

(२) **निर्गुणोपासक (ज्ञानी)**—निर्गुणोपासकमें शरीर-शरीरीके विवेक-विचारकी प्रधानता होती है; अतः वह **'अमानित्वमदम्भित्व ········ तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्'** (१३ । ७-११)—इन बीस गुणोंको धारण करता है। इस साधकमें सबसे पहले अमानित्व आता है, फिर सब जगह परमात्माका अनुभव करनेसे वह अभय हो जाता है।

उपर्युक्त दोनों ही प्रकारके साधकोंमें दैवी सम्पत्ति साधनरूपसे रहती है। सिद्ध महापुरुषोंमें यह दैवी सम्पत्ति स्वतः-स्वाभाविक रहती है। वास्तवमें सिद्ध महापुरुष गुणोंसे अतीत होते हैं; परंतु उन्होंने पहले साधन-अवस्थामें दैवी सम्पत्तिको लेकर साधन किया है; अतः सिद्ध होनेपर भी उनमें दैवी सम्पत्तिका स्वभाव बना हुआ रहता है। उन सिद्धोंमेंसे सिद्ध भक्तोंके स्वाभाविक दैवी सम्पत्तिके गुणोंका वर्णन बारहवें अध्यायके तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक हुआ है और सिद्ध ज्ञानियोंके स्वाभाविक दैवी सम्पत्तिके गुणोंका वर्णन चौदहवें अध्यायके बाईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक हुआ है।

आसुरी सम्पत्तिको धारण करनेवाले भी दो प्रकारके होते हैं—

(१) **सकामभावसे देवताओंकी उपासना करनेवाले**—सकामभावसे देवता आदिकी उपासना करके ब्रह्मलोकतक जानेवाले सभी मनुष्य आसुरी सम्पत्तिवाले हैं। कारण कि उनका उद्देश्य भोग भोगनेका है, वे भोगोंमें ही आसक्त, तन्मय रहते हैं (२ । ४२-४४; ७ । २०-२३; ९ । २०-२१)। ऐसे मनुष्योंको अन्तवाला फल ही मिलता है—**'अन्तवत्तु फलं तेषाम्'** (७ । २३) और वे बार-बार जन्म-मरणको प्राप्त होते हैं—**'गतागतं कामकामा लभन्ते'** (९ । २१)।

तात्पर्य यह है कि जिनका उद्देश्य सुख, आराम, भोग भोगनेका है, नाशवान् पदार्थोंका है, वे सभी आसुरी सम्पत्तिवाले हैं और जिनका उद्देश्य भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये, लोकसंग्रहके लिये, संसारके हितके लिये कर्म करनेका है, वे सभी दैवी सम्पत्तिवाले हैं।

(२) **काम-क्रोधादिका आश्रय लेकर दुर्गुण-दुराचारोंमें प्रवृत्त होनेवाले**—जो मनुष्य काम, क्रोध, अहंकार आदिका आश्रय लेते हैं, वे झूठ, कपट, जालसाजी, बेईमानी, धोखेबाजी, हिंसा आदिके द्वारा दूसरोंको दुःख देते हैं। ऐसे मनुष्य पापोंकी तारतम्यतासे पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, वृक्ष, लता आदि आसुरी योनियोंमें (१६ । १९) और कुम्भीपाक, रौरव आदि नरकोंमें (१६ । १९) जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि भगवत्परायण होनेसे दैवी सम्पत्ति प्रकट होती है, जो कि मुक्त करनेवाली है। पिण्डपोषण-परायण, भोगपरायण होनेसे आसुरी सम्पत्ति आती है, जो कि बाँधनेवाली और पतन करनेवाली है। अतः साधकको चाहिये कि वह दैवी सम्पत्तिका आदर करते हुए आसुरी सम्पत्तिका त्याग करता चला जाय, तो फिर अन्तमें उद्देश्यकी सिद्धि अवश्य हो जायगी।

ब्रह्मा भगवत्स्तुति

गीतामें सृष्टि-रचना

सृष्टिश्चतुर्विधा प्रोक्ता त्वादिसंकल्पजा प्रभोः।
ब्रह्मजा चान्नजा तुर्या क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोगजा ॥

गीतामें सृष्टि-रचनाका वर्णन चार प्रकारसे हुआ है, जो इस तरह है—

(१) **महासर्ग**—ब्रह्माजीकी और सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति महासर्गमें होती है। यह महासर्ग भगवान्के संकल्पसे होता है। भगवान्का संकल्प क्यों होता है? महाप्रलयमें सम्पूर्ण जीव अपने-अपने कर्मोंके संस्कारोंके साथ कारणशरीरसहित प्रकृतिमें लीन होते हैं और प्रकृति उन सम्पूर्ण प्राणियोंसहित भगवान्में लीन होती है। प्रकृतिमें लीन हुए उन प्राणियोंके कर्म जब परिपक्व होकर फल देनेके लिये उन्मुख हो जाते हैं, तब भगवान्में **'एकोऽहं बहु स्याम्'** 'मैं अकेला ही बहुत हो जाऊँ'—ऐसा संकल्प होता है। ऐसा संकल्प होते ही भगवान् अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके ब्रह्माजीकी*, सम्पूर्ण जीवोंके शरीरोंकी और सम्पूर्ण लोकोंकी रचना करते हैं; परंतु रचना-रूपसे परिणति तो प्रकृतिमें ही होती है अर्थात् सम्पूर्ण जीवोंके शरीरोंका निर्माण तो प्रकृतिसे ही होता है। इसलिये भगवान्ने गीतामें दो बातें कही हैं कि मैं महासर्गमें प्राणियोंके शरीरोंका निर्माण करता हूँ तो प्रकृतिको स्वीकार करके ही करता हूँ (९ । ७-८); और प्रकृति प्राणियोंके शरीरोंका निर्माण करती है तो मेरी अध्यक्षतासे अर्थात् मुझसे सत्ता-स्फूर्ति पाकर ही करती है (९ । १०)।

महासर्गका वर्णन गीतामें दूसरी जगह इस प्रकार आया है—

चौथे अध्यायके पहले श्लोकमें 'यह अविनाशी योग पहले (महासर्गके आदिमें) मैंने सूर्यसे कहा था' और तीसरे श्लोकमें 'वही यह पुरातन (महासर्गके आदिमें कहा हुआ) योग मैंने आज तुमसे कहा है'—ऐसा कहकर भगवान्ने महासर्गका वर्णन किया है।

चौथे अध्यायके ही तेरहवें श्लोकमें भगवान्के द्वारा गुणों और कर्मोंके अनुसार चारों वर्णोंकी रचनाकी बात आयी है, जो कि महासर्गका समय है।

आठवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें **'विसर्गः कर्मसंज्ञितः'** पदोंमें भगवान्के द्वारा सृष्टि-रचनाके लिये संकल्प करनेको 'विसर्ग' कहा गया है, जो कि महासर्गका समय है।

दसवें अध्यायके छठे श्लोकमें 'चार सनकादि, सात महर्षि और चौदह मनु मेरे मनसे उत्पन्न होते हैं, जिनकी संसारमें यह प्रजा है'—ऐसा कहकर महासर्गका वर्णन किया गया है।

चौदहवें अध्यायके तीसरे-चौथे श्लोकोंमें प्रकृतिको बीज धारण करनेका स्थान और अपनेको बीज प्रदान करनेवाला पिता बताकर भगवान्ने महासर्गका वर्णन किया है।

सत्रहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें 'जिस परमात्माके ॐ, तत् और सत्—ये तीन नाम हैं, उसी परमात्माने सृष्टिके आदिमें वेद, ब्राह्मण और यज्ञोंकी रचना की है'—ऐसा कहकर महासर्गका वर्णन किया गया है।

अठारहवें अध्यायके इकतालीसवें श्लोकमें 'स्वभावसे उत्पन्न हुए गुणोंके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके कर्मोंका विभाग किया गया है'—ऐसा कहकर भगवान्ने महासर्गका वर्णन किया है।

(२) **सर्ग**—ब्रह्माजीके सोनेपर प्रलय होता है और जागनेपर सर्ग होता है। सर्गके समय ब्रह्माजीके सूक्ष्मशरीरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि प्रलयके समय सम्पूर्ण प्राणी अपने-अपने सूक्ष्म और कारण-शरीरोंके सहित ब्रह्माजीके सूक्ष्म-शरीरमें लीन हो जाते हैं और सर्गके समय पुनः उन

* कभी तो भगवान् स्वयं ब्रह्मारूपसे प्रकट होते हैं और कभी जीव अपने पुण्यकर्मोंके कारण ब्रह्मा बन जाता है।

सूक्ष्म और कारण-शरीरोंके सहित ब्रह्माजीके सूक्ष्मशरीरसे प्रकट हो जाते हैं (८ । १८-१९) ।

तीसरे अध्यायके दसवें श्लोकमें 'प्रजापति ब्रह्माजीने सृष्टिके आदिमें यज्ञ (कर्तव्य-कर्म) के सहित प्रजाकी रचना की'—ऐसा कहकर सर्गका वर्णन किया गया है।

[महासर्गमें तो भगवान् जीवोंका कारण-शरीरके साथ विशेष सम्बन्ध करा देते हैं—यही भगवान्के द्वारा प्राणियोंकी रचना करना है और सर्गमें ब्रह्माजी जीवोंका सूक्ष्मशरीरके साथ विशेष सम्बन्ध करा देते हैं—यही ब्रह्माजीके द्वारा प्राणियोंकी रचना करना है ।]

(३) **सृष्टिचक्र**—पहले तो ब्रह्माजीकी मानसिक सृष्टि होती है। इसके बाद ब्रह्माजीसे स्थूलरूपमें स्त्री और पुरुषका शरीर उत्पन्न होता है। फिर स्त्री-पुरुषके संयोगसे यह सृष्टि चल पड़ती है, इसका नाम है—सृष्टिचक्र। इसी बातको गीतामें कहा गया है कि अन्नसे अर्थात् स्त्री-पुरुषके रज-वीर्यसे सब प्राणी पैदा होते हैं; अन्न वर्षासे पैदा होता है; वर्षा कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञसे होती है; उस कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञकी विधिका विधान वेद और वेदानुकूल शास्त्रोंसे होता है; वेद परमात्मासे प्रकट होते हैं; अतः परमात्मा ही सर्वगत हैं अर्थात् सबके मूलमें परमात्मा ही विद्यमान हैं (३ । १४-१५)। सृष्टि चाहे भगवान्से हो, चाहे ब्रह्माजीसे हो, अन्न (रज-वीर्य)से हो अर्थात् चाहे महासर्ग हो, चाहे सर्ग हो, चाहे सृष्टिचक्र हो, सबके मूलमें एक परमात्मा ही रहते हैं। अतः इन तीनों सृष्टियोंका तात्पर्य सबके मूल परमात्माके सम्मुख होनेमें ही है।

(४) **क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोग**—जीवोंका अपने-अपने शरीरोंके साथ जो तादात्म्य है, उसे 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका संयोग' कहते हैं। इसीको 'प्रकृति-पुरुषका संयोग', 'जड़-चेतनका संयोग' और 'अपरा-परा प्रकृतिका संयोग' भी कहते हैं। जीवोंका स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरोंके साथ जो 'राग' है, वही संयोग है। इस संयोगके कारण ही जीवोंकी उत्पत्ति होती है, जन्म-मरण होता है (१३ । २१)। तात्पर्य यह है कि इस संयोग (राग)से ही जीवोंका महासर्गमें कारणशरीरके साथ, सर्गमें स्थूलशरीरके साथ और सृष्टिचक्रमें माता-पिताके रज-वीर्यके साथ सम्बन्ध हो जाता है।

जीवोंके शरीरके साथ जो तादात्म्य है, राग है, सम्बन्ध है, उसका वर्णन गीताके सातवें अध्यायके छठे श्लोकमें और तेरहवें अध्यायके इक्कीसवें तथा छब्बीसवें श्लोकोंमें किया गया है।

उपर्युक्त महासर्ग, सर्ग, सृष्टिचक्र और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोग—इन चारोंका तात्पर्य यह है कि चाहे महासर्ग हो, चाहे सर्ग हो, चाहे सृष्टिचक्र हो और चाहे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोग हो, इन सबमें परमात्माका जीवोंके साथ और जीवोंका परमात्माके साथ अटूट सम्बन्ध रहता है। केवल शरीरकी परवशताके कारण जीव बार-बार जन्मता-मरता रहता है। यह परवशता भी इसकी स्वयंकी बनायी हुई है। यदि इस परवशताको छोड़कर जीव परमात्माके सम्मुख हो जाय तो वह प्रत्येक परिस्थितिमें परमात्माको प्राप्त हो सकता है।

गीतामें विभूति-वर्णन

प्रोक्ताः कारणरूपाश्च सप्तमे तु विभूतयः।
कार्यकारणरूपाश्च कृष्णेन नवमे स्वयम्॥
दशमे व्यक्तिभावाभ्यां सारमुख्यादिभिश्च वै।
स्वीयाः प्रभावरूपेण प्रोक्ताः पञ्चदशे च वै॥

भगवान्ने साधकके अन्यभावको हटानेके लिये गीताके सातवें, नवें, दसवें और पंद्रहवें—इन चार अध्यायोंमें अपनी विभूतियोंका वर्णन किया है।

सातवें अध्यायके सातवें श्लोकमें भगवान्ने '**मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति**' 'मुझसे बढ़कर इस जगत्का दूसरा कोई किञ्चिन्मात्र भी कारण नहीं है'—ऐसा कहा

और उसके बाद आठवें श्लोकसे बारहवें श्लोकतक कारणरूपसे अपनी सत्रह विभूतियोंका वर्णन किया। कारणरूपसे विभूतियाँ बतानेका तात्पर्य यह है कि कार्यमें तो गुणोंकी भिन्नता होती है, पर कारणमें गुणोंकी भिन्नता नहीं होती। जैसे आकाशका कार्य शब्द है और शब्द वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक रूपसे कई तरहका होता है; परंतु कारणरूपसे आकाश एक ही रहता है। ऐसे ही परमात्माका कार्य संसार है और परमात्मा कारण हैं। गुणोंकी भिन्नतासे संसार कई तरहका होता है; परंतु उन सबमें कारणरूपसे परमात्मा एक ही रहते हैं। जो मनुष्य कार्य (संसार)में आसक्त हो जाते हैं, वे तो बँध जाते हैं, पर जो मनुष्य कारणरूपसे एक परमात्माको ही देखते हैं, वे बँधते नहीं, प्रत्युत कार्यसे सर्वथा असङ्ग होकर **'वासुदेवः सर्वम्'** 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—इसका अनुभव कर लेते हैं।

नवें अध्यायके सोलहवें श्लोकसे उन्नीसवें श्लोकतक भगवान्ने कार्य-कारणरूपसे अपनी सैंतीस विभूतियोंका वर्णन किया। तात्पर्य यह है कि कार्य-कारण, असत्-सत्, अनित्य-नित्य, असार-सार आदि जो कुछ भी है, वह सब परमात्मा ही हैं। परमात्माके सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं।

दसवें अध्यायके चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें भगवान्ने प्राणियोंके भावोंके रूपमें अपनी बीस विभूतियोंका और छठे श्लोकमें व्यक्तियोंके रूपमें अपनी पचीस विभूतियोंका वर्णन किया। फिर अर्जुनके 'मैं आपका कहाँ-कहाँ चिन्तन करूँ ?'—इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान्ने बीसवें श्लोकसे अड़तीसवें श्लोकतक मुख्यरूपसे तथा अधिपति-रूपसे अपनी इक्यासी विभूतियोंका वर्णन किया। फिर उन्तालीसवें श्लोकमें साररूपसे अपनी एक विभूतिका वर्णन किया। तात्पर्य यह है कि संसारमें भाव, व्यक्ति, मुख्य, अधिपति और साररूपसे जो कुछ भी है, वह सब भगवान् ही हैं।

पंद्रहवें अध्यायके बारहवें श्लोकसे पंद्रहवें श्लोकतक भगवान्ने प्रभावरूपसे अपनी तेरह विभूतियोंका वर्णन किया। तात्पर्य यह है कि जिस-किसीमें जो कुछ प्रभाव है, महत्त्व है, तेज है, वह सब भगवान्का ही है, वस्तु, व्यक्ति आदिका नहीं।

इस प्रकार भगवान्ने इन चारों अध्यायोंमें कुल मिलाकर अपनी एक सौ चौरानवे विभूतियोंका वर्णन किया है। इन सब विभूतियोंका तात्पर्य यह है कि वास्तवमें सब कुछ एक भगवान् ही हैं। अतः साधकका जिस-किसी वस्तु, व्यक्ति आदिमें अधिक भाव हो, खिंचाव हो, उसमें वह भगवान्का ही चिन्तन करे।

विभूति-वर्णनका उद्देश्य

मनुष्योंका प्रायः यह स्वभाव होता है कि वे किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना आदिकी विशेषता, महत्ता, प्रभाव, सुन्दरता आदिको देखकर उसीमें आकृष्ट हो जाते हैं। वास्तवमें संसारमें जो कुछ विशेषता आदि दिखायी देती है, वह संसारकी है ही नहीं। कारण कि जो संसार एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता, ऐसे क्षणभङ्गुर संसारकी विशेषता हो ही कैसे सकती है ? उसमें जो कुछ विशेषता दीखती है, वह मूलमें संसारके आश्रय, आधार और प्रकाशक भगवान्की ही है; परंतु भगवान्की ओर दृष्टि न रहनेसे मनुष्य संसारमें ऊपरका भभका देखकर उस ओर खिंच जाता है ; केवल ऊपरके भभकेको देखकर आकृष्ट हो जाना और उसके मूल कारणको न देखना पशुओंकी वृत्ति है, मनुष्योंकी नहीं। मनुष्य विवेक-प्रधान प्राणी है; अतः उसे तात्कालिक दीखनेवाली संसारकी विशेषताको महत्त्व देकर उसमें आकृष्ट नहीं होना चाहिये। यदि मनुष्य बिना विचार किये ही उसमें आकृष्ट हो जाता है तो उसमें विवेक-विचारकी प्रधानता ही कहाँ रही ? इसलिये मनुष्यको संसारकी मानी हुई महत्तासे अपना मन हटाकर भगवान्की वास्तविक महत्तामें लगाना चाहिये। साधकमात्रका मन अपनेमें आकृष्ट करनेके लिये ही भगवान्ने अपनी विभूतियोंका वर्णन किया है।

गीतामें भगवान्ने अपनी जिन मुख्य-मुख्य विभूतियोंका वर्णन किया है, उन सबमें जो कुछ भी विशेषता देखनेमें आती है, वह सब भगवान्को लेकर ही है। अतः संसारमें जहाँ-कहीं किञ्चिन्मात्र भी विशेषता दिखायी दे,

उस विशेषताको लेकर साधकको स्वतः भगवान्‌का ही चिन्तन होना चाहिये। संसारकी विशेषताको माननेसे जहाँ संसारका चिन्तन होता है, वहाँ उस विशेषताको भगवान्‌की ही माननेसे वह चिन्तन भगवान्‌के चिन्तनमें परिणत हो जायगा अर्थात् वहाँ भगवान्‌का चिन्तन होने लगेगा।

साधकको चाहिये कि गीतामें जिन विभूतियोंका वर्णन हुआ है, वे विभूतियाँ किन कारणोंसे मुख्य हैं? इनमें क्या-क्या विलक्षणताएँ हैं? इनके विषयमें किस-किस ग्रन्थमें क्या-क्या लिखा है? इस ओर वृत्ति न लगाकर ऐसा विचार करें कि इनका मूल क्या है? ये कहाँसे प्रकट हुई हैं? इस तरह अपनी वृत्तियोंका प्रवाह इन विभूतियोंकी ओर न होकर इनके मूल भगवान्‌की ओर ही होना चाहिये। मनुष्यकी वृत्तियोंका प्रवाह अपनी ओर करनेके लिये ही भगवान्‌ने विभूतियोंका वर्णन किया है (१०। ४१); क्योंकि अर्जुनकी यही जिज्ञासा थी (१०। १७)। अतः ये विभूतियाँ भगवान्‌का चिन्तन करनेके लिये ही हैं। इन विभूतियोंमें विलक्षणता दीखे अथवा न दीखे, इन्हें जानें अथवा न जानें, फिर भी इनमें भगवान्‌का चिन्तन होना चाहिये। तात्पर्य यह है कि भगवान्‌का उद्देश्य विभूतियोंका वर्णन करनेका नहीं है, प्रत्युत अपना चिन्तन करानेका है। चिन्तन करानेका उद्देश्य है—साधक मुझे तत्त्वसे जान जाय और उसकी मुझमें दृढ़ भक्ति हो जाय—**एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः। सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥** (१०। ७)।

विभूतियोंकी दिव्यता

दसवें अध्यायमें अर्जुनने सोलहवें श्लोकमें और भगवान्‌ने उन्नीसवें तथा चालीसवें श्लोकोंमें अपनी विभूतियोंको 'दिव्य' कहा है। इसका कारण यह है कि भगवान् दिव्यातिदिव्य हैं; अतः जितनी भी विभूतियाँ हैं, वे सभी तत्त्वसे दिव्य हैं; परंतु साधकके सामने उन विभूतियोंकी दिव्यता तभी प्रकट होती है, जब वह भोगबुद्धिका सर्वथा त्याग करके उन विभूतियोंमें केवल भगवान्‌का ही चिन्तन करता है।

गीतामें विश्वरूप-दर्शन

विश्वरूपं प्रभोर्द्रष्टुं कृपापात्रैर्हि शक्यते।
यज्ञादिसाधनैः कोऽपि द्रष्टुं शक्तो न तत् क्वचित्॥

भगवान्‌ने अर्जुनको अपना जो विश्वरूप (विराट्‌रूप) दिखाया है, वह किसी साधनका फल नहीं है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है कि 'इस प्रकार विश्वरूपवाला मैं वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, दान, उग्र तपस्या, तीर्थ, व्रत आदि क्रियाओंसे नहीं देखा जा सकता' (११। ४८)। इस विश्वरूपका दर्शन तो भगवान् ही कृपा करके अपनी सामर्थ्यसे दिव्य दृष्टि देकर दिखा सकते हैं—**'मया प्रसन्नेन .... आत्मयोगात्'** (११। ४७)। भगवान्‌ने अपने चतुर्भुज विष्णुरूपके लिये तो अनन्यभक्तिको साधन बताया है (११। ५४), पर विश्वरूपके लिये कोई साधन नहीं बताया, केवल अपनी कृपाको ही साधन बताया है। अर्जुनने भी नम्रतापूर्वक भगवान्‌से प्रार्थना की थी कि 'हे भगवन्! यदि आपका विश्वरूप मेरे द्वारा देखा जा सकता है—ऐसा आप मानते हैं तो आप अपने उस रूपको मुझे दिखा दीजिये' (११। ४)। इस तरह अर्जुनकी उत्कण्ठा होनेसे भगवान्‌ने कृपा करके अर्जुनको अपना विश्वरूप दिखा दिया; क्योंकि भगवान् भक्तवाञ्छाकल्पतरु हैं।

भगवान्‌ने पहले कृपा करके कौसल्या अम्बा, यशोदा मैया, उत्तङ्क, भीष्मजी आदिको जो विश्वरूप दिखाया था, वह इस प्रकार अत्यन्त भयानक नहीं था। कारण कि इसे देखकर शूरवीर अर्जुन भी भयभीत हो गये और भगवान्‌ने भी इस बातको स्वीकार किया है कि 'हे अर्जुन! मैंने तुम्हें जैसा यह विश्वरूप दिखाया है, वैसा पहले किसीने भी नहीं देखा है' (११। ४७)।

विराट स्वरूप

भगवान्‌ने अर्जुनको जो विश्वरूप दिखाया है, वह यह दीखनेवाला संसार नहीं है। यह संसार तो उस विश्वरूपकी आभामात्र, झलकमात्र है। कारण कि यह संसार नाशवान् और जड़ है, दिव्य नहीं है; परंतु वह विश्वरूप दिव्य है, अविनाशी है, अनन्त है। भगवान् तो अर्जुनको अपना विश्वरूप दिखाते ही चले जा रहे थे, पर अर्जुन उसे देखते-देखते भयभीत हो गये और प्रार्थना करने लगे कि 'हे भगवन्! पहले कभी न देखे हुए आपके विश्वरूपको देखकर तो मैं हर्षित हो रहा हूँ, पर आपके अत्यन्त उग्र और भयंकर रूपको देखकर मेरा मन व्यथित हो रहा है अर्थात् मैं भयभीत हो रहा हूँ; अतः आप चतुर्भुजरूपमें हो जाइये (११ । ४५—४६)। यदि अर्जुन भयभीत होकर भगवान्‌से चतुर्भुजरूपको दिखानेकी प्रार्थना न करते तो भगवान् न जाने और क्या-क्या दिखाते, कैसे-कैसे रूप दिखाते, कितने-कितने रूपोंमें अर्जुनके सामने प्रकट होते, इसका कोई पारावार नहीं होता।

संजयने भी उस विश्वरूपके प्रभावसे प्रभावित होकर कहा है कि 'हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्णके उस अत्यन्त अद्भुत विश्वरूपको याद करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ और मुझे महान् आश्चर्य भी हो रहा है (१८ । ७७)।

भगवान्‌का विश्वरूप ज्ञानदृष्टिका विषय नहीं है, प्रत्युत दिव्यदृष्टिका विषय है। तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुष भी साधकको ज्ञानदृष्टि देकर इस संसारको **'वासुदेवः सर्वम्'** के रूपसे दिखा सकते हैं, बोध करा सकते हैं, पर भगवान्‌के विश्वरूपको नहीं दिखा सकते अर्थात् प्रत्येक संत-महात्मा उस विश्वरूपको देखने-दिखानेमें समर्थ नहीं हैं। उस विश्वरूपको तो भगवान् और भगवान्‌से अधिकार प्राप्त किये हुए भगवत्कृपापात्र कारक पुरुष ही दिव्यदृष्टि देकर दिखा सकते हैं। भगवान्‌ने अर्जुनको ज्ञानदृष्टि देकर इस संसारको ही विश्वरूपसे दिखा दिया हो—यह बात नहीं है; किंतु भगवान्‌ने अर्जुनको दिव्यदृष्टि देकर नेत्रोंसे साक्षात् दिखाया है। अर्जुनने विश्वरूप दिखानेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना की तो भगवान्‌ने अपना विश्वरूप देखनेके लिये अर्जुनको आज्ञा दी (११ । ५-७); परंतु जब अर्जुनको कुछ भी नहीं दीखा, तब भगवान्‌ने कहा कि 'भैया! तुम अपने इन नेत्रों (चर्मचक्षुओं)से मेरे विश्वरूपको नहीं देख सकते। अतः मैं तुम्हें दिव्यदृष्टि देता हूँ, जिससे तुम मेरे उस रूपको देख लो' (११ । ८)। दिव्यदृष्टि प्राप्त होते ही अर्जुनको विश्वरूपके दर्शन होने लगे। अर्जुनने कहा भी कि 'हे भगवन्! मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण देवताओं आदिको देख रहा हूँ—**'पश्यामि देवांस्तव देव देहे''** .... (११ । १५)*। संजयने भी कहा कि अर्जुनने देवोंके देव भगवान्‌के शरीरमें विश्वरूपको देखा—**'अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा'** (११ । १३)। भगवान्‌ने भी अपने शरीरमें विश्वरूपको देखनेकी आज्ञा दी थी (११ । ७)।

तात्पर्य यह है कि ऐसा ऐश्वर्यमय दिव्य विश्वरूप न तो किसी साधनके बलसे देखा जा सकता है, न मनुष्य अपनी सामर्थ्यसे देख सकता है और न तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुष ही ज्ञानदृष्टि देकर उसे दिखा सकते हैं। उसके दर्शनमें तो केवल भगवत्कृपा ही कारण है।

गीताका योग

योगशब्दस्य गीतायामर्थस्तु त्रिविधो मतः।
संयमने च सम्बन्धे समाधौ हरिणा स्वयम्॥

'योग' नाम मिलनेका है। जब दो सजातीय तत्त्व मिल जाते हैं, तब उसका नाम 'योग' हो जाता है। आयुर्वेदमें दो ओषधियोंके परस्पर मिलनेको 'योग' कहा है। व्याकरणमें शब्दोंकी संधिको 'योग' (प्रयोग) कहा

* अर्जुनने और जगह भी विश्वरूपको नेत्रोंसे देखनेकी ही बात कही है; जैसे—'पश्यामि' (११ । १६-१७,१९); 'दृष्ट्वा' (११ । २०, २३-२४, ४५); 'दृष्ट्वैव' (११ । २५); 'संदृश्यन्ते' (११ । २७) आदि।

है। पातञ्जलयोगदर्शनमें चित्तवृत्तियोंके निरोधको 'योग' कहा है। इस तरह 'योग' शब्दके अनेक अर्थ होते हैं, पर गीताका 'योग' विलक्षण है।

गीतामें 'योग' शब्दके बड़े विचित्र-विचित्र अर्थ हैं। उनके हम तीन विभाग कर सकते हैं—

(१) **'युजिर् योगे'** धातुसे बना 'योग' शब्द, जिसका अर्थ है—समरूप परमात्माके साथ नित्य सम्बन्ध—जैसे-**'समत्वं योग उच्यते'** (२ । ४८) आदि। यही अर्थ गीतामें मुख्यतासे आया है।

(२) **'युज् समाधौ'** धातुसे बना 'योग' शब्द, जिसका अर्थ है—चित्तकी स्थिरता अर्थात् समाधिमें स्थिति; जैसे—**'यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया'** (६ । २०) आदि।

(३) **'युज् संयमने'** धातुसे बना 'योग' शब्द, जिसका अर्थ है—सामर्थ्य, प्रभाव;—जैसे—**'पश्य मे योगमैश्वरम्'** (९ । ५) आदि।

पातञ्जलयोगदर्शनमें चित्तवृत्तियोंके निरोधको 'योग' नामसे कहा गया है—**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** (१ । १२) और उस योगका परिणाम बताया है—द्रष्टाकी स्वरूपमें स्थिति हो जाना—**'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'** (१ । ३)। इस प्रकार पातञ्जलयोगदर्शनमें योगका जो परिणाम बताया गया है, उसीको गीतामें 'योग' नामसे कहा गया है (२ । ४८; ६ । २३)। तात्पर्य यह है कि गीता चित्तवृत्तियोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक स्वतःसिद्ध सम-स्वरूपमें स्वाभाविक स्थितिको 'योग' कहती है। उस समतामें स्थिति (नित्ययोग) होनेपर फिर कभी उससे वियोग नहीं होता, कभी वृत्तिरूपता नहीं होती, कभी व्युत्थान नहीं होता। वृत्तियोंका निरोध होनेपर तो 'निर्विकल्प अवस्था' होती है, पर समतामें स्थिति होनेपर 'निर्विकल्प बोध' होता है। 'निर्विकल्प बोध' अवस्थातीत और सम्पूर्ण अवस्थाओंका प्रकाशक है।

जीवका परमात्माके साथ सम्बन्ध (योग) नित्य है, जिसका कभी किसी भी अवस्थामें, किसी भी परिस्थितिमें वियोग नहीं होता। कारण कि परमात्माका ही अंश होनेसे इस जीवका परमात्माके साथ सम्बन्ध नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों ही रहता है। शरीर-संसारके साथ संयोग होनेसे अर्थात् सम्बन्ध मान लेनेसे उस सम्बन्ध (नित्ययोग)का अनुभव नहीं होता। शरीर-संसारके साथ माने हुए संयोगका वियोग (विमुखता, सम्बन्ध-विच्छेद) होते ही उस नित्ययोगका अनुभव हो जाता है—**'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्'** (६ । २३) अर्थात् दुःखोंके साथ संयोगका वियोग हो जानेका नाम 'योग' है*। तात्पर्य यह है कि भूलसे शरीर-संसारके साथ माने हुए संयोगका वियोग हो जाने और समरूप परमात्माके साथ सम्बन्धका उद्देश्य हो जाने, उसका अनुभव हो जानेका नाम 'योग' है। यह योग सब समयमें है, सब देशमें है, सब वस्तुओंमें है, सम्पूर्ण शरीरोंमें है, सम्पूर्ण घटनाओंमें है, सम्पूर्ण क्रियाओंमें है। और तो क्या कहें, इस नित्ययोगका वियोग है ही नहीं, कभी हुआ नहीं, होगा नहीं और हो सकता ही नहीं। यही गीताका मुख्य योग है। इसी योगकी प्राप्तिके लिये गीताने कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, अष्टाङ्गयोग, प्राणायाम, हठयोग आदि साधनोंका वर्णन किया है। पर इन साधनोंको योग तभी कहा जायगा, जब असत्से सम्बन्ध-विच्छेद और परमात्माके साथ सम्बन्ध होगा।

इस नित्ययोगका अनुभव होनेमें असत्का सङ्ग ही बाधक है। कारण कि असत्के सङ्गसे ही राग-द्वेष, अनुकूलता-प्रतिकूलता, अच्छा-मन्दा आदि द्वन्द्व पैदा होते हैं। असत्से असङ्ग होते ही, असत्का सम्बन्ध-विच्छेद होते ही योगकी प्राप्ति हो जाती है।

योगकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌ने मुख्यरूपसे दो निष्ठाएँ बतायी हैं—कर्मयोग और सांख्ययोग (३ । ३)। असत्से सम्बन्ध-विच्छेद करना कर्मयोग है और सत्के साथ योग होना सांख्ययोग है; परंतु ये दोनों ही निष्ठाएँ

* गीतामें 'योगः कर्मसु कौशलम्' (२ । ५०)—ऐसा वाक्य भी आया है, पर यह वाक्य योगकी परिभाषा नहीं है, प्रत्युत इसमें योगकी महिमा बतायी गयी है कि कर्मोंमें योग ही कुशलता है। कर्मोंमें योगके सिवाय और कोई महत्त्व नहीं है।

साधकोंकी अपनी हैं। भक्तियोग साधककी अपनी निष्ठा नहीं है, प्रत्युत भगवन्निष्ठा है*। भक्त केवल भगवान्‌के सम्मुख हो जाता है तो उसपर सांसारिक सिद्धि-असिद्धिका कोई असर नहीं पड़ता। उसमें समता स्वतः आ जाती है।

तीनों योगोंसे कर्मों (पापों) का नाश

कर्मज्ञानभक्तियोगाः सर्वेऽपि कर्मनाशकाः।
तस्मात् केनापि युक्तः स्यान्निष्कर्मा मनुजो भवेत्॥

गीतामें भगवान्‌ने कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही योगोंसे सर्वथा कर्मों (पापों) का नाश होनेकी बात कही है; जैसे—

(१) **कर्मयोग**—इसमें जो साधक केवल यज्ञ (कर्तव्य-कर्म) की परम्परा सुरक्षित रखनेके लिये, लोक-संग्रहके लिये, सृष्टि-चक्रकी परम्परा चलानेके लिये ही कर्तव्य-कर्मका पालन करता है अर्थात् कर्मोंको केवल दूसरोंके लिये ही करता है, अपने लिये नहीं, वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है (३ । १३)।

(२) **ज्ञानयोग**—इसमें देखने, सुनने और समझनेमें जो कुछ दृश्य आता है, वह सब अदृश्यतामें परिवर्तित हो रहा है। इन्द्रियों और अन्तःकरणका जितना विषय है, वह सब-का-सब पहले नहीं था और फिर आगे नहीं रहेगा तथा अब भी प्रतिक्षण 'नहीं' में भरती हो रहा है; परंतु विषय तथा उसके अभावको जाननेवाला तत्त्व सदा ज्यों-का-त्यों ही रहता है। उस तत्त्वका कभी अभाव हुआ नहीं, होता नहीं, होगा नहीं और हो सकता भी नहीं। उसी तत्त्वसे मैं-मेरा, तू-तेरा, यह-इसका और वह-उसका—ये चारों प्रकाशित होते हैं। वह तत्त्व (प्रकाश) इन सबमें ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है। जैसे प्रज्वलित अग्नि काठको भस्म कर देती है, ऐसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मोंको, पापोंको भस्म कर देती है (४ । ३७)। तात्पर्य यह है कि उस ज्ञानरूपी अग्निमें मैं-मेरा, तू-तेरा, यह-इसका और वह-उसका—ये सभी लीन हो जाते हैं।

(३) **भक्तियोग**—इसमें जो संसारसे विमुख होकर केवल भगवान्‌की ही शरण हो जाता है, उसे भगवान् सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर देते हैं। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि तुम सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर एक मेरी शरण हो जाओ, मैं तुम्हें सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तुम चिन्ता मत करो (१८ । ६६)।

तीनों योगोंसे निर्वाण-पदकी प्राप्ति

कर्मज्ञानभक्तियोगैर्निर्वाणब्रह्म गम्यते।
उक्तमेतल्लक्ष्यसाम्यं साधकानां तु गीतया॥

सब साधकोंका प्रापणीय तत्त्व एक ही है। केवल साधकोंकी श्रद्धा, विश्वास, योग्यता, स्वभाव, रुचि आदि भिन्न-भिन्न होनेसे उनकी उपासनाओंमें, साधन-पद्धतियोंमें भिन्नता होती है। जैसे मनुष्योंमें भाषाभेद, वेशभेद, सम्प्रदायभेद आदि कई तरहके भेद होते हैं, पर सुख-दुःखका अनुभव सबको समान ही होता है अर्थात् अनुकूलताके आनेपर सुखी होनेमें और प्रतिकूलताके आनेपर दुःखी होनेमें सब समान ही होते हैं, ऐसे ही संसारसे विमुख होकर परमात्माके सम्मुख होनेके साधन अलग-अलग हैं, पर परमात्माकी प्राप्तिमें सब एक हो जाते हैं अर्थात् परमात्मा, सुख-शान्ति सबको एक समान ही प्राप्त होते हैं।

भगवान्‌ने गीतामें कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीनों योगोंसे निर्वाण-पदकी प्राप्ति बतायी है; जैसे—

(१) **कर्मयोग**—इसमें जो मनुष्य कामना, स्पृहा, ममता, अहंतासे रहित होता है, उसे शान्तिकी प्राप्ति

* गीतामें जहाँ कर्मयोग और सांख्ययोग—ये दो ही निष्ठाएँ मानी गयी हैं, वहाँ भक्तियोगको स्वतन्त्र न मानकर उपर्युक्त दोनों निष्ठाओंके अन्तर्गत ही माना गया है। अतः वहाँ सांख्ययोगके दो भेद हो जाते हैं—विचारप्रधान सांख्ययोग (१३ । १९-३४) और भक्तिमिश्रित सांख्ययोग (१३ । १-१८)। इसी तरह कर्मयोगके भी तीन भेद हो जाते हैं—कर्म-प्रधान कर्मयोग (१८ । ४-१२), भक्तिमिश्रित कर्मयोग (१८ । ४१-४८) और भक्तिप्रधान कर्मयोग (१८ । ५६-६६); परंतु जहाँ भक्तियोगको दो निष्ठाओंके अन्तर्गत न मानकर स्वतन्त्र माना जाता है, वहाँ सांख्ययोग और कर्मयोग—ये दोनों निष्ठाएँ साधकोंकी अपनी हैं और भक्तियोग भगवन्निष्ठा है। फिर तीनों योग स्वतन्त्र माने जाते हैं, उनमें किसीका मिश्रण नहीं रहता।

होती है। यह ब्राह्मी स्थिति कहलाती है। इस ब्राह्मी स्थितिमें यदि कोई अन्तकालमें भी स्थित हो जाय तो भी उसे निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है (२।७१-७२)।

(२) **ज्ञानयोग**—इसमें जिसका बाह्य पदार्थोंका सम्बन्धजन्य सुख मिट गया है, जिसे केवल परमात्मतत्त्वमें ही सुख मिलता है, जो परमात्मतत्त्वमें ही रमण करता है, ऐसा ब्रह्मभूत साधक निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त होता है। जिनके सब पाप नष्ट हो गये हैं, जिनकी द्विविधा मिट गयी है और जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत हैं, वे निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। जो काम-क्रोधसे रहित हो चुके हैं, जिनका मन अपने अधीन है और जो तत्त्वको जान गये हैं—ऐसे साधकोंको जीते-जी और मरनेके बाद निर्वाण ब्रह्म प्राप्त है (५।२४-२६)।

(३) **भक्तियोग**—इसमें शान्त अन्तःकरणवाला, भयरहित और ब्रह्मचारिव्रतमें स्थित साधक मनका संयमन करके चित्तको मुझमें लगाकर मेरे परायण हो जाय तो उसे मुझमें रहनेवाली निर्वाणपरमा शान्ति प्राप्त हो जाती है (६।१४-१५)।

तीनों योगोंकी एकता

वस्तुतस्तु त्रयो योगा अभिन्नास्ते परस्परम्।
साधकरुचिभेदत्वात् त्रिविधा योगसंज्ञिताः॥

गीतामें तीनों योगोंमें तीनों योगोंकी बात आयी है; जैसे—

(१) **कर्मयोग**—इसमें **'युक्त आसीत मत्परः'** (२।६१), **'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा'** (३।३०), **'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि'** (५।१०)—यह भक्तियोगकी बात आयी है। **'सर्वभूतात्मभूतात्मा'** (५।७)—यह ज्ञानयोगकी बात आयी है; क्योंकि ज्ञानयोगमें परमात्मतत्त्वके साथ अभिन्नताकी बात मुख्य रहती है।

(२) **ज्ञानयोग**—इसमें **'सर्वभूतहिते रताः'** (५।२५; १२।४)—यह कर्मयोगकी बात आयी है; क्योंकि सब प्राणियोंके हितमें रति कर्मयोगकी मुख्य बात है। **'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी'** (१३।१०)—यह भक्तियोगकी बात आयी है; क्योंकि भक्तियोगमें भगवान्‌की अनन्यता मुख्य है।

(३) **भक्तियोग**—इसमें **'सर्वकर्मफलत्यागम्'** (१२।११) और **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'** (१८।४६)—यह कर्मयोगकी बात आयी है; क्योंकि कर्मयोगमें कर्मफलका त्याग और अपने कर्मोंके द्वारा जनता-जनार्दनका पूजन (सेवा) करना मुख्य होता है। **'अध्यात्मनित्याः'** (१५।५)—यह ज्ञानयोगकी बात आयी है; क्योंकि ज्ञानयोगमें चिन्मय तत्त्वमें स्थित रहना मुख्य है। **'ते ब्रह्म तद्विदुः'** (७।२९)—यह भी ज्ञानयोगकी बात है; क्योंकि ज्ञानयोगमें जानना मुख्य रहता है।

इस प्रकार तीनों योगोंका तीनों योगोंमें आनेका तात्पर्य यह है कि कोई भी व्यक्ति इन तीनों योगोंको परस्पर सर्वथा भिन्न न समझे; क्योंकि ये तीनों योग वास्तवमें भिन्न नहीं हैं, प्रत्युत एक ही हैं। इनमें केवल प्रणालीका भेद है।

तीनों योगोंमें कर्मोंका हेतु बननेका निषेध

हेतुकथनतात्पर्यं सम्बन्धः स्यान्न कुत्रचित्।
तस्मान्निमित्तमात्रं वै भवेयुः साधकाः सदा॥

गीतामें भगवान्‌ने कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीनों योगोंमें हेतुओंका वर्णन किया है; जैसे—

(१) **कर्मयोग**—इसमें जब मनुष्य कर्मफलके साथ, कर्म करनेके करणोंके साथ, कर्म करनेकी सामग्रीके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ता है, तब वह कर्मका हेतु बन जाता है। ऐसे तो संसारमें बहुत-से कर्म होते रहते हैं, पर उन कर्मोंके हम हेतु नहीं बनते और उन कर्मोंका फल हमें नहीं मिलता; क्योंकि उन कर्मोंके साथ हमने सम्बन्ध नहीं जोड़ा। कर्मोंका फल तो उन्हींको मिलता है, जो कर्मफलके साथ सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। अतः कर्मयोगके प्रकरणमें भगवान् अर्जुनको मनुष्यमात्रका प्रतिनिधि बनाकर कहते हैं कि 'तुम कर्मफलके हेतु मत बनो'— **'मा कर्मफलहेतुर्भूः'** (२।४७) अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन तो तत्परतासे करो, पर कर्म, कर्मफल, करण आदिके साथ अपना सम्बन्ध मत जोड़ो। तात्पर्य यह है कि कर्मयोगी साधक कर्म, कर्मफल, शरीर आदि

कारणोंके साथ अपना सम्बन्ध नहीं मानता, इसलिये वह कर्मोंका हेतु नहीं बनता।

(२) **ज्ञानयोग**—इसमें प्रकृतिके राज्यमें, संसारमें, शरीरमें जितनी भी क्रियाएँ होती हैं, सांख्ययोगी साधक उन सबको प्रकृतिमें, गुणोंमें और इन्द्रियोंमें होनेवाली ही मानता है, अपनेमें होनेवाली नहीं। भगवान् कहते हैं कि प्रकृतिके द्वारा ही सब कर्म किये जाते हैं—ऐसा जो देखता है, वह अपनेमें अकर्तृत्वका अनुभव करता है (१३।२९)। गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं अर्थात् क्रियामात्र गुणोंमें ही हो रही है—ऐसा मानकर तत्त्ववित् पुरुष उसमें आसक्त नहीं होता (३।२८)। देखना, सुनना, स्पर्श करना आदि सभी क्रियाएँ इन्द्रियोंमें ही हो रही हैं, स्वरूपभूत मैं कुछ नहीं करता हूँ—ऐसा वह मानता है (५।८-९)। अतः सांख्ययोगके प्रकरणमें भगवान्ने कार्य, करण और कर्तापनमें प्रकृतिको हेतु बताया है—**'कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते'** (१३।२०)। सम्पूर्ण कर्मोंके होनेमें शरीर, कर्ता, करण, चेष्टा और संस्कार—ये पाँच हेतु बताये गये हैं (१८।१४)।

तेरहवें अध्यायमें बीसवें श्लोकके उत्तरार्धमें जो सुख-दुःखके भोक्तापनमें पुरुषको हेतु बताया है, वहाँ भी वास्तवमें सुखी-दुःखी होनेमात्रमें पुरुष हेतु है, भोक्तापनमें हेतु नहीं; क्योंकि भोग भी क्रियाजन्य ही होता है। अतः क्रियाजन्य भोगमें भी प्रकृति ही हेतु है। जो अपनेको प्रकृतिमें स्थित मानता है, वही पुरुष सुखी-दुःखी होता है (१३।२१); परंतु जो तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त होते हैं, वे सुखी-दुःखी नहीं होते। तात्पर्य यह है कि सांख्ययोगी साधक सम्पूर्ण क्रियाओंको प्रकृतिमें ही मानता है; अतः वह न कर्म करता है और न कर्म करवाता है (५।१३) अर्थात् वह किसी भी कर्म, कर्मफल आदिका हेतु नहीं बनता।

(३) **भक्तियोग**—इसमें जब भक्त भगवान्के सर्वथा समर्पित हो जाता है, अपने-आपको भगवान्को दे देता है, तब फिर करना-करवाना सब भगवान्के द्वारा ही होता है। भक्त तो केवल निमित्तमात्र बनता है। अतः भक्तियोगके प्रकरणमें भगवान्ने अपने प्रिय भक्त अर्जुनसे कहा कि यहाँ सेनामें जितने भी योद्धालोग खड़े हैं, वे सब मेरेद्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं। इनके मारनेमें तुम निमित्तमात्र बन जाओ—**'निमित्तमात्रं भव'** (११।३३)।

—इस प्रकार तीनों योगोंमें तीन हेतु देनेका तात्पर्य यह है कि तीनों ही योगोंके साधक कर्मोंको करनेमें अपनेको हेतु नहीं बनाते, प्रत्युत निमित्तमात्र ही रहते हैं। हाँ, लोगोंको वे हेतु बनते हुए दीख सकते हैं, पर वास्तवमें वे हेतु नहीं बनते।

गीतोक्त योगके सब अधिकारी

सर्वे मानवदेहत्वात् प्रभुप्राप्त्यधिकारिणः।
तस्मात् केनापि मार्गेण हरिं प्राप्नोति मानवः॥

अन्य शास्त्रोंमें ज्ञान, योग आदि मार्गोंके अलग-अलग अधिकारी बताये गये हैं; जैसे—जो साधनचतुष्टयसे सम्पन्न है, वह ज्ञानका अधिकारी है; जो मूढ़ और क्षिप्त वृत्तिवाला नहीं है, प्रत्युत विक्षिप्त वृत्तिवाला है, वह पातञ्जलयोगका अधिकारी है, आदि-आदि; परंतु भगवान्की यह एक विचित्र उदारता, दयालुता है कि उन्होंने गीतामें मनुष्यमात्रको भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोगका अधिकारी बताया है। तात्पर्य यह है कि भगवान्की प्राप्ति चाहनेवाले सब-के-सब मनुष्य गीतोक्त योगके अधिकारी हैं।

भक्तियोगके अधिकारी

सर्वाधिकारिणो भक्तेर्ब्राह्मणाः क्षत्रियाः स्त्रियः।
वैश्याः शूद्रा दुराचारा येऽपि स्युः पापयोनयः॥

भगवान्ने भक्तिके अधिकारियोंका वर्णन करते हुए

सर्वप्रथम दुराचारीका नाम लिया कि यदि दुराचारी-से-दुराचारी मनुष्य भी अनन्यभावसे मेरा भजन करता है तो उसे साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि उसने मेरी ओर चलनेका निश्चय कर लिया है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली शान्तिको प्राप्त हो जाता है (९ । ३०-३१)।

दूसरे नम्बरमें पापयोनिका नाम लिया, जिनका जन्म पूर्वकृत पापोंके कारण चाण्डाल आदिकी योनिमें हुआ है (९ । ३२)।

तीसरे नम्बरमें चारों वर्णोंकी स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्रोंका नाम लिया, जो कि मध्यम श्रेणीके हैं (९ । ३२)।

चौथे नम्बरमें पवित्र ब्राह्मण और राजर्षि क्षत्रियोंका नाम लिया, जो कि जन्म और आचरणकी दृष्टिसे उत्तम हैं (९ । ३३)।

इस प्रकार दुराचारी, पापयोनि, स्त्री, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण और क्षत्रिय—इन भक्तिके सात अधिकारियोंके अन्तर्गत मात्र प्राणी आ जाते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि मात्र प्राणी भक्तिके अधिकारी हैं। कारण कि भगवान्का अंश होनेसे मात्र प्राणियोंका भगवान्के साथ अखण्ड, अटूट और नित्य सम्बन्ध है। उनसे यही भूल हुई कि उन्होंने जो अपना नहीं है, उसे तो अपना मान लिया और जो मुख्य अपना है, उसे अपना मानना छोड़ दिया।

भक्तिके अधिकारी तो सात हैं, पर भावोंके अनुसार उनके चार प्रकार हैं—अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी (७ । १६)। जो धनप्राप्तिके लिये भगवान्का भजन करते हैं और धन केवल भगवान्से ही चाहते हैं, धनप्राप्तिके लिये अन्यका सहारा नहीं लेते, वे (सांसारिक पदार्थोंकी कामना होनेके कारण) 'अर्थार्थी भक्त' कहलाते हैं। जिनमें अर्थार्थी भक्तों-जैसी सांसारिक कामना तो नहीं है, पर सामने दुःख आनेपर उसे सह नहीं सकते और भगवान्को पुकार उठते हैं अर्थात् अपना दुःख दूर करनेके लिये भगवान्के सिवाय अन्य किसीका सहारा नहीं लेते, वे (दुःख दूर करनेकी कामना होनेके कारण) 'आर्त भक्त' कहलाते हैं। जिनमें न तो सांसारिक पदार्थोंकी और न दुःख दूर करनेकी ही कामना है, पर जो भगवत्तत्त्व जाननेके लिये भगवान्का भजन करते हैं और उसे केवल भगवान्से ही जानना चाहते हैं, वे (तत्त्व जाननेकी कामना होनेके कारण) 'जिज्ञासु भक्त' कहलाते हैं। जो भगवान्से कुछ भी नहीं चाहते, केवल भगवान्को ही चाहते हैं और नित्य-निरन्तर भगवान्में ही लगे रहते हैं, वे (अपनी कुछ भी कामना न होनेके कारण) 'ज्ञानी भक्त' अर्थात् प्रेमी भक्त कहलाते हैं। ये प्रेमी भक्त भगवान्को अत्यन्त प्यारे होते हैं और इन प्रेमी भक्तोंको भगवान् अत्यन्त प्यारे होते हैं (७ । १७)। इन प्रेमी भक्तोंको भगवान्ने अपनी आत्मा (स्वरूप) बताया है (७ । १८)। इन्हीं भक्तोंको भगवान्ने पंद्रहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें 'सर्ववित्' कहा है। तात्पर्य यह है कि जिन मनुष्योंका उद्देश्य केवल भगवान् ही हैं, उनमें चाहे लौकिक कामना हो, चाहे पारमार्थिक कामना हो, चाहे कोई भी कामना न हो, वे सब-के-सब भक्तिके अधिकारी हैं। श्रीमद्भागवतमें भी आया है—

> अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
> तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥
> (२ । ३ । १०)

'जो बुद्धिमान् मनुष्य है, वह चाहे सम्पूर्ण कामनाओंसे रहित हो, चाहे सम्पूर्ण कामनाओंसे युक्त हो, चाहे मोक्षकी कामनावाला हो, उसे तो केवल तीव्र भक्तियोगके द्वारा परमपुरुष भगवान्का ही भजन करना चाहिये।'

ज्ञानयोगके अधिकारी

> ये नरा ज्ञातुमिच्छन्ति स्वरूपं संशयात्मकाः।
> सर्वे ते ज्ञानयोगस्य भवेयुरधिकारिणः॥

जैसे भक्तिके सभी अधिकारी हैं, ऐसे ही ज्ञानके भी सभी अधिकारी हैं। भगवान्ने गीतामें बताया है कि जिस ज्ञानको मनुष्य श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी सेवा करके, उनके अनुकूल बनकर जिज्ञासापूर्वक प्रश्न करके प्राप्त करता है और जिस ज्ञानको प्राप्त करके फिर कभी मोह हो ही नहीं सकता तथा जिस ज्ञानसे साधक पहले सम्पूर्ण प्राणियोंको अपनेमें

और फिर परमात्मामें देखता है, वही ज्ञान (तीव्र जिज्ञासा होनेपर) अत्यन्त पापीको भी प्राप्त हो सकता है (४ । ३४-३६) ।

भगवान् कहते हैं कि जगत्‌के सम्पूर्ण पापियोंसे भी अधिक पापी यदि ज्ञान प्राप्त करना चाहता है तो वह भी ज्ञानको प्राप्त करके ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा सम्पूर्ण पाप-समुद्रको तर जाता है । जैसे प्रदीप्त अग्नि लकड़ियोंके ढेरको जलाकर भस्म कर देती है, ऐसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण पापोंको सर्वथा भस्म कर देती है (४ । ३६-३७) ।

जब पापी-से-पापीको भी ज्ञान हो सकता है, तब जो श्रद्धावान् है, अपने साधनमें तत्पर है और जितेन्द्रिय है, उसे ज्ञान हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या है ? (४ । ३९)

कई तो ध्यानयोगके द्वारा, कई सांख्ययोगके द्वारा और कई कर्मयोगके द्वारा अपने-आपमें उस परमात्मतत्त्वका अनुभव करते हैं (१३ । २४); परंतु जो इन साधनोंको नहीं जानते, वे मनुष्य केवल तत्त्वज्ञ महापुरुषोंसे सुनकर, उनकी आज्ञाके अनुसार चलकर ही ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं (१३ । २५) ।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य चाहे श्रद्धावान् साधक हो, चाहे पापी-से-पापी हो, चाहे अनजान-से-अनजान हो, यदि वह ज्ञान चाहता है तो उसे ज्ञान हो सकता है ।

कर्मयोगके अधिकारी

ये निर्ममास्तु निष्कामा इच्छन्ति भवितुं नराः ।
सर्वे ते कर्मयोगस्य भवेयुरधिकारिणः ॥

जैसे भक्तियोग और ज्ञानयोगके सभी अधिकारी हैं, ऐसे ही कर्मयोगके भी सभी अधिकारी हैं । जो सांसारिक कामनाओंसे रहित होना चाहता है अर्थात् जो अपना उद्धार चाहता है, वह चाहे किसी भी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिका हो और जहाँ-कहीं भी रहता हो, यदि वह निष्कामभावसे अपने कर्तव्यका तत्परतासे पालन करता है तो उसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है (१८ । ४५) । जो फलासक्तिका त्याग करके ममता-रहित शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं, वे कर्मयोगी हैं (५ । ११) । ऐसे कर्मयोगियोंके सम्पूर्ण (क्रियमाण, सञ्चित और प्रारब्ध) कर्म लीन हो जाते हैं (४ । २३) ।

तात्पर्य यह है कि जो फलासक्तिका त्याग करके दूसरोंके हितके लिये अपने कर्तव्यका पालन करते हैं, वे सभी कर्मयोगके अधिकारी हैं ।

गीतामें तीनों योगोंकी समानता

कर्मयोगे ज्ञानयोगे भक्तियोगे तथैव च ।
अस्ति साधनसिद्धौ च गीतायां तु समानता ॥

गीतामें भगवान्‌ने कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्ति-योग—तीनों ही योगोंमें एक-जैसी बात कही है; जैसे—

कर्मयोगमें—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः । (४ । १८)

'जो मनुष्य कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखता है ।'

ज्ञानयोगमें—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । (६ । २९)

'जो आत्माको सम्पूर्ण प्राणियोंमें और सम्पूर्ण प्राणियोंको आत्मामें देखता है ।'

और भक्तियोगमें—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति । (६ । ३०)

'जो सब जगह मुझे देखता है और मुझमें सबको देखता है ।'

इस प्रकार तीनों योगोंमें एक ही तरहकी बात कहनेका तात्पर्य यह है कि साधक जिस योगका अधिकारी हो, उस योगके तत्त्वको वह असंदिग्धरूपसे

समझ ले। कर्मयोगमें 'अकर्म', ज्ञानयोगमें 'आत्मा' और भक्तियोगमें 'भगवान्' मुख्य हैं। तात्पर्य यह है कि अकर्म, आत्मा और भगवान्—तीनों तत्त्वसे एक ही हैं।

कर्मयोगमें 'कर्म'का अभाव और 'अकर्म'का भाव है। जैसे, प्रत्येक कर्मका आरम्भ और समाप्ति होती है; परंतु कर्मके आरम्भ होनेसे पहले भी अकर्म था और कर्मके समाप्त होनेके बाद भी अकर्म रहेगा। यह सिद्धान्त है कि जो वस्तु आदि और अन्तमें रहती है, वह मध्यमें भी रहती है। इसलिये कर्म करते समय भी अकर्म ज्यों-का-त्यों ही है।

ज्ञानयोगमें 'सर्वभूत'का अभाव और 'आत्मा'का भाव है। जैसे, सब शरीरोंका जन्म और मरण होता है; परंतु शरीरोंके जन्मसे पहले भी आत्मा था और शरीरोंके मरनेके बाद भी आत्मा रहेगा। इसलिये शरीरोंके रहते हुए भी आत्मा ज्यों-का-त्यों ही है।

भक्तियोगमें 'सर्व'का अभाव और 'भगवान्'का भाव है। जैसे, संसार उत्पन्न और नष्ट होता है; परंतु संसारके उत्पन्न होनेसे पहले भी भगवान् थे और संसारके नष्ट होनेके बाद भी भगवान् रहेंगे। इसलिये संसारके रहते हुए भी भगवान् ज्यों-के-त्यों ही हैं।

अकर्म (निर्लिप्तता), आत्मा और भगवान्—ये तीनों स्वतःसिद्ध हैं। जो वस्तु स्वतःसिद्ध होती है, वह सदाके लिये होती है, सभीके लिये होती है और सब जगह होती है; परंतु पूर्वोक्त कर्म, सर्वभूत और सर्व (वस्तु, व्यक्ति, योग्यता, परिस्थिति, अवस्था आदि)—ये तीनों स्वतःसिद्ध नहीं हैं; अतः ये सदाके लिये, सभीके लिये और सब जगह नहीं हैं।

जो वस्तु कभी है और कभी नहीं है, किसीको मिलती है और किसीको नहीं मिलती, कहीं है और कहीं नहीं है, उसकी प्राप्ति क्रिया और पदार्थसे होती है। इसलिये कर्म, सर्वभूत और सर्वकी प्राप्ति क्रिया और पदार्थके आश्रित है अर्थात् इनकी प्राप्ति अभ्यास-साध्य है; परंतु अकर्म, आत्मा और भगवान्‌की प्राप्ति अभ्याससाध्य नहीं है, प्रत्युत निष्कामभाव, विवेक और विश्वासके द्वारा साध्य है। यदि इनकी प्राप्ति अभ्याससाध्य होता तो ये सदाके लिये, सभीको और सब जगह प्राप्त नहीं होते।

कर्म, सर्वभूत और सर्व कभी होते हैं और कभी नहीं होते, किसीको मिलते हैं और किसीको नहीं मिलते, कहीं होते हैं और कहीं नहीं होते, इसलिये स्वयंको इनकी किञ्चिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं है। इनकी आवश्यकताका अनुभव करना अकर्म, आत्मा और भगवान्‌से विमुख होना है। अकर्म, आत्मा और भगवान्—इन तीनोंका अनुभव करनेके लिये उत्पत्ति-विनाशशील शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, योग्यता, परिस्थिति आदिकी किञ्चिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं है; परंतु यह बात मनुष्यकी समझमें इसलिये नहीं आती कि वह इस वास्तविकताको स्वयंसे अनुभव नहीं करता।

अकर्म, आत्मा और भगवान्—ये तीनों तत्त्वसे एक ही हैं और इनका हमारे साथ नित्य-सम्बन्ध है; परंतु कर्म, सर्वभूत और सर्व—इन तीनोंसे हमारा नित्य सम्बन्ध-विच्छेद है। कर्मसे सम्बन्ध-विच्छेदका अनुभव होनेपर 'अकर्म' शेष रह जाता है। अकर्ममें आत्मा भी है और भगवान् भी। सर्वभूतसे सम्बन्ध-विच्छेदका अनुभव होनेपर 'आत्मा' शेष रह जाता है। आत्मामें अकर्म भी है और भगवान् भी। सर्वसे सम्बन्ध-विच्छेदका अनुभव होनेपर 'भगवान्' शेष रह जाते हैं। भगवान्‌में अकर्म भी है और आत्मा भी।

कर्ममें अकर्मका अनुभव करनेवाला 'कृतकृत्य' हो जाता है—**'स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्'** (४। १८)। सर्वभूतमें आत्माका अनुभव करनेवाला 'ज्ञातज्ञातव्य' हो जाता है—**'ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः'** (६। २९)। सर्वमें भगवान्‌का अनुभव करनेवाला 'प्राप्तप्राप्तव्य' हो जाता है—**'तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति'** (६। ३०)।

कृतकृत्यता, ज्ञातज्ञातव्यता और प्राप्तप्राप्तव्यता—इन तीनोंमेंसे एककी भी प्राप्ति होनेसे शेष दोनों बातें स्वतः आ जाती हैं अर्थात् कृतकृत्य होनेसे कर्मयोगी ज्ञातज्ञातव्य और प्राप्तप्राप्तव्य भी हो जाता है, ज्ञातज्ञातव्य

होनेसे ज्ञानयोगी कृतकृत्य और प्राप्तप्राप्तव्य भी हो जाता है तथा प्राप्तप्राप्तव्य होनेसे भक्तियोगी कृतकृत्य और ज्ञातज्ञातव्य भी हो जाता है।

कृतकृत्यता (कुछ करना शेष न रहना), ज्ञातज्ञातव्यता (कुछ जानना शेष न रहना) और प्राप्तप्राप्तव्यता (कुछ पाना शेष न रहना)—ये तीनों होनेसे पूर्णावस्था प्राप्त हो जाती है अर्थात् मनुष्यजन्म सर्वथा सार्थक हो जाता है।

गीतामें तीनों योगोंकी महत्ता

त्रयो हि योगाः सुगमा वरिष्ठाः सिद्धिप्रदाः पापनिवारकाश्च।
तुष्टिप्रशान्तिप्रदसाम्यदाश्च ज्ञानाच्छदातार उदीरिताश्च॥

भगवान्‌ने गीतामें तीनों योगोंको स्वतन्त्र साधन बताया है और उनकी नौ-नौ बातें बताकर उनकी महत्ता प्रकट की है—

कर्मयोग

(१) श्रेष्ठ—कर्मयोग ज्ञानयोगसे श्रेष्ठ है—**'तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते'** (५।२)। कारण कि कर्मयोगमें सम्पूर्ण कर्म कर्तव्यपरम्परा सुरक्षित रखनेके लिये अर्थात् दूसरोंके लिये ही किये जाते हैं। अतः अपने सुख-आराम, आदर-महिमा, विद्या-बुद्धिका अभिमान, भोग और संग्रहकी इच्छा आदिका त्याग सुगमतासे हो जाता है, जब कि ज्ञानयोगमें विवेक-विचारके द्वारा अपने सुख-आरामका त्याग करनेमें कठिनता पड़ती है।

कर्मयोग ध्यानयोगसे भी श्रेष्ठ है—**'ध्यानात्कर्मफलत्यागः'** (१२।१२)। कारण कि कर्मयोगमें सम्पूर्ण कर्मोंके फलका अर्थात् फलेच्छाका त्याग है, जब कि ध्यानयोगमें कर्मफलका त्याग नहीं है।

कर्मोंका त्याग करनेकी अपेक्षा आसक्तिरहित होकर कर्म करनेवाला कर्मयोगी श्रेष्ठ है—**'कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते'** (३।७)। कारण कि आसक्तिरहित होकर कर्म करना योग (समता) पर आरूढ़ होनेमें कारण है (६।३) और कर्मोंका त्याग करनेमात्रसे सिद्धिकी प्राप्ति नहीं होती (३।४)।

(२) **सुगम**—कर्मयोगी सुखपूर्वक बन्धनसे मुक्त होता है—**'सुखं बन्धात्प्रमुच्यते'** (५।३)। कारण कि उसमें राग-द्वेष नहीं होते, प्रत्युत समता रहती है। ऐसे तो सम्पूर्ण मनुष्य कर्म करते ही हैं, पर राग-द्वेष होनेसे, सिद्धि-असिद्धिमें सुखी-दुःखी होनेसे वे बन्धनसे मुक्त नहीं हो पाते।

(३) **शीघ्र सिद्धि**—समतायुक्त कर्मयोगी बहुत शीघ्र परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाता है—**'योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति'** (५।६)। कारण कि उसमें कर्म और कर्मफलकी आसक्ति नहीं होती और संसारका आश्रय नहीं रहता (४।२०)।

(४) **पापोंका नाश**—जो केवल यज्ञके लिये अर्थात् कर्तव्य-परम्पराको सुरक्षित रखनेके उद्देश्यसे ही कर्म करता है, उसके सम्पूर्ण कर्म, पाप विलीन हो जाते हैं—**'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते'** (४।२३)। कारण कि यज्ञार्थ कर्म करनेसे अपनेमें कर्मोंके फलकी आसक्ति, कामना आदि नहीं रहते।

कर्म क्या है और अकर्म क्या है—इसे ठीक-ठीक जानकर कर्म करनेसे कर्मयोगीके सम्पूर्ण कर्म, पाप जल जाते हैं—**'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्'** (४।१९)। कारण कि उसके सम्पूर्ण कर्म कामना और संकल्पसे रहित होते हैं।

(५) **संतुष्टि**—कर्मयोगी अपने-आपमें संतुष्ट हो जाता है—**'आत्मन्येवात्मना तुष्टः'** (२।५५)। **'आत्मन्येव च संतुष्टः'** (३।१७)। कारण कि उसमें सम्पूर्ण कामनाओंका सर्वथा त्याग होता है।

(६) **शान्तिकी प्राप्ति**—कर्मयोगी शान्तिको प्राप्त हो जाता है—**'स शान्तिमधिगच्छति'** (२।७१), **'शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्'** (५।१२)। कारण कि

उसमें कामना, ममता आदि नहीं रहते अर्थात् उसका संसारसे सम्बन्ध नहीं रहता।

(७) **समताकी प्राप्ति**—कर्मयोगी सिद्धि और असिद्धिमें सम हो जाता है—**'समः सिद्धावसिद्धौ च'** (४।२२)। कारण कि उसे कर्मकी सिद्धि-असिद्धि, पूर्ति-अपूर्तिमें हर्ष-शोक, राग-द्वेष नहीं होते।

(८) **ज्ञानकी प्राप्ति**—कर्मयोगसे सिद्ध हुए मनुष्यको अपने स्वरूपका ज्ञान (बोध) अपने-आप हो जाता है—**'तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति'** (४।३८)। कारण कि उसमें संसारका आकर्षण नहीं रहता।

(९) **प्रसन्नता (स्वच्छता) की प्राप्ति**—कर्मयोगी अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त हो जाता है—**'प्रसादमधिगच्छति'** (२।६४)। कारण कि राग-द्वेषपूर्वक विषयोंका सेवन करनेसे ही अन्तःकरणमें अशान्ति, हलचल होती है; परंतु कर्मयोगी साधक राग-द्वेषरहित होकर विषयोंका सेवन करता है; अतः उसका अन्तःकरण स्वच्छ, निर्मल हो जाता है।

ज्ञानयोग

(१) **श्रेष्ठ**—द्रव्यमय (आहुति देकर किये जानेवाले) यज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है—**'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः'** (४।३३)। कारण कि द्रव्यमय यज्ञमें पदार्थोंकी मुख्यता रहती है, जब कि ज्ञानयज्ञमें विवेक-विचारकी मुख्यता रहती है। विवेक-विचारमें मनुष्यकी जितनी स्वतन्त्रता है, उतनी पदार्थोंमें स्वतन्त्रता नहीं है।

(२) **सुगम**—ज्ञानयोगी साधक निर्गुण-निराकारका ध्यान करते-करते सम्पूर्ण पापोंसे रहित होकर सुखपूर्वक परमात्माको प्राप्त हो जाता है—**'सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते'** (६।२८)। कारण कि उसमें देहाभिमान नहीं रहता।

(३) **शीघ्र सिद्धि**—श्रद्धावान् सांख्ययोगी ज्ञानको प्राप्त होकर शीघ्र ही परम गतिको प्राप्त हो जाता है—**'ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति'** (४।३९)। कारण कि वह इन्द्रियोंको वशमें किये हुए होता है।

(४) **पापोंका नाश**—पापी-से-पापी भी ज्ञानरूपी नौकासे सम्पूर्ण पापोंसे तर जाता है—**'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि'** (४।३६)। ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण पापोंको भस्म कर देती है—**'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते'** (४।३७)। कारण कि स्वरूपका बोध होनेसे शरीर-संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

(५) **संतुष्टि**—अपने स्वरूपका ध्यान करनेवाला सांख्ययोगी अपने-आपमें संतुष्ट हो जाता है—**'पश्यन्नात्मनि तुष्यति'** (६।२०)। कारण कि उसका जड़ता अर्थात् शरीर, मन, बुद्धि आदिके साथ सम्बन्ध नहीं रहता।

(६) **शान्तिकी प्राप्ति**—ज्ञानयोगी परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है—**'ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति'** (४।३९)। कारण कि वह तत्त्वको जान जाता है। फिर उसके लिये जानना कुछ भी शेष नहीं रहता।

(७) **समताकी प्राप्ति**—जो सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपनेको और अपनेमें सम्पूर्ण प्राणियोंको देखता है, वह समदर्शी हो जाता है अर्थात् उसे समताकी प्राप्ति हो जाती है—**'सर्वत्र समदर्शनः'** (६।२९)। वह सुख-दुःखमें सम हो जाता है—**'समदुःखसुखः'** (१४।२४)। कारण कि उसकी तत्त्वसे अभिन्नता हो जाती है।

(८) **ज्ञानकी प्राप्ति**—क्षेत्र अलग है और क्षेत्रज्ञ अलग है—ऐसा विवेक होनेपर सांख्ययोगीको स्वरूपका बोध अर्थात् परमतत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है—**'यान्ति ते परम्'** (१३।३४)। कारण कि उसका प्रकृति और उसके कार्यसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

(९) **प्रसन्नता (स्वच्छता) की प्राप्ति**—सांख्ययोगी अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त हो जाता है—**'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा'** (१८।५४)। कारण कि वह अहंकार, कामना आदिसे रहित होता है।

भक्तियोग

(१) **श्रेष्ठ**—भगवान्‌में तल्लीन अन्तःकरणवाला श्रद्धावान् भक्त सम्पूर्ण योगियोंमें श्रेष्ठ है—**'स मे युक्ततमो**

मतः' (६ । ४७)। कारण कि उसके श्रद्धा-विश्वास भगवान्‌पर ही होते हैं, उनका आश्रय भगवान् ही रहते हैं। सांख्ययोगी और भक्तियोगी—इन दोनोंमें भक्तियोगी श्रेष्ठ है—'ते मे युक्ततमा मताः' (१२ । २)। कारण कि वह नित्य-निरन्तर भगवान्‌में ही लगा रहता है।

(२) **सुगम**—भक्त श्रद्धा-भक्तिसे जो पत्र, पुष्प, फल, जल आदि भगवान्‌को अर्पण करता है, उसे भगवान् खा लेते हैं। इतना ही नहीं, किसीके पास यदि पत्र, पुष्प आदि भी न हो तो वह जो कुछ करता है, उसे भगवान्‌के अर्पण करनेसे वह सम्पूर्ण बन्धनोंसे मुक्त होकर भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है—'**पत्रं पुष्पं फलं तोयं......... मामुपैष्यसि**' (९ । २६-२८)। कारण कि भक्तमें भगवान्‌को अर्पण करनेका भाव रहता है और भगवान् भी भावग्राही हैं।

(३) **शीघ्र सिद्धि**—भगवान्‌में लगे हुए चित्तवाले भक्तका उद्धार भगवान् बहुत शीघ्र कर देते हैं—'**तेषामहं समुद्धर्ता......नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्**' (१२ । ७)। कारण कि वह केवल भगवान्‌के ही परायण रहता है।

(४) **पापोंका नाश**—भगवान् अपने शरणागत भक्तको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर देते हैं—'**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि**' (१८ । ६६)। कारण कि सर्वथा शरणागत भक्तकी सम्पूर्ण जिम्मेवारी भगवान्‌पर ही आ जाती है।

(५) **संतुष्टि**—भगवान्‌में मन लगनेपर भक्त संतुष्ट हो जाता है—'**तुष्यन्ति**' (१० । ९)। कारण कि भगवान्‌में ज्यों-ज्यों मन लगता है, त्यों-त्यों उसे संतोष होता है कि मेरा समय भगवान्‌के चिन्तनमें लग रहा है। सिद्धावस्थामें वह संतोष भक्तमें स्वतः रहता है—'**संतुष्टः सततं योगी**' (१२ । १४)। कारण कि उसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है।

(६) **शान्तिकी प्राप्ति**—भक्त परमशान्तिको प्राप्त हो जाता है—'**शान्तिं निर्वाणपरमाम्**' (६ । १५), '**शश्वच्छान्तिं निगच्छति**' (९ । ३१)। कारण कि उसका आश्रय केवल भगवान् ही रहते हैं।

(७) **समताकी प्राप्ति**—भगवान् अपने भक्तको वह समता देते हैं, जिससे वह भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है—'**ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते**' (१० । १०)। कारण कि वे केवल भगवान्‌में ही लगे रहते हैं; भगवान्‌के सिवाय कुछ भी नहीं चाहते।

(८) **ज्ञानकी प्राप्ति**—भगवान् स्वयं अपने भक्तके अज्ञानका नाश करते हैं—'**तेषामेवानुकम्पार्थ... ज्ञानदीपेन भास्वता**' (१० । ११) कारण कि भक्त केवल भगवान्‌में ही लगा रहता है, भगवान्‌के सिवाय कुछ चाहता ही नहीं। अतः भगवान् अपनी ओरसे ही उसके अज्ञानका नाश करके भगवत्तत्त्वका ज्ञान करा देते हैं।

(९) **प्रसन्नता (स्वच्छता) की प्राप्ति**—भक्तका अन्तःकरण प्रसन्न, स्वच्छ हो जाता है—'**प्रशान्तात्मा**' (६ । १४)। कारण कि वह भगवान्‌का ध्यान करता रहता है।

गीतामें अष्टाङ्गयोगका वर्णन

सर्वयोगमयी गीता सर्वसाधनसिद्धिदा।
तस्मादष्टाङ्गयोगस्य वर्णनं न यथाक्रमम्॥

पातञ्जलयोगदर्शनमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—इन आठ अङ्गोंवाले 'अष्टाङ्गयोग' का वर्णन आया है '**यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि**' (२ । २९)। गीतामें भगवान्‌ने इस अष्टाङ्गयोगका क्रमपूर्वक वर्णन तो नहीं किया है, पर भगवान्‌की वाणी इतनी विलक्षण है कि इसमें अन्य योग-साधनोंके साथ अष्टाङ्गयोगका भी वर्णन आ गया है; जैसे—

(१) **यम**—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच 'यम' कहलाते हैं—

'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' (पातञ्जल० २ । ३०)। गीतामें 'अहिंसा' (१३ । ७; १६ । २; १७ । १४) पदसे 'अहिंसा' का; 'सत्यम्' (१६ । २; १७ । १५) पदसे 'सत्य' का; 'स्तेन एव सः' (३ । १२) पदोंमें विधिमुखसे 'अस्तेय' का; 'ब्रह्मचारिव्रते स्थितः' (६ । १४); 'ब्रह्मचर्यं चरन्ति' (८ । ११); 'ब्रह्मचर्यम्' (१७ । १४) पदोंसे 'ब्रह्मचर्य' का और 'त्यक्तसर्वपरिग्रहः' (४ । २१), 'अपरिग्रहः' (६ । १०), 'अहंकारं···परिग्रहम् । विमुच्य···' (१८ ।५३) पदोंसे 'अपरिग्रह' का वर्णन हुआ है।

(२) नियम—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—ये पाँच 'नियम' कहलाते हैं—शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः' (पातञ्जल० २ । ३२), गीतामें 'शौचम्' (१३ । ७; १६ । ३; १७ । १४; १८ । ४२) पदसे 'शौच का; 'यदृच्छालाभसंतुष्टः' (४ । २२) 'आत्मन्येव च संतुष्टः' (३ । १७), 'तुष्यन्ति' (१० । ९), 'संतुष्टः' (१२ । १४), 'संतुष्टो येन केनचित्' (१२ । १९) पदोंसे 'संतोष' का; 'यत्तपस्यसि' (९।२७), 'तपः' (१६ । १; १७ । १४-१६) पदोंसे 'तप' का; 'स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च' (४ । २८), 'स्वाध्यायाभ्यसनम्' (१७ । १५), 'अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः' (१८ । ७०) पदोंसे 'स्वाध्याय' का; 'मामाश्रित्य यतन्ति' (७ । २९), 'तमेव शरणं गच्छ' (१८ । ६२), 'मामेकं शरणं व्रज' (१८ । ६६), पदोंसे 'ईश्वर-प्रणिधान' का वर्णन हुआ है।

(३) आसन—स्थिर और सुखपूर्वक बैठनेका नाम 'आसन' है—'स्थिरसुखमासनम्' (पातञ्जल० २।४६)। गीतामें 'समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः। सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्' (६ । १३)—इस श्लोकमें 'आसन' का वर्णन हुआ है।

(४) प्राणायाम—श्वास-प्रश्वासकी गतिको रोकना 'प्राणायाम' कहलाता है—'तस्मिन्सति श्वासप्रश्वास-योर्गतिविच्छेदः प्राणायामः' (पातञ्जल० २ । ४९) गीतामें 'प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः' (४ । २९), 'प्राणापानौ समौ कृत्वा' (५ । २७), 'भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्' (८ । १०), 'मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणम्' (८ । १२) पदोंसे 'प्राणायाम' का वर्णन हुआ है।

(५) प्रत्याहार—इन्द्रियोंको अपने-अपने विषयोंसे हटाना 'प्रत्याहार' है—'स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः' (पातञ्जल० २ । ५४)। गीतामें 'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः' (२ । ५८, ६८), 'तानि सर्वाणि संयम्य' (२ । ६१), 'श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति' (४ । २६) पदोंसे 'प्रत्याहार' का वर्णन हुआ है।

(६) धारणा—परमात्मामें मन लगनेका नाम 'धारणा' है 'धारणासु च योग्यता मनसः' (पातञ्जल० २ । ५३)। गीतामें 'मनः संयम्य' (६ । १४), 'यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् । ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्' (६ । २६), 'मच्चित्ताः' (१० । ९), 'मय्येव मन आधत्स्व' (१२ । ८), 'मच्चित्तः सततं भव' (१८ । ५७), 'मच्चित्तः' (१८ । ५८) पदोंसे 'धारणा' का वर्णन हुआ है।

(७) ध्यान—चित्तको जिसमें लगाया जाय, उसीमें उसका एकाग्र हो जाना 'ध्यान' कहलाता है—'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' (पातञ्जल० ३ । २)। गीतामें 'तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा' (६ । १२), 'चेतसा नान्यगामिना' (८ । ८), 'मां ध्यायन्तः' (१२ । ६), 'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति' (१३ । २४), 'ध्यानयोगपरो नित्यम्' (१८ । ५२), आदि पदोंसे 'ध्यान' का वर्णन हुआ है।

(८) समाधि—ध्यान करते-करते जब चित्त ध्येयाकारमें परिणत हो जाता है, चित्तके अपने स्वरूपका अभाव-सा हो जाता है, उस समय उस ध्यानका ही नाम 'समाधि' हो जाता है 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्य-मिव समाधिः' (पातञ्जल० ३ । ३)। गीतामें 'आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते' (४ । २७) पदोंसे 'समाधि' का वर्णन हुआ है।

उपर्युक्त 'अष्टाङ्गयोग' के वर्णनमें गीताने सार बात यह बतायी है कि मनुष्य संसारसे हटकर परमात्मामें लग जाय।

गीताकी समता

सिद्धसाधकयोः प्रोक्ता गीतायां समता द्विधा।
मानसी साधकानां च सिद्धानां सहजा स्मृता॥

गीतामें यदि कोई प्रभावशाली लक्षण है तो वह है—समता। वह समता किसी भी साधनसे आ जाय तो बेड़ा पार है। साधकमें एक समताके आनेपर गीता दूसरे लक्षणोंको देखती ही नहीं; क्योंकि समता साक्षात् परमात्माका स्वरूप है—**'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'** (५।१९); **'समोऽहं सर्वभूतेषु'** (९।२९) और समतामें ही साधनकी पूर्णता है। अतः समता आनेपर दूसरे लक्षण अपने-आप आ जाते हैं। यदि किसी मनुष्यमें समता नहीं है, पर दूसरे बहुतसे लक्षण हैं, तो वह अधूरा है, उसमें पूर्णता नहीं है। समताके बिना दूसरे सब लक्षण—विद्या, योग्यता, आदर, नीरोगता, धन-सम्पत्ति आदि कुछ नहीं हैं, वह सब दरिद्रता है। यह समता मनुष्यमात्रको स्वतः प्राप्त है। विषमता तो मनुष्योंकी अपनी बनायी हुई है। अतः विषमता कृत्रिम है, प्राकृत है, टिकनेवाली नहीं है; क्योंकि यह असत् (शरीर आदि) के संगसे पैदा होती है।

प्रत्येक क्रियाका आरम्भ होता है और समाप्ति होती है। कर्मफलका भी संयोग होता है और वियोग होता है, पर स्वयं ज्यों-का-त्यों रहता है। यह सबके अनुभवकी बात है। संयोग-वियोग तो क्रिया और पदार्थोंका हुआ, पर स्वयंका कोई संयोग-वियोग नहीं हुआ, वह ज्यों-का-त्यों ही रहा। संयोगमात्रका वियोग होना अवश्यम्भावी है अर्थात् जिसका संयोग हुआ है, उसका वियोग होगा ही; परंतु जिसका वियोग हुआ है, उसका संयोग होगा—यह नियम नहीं है। अतः संयोग अनित्य है और वियोग नित्य है। यदि इस वियोगपर मनुष्यकी सदैव दृष्टि रहे तो मनुष्यमें कभी विषमता आ ही नहीं सकती। कारण कि विषमता तो उसमें आयी हुई है और समता उसमें स्वतःसिद्ध है। इसी समताका नाम 'योग' है।

परमात्मा सम हैं। उनमें विषमताके लिये कोई अवकाश नहीं है; परंतु प्रकृति विषम है। अतः परमात्माकी ओर जो दृष्टि होती है, वह समदृष्टि होती है। तात्पर्य यह है कि सब जगह समरूप परमात्माको देखना समदृष्टि है और प्रकृति तथा उसके कार्य (शरीर-संसार)की ओर दृष्टि रखना विषमदृष्टि है। प्रकृति और उसके कार्यमें समदृष्टि कभी हो ही नहीं सकती। अतः प्रकृतिकी ओर दृष्टि रखनेवाले कभी समदर्शी नहीं हो सकते और परमात्माकी ओर दृष्टि रखनेवाले कभी विषमदर्शी नहीं हो सकते। इसलिये गीताने परमात्माकी ओर दृष्टि रखनेवालोंको **'समदर्शिनः'** (५।१८), **'समदर्शनः'** (६।२९), **'सर्वत्र समबुद्धयः'** (१२।४) कहा है।

परमात्माके साथ स्वयंका नित्ययोग है और मन, बुद्धि आदिके साथ स्वयंका नित्य वियोग है। परमात्माके साथ नित्ययोग होते हुए भी जबतक स्वयं संसारके साथ संयोग मानता रहता है, तबतक उसे उस नित्ययोगकी अनुभूति नहीं होती; परंतु जब नित्ययोगकी अनुभूति हो जाती है अर्थात् परमात्माके साथ योग हो जाता है, तब वह योग अर्थात् समता उसके मन, बुद्धि, अन्तःकरणमें भी आ जाती है (५।१९)। फिर वह सुख-दुःख आदिमें सम हो जाता है (१४।२४-२५)। फिर उसकी समता पुण्यात्मा-पापात्मा आदि व्यक्तियोंमें भी हो जाती है (६।९)। फिर वही समता व्यवहारमें भी आ जाती है अर्थात् व्यवहारमें उसके राग-द्वेष नहीं होते (५।१८)। फिर उसकी समता पदार्थोंमें भी हो जाती है अर्थात् पदार्थोंमें उसकी प्रियता-अप्रियता नहीं होती (६।८)। तात्पर्य यह है कि परमात्म-तत्त्वको लेकर उसकी सब जगह समता हो जाती है अर्थात् वर्ण, आश्रम, परिस्थिति, साधन आदिको लेकर उसका व्यवहार (बर्ताव) तो यथायोग्य ही होता है,

पर हृदयमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि नहीं होते।*

समता दो तरहकी होती है—साधनरूपा और साध्यरूपा। साधनरूपा समता अन्तःकरणकी होती है और साध्यरूपा समता परमात्मतत्त्वकी होती है। इसे क्रमशः साधककी समता और सिद्धकी समता भी कहते हैं।

(१) **साधककी समता**—कर्मयोगी साधक सिद्धि-असिद्धिमें सम रहकर कर्म करता है (२।४८)। ज्ञानयोगी साधकमें सत्-असत्‌का विवेक मुख्य रहता है। सत्‌का कभी वियोग होता नहीं और असत् कभी नित्य रहता नहीं; अतः ज्ञानयोगीमें सत्-स्वरूपसे सदा ही समता रहती है (२।१५)। भक्तियोगी साधक भगवन्निष्ठ होता है। वह भगवान्‌की इच्छामें सदा ही प्रसन्न रहता है। अतः उसका सांसारिक पदार्थ, वस्तु, परिस्थिति आदिके संयोग-वियोगसे, आने-जानेसे कोई प्रयोजन नहीं रहता। उसका केवल भगवान्‌से ही प्रयोजन रहता है। ऐसे भक्तोंको भगवान् स्वयं समता देते हैं (१०।१०)।

यदि कर्मयोगीमें समता नहीं आ रही है तो सिद्धि-असिद्धिमें उसकी महत्त्वबुद्धि है। यदि ज्ञानयोगीमें समता नहीं आ रही है तो असत् पदार्थोंमें उसकी महत्त्वबुद्धि है। यदि भक्तियोगीमें समता नहीं आ रही है तो भगवान्‌की कृपाकी ओर उसकी दृष्टि नहीं है। निष्कर्ष यह निकला कि विनाशी पदार्थोंका महत्त्व अन्तःकरणमें होनेसे ही स्वतःसिद्ध समताका अनुभव नहीं होता। उस महत्त्वके हटते ही समता आ जाती है।

तात्पर्य यह है कि समताके साथ मनुष्यका नित्ययोग है। केवल असत्‌को महत्त्व देनेसे ही उसमें विषमता आती है। अतः मनुष्य असत्‌को महत्त्व न दे।

(२) **सिद्धकी समता**—सिद्ध कर्मयोगी (६।८-९), सिद्ध ज्ञानयोगी (१४।२४) और सिद्ध भक्तियोगी (१२।१८-१९)—तीनोंमें समता स्वतः रहती है।

तात्पर्य यह है कि किसी भी मार्गके साधकपर जबतक अनुकूलता-प्रतिकूलता, सुख-दुःख आदिका किञ्चिन्मात्र भी असर पड़ता है और वह उनसे विचलित होता है, तबतक साधकमें साधनरूपा समता रहती है। जब साधकको अनुकूलता-प्रतिकूलता आदिका ज्ञान तो होता है, पर उनका उसपर किञ्चिन्मात्र भी असर नहीं पड़ता, तब साधकमें साध्यरूपा समता अटलरूपसे रहती है। उस साध्यरूपा समताके प्राप्त होनेपर अन्तःकरणमें स्वतः समता आ जाती है और अन्तःकरणकी समतासे यह प्रतीत होता है कि साध्यरूपा समता प्राप्त हो गयी है (५।१९)।

गीतामें अहंता-ममताका त्याग

अहंताममतात्यागः प्रोक्तो योगेषु हि त्रिषु।
कर्मयोगे ज्ञानयोगे भक्तियोगे तथैव च॥

गीतामें भगवान्‌ने कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीनों ही मार्गोंमें अहंता-ममताके त्यागकी बात कही है; जैसे—कर्मयोगमें **'निर्ममो निरहंकारः'** (२।७१) पदोंसे, ज्ञानयोगमें **'अहंकारं·········विमुच्य निर्ममः'** (१८।५३) पदोंसे और भक्तियोगमें **'निर्ममो निरहंकारः'** (१२।१३) पदोंसे साधकका अहंता-ममतासे रहित होना बताया गया है; परंतु तीनों योग-मार्गोंमें अहंता-ममताका त्याग करनेके प्रकारमें अन्तर है; जैसे—

कर्मयोगमें पहले कामनाका त्याग होता है; क्योंकि कर्मयोगी आरम्भमें ही निष्कामभावसे कर्म करना प्रारम्भ कर देता है। जब कामनाका त्याग हो जाता है, तब

* इसे विस्तारसे समझनेके लिये गीताकी 'साधक-संजीवनी' नामक हिंदी-टीकामें पाँचवें अध्यायके अठारहवें श्लोककी व्याख्या देखनी चाहिये।

फिर स्पृहा, ममता और अहंताका भी स्वतः त्याग हो जाता है। दूसरे अध्यायके इकहत्तरवें श्लोकमें भगवान्‌ने पहले कर्मयोगीमें कामनाओंका त्याग बताया है, फिर स्पृहा, ममता और अहंताका त्याग बताया है।

ज्ञानयोगमें पहले अहंताका त्याग होता है। जब मूल अहंताका ही त्याग हो जाता है, तब फिर ममता, स्पृहा और कामनाका भी स्वाभाविक ही त्याग हो जाता है। अठारहवें अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें भगवान्‌ने ज्ञानयोगीमें पहले अहंताका त्याग बताया है, फिर लिप्तता (फलेच्छा) का त्याग बताया है।

भक्तियोगमें भगवान्‌की शरण होनेपर 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस तरह अहंता बदल जाती है, फिर भगवान्‌की कृपासे भक्तियोगी अहंता, ममता, स्पृहा और कामनासे रहित हो जाता है। अठारहवें अध्यायके छाछठवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि तुम सब धर्मोंका आश्रय छोड़कर केवल एक मेरी शरणमें आ जाओ; मैं तुम्हें सम्पूर्ण पापों (अहंता-ममता आदि दोषों) से मुक्त कर दूँगा।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य अहंता-ममतासे रहित हो सकता है; क्योंकि अहंता-ममता इसके स्वरूप नहीं हैं। यदि अहंता-ममता इसके स्वरूप होते तो इनका कभी त्याग नहीं होता और भगवान् भी इनसे रहित होनेकी बात न कहते।

यह स्वयं (जीवात्मा) जब शरीरके साथ 'यह शरीर मैं हूँ' ऐसा अभिन्नताका सम्बन्ध मान लेता है, तब 'अहंता' पैदा हो जाती है और जब शरीरके साथ 'यह शरीर मेरा है' ऐसा भिन्नताका सम्बन्ध मान लेता है, तब 'ममता' पैदा हो जाती है। इस प्रकार अहंता और ममता—ये दोनों ही मान्यताएँ हैं, स्वरूप नहीं हैं—इस बातको विवेकपूर्वक दृढ़तासे मानकर साधक सुगमतापूर्वक इन दोनोंसे रहित हो सकता है।

गीतामें कर्तृत्व-भोक्तृत्वका निषेध

प्रकृतौ प्रकृतेः कार्ये भवन्ति विविधाः क्रियाः।
शरीरवाङ्मनोभिस्ताः प्रकटन्त्यखिलाः क्रियाः॥
आत्मनि नैव कर्तृत्वं भोक्तृत्वं नैव कर्हिचित्।
प्रकृतेरेव सम्बन्धान्मन्यते द्वे तु पुरुषः॥

एक परमात्मा हैं और एक परमात्माकी शक्ति प्रकृति है। उस प्रकृतिमें ही मात्र परिवर्तन होता है, और उस प्रकृतिका जो आधार, प्रकाशक, आश्रय है, उसमें परिवर्तन नहीं होता। जिस प्रकृतिमें परिवर्तन होता है, उसीको गीताने कई तरहसे बताया है; जैसे—सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा ही होती हैं (१३।२९); गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं अर्थात् सम्पूर्ण क्रियाएँ गुणोंके द्वारा ही होती हैं (३।२७-२८; १४।२३); इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके विषयोंमें बरत रही हैं अर्थात् सम्पूर्ण क्रियाएँ इन्द्रियोंके द्वारा ही होती हैं (५।९)। इन्द्रियोंके द्वारा क्रियाएँ होनेकी बातको भी गीताने कई तरहसे बताया है—कहीं शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिके द्वारा क्रियाओंका होना बताया है (५।११), कहीं शरीर, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव (संस्कार)-को क्रियाओंके होनेमें हेतु बताया है (१८।१४), और कहीं शरीर, वाणी और मनको क्रियाओंके प्रकट होनेके द्वार बताया है (१८।१५)। वास्तवमें प्रकृति, गुण और इन्द्रियाँ—ये तीनों तत्त्वसे एक ही हैं; क्योंकि प्रकृति मूल है, प्रकृतिका कार्य गुण है और गुणोंका कार्य इन्द्रियाँ हैं। इससे यही सिद्ध हुआ कि कर्तृत्व अर्थात् मात्र करना प्रकृतिमें ही है, परमात्माके अंश जीवात्मा (पुरुष) में नहीं है; क्योंकि कार्य, करण और कर्तृत्वमें प्रकृतिको हेतु बताया गया है—**'कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते'** (१३।२०)।

भोक्तृत्वमें पुरुषको हेतु बताया गया है—'**पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते**' (१३ । २०)। परंतु वास्तवमें प्रकृतिस्थ पुरुष ही हेतु बनता है—'**पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते**' (१३ । २१) अर्थात् प्रकृतिमें स्थित होनेसे ही पुरुष भोक्तृत्वमें हेतु बनता है। यदि पुरुष प्रकृतिमें स्थित न होकर अपने स्वरूपमें ही स्थित रहे तो वह भोक्ता नहीं बन सकता। अतः भगवान् कहते हैं कि 'यह पुरुष स्वयं अनादि और निर्गुण होनेसे अविनाशी परमात्मस्वरूप ही है; यह शरीरमें रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है' (१३ । ३१)। यहाँ 'न करता है'—इसका अर्थ है कि इसमें कर्तृत्व नहीं है, और 'न लिप्त होता है'—इसका अर्थ है कि इसमें भोक्तृत्व नहीं है।

जब पुरुष कर्मेन्द्रियों (शरीर आदि) के साथ मिल जाता है, तब यह कर्ता बन जाता है और जब ज्ञानेन्द्रियों (मन, वाणी आदि) के साथ मिल जाता है, तब यह भोक्ता बन जाता है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि कर्मेन्द्रियोंके साथ मिलनेके समय यह भोक्ता नहीं है और ज्ञानेन्द्रियोंके साथ मिलनेके समय यह कर्ता नहीं है, प्रत्युत यह कर्मेन्द्रियोंकी प्रधानतासे अपनेको कर्ता और ज्ञानेन्द्रियोंकी प्रधानतासे अपनेको भोक्ता मान लेता है। जबतक बोध (तत्त्वज्ञान) नहीं हो जाता, तबतक यह माना हुआ कर्तृत्व-भोक्तृत्व निरन्तर रहता है।

भोक्ता, भोग्य वस्तु और भोगरूपी क्रिया—इन तीनोंमें कारणरूप प्रकृतिकी एकता रहती है। भोक्तामें जो प्रकृतिका अंश है, वही भोग्य वस्तु और भोगरूपी क्रियाके साथ एक होता है। उस प्रकृतिके अंशके साथ तादात्म्य कर लेनेसे, उसके साथ घुल-मिल जानेसे यह पुरुष भोक्ता बनता है। भोक्ता बननेपर भी इसका भोगोंमें जो आकर्षण होता है, वह आकर्षण वास्तवमें प्रकृतिके अंशका ही होता है; परंतु शरीरके साथ तादात्म्य होनेके कारण यह पुरुष प्रकृतिके अंशके आकर्षणको अपना आकर्षण मान लेता है। इसमें यदि यह सावधान रहे अर्थात् यह खिंचाव केवल जड़ अंशका ही है, स्वयंका नहीं—ऐसा विवेकपूर्वक अनुभव कर ले तो यह परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाता है। अतः भगवान् कहते हैं कि विचारकुशल मनुष्य जब गुणोंके सिवाय अन्यको कर्ता नहीं देखता और अपने-आपको गुणोंसे पर अनुभव करता है, तब यह मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है (१४ । १९)। प्राप्त क्यों हो जाता है? कारण कि यह स्वयं स्वतः ही गुणोंसे निर्लिप्त है (१३ । ३१)। तात्पर्य यह हुआ कि पुरुषने जिस जड़-अंशके साथ तादात्म्य करके अपनेको भोक्ता माना है, उसी जड़-अंशमें भोगरूपी क्रिया भी है। अतः भोक्ता भी जड़-अंश ही हुआ; भोगरूपी क्रिया भी जड़-अंशमें ही हुई, भोगकी सामर्थ्य भी जड़-अंशमें ही रही और भोग्य पदार्थ भी जड़ प्रकृतिका ही कार्य हुआ। इसलिये भोक्ता, भोगरूपी क्रिया, भोगकी सामर्थ्य और भोग्य पदार्थ—ये सब-के-सब प्रकृतिमें ही हैं (१३ । ३०)। भोगके समय पुरुषमें कोई विकार भी नहीं होता (१३ । ३१); परंतु तादात्म्यके कारण पुरुष अपनेमें अहंभावका आरोप कर लेता है अर्थात् 'मैं सुखी हूँ' और 'मैं दुःखी हूँ'—ऐसा मान लेता है; और इसी कारणसे अर्थात् अपनेमें जड़-अंशको माननेसे भोक्ताका भोगोंमें आकर्षण होता है, अन्यथा स्वयं चेतनका भोगोंमें आकर्षण हो ही नहीं सकता।

भगवान्‌ने गुणोंको कर्ता कहा है, तो उस कर्तामें भोक्तृत्व भी साथमें रहता है; क्योंकि भोग भी क्रियाजन्य होता है (५ । ८-९)। क्रियाके बिना भोग नहीं होता। इससे भी यही सिद्ध होता है कि पुरुषमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व—दोनों ही नहीं हैं।

कर्तृत्वमें ही भोक्तृत्व होता है अर्थात् जो कर्ता होता है, वही भोक्ता बनता है। कारण कि स्वयं किसी प्रयोजनको लेकर, फलकी इच्छाको लेकर ही कर्म करनेमें प्रवृत्त होता है अर्थात् भोक्तृत्व भावसे ही यह कर्ता कहलाता है। अतः कर्तृत्व और भोक्तृत्व दो वस्तुएँ नहीं हैं, प्रत्युत दोनों एक ही हैं *। हाँ, यदि सूक्ष्मदृष्टिसे देखा जाय तो कर्तृत्वमें स्थूलता है और भोक्तृत्वमें

* अपनेमें कर्तृत्व माने बिना भी क्रिया तो होती है, पर अपनेको सुखी-दुःखी माने बिना भोक्तृत्व सिद्ध नहीं होता।

सूक्ष्मता है, पर तात्त्विक दृष्टिसे दोनों एक ही हैं; क्योंकि दोनों ही प्रकृतिके सम्बन्धसे होते हैं। अतः कर्तृत्व मिटनेसे भोक्तृत्व भी मिट जाता है और भोक्तृत्व मिटनेसे कर्तृत्व भी मिट जाता है। उपर्युक्त प्रकारसे ज्ञानयोगीका कर्तृत्व-भोक्तृत्व मिट जाता है।

कर्मयोगी साधक केवल यज्ञ-परम्परा अर्थात् कर्तव्य-कर्मकी परम्परा सुरक्षित रखनेके लिये ही कर्म करता है। केवल दूसरोंके हितके लिये ही कर्तव्य-कर्म करनेसे उसका कर्तृत्व कर्तव्य-कर्मके साथ ही दूसरोंकी सेवामें प्रवाहित हो जाता है। अतः उसमें कर्तृत्व नहीं रहता। ऐसे ही कर्मयोगी फलेच्छा, कामना, आसक्तिसे रहित होकर तत्परतापूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करता है (२।५१) फलेच्छा न रहनेसे उसमें भोक्तृत्व भी नहीं रहता। तात्पर्य यह है कि दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे कर्तृत्व और फलेच्छा न रहनेसे भोक्तृत्व मिट जाता है (४।२०)।

भक्तियोगी साधक शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसहित अपने-आपको भगवान्‌के अर्पित कर देता है (१८।६६)। उसके द्वारा जो कुछ होता है, वह सब भगवान्‌का किया-कराया ही होता है; अतः उसमें कर्तृत्व नहीं रहता। वह वस्तु, व्यक्ति आदि मात्र संसारका भोक्ता भगवान्‌को ही मानता है (५।२९); अतः उसमें भोक्तृत्व भी नहीं रहता। इस प्रकार भक्तियोगी भी कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे रहित हो जाता है।

गीतामें साधकोंकी दो दृष्टियाँ

गीतायां द्विविधा दृष्टिर्दृश्यते ज्ञानिभक्तयोः।
ज्ञानी गुणमयं सर्वं भक्तः प्रभुमयं जगत्॥

(१)

परमात्मा और संसारका वर्णन गीतामें विविध प्रकारसे हुआ है। वह विविध प्रकार भी साधकोंकी दृष्टिसे ही है। जिन साधकोंकी दृष्टिमें सब कुछ भगवान् ही हैं, भगवान्‌के सिवाय कुछ है ही नहीं, वे 'भक्तियोगी' कहलाते हैं। जिन साधकोंकी दृष्टिमें सब संसार गुणमय है, प्रकृतिजन्य गुणोंके सिवाय कुछ है ही नहीं, वे 'ज्ञानयोगी' कहलाते हैं। इस तरह साधकोंकी दो दृष्टियाँ हैं—भक्तिदृष्टि और ज्ञानदृष्टि। श्रद्धा-विश्वासकी मुख्यतासे भक्तियोग चलता है और विवेक-विचारकी मुख्यतासे ज्ञानयोग चलता है।

भक्तियोगमें भक्त ऐसा मानता है कि सब कुछ भगवान् ही हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'** (७।१९)। भगवान्‌ने भी कहा है कि मेरे बिना कोई भी चर-अचर प्राणी नहीं है अर्थात् चर-अचर सब कुछ मैं ही हूँ (१०।३९)। सूतसे बनी हुई मालाकी तरह यह सब संसार मुझमें ही ओतप्रोत है (७।७)। ये सात्त्विक, राजस और तामस भाव भी मुझमें ही होते हैं, पर मैं उनमें और वे मुझमें नहीं हैं अर्थात् सब कुछ मैं-ही-मैं हूँ (७।१२)। सत् और असत् अर्थात् जड़ और चेतन जो कुछ है, वह सब मैं ही हूँ (९।१९)। बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह आदि भाव मुझसे ही होते हैं (१०।४-५)। मैं सबका प्रभव अर्थात् मूल कारण हूँ और सब मुझसे ही चेष्टा करते हैं (१०।८)। दसवें अध्यायमें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा कि तुम्हें जहाँ-कहीं, जिस-किसीमें महत्ता, विलक्षणता, अलौकिकता आदि दीखे, उसे मेरी ही समझो (१०।४१)। तात्पर्य यह है कि वहाँ महत्ता आदिके रूपमें मैं ही हूँ—ऐसा मानकर तुम्हारी दृष्टि केवल मेरी ओर ही जानी चाहिये।

ज्ञानयोगमें साधक ऐसा मानता है कि प्रकृतिजन्य गुणोंके द्वारा ही सब क्रियाएँ हो रही हैं (३।२७); गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं (३।२८, १४।२३)। इसी दृष्टिसे भगवान्‌ने अठारहवें अध्यायमें सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके अनुसार ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुखके तीन-तीन भेद बताये और अन्तमें तीनों

गुणोंके प्रकरणका उपसंहार करते हुए कहा कि त्रिलोकीमें तीनों गुणोंके सिवाय कुछ नहीं है; जो कुछ दीख रहा है, सब त्रिगुणात्मक है (१८ । ४०) ।

(२)

गीतामें भगवान्‌ने एक स्थानपर यह कहा है कि सात्त्विक, राजस और तामस भाव मुझसे ही होते हैं (७ । १२) और दूसरे स्थानपर कहा है कि सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं (१३ । १९; १४ । ५) । इनमें पहली बात तो भक्तिमार्गकी है और दूसरी बात ज्ञानमार्गकी है। भक्तिमार्गमें भगवान्‌के सिवाय गुणोंकी, भावोंकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती अर्थात् गुण, पदार्थ, क्रिया आदि सब भगवत्स्वरूप ही होते हैं । इसलिये भगवान्‌ने गुणोंको अपनेसे उत्पन्न बताया है । ज्ञानमार्गमें निर्गुण ब्रह्मकी उपासना होती है । निर्गुण ब्रह्म गुणोंसे अतीत है, निर्लेप है, निष्क्रिय है, निराकार है; अतः उसमें प्रकृति और प्रकृतिजन्य गुणोंकी किञ्चिन्मात्र भी सम्भावना नहीं है । इसलिये भगवान्‌ने गुणोंको प्रकृतिसे उत्पन्न बताया है । तात्पर्य यह हुआ कि गुणोंको चाहे भगवान्‌से उत्पन्न हुआ मानें अथवा प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ मानें, उनका हमारे साथ सम्बन्ध नहीं है ।

गीतामें साध्य और साधनकी सुगमता

साध्यसाधनयोः प्रोक्तं सौलभ्यं हरिणा स्वयम् ।
मोहितं हि विना तस्मादनुत्साही भवेत्तु कः ॥

गीतामें साधकोंकी दृष्टिसे साध्यके दो भेद माने जा सकते हैं—

(१) **सगुण**—सगुणकी उपासनामें अनन्यभावकी मुख्यता होती है । अनन्यभाववाले भक्तोंके लिये भगवान् सुलभ हैं । वह अनन्यभाव क्या है ? अन्यका न होना । अन्य क्या है ? भगवान्‌के सिवाय धन, सम्पत्ति, वैभव, घटना, परिस्थिति, स्त्री, पुत्र, परिवार, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि जो कुछ भी है, वह सब 'अन्य' है। उन सबसे विमुख होकर अर्थात् उनके आश्रयका, महत्त्वका, प्रियताका त्याग करके केवल भगवान्‌के सम्मुख हो जाना, भगवान्‌की शरण हो जाना और उनमें ही महत्त्व, प्रियताका हो जाना 'अनन्यभाव' है । मैं भगवान्‌का ही हूँ और भगवान् ही मेरे हैं, मैं संसारका नहीं हूँ और संसार मेरा नहीं है—इस तरह अपनी कहलानेवाली वस्तु, शरीर आदिको और अपने-आपको भी भगवान्‌के अर्पण कर देना 'अनन्यभाव' है । अनन्यभावसे भगवान् सुलभ हो जाते हैं (८ । १४), भक्तोंके योगक्षेमका वहन करते हैं (९ । २२), भक्तोंका बहुत शीघ्र मृत्युरूपी संसार-सागरसे उद्धार कर देते हैं (१२ । ७) । इसी अनन्य-भावसे भक्त भगवान्‌को देख सकते हैं, जान सकते हैं और प्राप्त कर सकते हैं (११ । ५४) । इसलिये भगवान् कहते हैं कि तुम मुझमें ही मन और बुद्धिको लगा दो, फिर तुम मुझमें ही निवास करोगे (१२ । ८); तुम मुझमें ही मन और बुद्धिको अर्पण कर दो, फिर तुम निःसंदेह मुझे प्राप्त हो जाओगे (८ । ७) ।

(२) **निर्गुण**—निर्गुणकी उपासनामें विवेककी मुख्यता होती है । इसमें विवेकपूर्वक जड़ताका त्याग होता है । निर्गुणोपासकको भी परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति सुगमतासे हो जाती है (४ । ३९; ६ । २८ आदि) ।

साधनके भी तीन भेद माने जाते हैं—

(१) **कर्मयोग**—जो कुछ परिस्थिति कर्तव्यरूपसे सामने आ जाय, उस कर्तव्यको तत्परतासे करना और उस कर्मके फलकी इच्छाका त्याग कर देना—इसमें क्या कठिनता है ? कारण कि कर्तव्य नाम ही उसीका

हैं, जो करनेयोग्य है और जिसको सुगमतासे कर सकते हैं। ऐसे प्राप्त कर्तव्यका पालन करनेकी बात भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें बतायी है।

(२) ज्ञानयोग—यह शरीर प्रतिक्षण बदल रहा है, मृत्युकी ओर जा रहा है; क्योंकि यह असत् है। पर इस असत्‌को जाननेवाला अर्थात् शरीर-संसारके परिवर्तनको, उत्पन्न और नष्ट होनेको जाननेवाला सत् है—ऐसा जाननेमें क्या कठिनता है? इस बातको प्रायः सभी आस्तिकलोग जानते हैं कि यह शरीर तो मरेगा ही, पर इस शरीरमें रहनेवाला तो रहेगा ही। इसी बातको भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे तीसवें श्लोकतक विस्तारपूर्वक कहा है।

(३) भक्तियोग—जिसके पास भगवान्‌को अर्पण करनेके लिये बढ़िया-बढ़िया पदार्थ नहीं हैं, वह केवल पत्र, पुष्प, फल, जल आदिको ही प्रेमपूर्वक भगवान्‌के अर्पण कर दे तो भगवान् 'यह पत्ता है, यह फूल है, इन्हें मैं कैसे खाऊँ?' ऐसा कुछ भी विचार न करके उन्हें खा लेते हैं (९। २६)। परंतु किसीके पास ये पत्र, पुष्प आदि भी न हों तो वह जो कुछ भी क्रिया करता है, अर्थात् खाना-पीना, चलना-फिरना, उठना-बैठना, यज्ञ, तप आदि जो कुछ भी करता है, उन सबको भगवान्‌के अर्पण कर दे (९। २७)। ऐसा करनेसे वह सम्पूर्ण शुभ-अशुभ कर्मोंसे, कर्मबन्धनोंसे मुक्त होकर भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है (९। २८)। इससे अधिक सुगमता और क्या हो सकती है?

गीतामें सिद्धोंके लक्षण

समतादिषु चिह्नेषु सिद्धानां तु समानता।
तदीयव्यवहारे तु क्रियाभावविभिन्नता॥

'कर्मयोग' कामना (फलेच्छा) के त्यागसे आरम्भ होता है (२। ४८) और कामनाके सर्वथा त्यागमें ही समाप्त होता है (२। ५५)। अतः कर्मयोगमें कामनाके त्यागकी बात मुख्य रहती है।

'ज्ञानयोग' असत्-सत्, प्रकृति-पुरुष, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विवेकसे आरम्भ होता है (१३। १९)। और असत्‌से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेदमें ही समाप्त होता है (१३। ३४)। अतः ज्ञानयोगमें असत्-सत्‌का विवेक मुख्य रहता है।

'भक्तियोग' भगवान्‌की परायणतासे आरम्भ होता है (१२। ६) और भगवत्परायणतामें ही समाप्त होता है (१२। १४)। अतः भक्तियोगमें भगवत्परायणता मुख्य रहती है।

उपर्युक्त तीनों योग जिससे आरम्भ होते हैं, उसीमें उनकी पूर्णता होती है। अतः गीतामें जहाँ कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषोंका वर्णन आया है (२। ५५-७२), वहाँ कर्मयोगी साधकोंका भी वर्णन आया है (२। ५९, ६४-६५ आदि)। जहाँ ज्ञानयोगसे सिद्ध महापुरुषोंका वर्णन आया है (१४। २२-२५), उससे पहले ज्ञानयोगी साधकोंका वर्णन आया है (१४। १९-२०)। ऐसे ही जहाँ भक्तियोगसे सिद्ध महापुरुषोंका वर्णन आया है (१२। १३-१९), उससे पहले भक्तियोगी साधकोंका वर्णन आया है (१२। ६-१०)।

साधनावस्थामें कर्मयोगीकी कर्म करनेमें अधिक प्रवृत्ति रहती है; अतः सिद्धावस्थामें भी उसकी कर्मोंमें स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है। इसलिये कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषोंके लक्षणोंमें उदासीनताका वर्णन नहीं आया है (६। ७-९) ज्ञानयोगी असत्‌का त्याग करके अपने स्वरूपमें स्थित रहता है; अतः उसकी संसारसे स्वाभाविक उदासीनता रहती है (१४। २३)। भक्तियोगीका भगवान्‌में प्रेम होनेसे वह संसारसे उदासीन हो जाता है (१२। १६)।

तीनों ही योगोंसे सिद्ध महापुरुष अहंता-ममतासे रहित हो जाते हैं (कर्मयोगी २ । ७१; ज्ञानयोगी १८ । ५३; भक्तियोगी १२ । १३) । तीनों ही सिद्धोंमें राग-द्वेषका अभाव हो जाता है (कर्मयोगी २ । ५७; ज्ञानयोगी १४ । २२; भक्तियोगी १२ । १७) । तीनोंमें ही समता रहती है (कर्मयोगी ६ । ७-९; ज्ञानयोगी १४ । २४-२५; भक्तियोगी १२ । १८) ।

भक्तियोगमें 'सब कुछ वासुदेव ही है' (७ । १९)—ऐसा अनुभव होनेसे प्राणिमात्रके प्रति मित्रता और करुणाका भाव विशेषतासे प्रकट होता है (१२ । १३), जब कि कर्मयोग और ज्ञानयोगमें वैसा नहीं होता।

कोई भी साधक किसी भी मार्गसे चले, अन्तमें उसकी पूर्णता होनेपर सब एक हो जाते हैं । ऐसा होनेपर भी कर्मयोगीको ज्ञानयोगकी बातें विशेषरूपसे समझमें आ जाती हैं और भक्तियोगकी बातें साधारणरूपसे (थोड़ी) समझमें आती हैं । ज्ञानयोगीको कर्मयोग और भक्तियोग —इन दोनोंकी ही बातोंका ज्ञान नहीं होता; परंतु भक्तियोगीको कर्मयोग और ज्ञानयोग—इन दोनोंकी ही बातोंका प्रायः ज्ञान हो जाता है ।

कर्मयोगमें कामनाओंके त्यागकी कुछ कमी रहनेसे और ज्ञानयोगमें अपनेमें कुछ विशेषता दीखनेसे अभिमान रह सकता है; क्योंकि कर्मयोगी और ज्ञानयोगीकी अपनी निष्ठा होती है । अतः अभिमानको दूर करनेकी जिम्मेवारी स्वयं उनपर ही रहती है । परंतु भक्तियोगीमें अभिमान रह ही नहीं सकता; क्योंकि वह पहलेसे ही भगवान्‌के परायण रहता है । हाँ, भगवत्परायणतामें कमी रहनेसे भक्तियोगीमें भी अभिमान रह सकता है, पर उस अभिमानको दूर करनेकी जिम्मेवारी भगवान्‌की ही रहती है, भक्तकी नहीं; क्योंकि वह भगवन्निष्ठ होता है ।

तात्पर्य यह है कि तीनों योगोंकी अपनी-अपनी मुख्यता होनेसे तीनों योग अलग-अलग हैं । ऐसा होनेपर भी तत्त्व, समता, निर्विकारता आदिकी प्राप्तिमें तो तीनों योगोंसे सिद्ध महापुरुषोंमें एकता रहती है, पर उनके व्यवहारमें भिन्नता रहती है ।

गीतामें भगवान् और महापुरुषका साधर्म्य

अनुभवन्ति ये तत्त्वं ते मुक्ता एव बन्धनात् ।
तस्मात् प्रोक्तं तु साधर्म्यं निजस्य च महात्मनाम् ॥

गीतामें भगवान् और सिद्ध महापुरुषोंके लक्षणोंमें साधर्म्य (सधर्मता) का वर्णन हुआ है; जैसे—

(१) भगवान् कहते हैं कि त्रिलोकीमें मेरे लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है—**'न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन'** (३ । २२) । ऐसे ही महापुरुषके लिये भी कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता—**'तस्य कार्यं न विद्यते'** (३ । १७) ।

(२) भगवान् कहते हैं कि मेरे लिये प्राप्त होनेयोग्य कोई भी वस्तु अप्राप्त नहीं है—**'नानवाप्तमवाप्तव्यम्'** (३ । २२) । इसी प्रकार महापुरुषका भी किसी प्राणीके साथ किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता अर्थात् किसी भी प्राणीसे कुछ भी पाना शेष नहीं रहता —**न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः'** (३ । १८) ।

(३) कर्तव्य और प्राप्तव्य न रहते हुए भी भगवान् लोकसंग्रहार्थ कर्म करते हैं । भगवान् कहते हैं कि यदि मैं सावधान होकर कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरता उत्पन्न करनेवाला तथा सारी प्रजाका हनन करनेवाला बनूँ (३ । २३-२४) । इसी प्रकार भगवान् महापुरुषको भी उसके अपने लिये कर्तव्य और प्राप्तव्य न रहते हुए भी तत्परतापूर्वक लोकसंग्रहार्थ कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं—**'कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्'** (३ । २५) । अतः वे भी आसक्तिरहित होकर लोकहितार्थ कर्म करते हैं ।

(४) भगवान् कहते हैं कि मुझे सब कुछ करते हुए भी अकर्ता ही जानो अर्थात् मैं कर्तृत्वाभिमानसे रहित

हूँ—'तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्' (४ । १३)। इसी प्रकार महापुरुषके लिये भी कहा है कि वह कर्मोंको भलीभाँति करता हुआ भी वास्तवमें कुछ नहीं करता अर्थात् वह कर्तृत्वाभिमानसे रहित है—'कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः'(४।२०)।

(५) भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण कर्म करते हुए भी मुझे कर्म लिप्त नहीं करते—'न मां कर्माणि लिम्पन्ति' (४ । १४) और उनके फलोंमें मेरी स्पृहा (इच्छा) नहीं है—'न मे कर्मफले स्पृहा' (४ । १४)। इसी प्रकार महापुरुषको भी कर्म लिप्त नहीं करते—'न निबध्यते' (१८ । १७) और कर्मफलमें भी उसकी स्पृहा नहीं होती—'विगतस्पृहः' (२ । ५६); 'पुमांश्चरति निःस्पृहः' (२ । ७१)।

(६) भगवान् स्वभावसे ही प्राणिमात्रके सुहृद् हैं —'सुहृदं सर्वभूतानाम्' (५ । २९)। इसी तरह महापुरुष भी स्वभावसे सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें प्रीति रखते हैं—'सर्वभूतहिते रताः' (५। २५; १२ । ४)।

(७) भगवान्ने अपने-आपको तीनों गुणोंसे अतीत कहा है—'मामेभ्यः परमव्ययम्' (७ । १३)। इसी प्रकार महापुरुषको भी तीनों गुणोंसे अतीत कहा गया है—'गुणातीतः स उच्यते' (१४ । २५)।

(८) भगवान् कर्मोंमें आसक्तिरहित और उदासीनके सदृश स्थित हैं और उन्हें कर्म नहीं बाँधते—'उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु' (९ । ९)। इसी तरह महापुरुषका भी कर्मोंमें राग नहीं होता; अतः उसे भी कर्म नहीं बाँधते—'उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते' (१४ । २३)।

(९) भगवान्की दृष्टिमें तो सत् और असत् सब कुछ मैं ही हूँ—'सदसच्चाहम्' (९ । १९); और महापुरुषकी दृष्टिमें सब कुछ वासुदेव ही है—'वासुदेवः सर्वम्' (७ । १९)।

(१०) भगवान् कहते हैं कि वेदोंको जाननेवाला मैं ही हूँ—'वेदविदेव चाहम्' (१५ । १५)। इसी तरह महापुरुषको भी वेदोंको जाननेवाला कहा गया है—'स वेदवित्' (१५ । १)।

—इस प्रकार भगवान्से साधर्म्य होनेपर भी महापुरुष भगवान्की तरह ऐश्वर्य-सम्पन्न नहीं होता। पूर्ण ऐश्वर्य तो केवल भगवान्में ही है—'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य' (विष्णुपुराण ६ । ५ । ७४)। जगत्की उत्पत्ति, पालन और संहारका कार्य भी केवल भगवान्के द्वारा होता है, महापुरुषके द्वारा नहीं—'जगद्व्यापारवर्जम्' (ब्रह्मसूत्र ४ । ४ । १७)।

भगवान् और महापुरुषके लक्षणोंमें साधर्म्य बतानेका तात्पर्य यह है कि अनादिकालसे स्वर्ग, नरक और चौरासी लाख योनियोंमें भटकनेवाला साधारण प्राणी भी यदि मनुष्यजन्मका सदुपयोग करे तो परमात्माके जो लक्षण हैं, वे ही लक्षण जीवन्मुक्त होनेपर उसमें आ जाते हैं। जो उन्नति ब्रह्मलोकतक जानेपर भी नहीं होती, वही उन्नति जीव मनुष्यशरीरके रहते हुए कर सकता है।

गीतामें द्विविधा भक्ति

उदीरिता तु गीतायां भक्तिर्हि द्विविधा स्वयम्।
भगवत्कार्यरूपा च संसारकार्यकारिणी॥

भगवान्ने गीतामें अपनी भक्तिके कई प्रकार बताते हुए भी मुख्यतासे दो प्रकार बताये हैं—

भक्तिका पहला प्रकार वह है, जिसमें क्रिया भी भगवद्विषयक है और भाव भी भगवद्विषयक है; जैसे—जप-ध्यान, पाठ-पूजा, सत्सङ्ग-स्वाध्याय, भगवत्-सम्बन्धी ग्रन्थोंका पठन-पाठन, श्रवण-मनन आदि सभी क्रियाएँ भगवत्सम्बन्धी हैं और उन्हें करनेमें भगवद्भाव है ही (१० । ८-९)।

भक्तिका दूसरा प्रकार वह है, जिसमें क्रिया तो सांसारिक है, पर भाव भगवद्विषयक है; जैसे—अपने-अपने वर्ग-आश्रमके अनुसार कर्तव्यका पालन आदि 'जीविका-सम्बन्धी' क्रियाएँ हैं, तथा खाना-पीना, उठना-बैठना, चलना-फिरना, सोना-जागना, हँसना-बोलना आदि, 'शरीर-सम्बन्धी' क्रियाएँ हैं; पर उन्हें करनेमें भाव भगवत्-प्रसन्नताका—भगवत्पूजनका है (९ । २७; १८ । ४६)।

तात्पर्य यह हुआ कि भक्तिके उपर्युक्त दोनों प्रकारोंकी क्रियाओंमें अन्तर—भिन्नता है अर्थात् एककी क्रिया भगवत्सम्बन्धी है और दूसरेकी क्रिया संसार-सम्बन्धी हैं, पर दोनों ही क्रियाएँ भगवदर्थ होनेसे, भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये होनेसे दोनोंका भाव एक ही है। क्रियाएँ चाहे भगवत्सम्बन्धी हों, चाहे संसार-सम्बन्धी हों, पर सांसारिक आकर्षण न होनेसे, केवल भगवान्‌में आकर्षण होनेसे दोनों ही प्रकारकी भक्ति भगवान्‌में एक हो जाती है। जैसे सबकी भूख एक होती है और भोजनके बाद तृप्ति भी एक होती है, पर भोजनकी रुचि सबकी अलग-अलग होती है। ऐसे ही दोनों प्रकारके भक्तोंका उद्देश्य आरम्भमें एक भगवत्प्राप्तिका ही रहनेसे अन्तमें प्राप्ति भी दोनोंको एक ही होती है, पर साधनोंमें अन्तर रहता है।

गीतामें नवधा भक्ति

कथिता नवधा भक्तिः श्रवणादिस्वरूपिणी।
यया कयाऽपि संयुक्तो हरिं प्राप्नोति मानवः॥

श्रीमद्भागवतमें साधन-भक्तिके नौ प्रकार बताये गये हैं, जो 'नवधा भक्ति' के नामसे प्रसिद्ध हैं *। गीतामें भगवान्‌ने इस नवधा भक्तिका क्रमपूर्वक वर्णन तो नहीं किया है, पर भगवान्‌की वाणी इतनी विलक्षण है कि इसमें अन्य साधनोंके साथ नवधा भक्तिका भी वर्णन आ गया है; जैसे—

(१) **श्रवण**—जो मनुष्य तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषोंसे सुनकर उपासना करते हैं, ऐसे वे सुननेके परायण हुए मनुष्य मृत्युको तर जाते हैं (१३ । २५)।

(२) **कीर्तन**—भक्त प्रेमपूर्वक मेरे नाम, रूप, लीला आदिका कीर्तन करते हैं (९ । १४); हे हृषीकेश! आपके नाम, रूप आदिका कीर्तन करनेसे यह सम्पूर्ण जगत् हर्षित हो रहा है और अनुराग (प्रेम)-को प्राप्त हो रहा है (११ । ३६)।

(३) **स्मरण**—जो मनुष्य अनन्यचित्त होकर नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करते हैं (८ । १४); महात्मालोग अनन्य होकर मेरा स्मरण करते हुए मेरी उपासना करते हैं (९ । १३); तुम निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो जाओ (१८ । ५७); मुझमें चित्तवाला होनेसे तुम मेरी कृपासे सम्पूर्ण विघ्नोंको तर जाओगे (१८ । ५८)।

(४) **पादसेवन**—जो मनुष्य अव्यभिचारी भक्तियोगसे मेरा सेवन करता है (सेवते), वह गुणोंका अतिक्रमण करके ब्रह्मप्राप्तिका पात्र हो जाता है (१४ । २६)।

(५) **अर्चन**—जिससे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जो सबमें व्याप्त है, उस परमात्माका अपने कर्मोंके द्वारा अर्चन (पूजन) करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो जाता है (१८ । ४६); तुम मेरा पूजन करनेवाला हो जाओ फिर तुम मुझे ही प्राप्त होओगे (९ । ३४; १८ । ६५)।

(६) **वन्दन**—तुम मुझे नमस्कार करो, फिर तुम मुझे ही प्राप्त होओगे (९ । ३४; १८ । ६५); भक्त प्रेमपूर्वक मुझे नमस्कार करते हुए मेरी उपासना

* श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ (श्रीमद्भा० ७ । ५ । २३)

नवधा-भक्ति

करते हैं (९ । १४); हे प्रभो ! आपको हजारों वार नमस्कार हो ! नमस्कार हो !! और फिर भी आपको बार-बार नमस्कार हो ! नमस्कार हो !! (११ । ३९); हे सर्वात्मन् ! आपको आगेसे, पीछेसे, सब ओरसे ही नमस्कार हो (११ । ४०); हे प्रभो ! मैं शरीरसे लम्बा पड़कर आपको दण्डवत् प्रणाम करके प्रसन्न करना चाहता हूँ (११ । ४४) ।

(७) **दास्य**—तुम मेरा भक्त हो जाओ, फिर तुम मुझे ही प्राप्त होओगे (९ । ३४; १८ । ६५); हे कृष्ण ! मैं आपका शिष्य (दास) हूँ (२ । ७); हे पार्थ ! तुम मेरे भक्त हो (४ । ३) ।

(८) **सख्य**—तुम मेरे प्रिय सखा हो (४ । ३); हे कृष्ण ! जैसे सखा सखाके अपमानको सह लेता है अर्थात् क्षमा कर देता है, ऐसे ही आप मेरे द्वारा किया अपमान सहनेमें समर्थ हैं (११ । ४४) ।

(९) **आत्मनिवेदन**—उस आदिपुरुष परमात्माकी ही शरणमें हो जाना चाहिये (१५ । ४); तुम सर्वभावसे उसी अन्तर्यामी परमात्माकी ही शरणमें चले जाओ (१८ । ६२); तुम सब धर्मोंका आश्रय छोड़कर केवल एक मेरी शरणमें आ जाओ (१८ । ६६) ।

इस प्रकार उपर्युक्त स्थलोंमें भगवान्‌ने साधन-भक्तिका वर्णन किया है; और **'संसिद्धिं परमां गताः'** (८ । १५), **'मद्भक्तिं लभते पराम्'** (१८ । ५४), **'भक्तिं मयि परां कृत्वा'** (१८ । ६८)—इन पदोंमें भगवान्‌ने साध्य (परा) भक्तिका वर्णन किया है ।*

गीतामें भक्तियोगकी मुख्यता

सर्वाध्यायेषु गीतायां स्वभक्तिर्गौरवान्विता ।
तस्माद्धि भगवन्निष्ठा सर्वयोगेषु सत्तमा ॥

विचारपूर्वक देखा जाय तो गीतामें भगवान्‌ने भक्तिकी बात विशेषरूपसे कही है । जहाँ अर्जुनका भक्तिविषयक प्रश्न नहीं है और जहाँ कर्मयोग, ज्ञानयोग आदिका प्रसङ्ग चल रहा है, वहाँ भी भगवान्‌ने अपनी ओरसे भक्तिकी बात कह दी है; जैसे—

दूसरे अध्यायमें कर्मयोगकी बात कहते-कहते जहाँ स्थितप्रज्ञके लक्षणोंका वर्णन आया है, वहाँ भगवान् **'मत्परः'** (२ । ६१) पदसे अपने परायण होनेकी बात कहते हैं । भगवान् भक्तिको अपनी निष्ठा मानते हैं, साधककी निष्ठा नहीं । इसलिये तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने साधककी दो निष्ठाओं—सांख्ययोग और कर्मयोगका ही वर्णन किया और भक्तिकी बात अपने मनमें रखी । कर्मयोगका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने उसी भक्तिकी बात **'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य'** (३ । ३०) पदोंसे कह दी । चौथे अध्यायमें योगकी परम्परा बताते हुए 'मैंने ही सृष्टिके आदिमें योगका उपदेश दिया था'—इसे भगवान्‌ने परम रहस्यकी बात कही । अतः वहाँ **'भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्'** (४ । ३) पदोंमें भी भक्ति ही झलकती है । चौथे श्लोकमें अर्जुनके प्रश्न करनेपर भगवान्‌ने पाँचवें श्लोकसे चौदहवें श्लोकतक अवतारके प्रसङ्गमें भक्तिकी बात विशेषतासे कही । फिर पाँचवें अध्यायमें दोनों निष्ठाओंकी बात कहकर पहले दसवें श्लोकमें (**ब्रह्मण्याधाय कर्माणि**) और फिर उन्तीसवें श्लोकमें (**भोक्तारं यज्ञतपसां**……) अपनी ओरसे भगवन्निष्ठाका वर्णन किया ।

* साधन-भक्तिसे साध्य-भक्ति पैदा होती है—
'भक्त्या संजातया भक्त्या' (श्रीमद्भा० ११ । ३ । ३१)

छठे अध्यायमें ध्यानयोगका वर्णन करते हुए **'मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः'** (६ । १४); **'यो मां पश्यति सर्वत्र'** ……' (६ । ३०); **'सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः'** (६ । ३१) और **'श्रद्धावान्भजते यो माम्'** (६ । ४७)—इन श्लोकोंमें भगवान्‌ने भक्तिकी बात कही है । सातवें अध्यायसे लेकर बारहवें अध्यायतक तो मुख्यरूपसे भगवन्निष्ठाका ही वर्णन है । तेरहवें अध्यायमें ज्ञानयोगका वर्णन करते हुए **'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी'** (१३ । १०) और **'मद्भक्तः'** (१३ । १८) पदोंसे भक्तिकी बात कही गयी है । फिर चौदहवें अध्यायमें **'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते'** (१४ । २६) और **'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'** …… ' (१४ । २७) —इन श्लोकोंमें भक्तिका वर्णन किया गया है । पंद्रहवाँ अध्याय तो भक्तिका है ही । सोलहवें अध्यायमें दैवी सम्पत्तिके रूपमें भक्तियोगके साधकोंके लक्षणोंका वर्णन किया गया है । सत्रहवें अध्यायमें तेईसवें श्लोकसे सत्ताईसवें श्लोकतक 'ॐ तत् सत्'—इन नामोंके रूपमें भक्तिका वर्णन हुआ है । अठारहवें अध्यायमें **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'** (१८ । ४६), **'मद्भक्तिं लभते पराम्'** (१८ । ५४) और **'भक्त्या मामभिजानाति'** (१८ । ५५)—इन पदोंसे भक्तिकी बात कही गयी है । अठारहवें अध्यायके ही छप्पनवें श्लोकसे छाछठवें श्लोकतक तो भगवन्निष्ठाका ही मुख्यरूपसे वर्णन किया गया है ।

ज्ञानयोगी और कर्मयोगीके भीतर अपने कल्याणकी इच्छा रहती है और उसी उद्देश्यसे वे साधनमें लगते हैं । भक्तियोगी भी आरम्भमें चाहता तो कल्याण ही है, पर जब भगवान्‌पर श्रद्धा-भक्ति बढ़ती है, तब उसकी दृष्टि अपने कल्याणकी ओर नहीं रहती, प्रत्युत भगवान्‌की ओर ही रहती है । अतः उसके कल्याणकी जिम्मेवारी भगवान्‌पर ही होती है (१० । ८-११; १२ । ६-७; १८ । ६६) ।

गीताके भक्तियोगमें ज्ञानयोग और कर्मयोगकी बात भी आ जाती है; जैसे 'जो अव्यभिचारी भक्तियोगसे मेरा सेवन करता है, वह गुणोंसे अतीत होकर ब्रह्मप्राप्तिका पात्र हो जाता है' (१४ । २६) अर्थात् मनुष्य जैसे ज्ञानयोगसे गुणातीत होता है, ऐसे ही भक्तियोगसे भी गुणातीत हो जाता है । उन भक्तोंपर कृपा करनेके लिये उनके स्वरूपमें रहनेवाला मैं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारको देदीप्यमान ज्ञानस्वरूप दीपकके द्वारा सर्वथा नष्ट कर देता हूँ' (१० । ११) अर्थात् भक्तियोगसे भी तत्त्वका बोध (स्वरूपज्ञान) हो जाता है । भगवान्‌ने तेरहवें अध्यायमें जहाँ ज्ञानके साधनोंका वर्णन किया है, वहाँ अपनी अव्यभिचारिणी भक्तिको भी तत्त्वज्ञान होनेमें कारण बताया है (१३ । १०) ।

'जो सम्पूर्ण कर्मोंको परमात्माके अर्पण करके करता है, वह जलमें कमलके पत्तेकी तरह पापसे लिप्त नहीं होता' (५ । १०); क्योंकि कमलका पत्ता जलमें रहता हुआ भी निर्लिप्त रहता है और निर्लिप्त रहता हुआ ही जलमें रहता है । यह कर्मयोगकी बात है, जो भगवान्‌ने कर्मयोगीके लिये भी कही है कि वह कर्म करते हुए भी निर्लिप्त रहता है और निर्लिप्त रहते हुए ही कर्म करता है (४ । १८) । ऐसे ही **'सर्वकर्मफलत्यागम्'** (१२ । ११), **'सङ्गवर्जितः'** (११ । ५५) और **'स्वकर्मणा'** (१८ । ४६) रूपसे कर्मयोगकी बात भक्तियोगमें आ गयी ।

गीतामें ज्ञानयोगसे पराभक्ति (प्रेम)की प्राप्ति (१८ । ५४) और कर्मयोगसे ज्ञानकी प्राप्ति (४ । ३८) बतायी गयी है; परंतु भक्तिसे भगवान्‌के दर्शन, भगवत्तत्त्वका ज्ञान और भगवत्तत्त्वमें प्रवेश—ये तीनों हो जाते हैं (१८ । ५५) । यह विशेषता भक्तियोगमें ही है, दूसरे योगमें नहीं ।

गीताका आरम्भ और पर्यवसान शरणागतिमें

आदावन्ते च गीतायां प्रोक्ता वै शरणागतिः ।
आदौ शाधि प्रपन्नं मामन्ते मां शरणं व्रज ॥

भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन साथ-साथ ही रहते थे । साथ-साथ रहनेपर भी जबतक अर्जुनने भगवान्की शरण लेकर अपने कल्याणकी बात नहीं पूछी, तबतक भगवान्ने उपदेश नहीं दिया । मनुष्य शरण कब होता है ? जब मनुष्य सच्चे हृदयसे अपना कल्याण चाहता है, पर उसे अपने कल्याणका कोई रास्ता नहीं दीखता और उसका बल, बुद्धि, योग्यता आदि काम नहीं करते, तब वह गुरु, ग्रन्थ अथवा भगवान्की शरण होता है । अर्जुनकी भी ऐसी ही दशा थी । उन्हें क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे तो युद्ध करना ठीक प्रतीत होता है, पर कुलनाशकी दृष्टिसे युद्ध न करना ही ठीक जँचता है । इसलिये युद्ध करना ठीक है अथवा न करना ठीक है—इसका वे निर्णय नहीं कर पाये । यदि भगवान्की सम्मतिसे युद्ध किया भी जाय तो हमारी विजय होगी अथवा पराजय होगी—इसका भी उन्हें पता नहीं और युद्धमें कुटुम्बियोंको मारकर वे जीना भी नहीं चाहते (२ । ६) । ऐसी अवस्थामें अर्जुन भगवान्की शरण होते हैं (२ । ७) ।

भगवान्की शरण होनेपर भी अर्जुनके मनमें यह बात जँची हुई है कि युद्ध करनेसे हमें अधिक-से-अधिक पृथ्वीका धन-धान्यसम्पन्न राज्य ही मिल सकता है । यदि इससे भी अधिक माना जाय तो देवताओंका आधिपत्य मिल सकता है; परंतु इससे इन्द्रियोंको सुखानेवाला मेरा शोक दूर नहीं हो सकता (२ । ८) । दूसरी बात, मैं भगवान्की शरण हो गया हूँ; अतः अब भगवान् चट कह देंगे कि 'तुम युद्ध करो', जबकि युद्धसे मुझे कोई लाभ नहीं दीखता । अतः अर्जुन भगवान्के कुछ बोले बिना अपनी ओरसे स्पष्ट कह देते हैं कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा'—**'न योत्स्ये'** (२ । ९) ।

मनुष्य जिसकी शरण हो जाय, उसकी बात यदि समझमें न भी आये, तो भी उसमें यह दृढ़ विश्वास रहना चाहिये कि इनकी बात माननेसे मेरा भला ही होगा । अर्जुनका भी भगवान्पर दृढ़ विश्वास था कि यद्यपि मुझे अपनी दृष्टिसे युद्ध करनेमें किसी तरहका लाभ नहीं दीखता, तथापि भगवान् जो भी कह रहे हैं, वह ठीक ही है । इसीलिये गीतामें अर्जुन तरह-तरहकी शङ्काएँ तो करते रहे, पर वे भगवान्से विमुख नहीं हुए ।

अर्जुनके पूछनेसे और अपनी ओरसे भगवान्ने बहुत मार्मिक बातें कहीं और अपनी शरणागतिकी बातें भी कहीं, पर अर्जुनको वे बातें पूरी तरह जँचीं नहीं । अन्तमें भगवान्ने कहा कि तुम सबके हृदयमें विराजमान सर्वव्यापी ईश्वरकी शरणमें चले जाओ; उसकी कृपासे तुम्हें संसारसे सर्वथा उपरति और अविनाशी पदकी प्राप्ति होगी (१८ । ६२) । मैंने तो यह गोपनीय-से-गोपनीय बात तुमसे कह दी, अब जैसी तुम्हारी इच्छा हो, वैसा करो—**'यथेच्छसि तथा कुरु'** (१८ । ६३) ।

अर्जुनमें यह एक बहुत बड़ी विलक्षणता थी कि वे भगवान्को छोड़ना नहीं चाहते थे । अतः जब भगवान्ने कहा कि 'जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो', तब अर्जुन बहुत घबरा गये, व्याकुल हो गये । अतः भगवान्ने सर्वगुह्यतम उपदेश देते हुए कहा कि 'तुम सम्पूर्ण धर्मोंके आश्रयको छोड़कर केवल एक मेरी शरणमें आ जाओ, मैं तुम्हें सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तुम चिन्ता-शोक मत करो* ।' भगवान्की इस बातको सुनकर अर्जुन भगवान्की सर्वथा शरण हो गये और उन्हें अपनी बुद्धिका भरोसा नहीं रहा । अर्जुन बोले कि 'हे अच्युत ! केवल

---

* सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (गीता १८ । ६६)
—यह शरणागतिका मुख्य श्लोक है ।

आपकी कृपासे मेरा मोह सर्वथा नष्ट हो गया'। 'अब मैं केवल आपकी आज्ञाका ही पालन करूँगा'—**'करिष्ये वचनं तव'** (१८ । ७३)। ऐसा कहकर अर्जुन चुप हो गये और फिर भगवान् भी कुछ नहीं बोले अर्थात् अपनी सर्वथा शरण हो जानेपर भगवान्को अर्जुनके लिये कोई विषय कहना शेष नहीं रहा।

गीतामें आश्रयका वर्णन

यावज्जीवो न गृह्णीयाद्धरेश्च चरणाश्रयम्।
तावन्न च तरेत् कश्चिन्मृत्युसंसारसागरात्॥

जीवमात्रका यह स्वभाव है कि वह किसी-न-किसीका आश्रय लेना चाहता है और लेता भी है। मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता आदि सभी किसी-न-किसीका आश्रय लेते ही हैं; क्योंकि जीवमात्र साक्षात् परमात्माका अंश है। अतः जबतक यह जीव अपने अंशी परमात्माका आश्रय नहीं लेगा, तबतक यह दूसरोंका आश्रय लेता ही रहेगा, पराधीन होता ही रहेगा, दुःख पाता ही रहेगा।

मनुष्य तो विवेकप्रधान प्राणी है, पर अपने विवेकको महत्त्व न देकर यह स्वयं साक्षात् अविनाशी परमात्माका चेतन अंश होता हुआ भी नाशवान् जड़का आश्रय ले लेता है अर्थात् शरीर, बल, बुद्धि, योग्यता, कुटुम्ब-परिवार, धन-सम्पत्ति आदिका आश्रय ले लेता है—यह इसकी बड़ी भारी भूल है।

गीतामें अर्जुनने भगवान्का आश्रय लेकर ही अपने कल्याणकी बात पूछी है (२ । ७)। अर्जुनने जबतक भगवान्का आश्रय नहीं लिया, तबतक गीताका उपदेश आरम्भ ही नहीं हुआ। उपदेशके अन्तमें भी भगवानने अपना आश्रय लेनेकी ही बात कही है (१८ । ६६)। इस प्रकार गीताके उपदेशका आरम्भ और उपसंहार भगवदाश्रयमें ही हुआ है।

भगवान्से मिली हुई स्वतन्त्रताके कारण मनुष्य किसीका भी आश्रय ले सकता है। अतः कई मनुष्य अपनी कामनाओंकी पूर्तिके लिये देवताओंका आश्रय लेते हैं (७ । २०), पर परिणाममें उन्हें नाशवान् फल ही मिलता है (७ । २३)। कई मनुष्य भोगोंकी कामनासे वेदोंमें कहे हुए सकाम अनुष्ठानोंका आश्रय लेते हैं, पर परिणाममें वे आवागमनको प्राप्त होते हैं (९ । २१)।

कई मनुष्य न तो भगवान्का आश्रय लेते हैं और न भगवान्को भगवान्रूपसे ही जानते हैं। अतः ऐसे मनुष्योंमेंसे कई तो आसुरभावका आश्रय लेते हैं (७ । १५); कई आसुरी, राक्षसी और मोहिनी प्रकृतिका आश्रय लेते हैं (९ । १२); कई कभी पूरी न होनेवाली कामनाओंका आश्रय लेते हैं (१६ । १०); कई मृत्युपर्यन्त रहनेवाली अपार चिन्ताओंका आश्रय लेते हैं (१६ । ११); कई अहंकार, दुराग्रह, घमंड, कामना और क्रोधका आश्रय लेते हैं (१६ । १८)। इन आश्रयोंके फलस्वरूप उन्हें बार-बार चौरासी लाख योनियों और नरकोंमें जाना पड़ता है (१६ । १९-२०)।

भगवान्की ओर चलनेवाले मनुष्य भगवान्का और उनके दया, क्षमा, समता आदि गुणोंका (दैवी सम्पत्तिका) आश्रय लेते हैं तथा परिणाममें भगवानको प्राप्त कर लेते हैं। अतः गीतामें **'मामुपाश्रिताः'** (४ । १०); **'मदाश्रयः'** (७ । १); **'मामेव ये प्रपद्यन्ते'** (७ । १४); **'मामाश्रित्य यतन्ति ये'** (७ । २९); **'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य'** (९ । ३२); **'मद्व्यपाश्रयः'** (१८ । ५६); **'तमेव शरणं गच्छ'** (१८ । ६२); **'मामेकं शरणं व्रज'** (१८ । ६६) आदि पदोंमें भगवानके आश्रयकी बात कही गयी है; और **'दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः'** (९ । १३) तथा **'बुद्धियोगमुपाश्रित्य'** (१८ । ५७) पदोंमें दैवी सम्पत्तिके आश्रयकी बात कही गयी है।*

* दैवी सम्पत्ति(भगवान्के गुणों)का आश्रय लेना भी भगवान्का ही आश्रय लेना है।
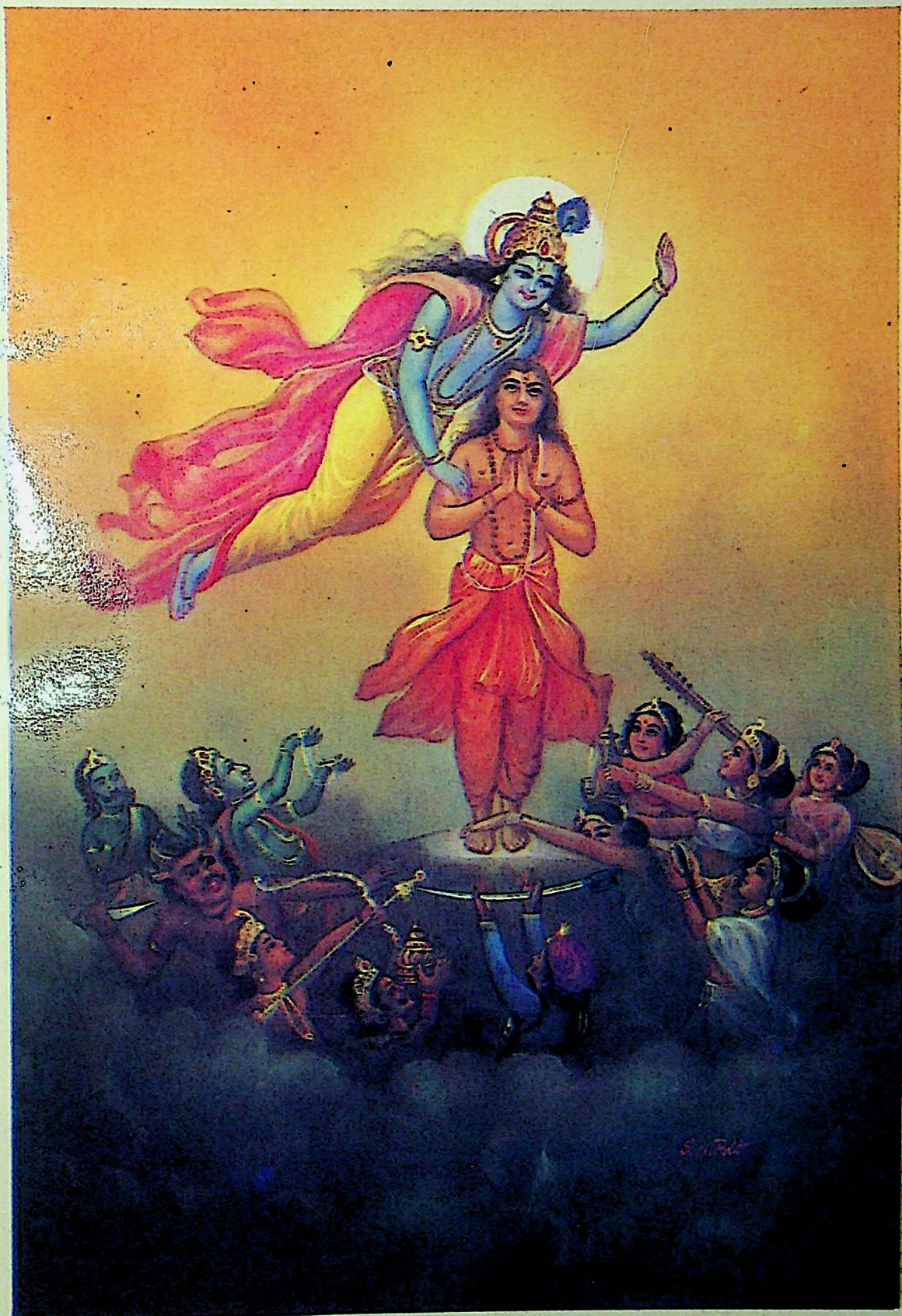
साधक और भगवान्

तात्पर्य यह है कि गीतामें जितने भी साधन बताये गये हैं, उन सबमें श्रेष्ठ और सुगम साधन भगवान्‌का आश्रय लेना ही है। जो भगवान्‌का आश्रय लेकर साधन करता है, उसके साधनकी सिद्धि बहुत शीघ्र और सुगमतापूर्वक हो जाती है। इस बातको भगवान्‌ने गीतामें स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि जो मेरे आश्रित होकर सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करते हैं, उन भक्तोंका मैं मृत्युरूप संसार-समुद्रसे बहुत शीघ्र उद्धार करनेवाला बन जाता हूँ (१२ । ६-७)। जो मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं, वे ब्रह्म, अध्यात्म और सम्पूर्ण कर्म तथा अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ-सहित मुझे जान जाते हैं अर्थात् मेरे समग्र रूपको जान जाते हैं (७ । २९-३०)। अपना आश्रय लेनेवाले भक्तोंको भगवान्‌ने सम्पूर्ण योगियोंमें श्रेष्ठ बताया है (६ । ४७)। अतः साधकोंको चाहिये कि वे जो भी साधन करें, भगवान्‌का आश्रय लेकर ही करें।

गीतामें सगुणोपासनाके नौ प्रकार

स्वकीयोपासनाः प्रोक्ता नवधा फाल्गुनं प्रति।
तासां यया कया युक्तो हरिं प्राप्नोति मानवः॥

गीतामें सगुण-उपासनाका नौ प्रकारसे वर्णन किया गया है, जो इस प्रकार है—

(१) **सबके आदिमें भगवान् हैं**—जो मनुष्य मुझे अजन्मा, अनादि (सबका आदि) और सम्पूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर मानता है, वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है (१० । ३); मैं सम्पूर्ण जगत्‌का प्रभव (निमित्त कारण) तथा प्रलय (उपादान कारण) हूँ अर्थात् सबका आदि कारण हूँ (७ । ६); दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्मालोग मुझे सम्पूर्ण प्राणियोंका आदि और अविनाशी जानकर अनन्यमनसे मेरा भजन करते हैं (९ । १३); आदि-आदि।

(२) **सबमें भगवान् हैं**—जो सबमें मुझे देखता है, उसके लिये मैं कभी अदृश्य नहीं होता (६ । ३०); जो सम्पूर्ण प्राणियोंमें मुझे स्थित देखता है (६ । ३१); मैं अव्यक्तरूपसे सम्पूर्ण जगत्‌में व्याप्त हूँ (९ । ४); प्राणियोंके अन्तःकरणमें आत्मारूपसे मैं ही स्थित हूँ (१० । २०); वह परमात्मा सबके हृदयमें स्थित है (१३ । १७); मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामी-रूपसे स्थित हूँ (१५ । १५); ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थित है (१८ । ६१); आदि-आदि।

(३) **सब भगवान्‌में हैं**—जो सबको मुझमें देखता है, वह मेरे लिये कभी अदृश्य नहीं होता (६ । ३०); यह सम्पूर्ण संसार सूत (धागे) में सूतकी मणियोंकी तरह मुझमें ही ओतप्रोत है (७ । ७); जिसके अन्तर्गत सम्पूर्ण प्राणी हैं (८ । २२); हे अर्जुन! तुम मेरे इस शरीरके एक देशमें चर-अचरसहित सम्पूर्ण जगत्‌को अभी देख लो (११ । ७); अर्जुनने देवोंके देव भगवान्‌के शरीरमें एक जगह स्थित अनेक प्रकारके विभागोंमें विभक्त सम्पूर्ण जगत्‌को देखा (११ । १३); हे देव! मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण देवताओंको, प्राणियोंको, कमलासनपर बैठे हुए ब्रह्माजीको, शंकरजीको, ऋषियोंको और दिव्य सर्पोंको देखता हूँ (११ । १५); आदि-आदि।

(४) **सबके मालिक भगवान् हैं**—मैं अजन्मा, अविनाशी और सम्पूर्ण प्राणियोंका ईश्वर (स्वामी) होता हुआ भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ (४ । ६); जो मुझे सब यज्ञों और तपोंका भोक्ता, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर (स्वामी) तथा सम्पूर्ण प्राणियोंका सुहृद् मानता है, वह शान्तिको प्राप्त हो जाता है (५ । २९); प्रकृति मेरी अध्यक्षतामें सम्पूर्ण चराचर जगत्‌को रचती है (९ । १०); मूढ़-लोग मुझ सम्पूर्ण प्राणियोंके महान् ईश्वरको साधारण मनुष्य मानकर मेरी अवज्ञा करते हैं (९ । ११); सम्पूर्ण योगोंके महान् ईश्वर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको अपना

परम ऐश्वर्ययुक्त विराट्‌रूप दिखाया (११ । ९); आदि-आदि ।

(५) **सब कुछ भगवान्‌से ही होता है**—सात्त्विक, राजस और तामस भाव मुझसे ही होते हैं (७ । १२); बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह आदि बीस भाव मुझसे ही होते हैं (१० । ४-५); स्मृति, ज्ञान और अपोहन मुझसे ही होते हैं (१५ । १५); आदि-आदि।

(६) **सबके विधायक भगवान् हैं**—जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक अन्य देवताओंकी उपासना करता है, उस उपासनाके फलका विधान मैं ही करता हूँ (७ । २२); मेरा आश्रय लेनेवाला भक्त मेरी कृपासे अविनाशी पदको प्राप्त होता है (१८ । ५६); ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें रहता हुआ शरीररूपी यन्त्रपर आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको घुमाता है (१८ । ६१); आदि-आदि ।

(७) **सबके आराध्य भगवान् ही हैं**—तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम अनुष्ठानको करनेवाला मनुष्य यज्ञोंके द्वारा इन्द्ररूपसे मेरा ही पूजन करते हैं (९ । २०); जो मनुष्य अन्य देवताओंकी उपासना करते हैं, वे वास्तवमें मेरी ही उपासना करते हैं, पर करते हैं अविधि-पूर्वक अर्थात् वे उन देवताओंके रूपमें मुझे नहीं मानते (९ । २३); निर्गुण-निराकारकी उपासना करनेवाले मुझे ही प्राप्त होते हैं (१२ । ३-४); आदि-आदि ।

(८) **सबके प्रकाशक भगवान् हैं**—सूर्य, चन्द्रमा और अग्निमें मेरा ही तेज है अर्थात् उन्हें मैं ही प्रकाशित करता हूँ (१५ । १२) ।

(९) **सब कुछ भगवान् ही हैं**—सब कुछ वासुदेव ही हैं (७ । १९); इस सम्पूर्ण जगत्‌की गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृद्, प्रभाव, प्रलय, स्थान, निधान तथा अविनाशी बीज मैं ही हूँ (९ । १८); सत् और असत् भी मैं ही हूँ (९ । १९); हे जगन्निवास ! सत् और असत् आप ही हैं तथा सत्-असत्‌से परे भी आप ही हैं (११ । ३७); आदि-आदि* ।

उपर्युक्त सभी उपासनाओंका तात्पर्य यह है कि सबके बीज, आधार, प्रकाशक, स्वामी, शासक एक भगवान् ही हैं; परंतु साधकोंकी रुचि, योग्यता और श्रद्धा-विश्वासकी विभिन्नताके कारण उनकी उपासनाओंमें भेद हो जाता है । तत्त्वसे कोई भेद नहीं है; क्योंकि परिणाममें सम्पूर्ण उपासनाएँ एक हो जाती हैं ।

जैसे भूख सबकी एक ही होती है और भोजन करनेपर तृप्ति भी सबको एक ही होती है, पर भोजनकी रुचि सबकी अलग-अलग होनेके कारण भोज्य पदार्थ अलग-अलग होते हैं; और जैसे मनुष्योंके वेश-भूषा, रहन-सहन, भाषा आदि तो अलग-अलग होते हैं, पर रोना और हँसना सबका एक ही होता है अर्थात् दुःख और सुख सबको समान ही होते हैं । ऐसे ही भगवत्प्राप्तिकी भूख (अभिलाषा) और भगवान्‌की अप्राप्तिका दुःख सभी साधकोंका एक ही होता है और साधनकी पूर्णता होनेपर भगवत्प्राप्तिका आनन्द भी सबको एक ही होता है, पर साधकोंकी रुचि, योग्यता और विश्वास अलग-अलग होनेसे उपासनाएँ अलग-अलग होती हैं ।

उपासनाके आरम्भमें साधकके भाव और योग्यताकी प्रधानता होती है और अन्तमें (सिद्धिमें) तत्त्वकी प्रधानता होती है । भाव और योग्यता तो व्यक्तिगत हैं, पर तत्त्व व्यक्तिगत नहीं है, प्रत्युत सर्वगत है ।

* यहाँ उपासनाके जो अलग-अलग नौ प्रकार बताये गये हैं, इनमेंसे कई प्रकार गीतामें कहीं-कहीं एक ही श्लोकमें आ गये हैं ।

त्रिविध-पूजन
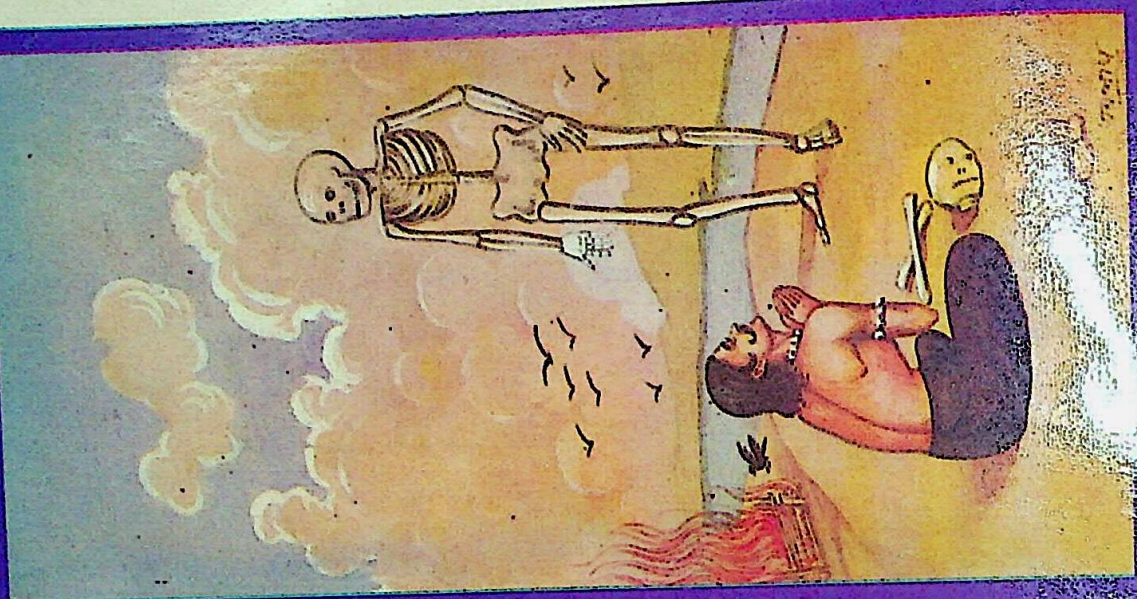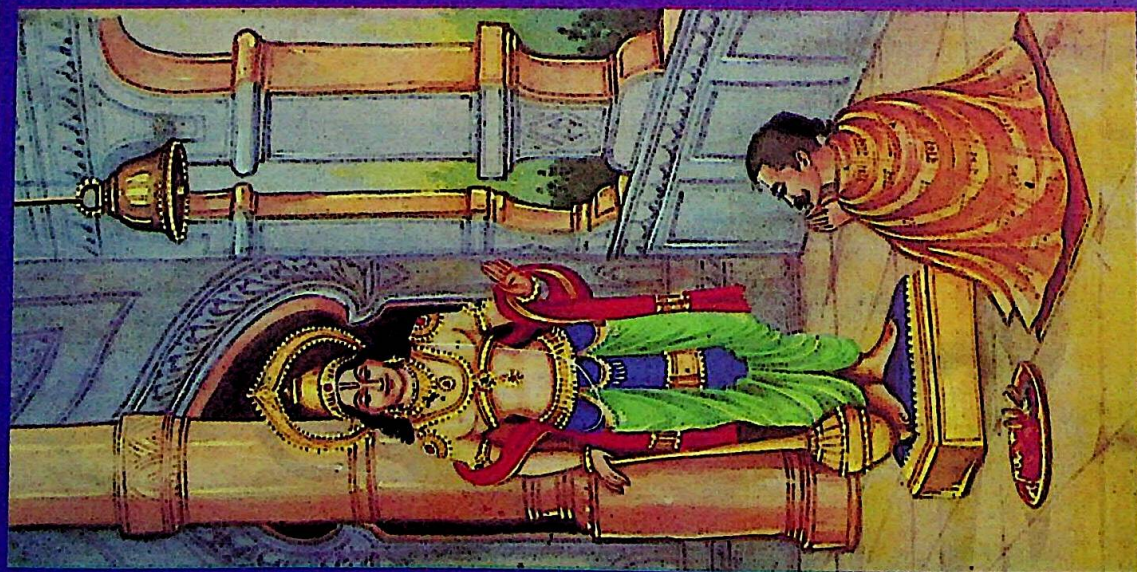
गीतामें फलसहित विविध उपासनाओंका वर्णन

श्रीकृष्णस्य गुरूणां च देवानामुष्मपां तथा।
यक्षाणां रक्षसां प्रेतभूतानां यजनं स्मृतम् ॥

गीतामें भगवान्, आचार्य, देवता, पितर, यक्ष-राक्षस, भूत-प्रेत आदिकी उपासनाका (विस्तारसे अथवा संक्षेपसे) फलसहित वर्णन हुआ है; जैसे—

(१) **अर्थार्थी**—आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी (प्रेमी)—ये चार प्रकारके भक्त भगवान्का भजन करते हैं अर्थात् उनकी शरण होते हैं (७ । १६) ।

भगवान्का पूजन, भजन करनेवाले भक्त भगवान्को प्राप्त हो जाते हैं—**'मद्भक्ता यान्ति मामपि'** (७ । २३); **'यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्'** (९ । २५) ।*

(२) जो वास्तवमें जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, भगवत्प्रेमी महापुरुष हैं, जिनका जीवन शास्त्रोंके अनुसार है, वे 'आचार्य' होते हैं । ऐसे आचार्यकी आज्ञाका पालन करना, उनके सिद्धान्तोंके अनुसार अपना जीवन बनाना ही उनकी उपासना है (४ । ३४; १३ । ७) । इस तरह आचार्यकी उपासना करनेवाले मनुष्य मृत्युको तर जाते हैं, मुक्त हो जाते हैं (४ । ३५; १३ । २५) ।

(३) जो लोग कामनाओंमें तन्मय होते हैं और भोग भोगना तथा संग्रह करना—इसके सिवाय और कुछ नहीं है, ऐसा निश्चय करनेवाले होते हैं, वे भोगोंकी प्राप्तिके लिये देवताओंकी उपासना करते हैं (२ । ४२-४३) । कर्मोंकी सिद्धि (फल) चाहनेवाले मनुष्य देवताओंकी उपासना किया करते हैं; क्योंकि मनुष्यलोकमें कर्मजन्य सिद्धि बहुत शीघ्र मिल जाती है (४ । १२) । सुखभोगकी कामनाओंके द्वारा जिनका विवेक ढक जाता है, वे भगवान्को छोड़कर देवताओंकी शरण हो जाते हैं और अपने-अपने स्वभावके परवश होकर कामनापूर्तिके लिये अनेक नियमों, उपायोंको धारण करते हैं (७ । २०) । भगवान् कहते हैं कि जो-जो भक्त जिस-जिस देवताका पूजन करना चाहता है, उस-उस देवताके प्रति मैं उसकी श्रद्धाको दृढ़ कर देता हूँ । फिर वह उस श्रद्धासे युक्त होकर उस देवताकी उपासना करता है; परंतु उसे उस उपासनाका फल मेरे द्वारा विधान किया हुआ ही मिलता है (७ । २१-२२) । तीनों वेदोंमें विधान किये हुए सकाम कर्मोंको करनेवाले, सोमरसको पीनेवाले पापरहित मनुष्य यज्ञोंके द्वारा इन्द्रका पूजन करके स्वर्गकी प्राप्ति चाहते हैं (९ । २०) । कामनायुक्त मनुष्य श्रद्धापूर्वक अन्य देवताओंका पूजन करते हैं, वे भी वास्तवमें मेरा (भगवान्का) ही पूजन करते हैं; परंतु उनका वह पूजन अविधिपूर्वक है (९ । २३) ।

देवताओंकी उपासना करनेवाले मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं और वहाँ अपने पुण्यका फल भोगकर फिर लौटकर मृत्युलोकमें आते हैं (९ । २०-२१) । देवताओंका पूजन करनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं अर्थात् उनके लोकोंमें चले जाते हैं—**'देवान्देवयजो'** (७ । २३); **'यान्ति देवव्रता देवान्'** (९ । २५) ।

(४) पितरोंके भक्त पितरोंका पूजन करते हैं और इसके फलस्वरूप वे पितरोंको प्राप्त होते हैं अर्थात् पितृलोकमें चले जाते हैं—**'पितॄन्यान्ति पितृव्रताः'** (९ । २५) । परंतु यदि वे निष्कामभावसे कर्तव्य समझकर पितरोंका पूजन करते हैं, तो वे मुक्त हो जाते हैं ।

(५) राजस मनुष्य यक्ष-राक्षसोंका पूजन करते हैं

* गीताभरमें भगवान्की उपासनाका ही मुख्यतासे वर्णन हुआ है । इस पुस्तकमें भी कई शीर्षकोंके अन्तर्गत भगवान्की उपासनाका अनेक प्रकारसे विवेचन किया गया है । अतः यहाँ भगवान्की उपासनाका वर्णन अत्यन्त संक्षेपसे किया गया है ।

(१७ । ४) और फलस्वरूप यक्ष-राक्षसोंको प्राप्त होते हैं अर्थात् उनकी योनिमें चले जाते हैं* ।

(६) तामस पुरुष भूत-प्रेतोंका पूजन करते हैं (१७ । ४) । भूत-प्रेतोंका पूजन करनेवाले भूत-प्रेतोंको प्राप्त होते हैं अर्थात् उनकी योनिमें चले जाते हैं—'भूतानि यान्ति भूतेज्याः' (९ । २५) ।†

गीतामें निष्कामभावसे मनुष्य, देवता, पितर, यक्ष-राक्षस आदिकी सेवा, पूजन करनेका निषेध नहीं किया गया है, प्रत्युत निष्कामभावसे सबकी सेवा एवं हित करनेकी बड़ी महिमा गायी गयी है (५ । २५; ६ । ३२; १२ । ४) । तात्पर्य यह है कि निष्कामभावपूर्वक और शास्त्रकी आज्ञासे केवल देवताओंकी पुष्टिके लिये, उनकी उन्नतिके लिये ही कर्तव्य-कर्म, पूजा आदि की जाय, तो उससे मनुष्य बँधता नहीं, प्रत्युत परमात्माको प्राप्त हो जाता है (३ । ११) । ऐसे ही निष्कामभावपूर्वक और शास्त्रकी आज्ञासे पितरोंकी तृप्तिके लिये श्राद्ध-तर्पण किया जाय, तो उससे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है । यक्ष-राक्षस, भूत-प्रेत आदिके उद्धारके लिये, उन्हें सुख-शान्ति देनेके लिये निष्कामभावपूर्वक और शास्त्रकी आज्ञासे उनके नामसे गया-श्राद्ध करना, भागवत-सप्ताह करना, दान करना भगवन्नामका जप-कीर्तन करना, गीता-रामायण आदिका पाठ करना आदि-आदि किये जायँ, तो उनका उद्धार हो जाता है, उन्हें सुख-शान्ति मिलती है और साधकको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है । उन देवता, पितर, यक्ष-राक्षस, भूत-प्रेत आदिको अपना इष्ट मानकर सकामभावपूर्वक उनकी उपासना करना ही खास बन्धनका कारण है; जन्म-मरणका, अधोगतिका कारण है ।

मनुष्य, देवता, पितर, यक्ष-राक्षस, भूत-प्रेत, पशु-पक्षी आदि सम्पूर्ण प्राणियोंमें हमारे प्रभु ही हैं, इन प्राणियोंके रूपमें हमारे प्रभु ही हैं—ऐसा समझकर (भगवद्बुद्धिसे) निष्कामभावपूर्वक सबकी सेवा की जाय तो परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ।

उपर्युक्त दोनों बातोंका तात्पर्य यह हुआ कि अपनेमें सकामभावका होना और जिसकी सेवा की जाय, उसमें भगवद्बुद्धि न होना ही जन्म-मरणका कारण है (९ । २४) । यदि अपनेमें निष्कामभाव हो और जिसकी सेवा की जाय, उसमें भगवद्बुद्धि (भगवद्भाव) हो तो वह सेवा परमात्मप्राप्ति करानेवाली ही होगी ।

एक विलक्षण बात यह है कि यदि भगवान्‌की उपासनामें सकामभाव रह भी जाय, तो भी वह उपासना उद्धार करनेवाली ही होती है, पर भगवान्‌में अनन्यभाव होना चाहिये । भगवान्‌ने गीतामें अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—इन चारों भक्तोंको उदार कहा है (७ । १८); और मेरा पूजन करनेवाले मुझे ही प्राप्त होते हैं—ऐसा कहा है (७ । २३; ९ । २५) । अतः मनुष्य किसी भावसे भगवान्‌में लग जाय तो उसका उद्धार होगा ही ।

देवता आदिकी उपासनाका फल तो अन्तवाला (नाशवान्) होता है (७ । २३); क्योंकि देवताओंके उपासक पुण्यके बलपर स्वर्गादि ऊँचे लोकोंमें जाते हैं और पुण्यके समाप्त होनेपर फिर लौटकर आते हैं; परंतु परमात्माकी प्राप्ति अन्तवाली नहीं होती (८ । १६); क्योंकि यह जीव परमात्माका अंश है (१५ । ७) । जब यह जीव अपने अंशी परमात्माकी कृपासे उन्हें प्राप्त हो जाता है, तब फिर वह वहाँसे लौटता नहीं (८ । २१; १५ । ६) । कारण कि परमात्माकी कृपा नित्य है और स्वर्गादि लोकोंमें जानेवालोंके पुण्य अनित्य हैं ।

---

* गीतामें भगवान्‌ने यक्ष-राक्षसोंके पूजनका तो वर्णन कर दिया—'यक्षरक्षांसि राजसाः' (१७ । ४), पर उनके पूजनके फलका वर्णन नहीं किया । अतः यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि जैसे देवताओंका पूजन करनेवाले देवताओंको ही प्राप्त होते हैं (९ । २५), ऐसे ही यक्ष-राक्षसोंका पूजन करनेवाले यक्ष-राक्षसोंको ही प्राप्त होते हैं । कारण कि यक्ष-राक्षस भी देवयोनि होनेसे देवताओंके ही अन्तर्गत आते हैं ।

† सत्रहवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें 'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्' पदसे जो देवता, ब्राह्मण, गुरुजन और ज्ञानीके पूजनकी बात कही गयी है, उसे यहाँ उपासनाके अन्तर्गत नहीं लिया गया है । कारण कि वहाँ 'शारीरिक तप' (केवल शरीर-सम्बन्धी पूजन, आदर-सत्कार आदि) का प्रसङ्ग है, जो कि परम्परासे मुक्त होनेमें हेतु है ।

गीतामें देवताओंकी उपासना

ये नराः कामनायुक्ता यजन्त इह देवताः ।
दुःखं हि यान्ति ते सर्वे चावागमनरूपकम् ॥

देवता दो प्रकारके होते हैं—'आजान-देवता' और 'मर्त्यदेवता'। 'आजान-देवता' वे कहलाते हैं, जो कल्पके आदिसे हैं और कल्पके अन्ततक रहते हैं तथा 'मर्त्यदेवता' वे कहलाते हैं, जो मनुष्यशरीरमें पुण्यकर्म करके स्वर्ग आदि लोकोंको प्राप्त होते हैं और पुण्यकर्मोंके अनुसार न्यूनाधिकरूपसे स्वर्गमें रहते हैं।

मनुष्योंकी अपेक्षा देवताओंकी योनि ऊँची मानी जाती है, देवताओंके लोक ऊँचे माने जाते हैं, उनके भोग, शरीर, सुख-सामग्री ऊँची मानी जाती है। उनकी अपेक्षा मनुष्यलोक और मनुष्यलोकके भोग, शरीर, सुख-सामग्री नीची मानी जाती है। देवताओंके लोक, भोग, शरीर आदि सभी दिव्य होते हैं—'दिव्यान्दिवि देवभोगान्' (९ । २०); और उनके लोक, भोग, इन्द्रियोंकी शक्ति, आयु आदि सभी विशाल होते हैं—'स्वर्गलोकं विशालम्' (९ । २१); परंतु उनके लोक, भोग, शरीर, इन्द्रियों आदिमें जो कुछ दिव्यता*, विलक्षणता, विशालता होती है, वह सब पुण्यकर्मोंके कारण ही होती है।

जो आदमी संसारमें रचे-पचे हैं, जो उच्छृङ्खलतापूर्वक आचरण करते हैं, उनकी अपेक्षा जो श्रद्धा-भक्तिसे देवताओंकी उपासना करते हैं, वे श्रेष्ठ हैं। कारण कि वे वेदोंमें, शास्त्रोंमें तथा वैदिक मन्त्रोंमें, यज्ञ-याग आदिके अनुष्ठानमें श्रद्धा रखते हैं और सकामभावसे तत्परतापूर्वक साङ्गोपाङ्ग यज्ञादि शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं। उनमें यहाँके भोगोंसे कुछ संयम भी होता है और उनका अन्तःकरण भी कुछ शुद्ध होता है। ऐसे लोग शुभ कर्मोंके प्रभावसे देवताओंके लोकोंमें जाकर वहाँके दिव्य भोग भोगते हैं और स्वर्गके प्रापक पुण्यके समाप्त होनेपर फिर मृत्युलोकमें आकर जन्म लेते हैं। ऐसे स्वर्गसे लौटकर आये मनुष्योंके स्वभावमें स्वाभाविक ही शुद्धि रहती है। उनमें स्वाभाविक ही दान देने आदिकी ओर प्रवृत्ति रहती है; परंतु निष्कामभावसे अपने कर्तव्यका पालन करनेसे तथा भगवद्बुद्धिसे देवताओंका पूजन करनेसे मनुष्यकी जैसी शुद्धि होती है, वैसी शुद्धि सकामभावसे देवताओंका पूजन-आराधन करनेवालोंकी नहीं होती; क्योंकि उनमें स्वर्ग आदि लोकोंकी तथा वहाँके भोगोंकी प्रबल कामना रहती है।

यद्यपि इस मनुष्यलोकमें कर्मोंकी सिद्धि चाहते हुए देवताओंकी उपासना करनेवालोंको कर्मजन्य सिद्धि बहुत शीघ्र मिलती है (४ । १२), तथापि उस उपासनाका फल अन्तवाला ही होता है, अविनाशी फल नहीं होता (७ । २३)। कारण कि देवतालोग अपनी उपासना करनेवालोंपर प्रसन्न हो जायँगे तो वे अधिक-से-अधिक उन्हें अपने लोकोंमें ले जा सकते हैं; पर उनका कल्याण नहीं कर सकते और जबतक उनके पुण्य रहते हैं, तभीतक वे उन्हें अपने लोकोंमें रहने देते हैं। पुण्य समाप्त होते ही वे उन्हें वहाँसे ढकेल देते हैं। जैसे जहाँतकका टिकट होता है, वहाँतक ही रेलमें बैठ सकते हैं, ऐसे ही जितने पुण्य होते हैं, उतने ही समयतक वे स्वर्गमें रह सकते हैं। पुण्य समाप्त होनेपर उन्हें वहाँसे नीचे (मनुष्यलोकमें) आना ही पड़ता है (९ । २१)।

प्रकृतिके साथ, गुणोंके साथ सम्बन्ध रखनेवाले जितने सुख हैं, भोग हैं, ऊँचे-ऊँचे लोक हैं, वे सभी नाशवान् हैं, सीमित हैं और जन्म-मरण देनेवाले हैं। जो प्रकृतिसे सम्बन्ध नहीं रखना चाहते, केवल अपना कल्याण चाहते हैं और पारमार्थिक मार्गमें लगे हुए हैं, ऐसे मनुष्योंको किसी कारणविशेषसे अन्तकालमें साधनसे विचलित होनेपर स्वर्गादि लोकोंमें जाना भी पड़ता है तो भी वे वहाँके भोगोंमें फँसते नहीं; क्योंकि भोग भोगना

* देवताओंकी दिव्यता भगवान्की दिव्यताके समान नहीं है। भगवान्की दिव्यता तो अलौकिक है, चिन्मय है, पर देवताओंकी दिव्यता लौकिक है, प्राकृत है और नष्ट होनेवाली है।

उनका उद्देश्य नहीं रहा है। वहाँके भोग तो उनके लिये विघ्नरूप होते हैं। वहाँ बहुत समयतक रहकर फिर वे शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेते हैं और पुनः साधनमें लग जाते हैं (६। ४१, ४४)।

देवताओंकी उपासना करनेवालोंका तो पतन ही होता है, उन्हें बार-बार जन्म-मरणका दुःख भोगना ही पड़ता है, पर जो किसी भी तरहसे अपने कल्याणके साधनमें लगा हुआ है, उसका कभी पतन नहीं होता (६। ४०); क्योंकि उसका उद्देश्य कल्याणका होनेसे भगवान् उसे शुद्ध श्रीमानोंके घरमें पुनः साधन करनेका अवसर देते हैं।

वास्तवमें देखा जाय तो स्वर्ग आदिका सुख कोई ऊँचा नहीं है। वह सुख भी मृत्युलोकके धनी आदमियोंके सुखकी श्रेणीका ही है, यहाँके सुखकी तारतम्यताका ही है। कारण कि वह सुख भी सम्बन्धजन्य है, इन्द्रियोंके पाँचों विषयोंका है, आदि-अन्तवाला और दुःखोंका ही कारण है (५। २२); परंतु जो पारमार्थिक सुख है, वह निर्विकार है, अक्षय है अर्थात् उसका कभी नाश नहीं होता; क्योंकि वह स्वयंका है, प्रत्येक प्राणीका स्वधर्म है, सम्बन्धजन्य नहीं है (५। २१)।

तात्पर्य यह है कि देवताओंकी उपासना करनेवाले ऊँचे-से-ऊँचे लोकोंमें चले जायँ तो भी कामनाके कारण उन्हें जन्म-मरणके चक्करमें आना ही पड़ता है, उनका कल्याण नहीं होता (९। २१); परंतु जो किसी भी तरहसे भगवान्‌में लग जाते हैं, उनका उद्धार हो जाता है, उनका कभी पतन होता ही नहीं (६। ४०)। भगवान्‌ने अपने अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी (प्रेमी)—इन चार प्रकारके भक्तोंको सुकृती कहा है (७। १६), उदार कहा है (७। १८); क्योंकि वे भगवान्‌में लगे हुए हैं। भगवान्‌में लगे होनेसे वे भगवान्‌को ही प्राप्त होते हैं। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह किसी कामना, सुखेच्छाके वशीभूत होकर मनुष्यजन्मके अमूल्य समयको जन्म-मरणके चक्करमें जानेमें न लगाये, प्रत्युत भगवान्‌में ही लगाये।

गीतामें श्रद्धा

गीतायां द्विविधा श्रद्धा दैवी तथाऽऽसुरी स्मृता।
दैवी च सात्त्विकी ज्ञेया राजसी तामस्यासुरी॥

भगवान्‌ने गीतामें श्रद्धाको मनुष्यमात्रका साक्षात् स्वरूप माना है—**'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'** (१७।३) अर्थात् जो जैसी श्रद्धावाला होता है, वैसा ही उसका स्वरूप होता है।

इन्द्रियोंसे, अन्तःकरणसे जिसका ज्ञान नहीं होता, उस विषयमें आदरभावसहित जो दृढ़ विश्वास है, उसे 'श्रद्धा' कहते हैं। इस श्रद्धाके दो विभाग हैं—दैवी और आसुरी। जिस श्रद्धासे अर्थात् जिनमें श्रद्धा करनेसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है, तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है, भगवद्दर्शन हो जाते हैं, वह श्रद्धाका 'दैवी' विभाग है और जिस श्रद्धासे अर्थात् जिनमें श्रद्धा करनेसे बन्धन हो जाता है, अधोगति हो जाती है, वह श्रद्धाका 'आसुरी' विभाग है। इन्हीं दो विभागोंको सात्त्विकी और राजसी-तामसी भी कहा है अर्थात् दैवी श्रद्धाको 'सात्त्विकी' और आसुरी श्रद्धाको 'राजसी-तामसी' कहा है।

भगवान् और उनके मतमें, महापुरुष और उनके वचनोंमें, ग्रन्थोंमें और शास्त्रीय शुभकर्मोंमें, सात्त्विक तपमें श्रद्धा करना दैवी (सात्त्विकी) श्रद्धा है। देवताओंमें और सकाम अनुष्ठानोंमें, यक्ष-राक्षसोंमें, भूत-प्रेतादिमें श्रद्धा करना आसुरी (राजसी-तामसी) श्रद्धा है। गीतामें इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

(१) भगवान् और उनके मतमें श्रद्धा—सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् भक्त मुझमें तल्लीन हुए मनसे मेरा भजन करता है, वह मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ
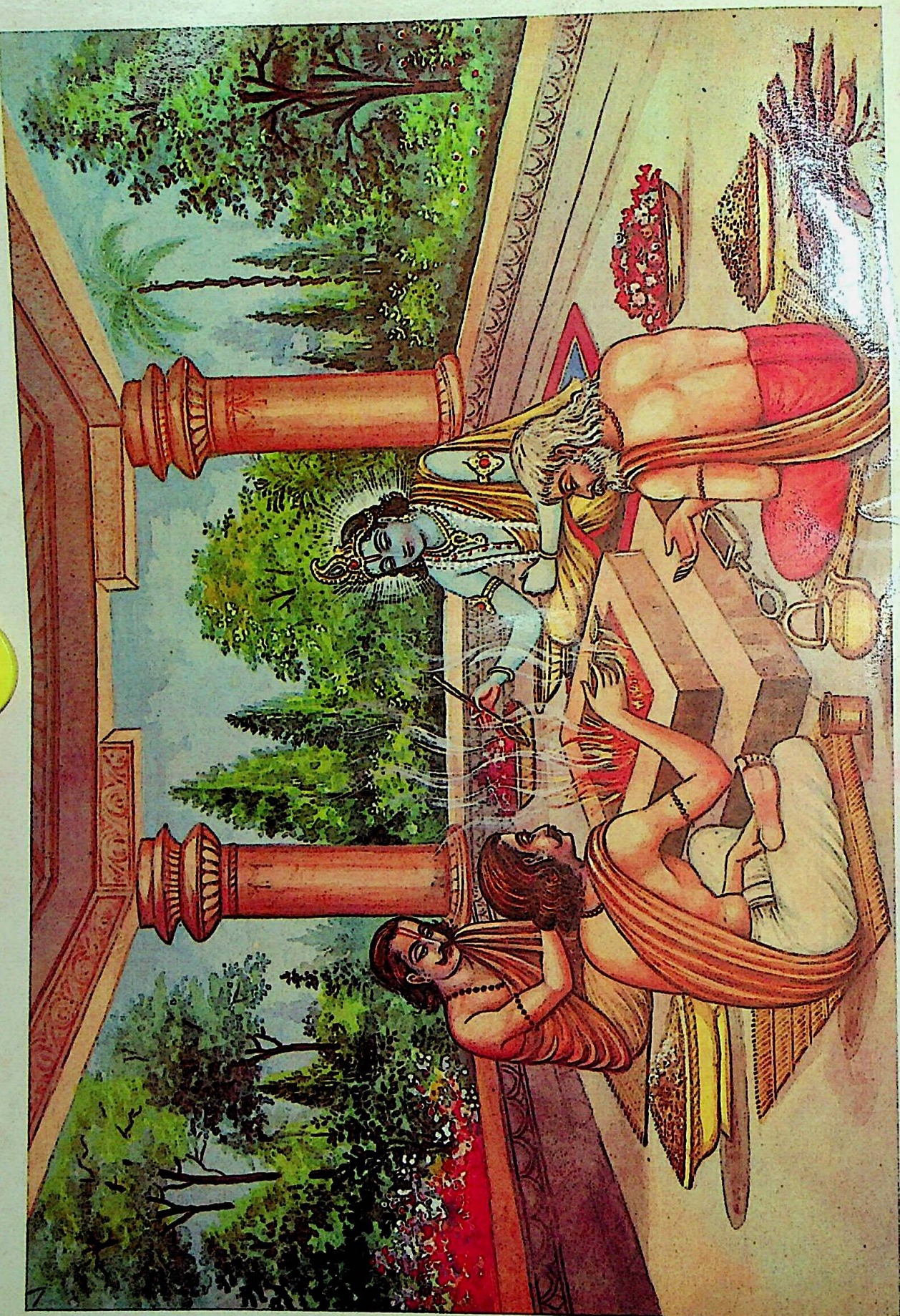
लोकसंग्रह

योगी है (६ । ४७) । नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए जो भक्त परम श्रद्धासे युक्त होकर और मुझमें मनको लगाकर मेरी उपासना करते हैं, वे मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ हैं (१२ । २) । मुझमें श्रद्धा रखनेवाले और मेरे परायण हुए जो भक्त इस धर्ममय अमृतका रुचिपूर्वक सेवन करनेवाले हैं, वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं (१२।२०)। जो मनुष्य दोषदृष्टिरहित होकर श्रद्धापूर्वक मेरे इस मतका सदा अनुष्ठान करते हैं, वे सम्पूर्ण कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं (३ ।३१) ।

(२) **महापुरुष और उनके वचनोंमें श्रद्धा**—महापुरुष जो-जो आचरण करते हैं, दूसरे मनुष्य भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं और महापुरुष अपनी वाणीसे जिसका विधान कर देते हैं, दूसरे लोग उसका अनुवर्तन करते हैं (३ । २१) । जो लोग कर्मयोग, सांख्ययोग, ध्यान-योग आदि साधनोंको नहीं जानते, प्रत्युत केवल महापुरुषोंके वचनानुसार चलते हैं, वे भी मृत्युको तर जाते हैं (१३ । २५) ।

(३) **ग्रन्थोंमें और शास्त्रीय शुभकर्मोंमें श्रद्धा**—जो मनुष्य दोषदृष्टिरहित होकर श्रद्धापूर्वक इस गीता-ग्रन्थको सुन भी लेगा, वह भी सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर पुण्य-कर्म करनेवालोंके ऊँचे लोकोंको प्राप्त हो जायगा (१८ । ७१) । कर्तव्य और अकर्तव्यके विषयमें शास्त्र ही प्रमाण है; अतः शास्त्रको सामने रखकर ही कर्म करने चाहिये (१६ । २४) । जो शास्त्रविधिको अर्थात् कौन-सा कार्य किस विधिसे करना चाहिये—इस बातको नहीं जानते, पर शास्त्रीय शुभकर्मोंमें जिनकी श्रद्धा है और जो श्रद्धापूर्वक यजन-पूजन भी करते हैं (१७ । १), वे सात्त्विक (दैवी सम्पत्तिवाले) मनुष्य होते हैं—**'यजन्ते सात्त्विका देवान्'** (१७।४)।

(४) **सात्त्विक तपमें श्रद्धा**—परम श्रद्धासे युक्त फलेच्छारहित मनुष्योंके द्वारा शरीर, वाणी और मनसे जो तप किया जाता है, उसे सात्त्विक कहते हैं (१७ । १७) ।

—यह सब 'दैवी' श्रद्धाका विभाग है ।

(१) **देवताओंमें और सकाम अनुष्ठानोंमें श्रद्धा**—जो-जो मनुष्य जिस-जिस देवताका श्रद्धापूर्वक यजन-पूजन करना चाहता है, उस-उस देवताके प्रति मैं उसकी श्रद्धाको दृढ़ कर देता हूँ (७ । २१) । जो भी मनुष्य श्रद्धापूर्वक अन्य देवताओंका पूजन करते हैं, वे भी वास्तवमें करते तो हैं मेरा ही पूजन, पर करते हैं अविधिपूर्वक (९ । २३) ।

(२) **यक्ष-राक्षसोंमें और भूत-प्रेतादिमें श्रद्धा**—राजस मनुष्य यक्ष-राक्षसोंका पूजन करते हैं और तामस मनुष्य भूत-प्रेतादिका पूजन करते हैं—**'यक्षरक्षांसि राजसाः' 'प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः'** (१७ । ४) ।

—यह सब 'आसुरी' श्रद्धाका विभाग है ।

श्रद्धाके साथ जबतक दोषदृष्टि रहती है, तबतक श्रद्धा पूर्णतया फलीभूत नहीं होती । अतः भगवान्ने श्रद्धाके साथ **'अनसूयन्तः'** और **'अनसूयः'** पद भी दिये हैं—**'श्रद्धावन्तः 'अनसूयन्तः'** (३ । ३१) और **'श्रद्धावान् अनसूयः'** (१८ । ७१) । तात्पर्य यह है कि श्रद्धा तो हो, पर दोषरहित हो ।

गीतामें दैवी श्रद्धाका प्रयोग साधकोंके लिये ही आता है, सिद्धोंके लिये नहीं । कारण कि साधकोंको सिद्धि प्राप्त करनी है; अतः उनके लिये दैवी श्रद्धाकी आवश्यकता है; परंतु सिद्ध तो सिद्धि प्राप्त किये रहते हैं अर्थात् उन्हें परमात्मतत्त्वका साक्षात् अनुभव हो गया होता है; अतः उनके लिये दैवी श्रद्धाकी आवश्यकता नहीं है। गीताने दैवी श्रद्धाको इतनी मुख्यता दी है कि बिना श्रद्धाके यज्ञ, दान, तप आदि शुभकर्म किये जायँ तो वे सब असत् हो जाते हैं (१७ । २८) ।

निष्कामभावसे भगवान् आदिमें श्रद्धा करनेसे मुक्ति हो जाती है, मनुष्य संसार-बन्धनसे छूट जाता है और सकामभावसे देवता आदिमें श्रद्धा करनेसे मनुष्य बन्धनमें पड़ जाता है । निष्कामभावसे श्रद्धापूर्वक देवता आदिका पूजन करना दोषी नहीं है, बन्धन करनेवाला नहीं है, प्रत्युत कल्याण करनेवाला है; परंतु भूत-प्रेतादिमें श्रद्धा करनेसे तो अधोगति ही होती है (९ । २५;

१४।१८); क्योंकि भूत-प्रेतोंकी उपासनामें निष्कामभाव हो ही नहीं सकता। भूत-प्रेतोंको अपना इष्ट मानकर उनकी उपासना करनेसे पतन होता है। हाँ, यदि उनके उद्धारके लिये, उनकी तृप्तिके लिये निष्कामभावसे जल दिया जाय, गया-श्राद्ध आदि किया जाय तो वह दोषी नहीं है; क्योंकि इसमें केवल उनका उद्धार करनेका भाव है।

गीतामें भगवान्‌का आश्वासन

सर्वेभ्यः साधकेभ्यश्चाश्वासनं दत्तवान् हरिः।
जनः कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं नैव गच्छति॥

परमात्मप्राप्तिके मार्गमें कोई विघ्न-बाधा है ही नहीं। यह मार्ग सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंसे रहित है—**'एष निष्कण्टकः पन्थाः।'** इस मार्गमें आँखें मींचकर दौड़नेपर भी मनुष्य न तो ठोकर खाता है और न गिरता ही है।

जिस साधकका अपने कल्याणका, परमात्मप्राप्तिका ही उद्देश्य, लक्ष्य, ध्येय बन जाता है, उसका बहुत काम हो जाता है। स्वयं भगवान्‌ने साधकमात्रको आश्वासन देते हुए कहा है कि अपने कल्याणके लिये कर्म करनेवालेकी दुर्गति नहीं होती—**'न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति'** (६।४०)। जो केवल परमात्माके लिये ही सब काम करता है, उसके सम्पूर्ण कर्म सत् हो जाते हैं (१७।२७) और सत्‌का कभी अभाव (नाश) नहीं होता। समताका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान जन्म-मरणरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है—**'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'** (२।४०)। वेदोंमें, यज्ञोंमें, तपोंमें और दानोंमें जो पुण्यफल कहे गये हैं, उन सबको योगी अतिक्रमण कर जाता है (८।२८)। योगी ही नहीं, योग (समता) का जिज्ञासु भी वेदोंमें कहे गये सकाम अनुष्ठानोंका अतिक्रमण कर जाता है—**'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते'** (६।४४)।

जिन्होंने अपनी कहलानेवाली वस्तुओंसहित अपने-आपको भगवान्‌को समर्पित कर दिया है, ऐसे अनन्य भक्तोंका उद्धार भगवान् बहुत शीघ्र कर देते हैं (१२।७)। ऐसे भक्तोंका योगक्षेम (अप्राप्तकी प्राप्ति कराना और प्राप्तकी रक्षा करना) भी भगवान् स्वयं वहन करते हैं—**'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्'** (९।२२)।

अपने अनन्य भक्तोंको भगवान् अर्जुनके माध्यमसे आश्वासन देते हैं कि तुमलोग साधन और सिद्धि—दोनोंके ही विषयमें चिन्ता मत करो। यदि साधक अपनेमें दैवी सम्पत्तिके गुणोंकी कमीको लेकर साधनके विषयमें हताश होता है तो उसके लिये भगवान् आश्वासन देते हैं कि तुम दैवी सम्पत्तिके गुणोंको प्राप्त हो गये हो; अतः तुम चिन्ता मत करो—**'मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव'** (१६।५)। यदि साधक अपने पापोंको लेकर सिद्धिके विषयमें हताश होता है तो उसके लिये भगवान् आश्वासन देते हैं कि मैं तुम्हें सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा; अतः तुम चिन्ता मत करो—**'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः'** (१८।६६)।*

* भगवान्‌के आश्वासनकी बात इन श्लोकोंमें भी आयी है—दूसरे अध्यायका बहत्तरवाँ श्लोक, चौथे अध्यायका छत्तीसवाँ श्लोक, पाँचवें अध्यायका उन्तीसवाँ श्लोक, छठे अध्यायका इकतीसवाँ श्लोक, सातवें अध्यायका चौदहवाँ श्लोक, आठवें अध्यायका पाँचवाँ और चौदहवाँ श्लोक, नवें अध्यायका तीसवाँ और इकतीसवाँ श्लोक, दसवें अध्यायका नवाँ, दसवाँ और ग्यारहवाँ श्लोक, ग्यारहवें अध्यायका पचपनवाँ श्लोक, बारहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक, तेरहवें अध्यायका पचीसवाँ और चौबीसवाँ श्लोक, चौदहवें अध्यायका छब्बीसवाँ श्लोक, पंद्रहवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक और अठारहवें अध्यायका अट्ठावनवाँ श्लोक।

साधकमें साधन और सिद्धिके विषयमें चिन्ता तो नहीं होनी चाहिये, पर भगवान्‌की प्राप्तिके लिये व्याकुलता अवश्य होनी चाहिये। कारण कि चिन्ता भगवान्‌से दूर करनेवाली है और व्याकुलता भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाली है। चिन्तामें निराशा होती है और व्याकुलतामें भगवान्‌की आशा दृढ़ होती है। अतः साधकको चिन्ता कभी करनी ही नहीं चाहिये और अपने साधनमें तत्परतासे लगे रहना चाहिये।

गीतोक्त प्रवृत्ति और आरम्भ

वर्णाश्रमाभ्यां नियतं हि कर्म कार्यं प्रवृत्तिः कथिता बुधैश्च।
कर्माणि भोगाय नवानि चैव कार्याणि चारम्भ उदीरितो वै॥

भगवान्‌ने रजोगुणकी वृद्धिके लक्षण बताते हुए 'प्रवृत्ति' और 'आरम्भ'—इन दोनोंका एक साथ प्रयोग किया है—'**लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा**' (१४ । १२)। यद्यपि स्थूलदृष्टिसे प्रवृत्ति और कर्मोंका आरम्भ—ये दोनों एक समान ही दीखते हैं, तथापि इन दोनोंमें बड़ा भारी अन्तर है। अपने-अपने वर्ण, आश्रम, देश, वेश आदिमें रहते हुए प्राप्त परिस्थितिके अनुसार जो कर्तव्य सामने आ जाय, उसे सुचारुरूपसे साङ्गोपाङ्ग कर देना 'प्रवृत्ति' है और भोग तथा संग्रहको बढ़ानेके उद्देश्यसे नये-नये कर्म प्रारम्भ करना 'आरम्भ' है। अतः प्रवृत्तिको तो निष्कामभावसे निर्लिप्ततापूर्वक करना चाहिये, उसका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि निष्कामभावपूर्वक प्रवृत्ति करना योगारूढ़ होनेमें कारण है (६ । ३); परंतु आरम्भका तो त्याग ही कर देना चाहिये; क्योंकि वह भोग और संग्रहकी आसक्ति बढ़ाकर पतन करनेवाला है।

गीता परिस्थितिका परिवर्तन करनेके लिये नहीं कहती, प्रत्युत उस परिमार्जन करनेके लिये कहती है, जिससे मनुष्य किसी परिस्थितिमें फँसे भी नहीं और वह जिस परिस्थितिमें स्थित है, वही उसके कल्याणका साधन बन जाय। उसे अपने कल्याणके लिये नये कर्मोंका आरम्भ न करना पड़े और वर्ण, आश्रम, देश, काल, परिस्थिति आदिका परिवर्तन न करना पड़े। कारण कि परमात्मा सब वर्ण, आश्रम, देश, काल, परिस्थिति, घटना आदिमें पूर्णरूपसे व्याप्त हैं।

प्रवृत्ति (अपने कर्तव्यका पालन) तो सभी वर्ण-आश्रमोंमें होती है और होनी भी चाहिये; क्योंकि अपने-अपने कर्तव्यका पालन किये बिना सृष्टि-चक्रकी मर्यादा चलेगी ही नहीं और अपने कर्तव्यका त्याग करनेसे उद्धार भी नहीं होगा। अतः जो मनुष्य जिस-किसी वर्ण, आश्रम, परिस्थिति आदिमें स्थित है, उसे निष्कामभावपूर्वक अपने कर्तव्यका पालन अवश्य करना चाहिये।

प्रवृत्ति (अपने कर्तव्यका पालन) तो गुणातीत पुरुषके द्वारा भी होती है (१४ । २२), पर उसके द्वारा भोग और संग्रहके उद्देश्यसे कर्मोंका आरम्भ नहीं होता। कहीं-कहीं गुणातीत पुरुषके द्वारा भी नये-नये कर्मोंका आरम्भ देखनेमें आता है; परंतु उन कर्मोंके आरम्भमें उसके किञ्चिन्मात्र भी राग-द्वेष नहीं होते। भोग और संग्रहके उद्देश्यसे नये-नये कर्मोंका आरम्भ करनेवाले मनुष्य 'हमें तो परमात्मप्राप्ति ही करनी है'—ऐसा एक निश्चय कर ही नहीं सकते (२ । ४४)।

तात्पर्य यह है कि अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार निष्कामभावपूर्वक की गयी प्रवृत्ति बाधक नहीं है, प्रत्युत मुक्तिमें हेतु है। ऐसे ही अपने स्वार्थ, अभिमान, कामना, आसक्तिका त्याग करके केवल प्राणिमात्रके हितके लिये किये गये नये-नये कर्मोंका आरम्भ भी बाधक नहीं है; परंतु इन आरम्भोंमें साधकको यह विशेष सावधानी रखनी चाहिये कि कर्मोंका आरम्भ करते हुए कहीं हृदयमें पदार्थों और क्रियाओंका महत्त्व अङ्कित न हो जाय। यदि हृदयमें पदार्थों और क्रियाओंका

महत्त्व अङ्कित हो जायगा तो उन कर्मोंमें साधककी निर्लिप्तता नहीं रहेगी अर्थात् वह साधक अपने पास रुपये-पैसे भी न रखता हो, पदार्थोंका संग्रह भी न करता हो, तो भी उसके हृदयमें धन, पदार्थ और क्रियाओंका महत्त्व अङ्कित हो ही जायगा; तथा कार्य करते हुए और कार्य न करते हुए भी उन कार्योंका चिन्तन हो ही जायगा।

भगवान्ने कर्मयोगी, ज्ञानयोगी और भक्तियोगी—तीनों ही साधकोंके लिये प्रवृत्ति (कर्म) से निर्लिप्त रहनेकी बात कही है। कर्मयोगी साधकमें फलासक्ति न होनेसे वह कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता—**'कुर्वन्नपि न लिप्यते'** (५ । ७)। ज्ञानयोगी साधक 'सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिके द्वारा ही हो रहे हैं'—ऐसा देखता है और स्वयंको अकर्ता अनुभव करता है (१३ । २९)। इसलिये वह कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता। भक्तियोगी साधक सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्के अर्पण कर देता है, अतः वह कर्म करता हुआ भी कर्मोंसे लिप्त नहीं होता।

भगवान्ने कर्मयोगमें कर्मोंके आरम्भमें कामनाओं और संकल्पोंका त्याग तो बताया है, पर कर्मोंके आरम्भका त्याग नहीं बताया; क्योंकि कर्मयोगमें निष्कामभावसे कर्म करना आवश्यक है। कर्मोंको किये बिना कर्मयोगकी सिद्धि ही नहीं हो सकती (६ । ३); परंतु ज्ञानयोग और भक्तियोगमें भगवान्ने सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भका त्याग बताया है; जैसे—जो सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भका त्यागी है, वह गुणातीत कहा जाता है (१४ । २५); और जो सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भका त्यागी है, वह भक्त मुझे प्रिय है (१२ । १६)। कारण कि ज्ञानयोगी और भक्तियोगीकी सांसारिक कर्मोंसे उपरति रहती है।

गीतामें लोकसंग्रह

साधकात् प्रभुसिद्धाभ्यां जायते लोकसंग्रहः ।
येनोन्मार्गं परित्यज्य भवन्ति धार्मिका जनाः ॥

जिसे लोग आदरकी दृष्टिसे देखते हैं, आदर्श मानते हैं, उसके आचरणोंसे और उसके वचनोंसे उन्मार्गसे बचकर सन्मार्गपर चलते हैं, उसके द्वारा लोकसंग्रह होता है। यह लोकसंग्रह साधक, सिद्ध और भगवान्—इन तीनोंके द्वारा होता है; जैसे—

(१) **साधकके द्वारा लोकसंग्रह**—भगवान्ने अर्जुनको साधकमात्रका प्रतिनिधि बनाकर कहा कि पहले राजा जनक-जैसे महापुरुष कर्मोंके द्वारा ही परमसिद्धिको प्राप्त हुए हैं; अतः लोकसंग्रहको देखते हुए तुम भी उनकी तरह अनासक्तभावसे कर्म करनेके योग्य हो (३ । २०)।

(२) **सिद्धके द्वारा लोकसंग्रह**—सिद्ध महापुरुष जो-जो आचरण करते हैं, अन्य मनुष्य भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं और वे अपनी वाणीसे जो कुछ कह देते हैं, दूसरे लोग भी उसीका अनुवर्तन करते हैं (३ । २१)। कर्मोंमें आसक्त मनुष्य जिस प्रकार सावधानी और तत्परतापूर्वक कर्म करते हैं, सिद्ध महापुरुष भी लोकसंग्रहकी इच्छासे अनासक्तभावसे उसी प्रकार कर्म करे (३ । २५)।

(३) **भगवान्के द्वारा लोकसंग्रह**—भगवान् अपने विषयमें कहते हैं कि त्रिलोकीमें मेरे लिये न तो कुछ करना शेष है और न कुछ पाना शेष है, तो भी मैं कर्तव्य-कर्म करता हूँ। यदि मैं निरालस्य होकर कर्तव्य-कर्म न करूँ तो लोग मेरा ही अनुवर्तन करेंगे अर्थात् वे भी अपना कर्तव्य-कर्म छोड़ देंगे, जिससे उनका पतन हो जायगा। अतः यदि मैं कर्तव्य-कर्म न

करूँ तो मैं संकरताको उत्पन्न करनेवाला और प्रजाका नाश करनेवाला बन जाऊँगा (३ । २२—२४)।

तात्पर्य यह है कि वास्तवमें लोकसंग्रह भगवान् और सिद्धके द्वारा ही होता है; क्योंकि उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं होता। ऐसे तो साधक भी मर्यादामें चलता है और उसके द्वारा भी लोकसंग्रह होता है, पर वैसा लोकसंग्रह नहीं होता; क्योंकि साधकमें अपने कल्याणका प्रयोजन भी रहता है।

गीतामें कर्मकी व्यापकता

कायेन मनसा वाचा यत्किञ्चित्कुरुते नरः।
शुभाशुभं च तत्सर्वं कर्मैव गीतया मतम्॥

परमात्मा और परमात्माकी शक्ति प्रकृति—ये दो हैं। इनमें परमात्मा तो सदा एकरूप, एकरस रहते हैं, उनमें कभी परिवर्तन नहीं होता और प्रकृति निरन्तर परिवर्तनशील है, वह कभी परिवर्तनरहित नहीं होती। इस प्रकृतिमें जो कुछ परिवर्तन होता है, वह सब 'क्रिया' है और क्रियाओंका पुञ्ज 'पदार्थ' है। प्रकृतिमें स्वाभाविक होनेवाली क्रियाओंके साथ जब अहंकार लग जाता है, तब उसकी 'कर्म' संज्ञा हो जाती है। वे ही कर्म (चाहे कायिक हों, चाहे वाचिक हों, चाहे मानसिक हों) इष्ट, अनिष्ट और मिश्रित फल देनेवाले होते हैं (१८ । १२)। उन कर्मोंको करनेके जो भाव हैं, वे कर्तामें ही रहते हैं। ये 'कर्म' और 'भाव' शुभ तथा अशुभ—दोनों तरहके होते हैं। 'शुभ' कर्म और भाव मुक्ति देनेवाले तथा 'अशुभ' कर्म और भाव पतन करनेवाले होते हैं। इन्हीं कर्म और भावको भगवान्ने चौथे अध्यायके तेरहवें श्लोकमें 'कर्म' और 'गुण' नामसे कहा है और इन्हींसे चारों वर्णोंकी रचना करनेकी बात कही है। तात्पर्य यह है कि 'कर्म' नाम शुभ-अशुभ क्रियाओंका है और 'गुण' नाम शुभ-अशुभ भावोंका है। इन क्रियाओं और भावोंको लेकर ही चारों वर्णोंकी रचना हुई है।

भगवान्ने चारों वर्णोंके जो लक्षण बताये हैं, उन सबको 'स्वभावज कर्म' नामसे कहा है। उनमें ब्राह्मणके शम, दम, तप, शौच आदि नौ गुणोंको और क्षत्रियके शौर्य, तेज, धृति आदि सात गुणोंको भी कर्म कहा है तथा वैश्यके कृषि, गौरक्ष्य और वाणिज्य—इन तीन कर्मोंको और शूद्रके परिचर्यात्मक कर्मको भी कर्म कहा है। वैश्य और शूद्रके कर्मोंको तो कर्म कहना ठीक है; क्योंकि वे कर्म ही हैं, पर भगवान्ने ब्राह्मण और क्षत्रियके गुणोंको भी कर्म कहा है! गुणोंको भी कर्म कहनेका तात्पर्य यह है कि प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रखते हुए मनुष्यके द्वारा जो कुछ भी होता है, वह सब कर्म ही है अर्थात् प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे भाव, क्रिया आदि भी कर्म ही कहे जाते हैं, जो कि जन्म और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों-को देनेवाले हो जाते हैं; परंतु जो मनुष्य प्रकृतिसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करके परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाता है, उसके शरीरसे कर्म होते हुए भी वे कर्म 'अकर्म' कहलाते हैं। अपने स्वरूपमें स्थित रहना 'अकर्म' है और अकर्ममें स्थित रहते हुए शरीर, मन, बुद्धि आदिके द्वारा जो कर्म होते हैं, वे सभी कर्म 'अकर्म' होते हैं। इसका वर्णन भगवान्ने चौथे अध्यायके अठारहवें श्लोकमें किया है कि जो कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखता है, वह योगी है, बुद्धिमान् है और उसके लिये कुछ भी करना शेष नहीं है।

इस विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रखते हुए मनुष्य जो कुछ भी करता है, वह सब कर्म ही है। वह स्थूल शरीरसे सम्बन्ध रखते हुए स्थूल क्रियाएँ करता है, सूक्ष्मशरीरसे सम्बन्ध रखते हुए चिन्तन, ध्यान आदि करता है और कारणशरीरसे

सम्बन्ध रखते हुए समाधि लगाता है। गीताके अनुसार ये सभी कर्म हैं; क्योंकि इनमें प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है। भगवान्‌ने अठारहवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें कहा है कि मनुष्य अपने शरीर, वाणी और मनसे जो कुछ भी करता है, वह सब कर्म ही है। चौथे अध्यायके चौबीसवेंसे तीसवें श्लोकतक जितने यज्ञोंका वर्णन हुआ है, उन सबको भगवान्‌ने कर्मजन्य बताया है—**'कर्मजान्विद्धि तान्सर्वान्'** (४।३२)।

कर्मोंसे छूटनेके लिये फलासक्तिका त्याग करके केवल यज्ञ अर्थात् कर्तव्य-परम्परा सुरक्षित रखनेके लिये ही कर्म किये जायँ तो वह 'कर्मयोग' हो जाता है (३।९; १८।९); विवेकके द्वारा कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद किया जाय तो वह 'ज्ञानयोग' हो जाता है (१३।२३, ३४) और कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण किया जाय तो वह 'भक्तियोग' हो जाता है (९।२७; १२।६)।

गीतामें 'यज्ञ' शब्दकी व्यापकता

गीताया यज्ञशब्दस्तु विहितकर्मवाचकः।
पालनीयस्ततो यज्ञो निष्कामैर्मानवैः सदा॥

गीताजीके श्लोकोंपर विचार किया जाय तो यह बात सिद्ध होती है कि शास्त्रविहित सभी शुभकर्मोंका नाम 'यज्ञ' है। यज्ञोंका विशेष वर्णन चौथे अध्यायमें आता है। उसमें भगवान् कहते हैं कि केवल यज्ञके लिये कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म विलीन हो जाते हैं अर्थात् बन्धनकारक नहीं होते—**'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते'** (४।२३)। इसी बातको भगवान् तीसरे अध्यायके नवें श्लोकमें दूसरे ढंगसे कहते हैं कि 'यज्ञके लिये किये जानेवाले कर्मोंके अतिरिक्त जो भी कर्म होते हैं, वे सभी बन्धनकारक होते हैं—**'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।'** चौथे अध्यायके चौबीसवेंसे तीसवें श्लोकतक भगवान् बारह प्रकारके यज्ञोंका वर्णन करते हैं—१. ब्रह्मयज्ञ, २. भगवदर्पणरूप यज्ञ, ३. अभिन्नतारूप यज्ञ, ४. संयमरूप यज्ञ, ५. विषय-हवनरूप यज्ञ, ६. समाधिरूप यज्ञ, ७. द्रव्ययज्ञ, ८. तपोयज्ञ, ९. योगयज्ञ, १०. स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ, ११. प्राणायामरूप यज्ञ और १२. स्तम्भवृत्ति प्राणायामरूप यज्ञ। फिर इकतीसवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि यज्ञसे बचे हुए अमृतका अनुभव करनेवाले सनातन परब्रह्मको प्राप्त होते हैं—**'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्'** (४।३१)। इसी बातको भगवान्‌ने तीसरे अध्यायके तेरहवें श्लोकमें **'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः'** पदोंसे कहा है कि 'यज्ञशेषका अनुभव करनेवाले श्रेष्ठ मनुष्य सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाते हैं।' इस प्रकार तीसरे अध्यायके नवें और तेरहवें तथा चौथे अध्यायके तेईसवें और इकतीसवें—इन चारों ही श्लोकोंमें यज्ञका फल बताया गया है—सम्पूर्ण पापोंका नाश; संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद और परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति। अतः परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके जितने भी उपाय हैं, वे सब-के-सब गीतामें 'यज्ञ' शब्दके अन्तर्गत आ जाते हैं।

गीताका 'यज्ञ' शब्द इतना व्यापक है कि इसमें यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, होम आदि सभी शुभकर्म आ जाते हैं। चौथे अध्यायके बत्तीसवें श्लोकमें 'वेदकी वाणीमें बहुत-से यज्ञोंका विस्तारसे वर्णन हुआ है'—ऐसा कहकर भगवान्‌ने दहरादिकी उपासनाका भी 'यज्ञ' शब्दमें अन्तर्भाव कर दिया है, जिसका वर्णन गीतामें नहीं है, प्रत्युत उपनिषद्‌में है। फिर भगवान् कहते हैं कि 'इन सब यज्ञोंको तुम कर्मजन्य जानो' और 'इस

प्रकार जाननेसे तुम मुक्त हो जाओगे'—'**एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे**' (४ । ३२)।

तीसरे अध्यायके नवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि 'मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं'—'**जन्म कर्म च मे दिव्यम्**'। अपने कर्मोंकी दिव्यताका वर्णन भगवान् तेरहवें-चौदहवें श्लोकोंमें करते हैं। उनमें भगवान् कहते हैं कि सृष्टि-रचना आदिका कर्ता होनेपर भी मुझे तुम अकर्ता जानो; क्योंकि कर्मफलमें मेरी कोई स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म बाँधते नहीं। इस प्रकार मुझे तत्त्वसे जाननेवाला भी कर्मोंसे नहीं बँधता। तात्पर्य यह है कि जो मेरी तरह कर्तृत्वाभिमान और फलासक्तिसे रहित होकर कर्म करेगा, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधेगा। इस प्रकार भगवान्‌ने अपने कर्मोंकी दिव्यता बतायी। जो कर्म बाँधनेवाले हैं, वे ही कर्म मुक्त करनेवाले हो जायँ—यही कर्मोंकी दिव्यता है। फिर पंद्रहवें श्लोकमें भगवान् 'एवं ज्ञात्वा···' पदोंसे कहते हैं कि इस प्रकार जानकर मुमुक्षु पुरुषोंने भी कर्म किये हैं, इसलिये तुम भी कर्म ही करो—'**कुरु कर्मैव**'। सोलहवें श्लोकमें कर्मोंसे निर्लिप्त रहनेके इसी तत्त्वको विस्तारसे कहनेके लिये भगवान् प्रतिज्ञा करते हैं और '**यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्**' पदोंसे उसे जाननेका फल मुक्त होना बताते हैं। यही बात भगवान् उस विषयका उपसंहार करते हुए '**एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे**' (४ । ३२) पदोंसे कहते हैं। इस प्रकार कर्तृत्वाभिमान और आसक्तिसे रहित होकर किये गये सम्पूर्ण शुभ कर्म 'यज्ञ' के अन्तर्गत आ जाते हैं।

गीतामें कहीं तो यज्ञ, दान और तप—इन तीन शुभ कर्मोंका वर्णन आता है (१७ । २४-२५, २७; १८ । ३, ५), कहीं यज्ञ, दान, तप और वेदाध्ययन—इन चार शुभ कर्मोंका वर्णन आता है (८ । २८; ११ । ५३) और कहीं यज्ञ, दान, तप, वेदाध्ययन और क्रिया—इन पाँच शुभ कर्मोंका वर्णन आता है (११ । ४८)। वास्तवमें तो एक यज्ञके उल्लेखसे ही सम्पूर्ण शुभ कर्मोंका उल्लेख हो जाता है।

तीसरे अध्यायके दसवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि सृष्टिके आदिमें प्रजापति ब्रह्माजीने यज्ञोंके सहित प्रजाकी रचना की—'**सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा**'। यहाँ '**प्रजाः**' पदके अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि सभी आ जाते हैं और उसके साथ '**सहयज्ञाः**' विशेषण देनेसे यह शङ्का होती है कि यज्ञमें सबका अधिकार तो है नहीं, फिर भगवान्‌ने सारे प्रजाजनोंके साथ यह विशेषण क्यों लगाया ? इसका समाधान यही है कि यहाँ उस यज्ञकी बात नहीं है, जिसमें सबका अधिकार नहीं। यहाँ 'यज्ञ' शब्द कर्तव्य-कर्मोंका वाचक है। अपने वर्ण, आश्रम, धर्म, जाति, स्वभाव, देश, काल आदिके अनुसार प्राप्त सभी कर्तव्य-कर्म 'यज्ञ' के अन्तर्गत आ जाते हैं। दूसरेके हितकी भावनासे किये जानेवाले सब कर्म भी 'यज्ञ' ही हैं। '**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य**' (१८ । ४६) पदोंसे अपने कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा परमात्माका पूजन करनेकी जो बात कही गयी है, वह भी 'यज्ञ'के ही अन्तर्गत है।

संखिया, भिलावा आदि जो जहर हैं, उन्हें भी जब वैद्यलोग शुद्ध करके औषधरूपमें देते हैं, तब वे जहर भी अमृतकी तरह होकर बड़े-बड़े रोगोंको दूर करनेवाले बन जाते हैं। इसी तरह कामना, ममता, आसक्ति, पक्षपात, विषमता, स्वार्थ, अभिमान आदि सब जहररूप हैं। कर्मोंमेंसे इस जहरके भागको निकाल देनेसे वे कर्म अमृतमय होकर जन्म-मरणरूप महान् रोगको दूर करनेवाले बन जाते हैं। ऐसे अमृतमय कर्म ही 'यज्ञ' कहलाते हैं।

सबका मूल है—परमात्मा। परमात्मासे वेद प्रकट होते हैं। वेद कर्तव्यपालनकी विधि बताते हैं। मनुष्य उस विधिसे कर्तव्यपालन करते हैं। कर्तव्यपालनसे यज्ञ होता है और यज्ञसे वर्षा होती है। वर्षासे अन्न होता है, अन्नसे प्राणी होते हैं और उन्हीं प्राणियोंमेंसे मनुष्य कर्तव्यपालनसे यज्ञ करते हैं (३ । १४-१५)। इस तरह यह सृष्टि-चक्र चल रहा है। परमात्मा सर्वव्यापी होनेपर भी कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञमें नित्य विद्यमान रहते

हैं—'**तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्**' (३ । १५) । तात्पर्य यह है कि जहाँ निष्कामभावसे अपने कर्तव्यका पालन किया जाता है, वहाँ परमात्मा रहते हैं । अतः परमात्मप्राप्तिके इच्छुक मनुष्य अपने कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा उन्हें सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकते हैं; परंतु जो मनुष्य यज्ञ नहीं करता, अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, उसके लिये भगवान् कहते हैं कि 'वह तो चोर ही है'—'**स्तेन एव सः**' (३ । १२); 'वह पापका ही भक्षण करता है'—'**भुञ्जते ते त्वघम्**' (३ । १३); 'वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला अघायु (पापमय जीवन बितानेवाला) मनुष्य व्यर्थ ही जीता है'—'**अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति**' (३ । १६) ।

यज्ञ अर्थात् कर्तव्यपालनकी जिम्मेवारी मनुष्यपर ही है । अतः मनुष्यको चाहिये कि वह निष्कामभावसे या भगवत्पूजनके भावसे अपने कर्तव्यका तत्परतापूर्वक पालन करे । अपने-अपने कर्तव्य-कर्ममें तत्परतापूर्वक लगा हुआ मनुष्य परमात्मतत्त्वको प्राप्त कर लेता है—'**स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः**' (१८ । ४५)।

गीतामें विविध विद्याएँ

वासुदेवेन गीतायां मनुष्याणां हिताय हि ।
कथिता विविधा विद्या दर्पणे तु प्रधानतः ॥

(१) **शोक-निवृत्तिकी विद्या**—संसारमें दो तरहसे शोक होता है—जो मर गये हैं, उनके लिये और जो जीते हैं, उनके लिये । इस शोकको दूर करनेके लिये भगवान्‌ने सत् और असत्‌के, शरीरी और शरीरके विवेकका वर्णन किया कि जो सत् है, अविनाशी है, अपरिवर्तनशील है, उसका कभी अभाव नहीं होता और जो असत् है, विनाशी है, परिवर्तनशील है, उसका भाव नहीं होता अर्थात् उसका अभाव ही होता है । तात्पर्य यह है कि इस शरीरमें रहनेवाले शरीरी (जीवात्मा) का कभी अभाव नहीं होता । जैसे इस शरीरमें कुमार, युवा और वृद्धावस्था होती है, पर उसमें रहनेवाला जीवात्मा वही रहता है, ऐसे ही एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरकी प्राप्ति होती है, पर जीवात्मा वही रहता है, उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं होता । ये सभी शरीर उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं, पर इन शरीरोंमें रहनेवालेका कोई कभी नाश कर ही नहीं सकता । असत् शरीर आदिको लेकर शोक हो ही नहीं सकता । क्योंकि वे कभी टिकते ही नहीं और शरीरोंमें रहनेवाले सत्‌को लेकर भी शोक हो ही नहीं सकता; क्योंकि वह कभी मिटता (मरता) ही नहीं (२ । ११—३०) आदि-आदि कहकर भगवान्‌ने शोक-निवृत्तिकी विद्या बतायी है ।

जो साधक केवल परमात्माके ही सम्मुख हैं, केवल परमात्माको ही चाहता है, उसमें परमात्माकी कृपासे उनकी सम्पत्ति (दैवी सम्पत्ति) अर्थात् सद्गुण-सदाचार स्वाभाविक ही आ जाते हैं; परंतु अपनेमें दैवी सम्पत्तिकी कमी देखकर साधकको शोक एवं चिन्ता होती है । इसलिये भगवान् कहते हैं कि साधकको अपनेमें दैवी गुणोंकी कमी देखकर शोक एवं चिन्ता नहीं करनी चाहिये (१६ । ५) । तात्पर्य यह है कि साधक भगवान्‌का आश्रय लेकर दुर्गुण-दुराचारोंका त्याग करे और भगवान्‌को पुकारे, पर शोक-चिन्ता कभी न करे ।

भगवान्‌के सिवाय अन्यका आश्रय लेनेसे ही शोक होता है । कारण कि अन्य तो टिकनेवाला है ही नहीं, पर मनुष्य उसे रखना चाहता है । अतः अन्यके जानेसे अथवा जानेकी आशङ्कासे मनुष्यको शोक होता है । इसलिये भगवान् कहते हैं कि तुम सब आश्रयोंको छोड़कर केवल मेरी शरण हो जाओ । मैं तुम्हें सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तुम चिन्ता-शोक मत करो (१८ । ६६) ।

*

(२) कर्तव्य-कर्म करनेकी विद्या—मनुष्यका कर्तव्य-कर्म करनेमें ही अधिकार है, फलकी प्राप्तिमें नहीं (२ । ४७) । कारण कि फल प्राप्त करना मनुष्यके अधीन नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌के अधीन है; परंतु फलका त्याग करनेमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है, समर्थ है । अतः भगवान् कहते हैं कि साधक कर्मफलका त्याग करके नैष्ठिकी शान्तिको प्राप्त होता है (५ । १२) । इसलिये मनुष्यको फलासक्तिका त्याग करके अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये; क्योंकि फलासक्तिरहित होकर अपने कर्तव्यका पालन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है (३ । १९) ।

(३) त्यागकी विद्या—प्रत्येक कर्मका आरम्भ और अन्त होता है तथा उसके फलका भी संयोग और वियोग होता है । अतः जो कर्म और कर्मफल हमारे साथ नहीं रह सकता तथा हम उसके साथ नहीं रह सकते, ऐसे कर्मको साथमें रखनेकी और फलको प्राप्त करनेकी इच्छाका त्याग करके तत्परतापूर्वक शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म करना चाहिये (१८ । ९) ।

(४) पाप न लगनेकी विद्या—जय-पराजय, लाभ-हानि, सुख-दुःख आदिमें समता रखकर अपने कर्तव्यका आचरण किया जाय तो पाप नहीं लगता (२ । ३८) । तात्पर्य यह है कि समताके आनेसे पुराना पाप नष्ट हो जाता है और नया पाप लगता नहीं । जो मनुष्य सब तरहकी आशाओंको छोड़कर केवल शरीरनिर्वाह-सम्बन्धी कर्म करता है, उसे भी पाप नहीं लगता (४ । २१); क्योंकि उसके भीतर सुखबुद्धि, भोगबुद्धि नहीं है । स्वभावनियत अर्थात् शास्त्रनियत कर्म करनेवाला मनुष्य पापको प्राप्त नहीं होता (१८ । ४७) । जिसमें 'मैं कर्म करता हूँ'—ऐसा अहंकार नहीं है और जिसमें 'मुझे कर्मफल मिले'—ऐसी फलेच्छा नहीं है, वह मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियोंको मारकर भी न तो मारता है और न उस पापसे बँधता है (१८ । १७) ।

(५) भोजन करनेकी विद्या—भोजन करनेके बाद पेटकी याद नहीं आनी चाहिये । पेट दो तरहसे याद आता है—अधिक खानेपर अथवा कम खानेपर । अतः भोजन न अधिक हो और न कम हो, प्रत्युत नियमित हो (६ । १६-१७) । भोजनके पदार्थ भी सात्त्विक हों (१७ । ८) ।

चौथे अध्यायके चौबीसवें श्लोकको शिष्टजन भोजनके समय उच्चारण करते हैं, जिससे भोजनरूप कर्म भी यज्ञ बन जाय ।

(६) विषय-सेवनकी विद्या—रागपूर्वक विषयोंका चिन्तन करनेमात्रसे मनुष्यका पतन हो जाता है (२ । ६२-६३); परंतु अपने वशीभूत की हुई राग-द्वेषरहित इन्द्रियोंसे विषयोंका सेवन करनेसे प्रसन्नताकी प्राप्ति होती है अर्थात् अन्तःकरण स्वच्छ, निर्मल हो जाता है (२ । ६४) । स्वच्छ अन्तःकरणवाले पुरुषकी बुद्धि बहुत शीघ्र परमात्मामें स्थिर हो जाती है (२ । ६५) ।

(७) भगवान्‌के अर्पण करनेकी विद्या—जो मनुष्य श्रद्धा-प्रेमपूर्वक पत्र, पुष्प, फल, जल आदि पदार्थ भगवान्‌के अर्पण करता है, उसके द्वारा भक्तिपूर्वक दिये हुए उस उपहार (भेंट) को भगवान् खा लेते हैं (९ । २६) । यदि किसीके पास भगवान्‌को अर्पण करनेके लिये पत्र, पुष्प आदि भी न हों तो वह जो कुछ करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ यज्ञ करता है, जो कुछ दान देना चाहता है और जो कुछ तप करता है, उन सबको भगवान्‌के अर्पण कर दे । ऐसा करनेसे वह सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मोंसे, बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है (९ । २७-२८) ।

(८) दान देनेकी विद्या—दान तो प्रायः सभी लोग देते ही हैं, पर विधिपूर्वक नहीं देते । भगवान् दान देनेकी विद्या बताते हैं कि देश, काल और पात्रके प्राप्त होनेपर 'देना कर्तव्य है'—ऐसा समझकर प्रत्युपकारकी भावनाका त्याग करके दान देना चाहिये । ऐसा दान सात्त्विक होता है और यही दान बन्धनसे मुक्त करनेवाला होता है (१७ । २०) ।

(९) **यज्ञ करनेकी विद्या**—जो भी यज्ञ किया जाय, वह फलकी इच्छाका त्याग करके किया जाय तथा 'यज्ञ करना कर्तव्य है'—ऐसा समझकर किया जाय तो वह यज्ञ सात्त्विक होता है, गुणातीत करनेवाला होता है (१७ । ११)।

(१०) **कर्मोंको सत् बनानेकी विद्या**—यदि कर्मोंको भगवान्के अर्पण कर दिया जाय तो सब कर्म सत् हो जाते हैं, निर्गुण हो जाते हैं (१७ । २७)।

(११) **पूजनकी विद्या**—मनुष्य अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार जो शास्त्रनियत कर्म करता है, उन्हीं कर्मोंको वह परमात्माके पूजनकी सामग्री बना ले अर्थात् अपने-अपने कर्मोंके द्वारा सर्वव्यापी परमात्माका पूजन करे, उन कर्मोंको परमात्माके प्रीत्यर्थ करे, उन कर्मोंसे अपना कोई स्वार्थ न रखे (१८ । ४६)।

(१२) **समता लानेकी विद्या**—राग-द्वेषके वशमें होकर कोई भी क्रिया नहीं करनी चाहिये (३ । ३४)। जो भी कार्य करे, शास्त्रको सामने रखकर ही करे; क्योंकि कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय करनेमें शास्त्र ही प्रमाण है (१६ । २४)। महापुरुषके आचरणों और वचनोंके अनुसार ही सब क्रियाएँ करे (३ । २१)। कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धिमें सम रहे (२ । ३८, ४८)। ऐसा करनेसे अपनेमें समता आ जाती है। तात्पर्य यह है कि करनेमें राग-द्वेष न करे और होनेमें हर्ष-शोक न करे। ऐसा करनेमें मनुष्यमात्र स्वतन्त्र हैं, सबल हैं।

गीतामें विभिन्न मान्यताएँ

कृष्णस्य फाल्गुनस्यास्ति सिद्धस्य संजयस्य च।
भक्तसाधकयोश्चैवाभक्तासाधकयोर्मतम् ॥

१. भगवान्की मान्यता

भगवान्की मान्यतामें भक्तिका अधिक महत्त्व है अर्थात् भगवान् अपनी भक्तिको विशेष आदर देते हैं, सर्वोपरि मानते हैं। ऐसे तो भगवान्ने ज्ञानयोग, कर्मयोग, ध्यानयोग, गीताध्ययन आदिमें भी अपनी मान्यता बतायी है, पर भक्ति-जैसी नहीं।

तीसरे अध्यायके तीसवें श्लोकमें भगवान्ने अपनी भक्तिकी बात कही और उसी बातको वे इकतीसवें-बत्तीसवें श्लोकोंमें अन्वय-व्यतिरेकसे पुष्ट करते हुए कहते हैं कि जो मनुष्य दोषदृष्टिरहित होकर श्रद्धापूर्वक मेरे इस मतका अनुष्ठान करते हैं, वे कर्मोंसे मुक्त हो जाते हैं; परंतु दोषदृष्टि और अश्रद्धा करनेवाले जो मनुष्य मेरे इस मतका अनुष्ठान नहीं करते, उनका पतन हो जाता है।

ध्यानयोगीकी दृष्टिका वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं कि जो ध्यानयोगी अपने शरीरकी उपमासे सबको समान देखता है तथा सुख और दुःखको भी समान देखता है, वह योगी श्रेष्ठ माना गया है। (६ । ३२)।

ध्यानयोगका वर्णन सुनकर जब अर्जुन मनकी चञ्चलताको दूर करना बड़ा कठिन बताते हैं, तब भगवान् मनकी चञ्चलताको दूर करनेके लिये अभ्यास और वैराग्य—ये दो उपाय बताकर इस विषयमें अपनी मान्यता बताते हैं कि जिसका मन वशमें (संयत) नहीं है, उसके द्वारा ध्यानयोग सिद्ध होना कठिन है और जिसका मन वशमें है, उसके द्वारा ध्यानयोग सिद्ध हो जाता है—ऐसा मेरा मत है (६ । ३६)।

योगभ्रष्टके विषयमें अर्जुनका संदेह दूर करनेके बाद भगवान् कहते हैं कि जो मुझमें तल्लीन हुए अन्तःकरणसे श्रद्धा-प्रेमपूर्वक मेरा भजन करता है, वह ज्ञानयोगी, कर्मयोगी आदि सम्पूर्ण योगियोंमें श्रेष्ठ है —ऐसा मेरा मत है (६ । ४७)।

अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी (प्रेमी)—इन चारों भक्तोंको सुकृती और उदार बताकर भगवान् कहते हैं कि ज्ञानी (प्रेमी) भक्त तो मेरी आत्मा (स्वरूप) ही है—ऐसा मेरा मत है; क्योंकि उसकी कोई अन्य कामना नहीं है, वह केवल मुझमें ही लगा हुआ है (७ । १८)।

बारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने पूछा कि भक्तियोग और ज्ञानयोगके उपासकोंमें कौन श्रेष्ठ है ? तो भगवान् कहते हैं कि मुझमें मन लगानेवाले, परम-श्रद्धासे युक्त होकर मेरी उपासना करनेवाले भक्त सर्व-श्रेष्ठ हैं—ऐसा मेरा मत है (१२ । २)।

सांसारिक जितने भी ज्ञान हैं, उन सबमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, देह-देही, शरीर-शरीरी, अनित्य-नित्य, असत्-सत्का ज्ञान (विवेक) श्रेष्ठ है। यह ज्ञान सम्पूर्ण साधनोंका आधार है, मूल है; क्योंकि साधक कोई भी साधन करेगा तो उसमें यह विवेक रहेगा ही। अतः भगवान् कहते हैं कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका ज्ञान ही मेरे मतमें यथार्थ ज्ञान है (१३ । २)।

अठारहवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्ने सांख्ययोग और कर्मयोगके विषयमें अन्य दार्शनिकोंके चार मत बताये। उन चारों मतोंकी तुलनामें भगवान् कहते हैं कि कर्म और उसके फलमें आसक्तिका त्याग करके कर्तव्य-कर्म करना चाहिये—यह मेरा निश्चित किया हुआ उत्तम मत है (१८ । ६)।

गीताके अध्ययन, पठन-पाठनकी महिमाका वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं कि जो इस गीता-ग्रन्थका केवल अध्ययन भी करेगा, पाठ भी करेगा, तो उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित हो जाऊँगा—ऐसी मेरी मान्यता है (१८ । ७०)।

—इस तरह भक्तिके विषयमें चार, ध्यानयोगके विषयमें दो, ज्ञानयोगके विषयमें एक, कर्मयोगके विषयमें एक और गीताध्ययनके विषयमें एक—इन सम्पूर्ण मान्यताओंका तात्पर्य यह है कि भगवान्ने भक्तिको ही अधिक मान्यता दी है, आदर दिया है ।

२. अर्जुनकी मान्यता

अर्जुन ध्यानयोगके न होनेमें चित्तकी चञ्चलताको कारण मानते हुए कहते हैं कि यह मन बड़ा चञ्चल, प्रमथनशील, बलवान् और जिद्दी है। मैं इस मनको रोकना वायुकी तरह कठिन मानता हूँ (६ । ३४)।

भगवान्के प्रभावकी बातें सुनकर और उनसे प्रभावित होकर अर्जुन भगवान्से कहते हैं कि हे भगवन् ! आप मेरे प्रति जो कुछ भी कह रहे हैं, वह सब मैं सत्य मानता हूँ (१० । १४)।

भगवान्के विश्वरूपको देखते हुए अर्जुनको भगवान्के निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार और सगुण-साकार रूपका विशेष बोध हुआ। अतः अर्जुन अपनी मान्यता बताते हुए कहते हैं कि आप ही जाननेयोग्य अक्षरब्रह्म हैं, आप ही इस विश्वके परम आधार हैं, आप ही सनातनधर्मके रक्षक हैं और आप ही सनातन पुरुष हैं—ऐसा मेरा मत है (११ । १८)।

विश्वरूपको देखकर अर्जुनको भगवान्के प्रभावका, उनकी महिमाका ज्ञान हुआ कि भगवान् कितने प्रभाव-शाली हैं। अतः उन्हें अपनी पूर्वकृत भूलोंकी याद आती है और वे कहते हैं कि मैंने आपको अपना सखा मानकर धृष्टतासे 'हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे !' इस तरह कह दिया है, उसके लिये मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ (११ । ४१)।

अर्जुनकी मान्यताओंका तात्पर्य यह है कि उन्हें एक तो अपनी कमजोरी समझमें आयी और दूसरा भगवान्का माहात्म्य समझमें आया। ये दोनों बातें यदि साधककी समझमें आ जायँ तो उसका बेड़ा पार है।

३. संजयकी मान्यता

संजय भगवान्के प्रभावको पहलेसे ही जानते थे, पर अर्जुनपर भगवान्की विशेष कृपाको देखकर वे विशेष प्रभावित हुए। अतः वे अपना निर्णय सुनाते हैं कि जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण और गाण्डीव धनुर्धारी अर्जुन हैं, वहाँ ही श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है—ऐसा मेरा मत है (१८ । ७८)।

संजयकी मान्यताका तात्पर्य यह है कि युद्धके परिणाममें पाण्डुपुत्रोंकी ही विजय होगी, इसमें कोई संदेह नहीं है।

४. सिद्धकी मान्यता

भगवान् ध्यानयोगका फल बताते हुए कहते हैं कि आत्यन्तिक सुखको, लाभको प्राप्त होकर सिद्ध महापुरुष फिर उससे बढ़कर दूसरा कोई लाभ नहीं मानता (६।२२)।

जो तत्त्वको जाननेवाले होते हैं, उनकी यथार्थ मान्यता होती है कि 'गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं' अर्थात् प्रकृतिजन्य गुणोंमें ही सम्पूर्ण क्रियाएँ हो रही हैं। ऐसा मानकर वे क्रियाओं और पदार्थोंमें आसक्त नहीं होते (३।२८)।

५. असाधक और साधककी मान्यता

जो संसारमें रचे-पचे हैं, तत्त्वको नहीं जानते, ऐसे अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाले मनुष्योंकी मान्यता होती है कि 'मैं कर्ता हूँ' (३।२७)। अपनेको कर्ता माननेवालेको भोक्ता बनना ही पड़ता है और भोगके लिये आगे जन्म लेना ही पड़ता है।

सांख्ययोगी साधककी ऐसी मान्यता होती है कि 'इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके विषयोंमें बरत रही हैं अर्थात् इन्द्रियोंमें ही सम्पूर्ण क्रियाएँ हो रही हैं, मैं कुछ भी नहीं करता हूँ' (५।८-९)।

६. भक्त और अभक्तकी मान्यता

भगवान् ही सबके मूल कारण हैं और भगवान्से सत्ता-स्फूर्ति पाकर ही संसारमें सम्पूर्ण क्रियाएँ हो रही हैं—ऐसा मानकर भक्तलोग श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्का ही भजन करते हैं (१०।८); परंतु जो अभक्त होते हैं, वे भगवान्को साधारण मनुष्योंकी तरह शरीर धारण करनेवाला, जन्मने-मरनेवाला मानते हैं (७।२४)।

तात्पर्य यह है कि जो संसारके भोग और संग्रहमें लग जाते हैं, उनके मनमें संसारका महत्त्व, संसारकी मान्यता आ जाती है; परंतु जो भगवान्में लग जाते हैं, उनमें संसारकी मान्यता मिटकर भगवान्की मान्यता आ जाती है। ससारकी मान्यता पर-धर्म है; क्योंकि संसार अपना नहीं है और भगवान्की मान्यता स्व-धर्म है; क्योंकि भगवान् अपने हैं।

[दूसरे अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें तथा अठारहवें अध्यायके उनसठवें श्लोकमें आया 'मन्यसे' पद भगवान्ने मान्यताके आरोपमें कहा है, मान्यतामें नहीं। तीसरे अध्यायके पहले श्लोकमें आया 'मता' पद भी अर्जुनने मान्यताके आरोपमें कहा है, मान्यतामें नहीं। इसी तरह दूसरे अध्यायके पैंतीसवें श्लोकमें आया 'मंस्यन्ते' पद भगवान्के द्वारा और ग्यारहवें अध्यायके चौथे श्लोकमें आया 'मन्यसे' पद अर्जुनके द्वारा सम्भावनाके अर्थमें कहा गया है, मान्यताके अर्थमें नहीं।]

गीतामें विविध आज्ञाएँ

दुर्योधनेन कृष्णेन ब्रह्मणा फाल्गुनेन च।
या या आज्ञाश्च संदत्तास्तत्तात्पर्यं च कथ्यते॥

गीतामें दुर्योधनने द्रोणाचार्यको विशेषतासे युद्ध करनेके लिये और सेनानायकोंको भीष्मजीकी रक्षा करनेके लिये आज्ञा दी है, अर्जुनने रथीके नाते सारथिरूप भगवान्को आज्ञा दी है, ब्रह्माजीने सर्गके आदिमें देवता और मनुष्यको अपने-अपने कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञका पालन करनेके लिये आज्ञा दी है, भगवान्ने ज्ञानियोंको कर्तव्य-कर्मकी उपेक्षा न करनेकी आज्ञा दी है और अर्जुन युद्ध करनेसे इन्कार कर रहे थे तो भगवान्ने अर्जुनको आश्वासनपूर्वक बहुत-सी आज्ञाएँ दी हैं।

दुर्योधनने द्रोणाचार्यसे पाण्डवोंकी बड़ी भारी सेनाको देखनेके लिये कहा—'**पश्य**' (१।३)। तात्पर्य यह

है कि आप इस सेनाको विशेषतासे देखिये। आप इसे मामूली समझकर इसकी उपेक्षा न करें, यह युद्धका मामला है। इस सेनामें बड़े-बड़े शूरवीर हैं, अतः आप सावधान रहें।

पाण्डवोंकी सेना तो सामने ही खड़ी थी; अतः दुर्योधनने **'पश्य'** कहा। पर अपनी सेना द्रोणाचार्यकी पीठके पीछे थी; अतः दुर्योधन **'निबोध'** (१ । ७) क्रियाका प्रयोग करके कहता है कि आप हमारी सेनाको भी समझ लें, यादमात्र कर लें कि हमारी सेना भी बल आदिमें कोई कम नहीं है। फिर दुर्योधन अपने-अपने स्थानपर स्थित सम्पूर्ण सेनानायकोंको पितामह भीष्मकी रक्षा करनेके लिये आज्ञा देता है—**'अभिरक्षन्तु'** (१ । ११)। कारण कि भीष्मजीकी रक्षा होनेसे हम सबकी रक्षा हो जायगी और उनके सेनापति होनेसे हमारी विजय भी हो जायगी। इस प्रकार दुर्योधनने द्रोणाचार्यको **'पश्य'** और **'निबोध'** पदसे जो आज्ञाएँ दी हैं, वे आदरपूर्वक ही दी हैं; क्योंकि दुर्योधन स्वयं राजा होते हुए भी द्रोणाचार्यके पास जाता है और **'आचार्य'** सम्बोधन देकर आदरपूर्वक आज्ञा देता है। अतः इन आज्ञाओंमें भी एक प्रकारकी प्रार्थना ही है।

ब्रह्माजी सृष्टिके रचयिता हैं। अतः वे चाहते हैं कि सृष्टिका संचालन सुचारुरूपसे हो, जो मनुष्यों और देवताओंका आपसमें स्नेह रहनेसे ही हो सकता है। इसलिये ब्रह्माजी **'प्रसविष्यध्वम्'**, **'भावयत'** (३ । १०-११) पदोंसे मनुष्योंको आज्ञा देते हैं कि तुमलोग कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञके द्वारा अपनी वृद्धि करो और इस यज्ञसे तुमलोग देवताओंको उन्नत करो। फिर **'भावयन्तु'** (३ । ११) पदसे देवताओंको आज्ञा देते हैं कि वे भी अपने-अपने अधिकारके अनुसार मनुष्योंको उन्नत करें। इस प्रकार एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम श्रेयको प्राप्त हो जाओगे।

अर्जुन **'रथं स्थापय'** (१ । २१) पदोंसे भगवान्‌को दोनों सेनाओंके बीचमें रथ खड़ा करनेकी आज्ञा देते हैं। यद्यपि अर्जुनके मनमें भगवान्‌के प्रति आदरभाव है, तथापि भगवान्‌के सारथि बने हुए होनेसे अर्जुन रथीका कर्तव्य निभाते हुए उन्हें आज्ञा देते हैं। इसी तरह **'ब्रूहि'** (२ । ७; ५ । १); **'शाधि'** (२ । ७); **'वद'** (३ । २); **'कथय'** (१० । १८); **'दर्शय'** (११ । ४, ४५); **'प्रसीद'** (११ । २५, ३१, ४५); और **'भव'** (११ । ४६) पदोंमें भी अर्जुनकी भगवान्‌के लिये आज्ञा प्रतीत होती है; परंतु वास्तवमें यह आज्ञा नहीं है, प्रत्युत प्रार्थना है; क्योंकि व्याकरणमें **'लोट्'**-लकार 'प्रार्थना' अर्थमें भी होता है।

ज्ञानी महापुरुषोंके लिये भगवान् आज्ञा देते हैं कि जैसे मैं कर्तव्य-कर्मकी उपेक्षा नहीं करता हूँ (३ । २२-२४), ऐसे ही ज्ञानीको भी कर्मोंकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये; प्रत्युत कर्मोंमें आसक्त अज्ञानी पुरुष जिस तत्परतासे कर्म करते हैं, उसी तत्परतासे वह लोकसंग्रहको ध्यानमें रखते हुए आसक्ति-रहित होकर कर्तव्य-कर्म करे—**'कुर्यात्'** (३ । २५)। वह कर्मासक्त मनुष्योंमें 'ज्ञानके सामने कर्म करना तुच्छ है, कर्म करनेवाले अयोग्य हैं, नीचे दर्जेके हैं और ज्ञानके अधिकारी बड़े हैं' आदि बुद्धिभेद न पैदा करे—**'न बुद्धिभेदं जनयेत्'** (३ । २६), प्रत्युत उनसे भी वैसे ही आसक्तिरहित होकर कर्म करवाये—**'जोषयेत्'** (३ । २६)। यदि ज्ञानी कर्म न भी करे तो कोई बात नहीं; परंतु वह कम-से-कम अपने वचनोंसे, भावसे अज्ञानी मनुष्योंको कर्तव्य-कर्मसे विचलित न करे—**'न विचालयेत्'** (३ । २९)। तात्पर्य यह है कि कर्मोंमें आसक्त मनुष्य कर्तव्य-कर्मसे विचलित न हो जायँ, इस विषयमें ज्ञानी पुरुषोंको विशेष सावधानी रखनी चाहिये।

गीतामें भगवान्‌ने अर्जुनको कई आज्ञाएँ दी हैं; जैसे—अर्जुन युद्ध नहीं करना चाहते थे, अतः भगवान्‌ने **'उत्तिष्ठ'** ((२ । ३७; ४ । ४२), **'युद्धाय युज्यस्व'** (२ । ३८), **'युध्यस्व'** (३ । ३०; ११ । ३४) और **'युध्य'** (८ । ७) पदोंसे अर्जुनको युद्ध करनेकी आज्ञा दी। अर्जुन आज्ञापालक थे ही। अर्जुनको जहाँ भगवान्‌की बात पसंद नहीं आती, वहाँ वे कह देते हैं कि 'भगवन्! आप मुझे

घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं ?' (३ । १) । इससे सिद्ध होता है कि भगवान्के कहनेपर अर्जुन अपने कल्याणके लिये युद्ध-जैसे घोर कर्ममें भी प्रवृत्त हो सकते हैं अर्थात् भगवान् आज्ञा देंगे तो वे उसे टालेंगे नहीं, प्रत्युत वैसा ही करेंगे ।

भगवान्ने अर्जुनको कर्मयोगके विषयमें ये आज्ञाएँ दी हैं—**'विद्धि'** (३ । ३७; ४ । १३, ३२; ६ । २), **'मा कर्मफलहेतुर्भूः'** (२ । ४७), **'योगस्थः कुरु कर्माणि'** (२ । ४८), **'योगाय युज्यस्व'** (२ । ५०), **'नियतं कुरु कर्म'** (३ । ८), **'समाचर'** (३ । ९, १९), **'कुरु कर्मैव** (४ । १५) आदि-आदि । ज्ञानयोगके विषयमें ये आज्ञाएँ दी हैं—**'विद्धि'** (२ । १७; ४ । ३४; १३ । २, १९, २६)- **'शृणु'** (१३ । ३) आदि-आदि । भक्तियोगके विषयमें ये आज्ञाएँ दी हैं—**'विद्धि'** (७ । ५, १०, १२; १० । २४, २७), **'शृणु'** (७ । १; १० । १), **'मामनुस्मर'** (८ । ७), **'पश्य मे योगमैश्वरम्'** (९ । ५; ११ । ८), **'उपधारय'** (७ । ६; ९ । ६), **'कुरुष्व'** (९ । २७), **'प्रतिजानीहि'** (९ । ३१), **'भजस्व माम्'** (९ । ३३), **'निवेशय'** (१२ । ८), **'इच्छ'** (१२ । ९), **'मा शुचः'** (१६ । ५; १८ । ६६) आदि-आदि । इसके सिवाय अन्य विषयोंमें भी भगवान्ने कई आज्ञाएँ दी हैं, जैसे—**'कुरून् पश्य'** (१ । २५), **'क्लैब्यं मा स्म गमः'** (२ । ३), **'तितिक्षस्व'** (२ । १४), **'यशो लभस्व'** (११ । ३३) आदि-आदि ।

उपर्युक्त आज्ञाओंके विषयमें कुछ बातें समझनेकी हैं—जहाँ अर्जुन प्रश्न करते हैं, वहाँ भगवान् उस प्रश्नका उत्तर देते हुए उसके अनुसार ही आज्ञा देते हैं; परंतु जहाँ भगवान् अपनी ओरसे आज्ञा देते हैं, वहाँ अर्जुनके लिये भक्तियोगकी ही आज्ञा देते हैं ।

भगवान् जहाँ आज्ञा देते हैं, वहाँ अपनेमें लगनेकी बात भी कह देते हैं और संसारके रागको हटानेकी बात भी कह देते हैं । जहाँ भगवान् केवल संसारका राग हटानेकी आज्ञा देते है; वहाँ भी भगवान्का उद्देश्य सांसारिक रागको हटाकर अपनेमें लगानेका ही रहता है । दूसरी दृष्टिसे देखा जाय तो भगवान् जहाँ भक्तिकी (अपनेमें लगनेकी) आज्ञा देते हैं वहाँ तो भक्ति है ही, पर जहाँ कर्मयोगकी (सांसारिक रागको हटानेकी) आज्ञा देते हैं, वहाँ भी भगवान्की आज्ञा होनेसे भक्ति ही है ।

भगवान् जहाँ ज्ञानकी आज्ञा देते हैं, वहाँ भी संसारसे राग हटानेका और अपनेमें लगानेका भाव रहता ही है । यही भाव गीतामें कहीं आज्ञारूपसे, कहीं विवेकरूपसे और कहीं भावरूपसे देखनेको मिलता है ।

गीतामें एक निश्चयकी महिमा

साधकानां भवत्येव बुद्धिश्च निश्चयात्मिका ।
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां बुद्धयोऽनिश्चयात्मिकाः ॥

जीवात्मामें एक तो परमात्माका अंश है और एक प्रकृतिका अंश है । जब यह जीवात्मा परमात्माको लेकर चलता है, तब इसमें व्यवसायात्मिका (एक निश्चयवाली) बुद्धि एक होती है और जब यह प्रकृतिके अंश शरीर-संसारको लेकर चलता है, तब इसमें अव्यवसायात्मिका बुद्धियाँ अनन्त होती हैं (२ । ४१) । तात्पर्य यह है कि पारमार्थिक साधकका 'मुझे तो परमात्माकी प्राप्ति ही करनी है, चाहे जो हो जाय'—इस तरहका एक ही निश्चय होता है, परंतु जो सांसारिक धन-सम्पत्तिका संग्रह करना और भोग भोगना चाहते हैं, ऐसे मनुष्यों-का परमात्मप्राप्तिका एक निश्चय होता ही नहीं, प्रत्युत सांसारिक भोगोंकी प्राप्तिके लिये अनन्त विचार होते हैं । इसका कारण यह है कि प्रापणीय परमात्मा एक ही हैं; अतः उनकी प्राप्तिका निश्चय भी एक ही होता है । सांसारिक भोग अनेक हैं तथा उन्हें भोगनेके साधन

(धन-सम्पत्ति आदि) भी अनेक हैं, अतः उनकी प्राप्तिका निश्चय भी एक नहीं होता।

परमात्माके सगुण, निर्गुण आदि स्वरूपोंका भेद होनेपर भी वे सभी स्वरूप तत्त्वतः एक ही हैं और नित्य हैं। अतः उनमेंसे किसी एक स्वरूपकी प्राप्तिका जो निश्चय होता है, वह एक ही होता है। परमात्मप्राप्तिका एक निश्चय होनेपर सभी साधन सुगम हो जाते हैं, सरल हो जाते हैं और उद्देश्यकी सिद्धिके लिये तत्परता भी स्वतः हो जाती है। जैसे, कोई अपनेको ईश्वरका भक्त मानता है, तो ईश्वरकी भक्ति करना उसके लिये स्वाभाविक हो जाती है अर्थात् भक्तिकी बात तो वह तत्काल पकड़ लेता है और भक्तिकी विरोधी बात वह तत्काल छोड़ देता है। कारण कि वह यही सोचता है कि मैं भक्त हूँ, इसलिये भक्ति-विरुद्ध काम मुझे नहीं करना है, परंतु जिसका लक्ष्य संसार है, उसमें कभी किसीकी तो कभी किसीकी नयी-नयी इच्छा पैदा होती रहती है। उन इच्छाओंका कभी अन्त नहीं आता; क्योंकि ज्यों-ज्यों इच्छाओंकी पूर्ति होती है, त्यों-ही-त्यों नयी-नयी इच्छाएँ उत्पन्न होती चली जाती हैं।

इस व्यवसायात्मिका (एक निश्चयवाली) बुद्धिकी ऐसी महिमा है कि दुराचारी-से-दुराचारी, पापी-से-पापी मनुष्य भी 'मुझे केवल परमात्माकी प्राप्ति ही करनी है'—ऐसा एक निश्चय कर लेता है तो वह बहुत शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है। केवल धर्मात्मा ही नहीं होता, उसे निरन्तर रहनेवाली शान्ति प्राप्त हो जाती है अर्थात् उसके उद्देश्यकी सिद्धि हो जाती है (९।३०-३१)। अव्यवसायात्मिका बुद्धिवाला मनुष्य कितने ही जन्म ले और एक-एक जन्ममें भी कितना ही उद्योग, परिश्रम करे, पर उसकी इच्छाओंकी पूर्ति कभी होगी नहीं, प्रत्युत नयी-नयी इच्छाएँ पैदा होती चली जायँगी, जिनका कभी अन्त आयेगा ही नहीं। हाँ, कभी किसी इच्छाकी पूर्ति भी हो जायगी तो वह आगे नयी-नयी इच्छाओंको उत्पन्न करनेमें कारण बन जायगी।

तात्पर्य यह है कि व्यवसायात्मिका बुद्धि होनेपर अव्यवसायात्मिका बुद्धि मिट जाती है; परंतु अव्यवसायात्मिका बुद्धिके रहते हुए व्यवसायात्मिका कभी नहीं होती। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह शीघ्र-से-शीघ्र परमात्मप्राप्तिका एक निश्चय कर ले; क्योंकि मनुष्य-शरीर केवल परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है।

गीतामें गुणोंका वर्णन

गुणवर्णनतात्पर्यं ग्रहणत्यागयोर्मतम्।
सत्त्वं ग्राह्यं रजस्त्याज्यं त्यजनीयं तमः सदा॥

दूसरे अध्यायके ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक भगवान्ने सत्की महिमा बतानेके लिये और असत्से अलग होनेके लिये सत्-असत्का वर्णन किया। ऐसे ही दूसरे अध्यायके उन्तालीसवेंसे तिरपनवें श्लोकतक भगवान्ने निष्कामभावकी महिमा बतानेके लिये और कामनाका त्याग करनेके लिये व्यवसायी (निष्काम) और अव्यवसायी (सकाम) मनुष्योंका वर्णन किया। वेदोंमें वर्णित भोग और ऐश्वर्यको प्राप्त करनेमें लगे हुए मनुष्य अव्यवसायी हैं। वेदोंके जिस भागमें भोग और ऐश्वर्यका वर्णन हुआ है, उस भागको **'त्रैगुण्यविषयाः'** (२।४५) कहा गया है। उस भोग और ऐश्वर्यसे हटाकर अर्जुनको व्यवसायी (निष्काम) बनानेके लिये भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! तुम तीनों गुणोंके कार्यरूप संसारसे अर्थात् भोग और ऐश्वर्यसे अलग हो जाओ—**'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'** (२।४५)।

प्रकृतिजन्य गुण स्वभावके परवश हुए प्राणियोंसे कर्म कराते हैं, जिससे उन्हें क्रिया करनी ही पड़ती है अर्थात् वे कर्म किये बिना नहीं रह सकते—**'कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः'** (३।५)।

प्रकृतिके गुणोंके द्वारा ही सम्पूर्ण क्रियाएँ होती हैं—**'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः'** (३ । २७) अर्थात् स्वयंका इन क्रियाओंके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है; परंतु अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला मनुष्य अपनेको कर्ता मान लेता है; अतः वह बँध जाता है। गुणों और कर्मोंके विभाग*को जाननेवाला मनुष्य 'गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं'—**'गुणा गुणेषु वर्तन्ते'** (३ । २८) अर्थात् सब परिवर्तन गुणोंमें ही हो रहा है, क्रिया और कर्तापन केवल गुणोंमें ही है, अपनेमें नहीं—ऐसा जानकर उनमें आसक्त नहीं होता; अतः वह बन्धनसे छूट जाता है; परंतु गुणोंसे मोहित हुआ पुरुष उनमें आसक्त होनेसे बँध जाता है—**'प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु'** (३ । २९)।

तीसरे अध्यायके पैंतीसवें श्लोकमें आया **'विगुणः'** शब्द सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंसे रहितका वाचक नहीं है, प्रत्युत सांसारिक गुणोंसे रहितका वाचक है।

चौथे अध्यायके तेरहवें श्लोकमें सृष्टिरचना-कालका वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं कि पूर्वमें प्राणियोंके जैसे गुण थे और जैसे कर्म थे, उनके अनुसार ही मैंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंकी विभागपूर्वक रचना की - **'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः'** (४ । १३); परंतु मैं इस रचनारूप कर्मसे सर्वथा निर्लिप्त ही रहता हूँ। ऐसे ही मनुष्योंको भी सब काम करते हुए निर्लिप्त रहना चाहिये।

सातवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि संसारमें सात्त्विक, राजस और तामस जितने भी भाव हैं, वे सब मुझसे ही होते हैं, पर वे मुझमें और मैं उनमें नहीं हूँ अर्थात् सब कुछ मैं-ही-मैं हूँ। कारण कि गुणोंकी मेरे सिवाय स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है। अतः साधककी दृष्टि मेरी ओर ही रहनी चाहिये, गुणोंकी ओर नहीं। जिनकी दृष्टि गुणोंकी ओर रहती है, वे इन सात्त्विक, राजस और तामस भावोंसे मोहित हो जाते हैं, इनमें ही रच-पच जाते हैं। अतः वे गुणोंसे परे मुझे नहीं जानते (७ । १३)। मेरी यह गुणमयी माया तरनेमें बड़ी ही कठिन है—**'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया'**; परंतु जो केवल मेरी ही शरण हो जाते हैं, मेरे ही आश्रित रहते हैं, वे इस मायाको तर जाते हैं—**'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'** (७ । १४)। तात्पर्य यह हुआ कि जो मनुष्य इन गुणोंसे सर्वथा विमुख होकर केवल मेरे ही सम्मुख हो जाता है, वह गुणोंसे तर जाता है।

तेरहवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें आये **'सर्वेन्द्रियगुणाभासम्'** पदमें 'सर्वेन्द्रियगुण' शब्द इन्द्रियोंके पाँचों विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) का वाचक है। इन इन्द्रियोंको और इनके विषयोंको ज्ञेय तत्त्व परमात्मा ही प्रकाशित करता है। वह ज्ञेय तत्त्व सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंसे रहित भी है और इन गुणोंका भोक्ता भी है अर्थात् वह तत्त्व निर्गुण भी है और सगुण भी है—**'निर्गुणं गुणभोक्तृ च'**।

तेरहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें प्रकृति (क्षेत्र) और पुरुष (क्षेत्रज्ञ)का वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं कि प्रकृति और पुरुष—दोनों अलग-अलग हैं अर्थात् प्रकृतिसे पुरुष अलग है। उस प्रकृतिसे ही विकार, गुण, कार्य, करण और कर्तृत्व—ये पाँचों होते हैं। अतः इन पाँचोंमेंसे किसीके भी साथ पुरुषका सम्बन्ध नहीं है, परंतु पुरुष जब प्रकृतिमें स्थित होता है, प्रकृतिके साथ तादात्म्य कर लेता है, तब वह (प्रकृतिस्थ पुरुष) प्रकृतिके गुणोंका भोक्ता बन जाता है। यह गुणोंका भोक्ता बनना, गुणोंका सङ्ग करना ही उसे ऊँच-नीच योनियोंमें ले जानेका कारण बनता है (१३ । १९-२१); परंतु जो पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको अलग-अलग ठीक तरहसे जान लेता है अर्थात् प्रकृतिके साथ पुरुषका सम्बन्ध है ही नहीं—इस वास्तविकताका अनुभव कर लेता है, वह मुक्त हो

* गुणोंका कार्य होनेसे शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदि सब 'गुणविभाग' है और इन शरीरादिसे होनेवाली क्रिया 'कर्म-विभाग' है।

जाता है (१३ । २३)। तात्पर्य यह है कि पुरुषका न तो प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है और न गुणोंके साथ ही सम्बन्ध है।

गुण तो प्रकृतिजन्य हैं और पुरुष (स्वयं) गुणोंसे रहित है—यह बतानेके लिये भगवान्‌ने तेरहवें अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें पुरुषको 'निर्गुण' कहा है।

तेरहवें अध्यायमें गुणोंका वर्णन संक्षेपसे हुआ है। अतः चौदहवें अध्यायमें उनका विस्तारसे वर्णन करनेके लिये भगवान् बताते हैं कि सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं (१४ । ५)। इनमेंसे सत्त्वगुणका स्वरूप निर्मल, प्रकाशक तथा अनामय है, रजोगुणका स्वरूप रागात्मक है और तमोगुणका स्वरूप मोहनात्मक है। सत्त्वगुण सुख तथा ज्ञानके सङ्गसे, रजोगुण कर्मकी आसक्तिसे और तमोगुण निद्रा, आलस्य तथा प्रमादसे बाँधता है (१४ । ६–८)। सत्त्वगुण सुखके द्वारा, रजोगुण कर्मोंकी आसक्तिके द्वारा और तमोगुण ज्ञानको ढककर एवं प्रमादमें लगाकर मनुष्यपर विजय करता है। इन तीनों गुणोंमेंसे एक बढ़ता है तो शेष दो दब जाते हैं। सत्त्वगुण बढ़ता है तो रजोगुण-तमोगुण दब जाते हैं, रजोगुण बढ़ता है तो सत्त्वगुण-तमोगुण दब जाते हैं और तमोगुण बढ़ता है तो सत्त्वगुण-रजोगुण दब जाते हैं (१४ । ९-१०)।

सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें प्रकाश और बुद्धिमें विवेककी जागृति हो जाय तो ये बढ़े हुए सत्त्वगुणके लक्षण हैं। अन्तःकरणमें लोभ, कर्म करनेकी प्रवृत्ति, नये-नये कर्म करना, अशान्ति और स्पृहा उत्पन्न हो जाय तो ये बढ़े हुए रजोगुणके लक्षण हैं। अन्तःकरणमें अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह आ जाय तो ये बढ़े हुए तमोगुणके लक्षण हैं (१४ । ११–१३)।

मृत्युके समय सत्त्वगुणकी तात्कालिक वृत्तिके बढ़नेपर मनुष्य स्वर्गादि ऊँचे लोकोंमें जाता है, रजोगुणकी तात्कालिक वृत्तिके बढ़नेपर मनुष्य मृत्युलोकमें पैदा होता है और तमोगुणकी तात्कालिक वृत्तिके बढ़नेपर मनुष्य पशु, पक्षी आदि मूढ़ योनियोंमें पैदा होता है (१४ । १४-१५)।

श्रेष्ठ कर्मोंका फल सात्त्विक तथा निर्मल होता है, राजस कर्मका फल दुःख होता है और तामस कर्मका फल अज्ञान (मूढ़ता) होता है (१४ । १६)। सत्त्वगुणसे ज्ञान, रजोगुणसे लोभ और तमोगुणसे प्रमाद, मोह तथा मूढ़ता पैदा होती है (१४ । १७)। सत्त्वगुणमें स्थित मनुष्य ऊर्ध्वलोकोंमें जाते हैं, रजोगुणमें स्थित मनुष्य मध्यलोक (मृत्युलोक) में ही रहते हैं और तमोगुणमें स्थित मनुष्य अधोगतिमें जाते हैं (१४ । १८)।

जब विचारशील मनुष्य इन तीनों गुणोंके सिवाय अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता अर्थात् सम्पूर्ण क्रियाएँ और परिवर्तन गुणोंमें ही हो रहा है—ऐसा दृढ़ बोध हो जाता है, तब उसे अपनेमें स्वतःसिद्ध अकर्तृत्वका, असङ्गताका, निर्लिप्तताका अनुभव हो जाता है और वह भगवद्भावको प्राप्त हो जाता है (१४ । १९)। देहके उत्पादक इन तीनों गुणोंका अतिक्रमण करके जन्म-मरणसे रहित हुआ वह पुरुष अमरताका अनुभव करता है, जो कि स्वयंमें स्वतःसिद्ध है (१४ । २०)।

गुणातीत हुए अर्थात् अमरताको प्राप्त हुए मनुष्यमें सात्त्विकी, राजसी अथवा तामसी वृत्तियोंके आने-जानेसे राग-द्वेष नहीं होते। इतना ही नहीं, वह उदासीनकी तरह रहता है, गुणोंसे विचलित नहीं होता तथा 'गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं'—ऐसा अनुभव करके अपनेमें कभी किञ्चिन्मात्र भी परिवर्तनका अनुभव नहीं करता (१४ । २२-२३)। यह बात तो ज्ञानयोगकी दृष्टिसे कही गयी। भक्तियोगकी दृष्टिसे जब साधकका ध्येय, लक्ष्य केवल भगवान् ही रह जाते हैं, तब वह स्वतः गुणोंसे उपराम (अतीत) होकर ब्रह्मप्राप्तिका पात्र हो जाता है (१४ । २६)।

जैसे जलके द्वारा वृक्षकी शाखाएँ बढ़ती हैं, ऐसे ही सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके द्वारा संसार-वृक्षकी शाखाएँ नीचे, मध्य और ऊपरके लोकोंमें फैली हुई हैं (१५ । २)। तात्पर्य यह है कि गुणोंके सङ्गसे ही यह जीव अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकमें जन्म लेता है। गुणोंके सङ्गसे ही यह भोक्ता

बनता है, परंतु इस बातको विवेकी मनुष्य ही जानते हैं, अविवेकी मनुष्य नहीं (१५ । १०)।

मनुष्योंकी स्वभावसे उत्पन्न श्रद्धा तीन तरहकी होती है— सात्त्विकी, राजसी और तामसी (१७ । २)। जिनकी जैसी श्रद्धा होती है, उनकी वैसी ही प्रवृत्ति होती है। सात्त्विक मनुष्य देवताओंका पूजन करते हैं, राजस मनुष्य यक्ष-राक्षसोंका पूजन करते हैं और तामस पुरुष भूत-प्रेतोंका पूजन करते हैं (१७ । ३-४)। यदि कोई मनुष्य पूजन भी न करता हो तो भोजनकी रुचिसे उसकी पहचान हो सकती है। सात्त्विक मनुष्यको रसयुक्त, स्निग्ध आदि भोजनके पदार्थ प्रिय लगते हैं, राजस मनुष्यको कड़वे, खट्टे आदि भोजनके पदार्थ प्रिय लगते हैं और तामस पुरुषको अधपके, रसरहित, अपवित्र आदि भोजनके पदार्थ प्रिय लगते हैं (१७ । ८–१०)।

फलेच्छारहित मनुष्यके द्वारा सात्त्विक यज्ञ, फलेच्छावाले मनुष्यके द्वारा राजस यज्ञ और अविवेकी मनुष्यके द्वारा विधि, मन्त्र, अन्न, दक्षिणा एवं श्रद्धासे रहित तामस यज्ञ होता है (१७ । ११–१३)। फलेच्छारहित मनुष्य सात्त्विक तप करते हैं, आदर-सत्कार चाहनेवाले मनुष्य दम्भपूर्वक राजस तप करते हैं और मूढ़ मनुष्य स्वयं कष्ट उठाकर भी दूसरोंको दुःख देनेके लिये तामस तप करते हैं (१७ । १७–१९)। देश, काल और पात्रके प्राप्त होनेपर प्रत्युपकारकी भावनासे रहित होकर दिया हुआ दान सात्त्विक है, प्रत्युपकार और फलका उद्देश्य रखकर दिया हुआ दान राजस है तथा देश, काल और पात्रका विचार न करके अवज्ञापूर्वक दिया हुआ दान तामस है (१७ । २०–२२)।

मोहपूर्वक नियत कर्मोंको छोड़ देना तामस त्याग, शारीरिक क्लेशके भयसे नियत कर्मोंको छोड़ देना राजस त्याग और आसक्ति एवं फलेच्छाको छोड़कर नियत कर्मोंको करना सात्त्विक त्याग है (१८ । ७–९)।

सम्पूर्ण विभक्त प्राणियोंमें विभागरहित एक अविनाशी भावको देखना सात्त्विक ज्ञान, सम्पूर्ण विभक्त प्राणियोंमें परमात्माको अलग-अलग देखना राजस ज्ञान और पाञ्चभौतिक शरीरको ही अपना स्वरूप मानना तामस ज्ञान है (१८ । २०-२२) फलेच्छारहित मनुष्यके द्वारा कर्तृत्वाभिमान और राग-द्वेषसे रहित किया हुआ कर्म सात्त्विक है, फलेच्छावाले मनुष्यके द्वारा अहंकार अथवा परिश्रमपूर्वक किया हुआ कर्म राजस है और परिणाम, हानि, हिंसा तथा अपनी सामर्थ्यको न देखकर मोहपूर्वक किया हुआ कर्म तामस है (१८ । २३—२५)। रागरहित, अहंकारके वचन न बोलनेवाला, धृति और उत्साहसे युक्त तथा सिद्धि-असिद्धिमें निर्विकार रहनेवाला कर्ता सात्त्विक है, रागी, फलेच्छावाला, लोभी, हिंसात्मक, अपवित्र और हर्ष-शोकसे युक्त कर्ता राजस है और असावधान, अशिक्षित, ऐंठ-अकड़वाला, जिद्दी, कृतघ्नी, आलसी, विषादी और दीर्घसूत्री कर्ता तामस है (१८ । २६–२८)।

प्रवृत्ति-निवृत्ति, कर्तव्य-अकर्तव्य, भय-अभय और बन्धन-मोक्षको ठीक जाननेवाली बुद्धि सात्त्विकी होती है, धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्यको ठीक-ठीक न जाननेवाली बुद्धि राजसी होती है और अधर्मको धर्म तथा सम्पूर्ण बातोंको उल्टा माननेवाली बुद्धि तामसी होती है (१८ । ३०–३२)। समतापूर्वक मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करनेवाली धृति सात्त्विकी है, फलेच्छा और आसक्तिपूर्वक धर्म, काम (भोग) और अर्थको धारण करनेवाली धृति राजसी है और निद्रा, भय, शोक आदिको धारण करनेवाली धृति तामसी है (१८ । ३३-३५)।

परमात्मविषयक बुद्धिसे पैदा होनेवाला जो सुख सांसारिक आसक्तिके कारण पहले जहरकी तरह और परिणाममें अमृतकी तरह है, वह सुख सात्त्विक है। आरम्भमें अमृतकी तरह और परिणाममें जहरकी तरह विषयों और इन्द्रियोंके संयोगसे उत्पन्न हुआ सुख राजस है। आरम्भमें और परिणाममें मोहित करनेवाला, केवल निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न सुख तामस है (१८ । ३७–३९)।

प्रकृतिसे उत्पन्न गुणोंके द्वारा ही सबकी रचना की गयी है। इसलिये इस त्रिलोकीमें गुणोंसे रहित कोई भी वस्तु और प्राणी नहीं है। स्वभावसे उत्पन्न हुए गुणोंके द्वारा ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन

चारों वर्णोंके कर्मोंका विभाग किया गया है (१८ । ४०-४१) ।*

अठारहवें अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें आया **'विगुणः'** शब्द भी तीनों गुणोंसे रहितका वाचक नहीं है, प्रत्युत सांसारिक गुणोंसे रहितका वाचक है ।†

—इस प्रकार गीतामें भाव, गुणोंकी वृत्तियाँ, श्रद्धा, पूजन, भोजन, यज्ञ, तप, दान, त्याग, ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुख—इन पंद्रह रूपोंमें गुणोंका वर्णन हुआ है ।

उपर्युक्त तीनों गुणोंमेंसे सत्त्वगुणका तात्पर्य प्रकृति और प्रकृतिके कार्यसे सम्बन्ध-विच्छेद करानेमें है, रजोगुणका तात्पर्य प्राकृत पदार्थोंके साथ सम्बन्ध मान लेनेमें है और तमोगुणका तात्पर्य मूढ़ताके बढ़ जानेमें है ।

गीताके सत्त्वगुणका स्वरूप प्रकाशक और अनामय है (१४ । ६) । 'प्रकाश' नाम अन्तःकरणकी स्वच्छता, निर्मलताका है अर्थात् अन्तःकरणमें सत्-असत् और कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेक होना 'प्रकाश' है । 'अनामय' नाम रोगरहित अर्थात् विकाररहित होनेका है । मनुष्य विकाररहित होता है—जड़ताका त्याग करनेसे गीतामें जैसे सत्त्वगुणको 'अनामय' कहा गया है, ऐसे ही निर्गुण तत्त्वको भी 'अनामय' कहा गया है (२।५१) । दोनोंको अनामय कहनेका तात्पर्य यह है कि परमात्मप्राप्तिमें हेतु होनेके कारण सत्त्वगुण निर्गुण तत्त्वके निकट है ।

रजोगुणका स्वरूप रागात्मक है (१४ । ७) । प्राकृत पदार्थोंके साथ अपना सम्बन्ध मान लेनेका नाम 'राग' है, जिससे कामना पैदा होती है । यह कामना ही सम्पूर्ण पापोंका कारण है (३ । ३७) । तमोगुणका स्वरूप मोहनात्मक है, जिसमें मूढ़ता मुख्य है (१४ । ८) । गीतामें राजस कर्ताको हिंसात्मक कहा गया है (१८ । २७) और तामस कर्ममें भी हिंसा बतायी गयी है (१८ । २५) । दोनोंमें हिंसा बतानेका तात्पर्य यह है कि रजोगुण और तमोगुण—दोनों एक-दूसरेके निकट हैं‡ ।

अन्य ग्रन्थोंमें ऐसा आता है कि सत्त्वगुणसे पुण्य होता है—**'सात्त्विकैः पुण्यनिष्पत्तिः'**, जिसका सुखरूप फल जन्म-जन्मान्तरमें, लोक-लोकान्तरमें भोगा जाता है; परंतु गीताका सत्त्वगुण सांसारिक सुख देनेवाला नहीं है, प्रत्युत अविनाशी सुखकी प्राप्तिमें, मुक्तिमें सहायक है; परंतु इस सत्त्वगुणके साथ जब रजोगुण मिल जाता है, तब यह सत्त्वगुण बाँधनेवाला हो जाता है । तात्पर्य यह है कि इस सत्त्वगुणका उपभोग करनेसे, इससे होनेवाले सुख और ज्ञानका सङ्ग (राग) करनेसे यह मनुष्यको बाँध देता है (१४ । ६) ।

गीतामें जहाँ-कहीं सात्त्विक, राजस और तामस—इन तीनों गुणोंका वर्णन हुआ है, वहाँ एक दृष्टिसे तो सात्त्विक और राजस एक (समान) हैं, एक दृष्टिसे राजस और तामस एक हैं तथा एक दृष्टिसे सात्त्विक और तामस एक हैं । जैसे—शास्त्रविधिके अनुसार कर्म करनेमें सात्त्विक और राजस एक हैं; परंतु इनमें अन्तर यह है कि सात्त्विकमें निष्कामभाव रहता है और राजसमें सकामभाव रहता है । संसारके साथ सम्बन्ध जोड़नेमें राजस और तामस एक हैं; परंतु इनमें अन्तर यह है कि राजसमें सावधानी होती है और तामसमें मूढ़ता होती है । क्रियारहित होनेमें सात्त्विक और तामस एक हैं; परंतु इनमें अन्तर यह है कि सात्त्विकमें विवेककी जागृति रहती है और तामसमें मूढ़ता रहती है ।

वास्तवमें देखा जाय तो एक ही प्रकृतिसे उत्पन्न

* किसी एक वस्तुपर एक चोट मारनेसे दो टुकड़े होते हैं, दो चोट मारनेपर तीन टुकड़े होते हैं और तीन चोट मारनेपर चार टुकड़े होते हैं । ऐसे ही तीन गुणोंसे चार ही वर्णोंका विभाग होता है ।

† गीतामें जिन अध्यायोंमें तथा जिन श्लोकोंमें गुणोंका वर्णन आया है, उन्हींका यहाँ संकेत किया गया है ।

‡ तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण—तीनोंमें परस्पर (१, १० और १०० की तरह) दसगुनेका अन्तर है । फिर भी तमोगुण (१) से रजोगुण (१०) निकट है और सत्त्वगुण (१००) इन दोनोंसे दूर है ।

होनेके कारण सात्त्विक, राजस और तामस—तीनों ही गुणोंका आपसमें सम्बन्ध है (१४ । ५)। इन गुणों-से अपना सम्बन्ध न रहनेपर प्रकृतिसे अतीत परमात्मतत्त्व अथवा स्वस्वरूपका अनुभव हो जाता है, जो तीनों गुणोंसे रहित है तथा न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है (१३ । ३१)।

गीतामें जीवकी गतियाँ

जीवानां गतयः सन्ति गीतया तु त्रिधा मता।
द्विधोर्ध्वा हि द्विधा चाधो मध्यमैकेति पञ्चधा ॥

भगवान्ने गीतामें जीवकी मुख्यरूपसे तीन गतियोंका वर्णन किया है—ऊर्ध्वगति, अधोगति और मध्यगति। जैसे—सत्त्वगुणकी तात्कालिक वृत्तिके बढ़नेपर मरने-वाला और सत्त्वगुणमें स्थित रहनेवाला मनुष्य ऊर्ध्वगतिमें जाता है (१४ । १४, १८)। तमोगुणकी तात्कालिक वृत्तिके बढ़नेपर मरनेवाला और तमोगुणमें स्थित रहने-वाला मनुष्य अधोगतिमें जाता है (१४ । १५, १८)। रजोगुणकी तात्कालिक वृत्तिके बढ़नेपर मरनेवाला और रजोगुणमें स्थित रहनेवाला मनुष्य मध्यगतिमें जाता है (१४ । १५, १८)। इन तीनों गतियोंका विस्तारसे वर्णन इस प्रकार है—

ऊर्ध्वगति

ऊर्ध्वगतिमें दो प्रकारके जीव जाते हैं—

(१) **लौटकर न आनेवाले**—(क) जो जीव शुक्लमार्गसे ब्रह्माजीके लोकमें जाते हैं, वे वहाँ रहकर महाप्रलयके समय ब्रह्माजीके साथ ही भगवान्में लीन हो जाते हैं अर्थात् मुक्त हो जाते हैं (८ । २४)।

(ख) जो तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त हो जाते हैं, वे यहाँ ही तत्त्वमें लीन हो जाते हैं, उनके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता (५ । १९, २४-२६)।

(ग) जो भगवान्के भक्त होते हैं, वे भगवान्के परमधाममें चले जाते हैं (८ । २१; १५ । ६)।

(घ) भगवान् दुष्टोंका नाश करनेके लिये अवतार लेते हैं (४ । ८)। वे दुष्ट जब भगवान्के हाथसे मारे जाते हैं, तब वे यहाँ ही भगवान्के श्रीविग्रहमें लीन हो जाते हैं; क्योंकि उनके सामने भगवान्का ही श्रीविग्रह रहता है और उसीका चिन्तन करते हुए वे मरते हैं। भगवान्का यह नियम है कि जो जीव अन्तकालमें मुझे स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है, वह निःसंदेह मुझे ही प्राप्त हो जाता है (८ । ५)।

(२) **लौटकर आनेवाले**—(क) जो स्वर्गादिके सुख भोगनेके उद्देश्यसे सकाम कर्म करते हैं, वे अपने पुण्योंके फलस्वरूप कृष्ण-मार्गसे स्वर्गादि लोकोंमें जाते हैं और वहाँ अपने-अपने पुण्योंके अनुसार सुख भोगते हैं। पुण्य समाप्त होनेपर वे फिर लौटकर मृत्युलोकमें आते हैं (८ । २५; ९ । २१)।

(ख) जो परमात्मप्राप्तिके साधनमें लगे हुए हैं, पर जिनकी सांसारिक वासना अभी सर्वथा नहीं मिटी है, वे अन्तसमयमें किसी वासनाके कारण अपने साधनसे विचलित हो जाते हैं तो वे स्वर्गादि ऊँचे लोकोंमें जाते हैं। ऐसे योगभ्रष्ट मनुष्य बहुत लम्बे समयतक स्वर्गादि लोकोंमें रहते हैं। जब वहाँके भोगोंसे उनकी अरुचि हो जाती है, तब वे लौटकर मृत्युलोकमें आते हैं और शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेते हैं (६ । ४१)।

अधोगति

अधोगतिमें दो प्रकारके जीव जाते हैं—

(१) **चौरासी लाख योनियोंमें जानेवाले**—जीव अपने पाप-कर्मोंके अनुसार पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग आदि नीच योनियोंमें जाते हैं और वहाँ उन योनियोंकी यन्त्रणा भोगते हैं (१६ । १९)।

(२) नरकोंमें जानेवाले—जीव अपने पाप-कर्मोंके अनुसार रौरव, कुम्भीपाक आदि भयंकर नरकोंमें जाते हैं और वहाँ उन नरकोंकी भयंकर यन्त्रणा भोगते हैं (१६।१६)।

मध्यगति*

मध्यगतिमें छः प्रकारके जीव जाते हैं—

(१) स्वर्गादि लोकोंमें गये प्राणी—जो लोग सुखभोगके उद्देश्यसे स्वर्गादि लोकोंमें गये हैं, वे पुण्य क्षीण होनेपर इस मध्यलोक (मनुष्यलोक)में आकर जन्म लेते हैं। ऐसे लोगोंकी प्रवृत्ति (आचरण) प्रायः शुद्ध होती है; इसलिये वे पुनः शुभकर्म करके स्वर्गादि लोकोंमें जाते हैं और फिर नीचे आते हैं, इस तरह वे बार-बार आते-जाते रहते हैं (९।२१)। ऐसे लोगोंमें-से किन्हींको संसारसे वैराग्य हो जाता है तो वे तत्त्वज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो जाते हैं और किन्हींकी भगवान्‌में रुचि (प्रियता) हो जाती है तो वे भी संसार-बन्धनसे मुक्त होकर भगवद्धाममें चले जाते हैं।

(२) योगभ्रष्ट—सांसारिक वासनावाले योगभ्रष्ट स्वर्गादि लोकोंमें जाकर फिर यहाँ शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेते हैं और सांसारिक वासनासे रहित योगभ्रष्ट स्वर्गादिमें न जाकर सीधे यहाँ योगियोंके कुलमें जन्म लेते हैं। अब जो योगभ्रष्ट श्रीमानोंके घरमें जन्म लेते हैं, वे भोगोंकी सूक्ष्म वासनाके कारण और श्रीमानोंके घरमें भोग-बाहुल्यके कारण भोगोंमें आसक्त हो जाते हैं। आसक्त होनेपर भी उनका पहले मनुष्य-जन्ममें किया हुआ अभ्यास (साधन) उन्हें पुनः पारमार्थिक मार्गमें खींच लेता है। वे फिर तत्परतासे यत्न करके परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं (६।४४-४५)। जो योगभ्रष्ट योगियों (तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्तों) के घरमें जन्म लेते हैं, उन्हें वहाँ पारमार्थिक वायुमण्डल, शिक्षा आदि मिलनेसे वे बचपनसे ही साधनमें लग जाते हैं तथा उन्हें पहले मनुष्य-जन्ममें की हुई साधन-सामग्री भी प्राप्त हो जाती है। अतः वे पुनः तत्परतासे यत्न करके परमात्माको प्राप्त कर लेते हैं (६।४३)।

(३) पशु-पक्षी आदिकी योनियोंमें गये प्राणी-

(४) नरकोंमें गये प्राणी—पशु-पक्षी आदिकी योनियोंमें तथा नरकोंमें गये हुए प्राणी कभी भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे फिर मनुष्यलोकमें आ जाते हैं। उन्हें भगवान् सम्पूर्ण जन्मोंका अन्त करनेवाला यह मनुष्य-शरीर देकर पूरी स्वतन्त्रता देते हैं कि वे चाहे जो कुछ कर सकते हैं और चाहे जहाँ जा सकते हैं। तात्पर्य यह है कि वे सकामभावसे शुभकर्म करके स्वर्गादि लोकोंमें जा सकते हैं (२।४२-४३; ७।२०-२२; ९।२०)। अथवा अशुभ (पाप) कर्म करके चौरासी लाख योनियों तथा नरकोंमें जा सकते हैं (१६।१६, १९-२०) अथवा विवेक-विचारके द्वारा जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद करके मुक्त हो सकते हैं (१३।३४) अथवा निष्कामभावपूर्वक अपने कर्तव्य-कर्मका पालन करके परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो सकते हैं (२।५१;५।१२) अथवा भगवान्‌की शरण होकर भगवान्‌को प्राप्त हो सकते हैं (१८।५६); इतना ही नहीं, भगवान् स्वयं उनका संसार-सागरसे उद्धार करनेवाले बन जाते हैं (१२।७)।†

तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य-जन्ममें जितने भी जीव आते हैं, वे सभी अपना उद्धार अथवा पतन करनेमें स्वतन्त्र हैं, परतन्त्र नहीं हैं।

---

* यहाँ मध्यगतिको अन्तमें देनेका तात्पर्य यह है कि सब गतियोंका कारण मध्यगति ही है, क्योंकि ऊर्ध्वगति और अधोगतिवाले मध्यगतिमें ही आते हैं तथा वे मध्यगतिसे ही ऊर्ध्वगति और अधोगतिमें जाते हैं। यदि यहाँ पहले ही मध्यगतिका वर्णन किया जाता तो (ऊर्ध्वगति और अधोगतिके वर्णनके बिना) उसका स्पष्ट बोध नहीं होता।

† (क) भगवान्‌ने कृपा करके जीवको शुभकर्मोंका फल भुगताकर, शुद्ध करके अपनी गोदमें लेनेके लिये स्वर्गादि लोकोंकी रचना की; अशुभकर्मोंका फल भुगताकर, शुद्ध करके अपनी गोदमें लेनेके लिये चौरासी लाख योनियों और नरकोंकी रचना की; और अनुकूलता-प्रतिकूलताके द्वारा शुभ-अशुभ कर्मोंको समाप्त करके अपनी गोदमें लेनेके लिये मनुष्य-योनिकी रचना की। मनुष्य-योनिमें भगवान्‌ने जीवको अपनी प्राप्तिकी, जन्म-मरणसे मुक्त होनेकी पूरी

(५) भगवत्प्राप्त महापुरुष—जो जीव भगवान्‌को प्राप्त हो गये हैं, भगवद्धाममें गये हैं, वे भी भगवान्‌की इच्छासे अन्य जीवोंका उद्धार करनेके लिये कारकपुरुषके रूपमें इस मनुष्यलोकमें आते हैं। उनका मनुष्यलोकमें जन्म लेना कर्मोंके परवश नहीं होता। वे स्वयं श्रेष्ठ आचरण करके लोगोंको अच्छे कर्मोंमें लगाते हैं अथवा अपने वचनोंके द्वारा लोगोंको सही रास्ता बताते हैं (३। २१)। इस प्रकार अपना कार्य पूरा करके फिर वे भगवान्‌के पास चले जाते हैं।

(६) भगवान्‌के नित्य परिकर—जब भगवान् साधु पुरुषोंकी रक्षा, दुष्टोंका विनाश और धर्मकी स्थापना करनेके लिये मनुष्यलोकमें आते हैं (४। ८), तब भगवद्धाममें रहनेवाले भगवान्‌के नित्य परिकर (पार्षद) भी भगवान्‌के साथ उनके सखा आदिके रूपमें इस मनुष्यलोकमें आते हैं। वे यहाँ भगवान्‌के साथ ही रहते हैं, खाते-पीते हैं, खेलते हैं, उन्हें सुख पहुँचाते हैं। जब भगवान् अपने अवतारकी लीला समाप्त करते हैं और अन्तर्धान हो जाते हैं तब वे पार्षद भी शरीर छोड़कर उनके साथ भगवद्धाममें चले जाते हैं।

गीताका गोपनीय विषय

पुरोऽर्जुनस्य कृष्णेन ह्यात्मानं प्रकटीकृतम्।
विषयो गोपनीयोऽयं गीताया मन्यते बुधैः॥

भगवान्‌के द्वारा आत्मीय भक्त अर्जुनके सामने अपने-आपको प्रकट करना ही गीताका मुख्य गोपनीय विषय है। भगवान् अवतार लेकर अपने-आपको छिपाते हैं, सबके सामने अपनी भगवत्ता प्रकट नहीं करते (७।२५); परंतु अपने प्यारे भक्तोंके सामने वे छिप ही नहीं सकते, अपने-आपको प्रकट कर ही देते हैं।

भगवान्‌ने गीतामें अपने प्यारे भक्त अर्जुनके सामने अपनी भगवत्ता, महत्ता, प्रभुताकी बहुत-सी बातें कही हैं; जैसे—

यह योग (कर्मयोग) मैंने पहले सूर्यसे कहा था। फिर सूर्यने मनुसे और मनुने इक्ष्वाकुसे कहा। इस प्रकार परम्परासे प्राप्त इस योगको समस्त राजर्षियोंने काममें लिया, परंतु इसे जाननेवाले न होनेसे बहुत कालसे यह योग लुप्तप्राय हो गया है। वही यह पुरातन योग मैंने तुमसे कहा है, यह बड़े रहस्यकी बात है। तात्पर्य यह है कि जिसने पहले सूर्यको उपदेश दिया, वही मैं आज तुम्हें उपदेश दे रहा हूँ—यह अत्यन्त गोपनीय बात है (४। १–३)।

मेरे और तुम्हारे बहुत-से जन्म हो गये हैं; उन सबको मैं जानता हूँ, तुम नहीं (४।५)। मैं अजन्मा, अव्ययात्मा और सम्पूर्ण प्राणियोंका स्वामी रहता हुआ ही प्रकृतिको अपने वशमें करके प्रकट होता हूँ (४।६)।

स्वतन्त्रता दी है। मनुष्ययोनिमें यह जीव जीते-जी भगवान्‌को प्राप्त कर सकता है और जीते-जी होश न आये तो अन्तसमयमें भी भगवान्‌को याद करके उन्हें प्राप्त कर सकता है (८। ५)।

(ख) इस मनुष्यलोकमें जीवोंका जहाँ-कहीं, जिस-किसी योनिमें जन्म होता है, वह प्रायः ऋणानुबन्ध (लेन-देनके सम्बन्ध) से ही होता है। तात्पर्य यह है कि किसीसे लेनेके लिये और किसीको देनेके लिये आपसके सम्बन्धको लेकर ही सम्पूर्ण जीवोंका जन्म होता है। मनुष्य केवल दूसरोंके हितके लिये कर्तव्य-कर्म करके शुभ-अशुभ कर्मोंसे अर्थात् ऋणानुबन्धसे मुक्त हो सकता है (४। २३) अथवा सत्-असत्‌के विवेकद्वारा अपने स्वरूपमें स्थित होकर सम्पूर्ण पापोंसे अर्थात् ऋणानुबन्धसे मुक्त हो सकता है (४। ३६) अथवा भगवान्‌की शरण होकर सम्पूर्ण पापोंसे अर्थात् ऋणानुबन्धसे मुक्त हो सकता है (१८। ६६)। इस ऋणानुबन्धसे मुक्त होनेके लिये मनुष्येतर प्राणी असमर्थ हैं; क्योंकि उनमें इसकी योग्यता नहीं है और अधिकार भी नहीं है; परंतु मनुष्य इसमें सर्वथा स्वतन्त्र है, सबल है।

मैं ही धर्मकी स्थापना, भक्तोंकी रक्षा और दुष्टोंका विनाश करनेके लिये युग-युगमें अवतार लेता हूँ (४।७-८)। महासर्गके आदिमें मैंने ही चारों वर्णोंकी रचना की है। रचना करनेपर भी मैं अकर्ता ही रहता हूँ (४।१३)। मुझे सम्पूर्ण यज्ञों तथा तपोंका भोक्ता, सम्पूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर और सम्पूर्ण प्राणियोंका सुहृद् जानकर मनुष्य शान्तिको प्राप्त हो जाता है (५।२९)। जो मुझे सबमें और सबको मुझमें देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और मेरे लिये वह अदृश्य नहीं होता (६।३०)।

यह सम्पूर्ण संसार मुझमें ही ओतप्रोत है। जलमें रस, चन्द्र-सूर्यमें प्रभा आदिमें कारणरूपसे मैं ही हूँ। सात्त्विक, राजस और तामस भाव मुझसे ही होते हैं; परंतु मैं उनमें और वे मुझमें नहीं हैं अर्थात् सब कुछ मैं-ही-मैं हूँ (७।८–१२)। मैं सम्पूर्ण संसारमें व्याप्त हूँ और सम्पूर्ण प्राणी मुझमें स्थित हैं, पर मैं उन प्राणियोंमें और वे प्राणी मुझमें नहीं हैं—यह मेरा ईश्वर-सम्बन्धी योग (सामर्थ्य) देखो (९।४-५)। महाप्रलयमें सम्पूर्ण प्राणी मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं और महासर्गके आदिमें मैं फिर उनकी रचना करता हूँ (९।७)।

इस सम्पूर्ण जगत्का माता, धाता, पिता, पितामह आदि मैं ही हूँ (९।१७)। सत्-असत्, जड़-चेतन आदि जो कुछ है, वह सब मैं ही हूँ (९।१९)। मैं ही अनन्यभक्तोंका योगक्षेम वहन करता हूँ (९।२२)। मैं ही सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता तथा सम्पूर्ण जगत्का स्वामी हूँ; परंतु जो मुझे तत्त्वसे नहीं जानते, उनका पतन हो जाता है (९।२४)। मैं सम्पूर्ण प्राणियोंमें समान हूँ। कोई भी प्राणी मेरे राग-द्वेषका विषय नहीं है; परंतु जो भक्तिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, मैं उनमें और वे मुझमें विशेषतासे हैं (९।२९)।

यह सब संसार मेरा ही प्रकट किया हुआ है—इस बातको न देवता जानते हैं और न महर्षि ही; क्योंकि मैं सब तरहसे देवताओं और महर्षियोंका भी आदि हूँ (१०।२)। प्राणियोंके बुद्धि, ज्ञान आदि भाव मुझसे ही होते हैं (१०।४-५)। मैं ही सबका मूल कारण हूँ और मुझसे ही सब सत्ता-स्फूर्ति पाते हैं (१०।८)। मैं ही भक्तोंपर कृपा करके उनके अज्ञानजन्य अन्धकारका नाश कर देता हूँ (१०।११)।

सम्पूर्ण प्राणियोंका बीज मैं ही हूँ। मेरे बिना कोई भी प्राणी नहीं है (१०।३९)। मैं अपने किसी एक अंशमें सम्पूर्ण संसारको व्याप्त करके स्थित हूँ (१०।४२)। तुम अपने इन चर्मचक्षुओंसे मेरे विराट्‌रूपको नहीं देख सकते; अतः मैं तुम्हें दिव्यचक्षु देता हूँ, जिससे तुम मेरे इस ईश्वर-सम्बन्धी योग (प्रभाव) को देखो (११।८)। मैं सम्पूर्ण प्राणियोंका क्षय करनेके लिये बढ़ा हुआ काल हूँ और यहाँ इन सम्पूर्ण योद्धाओंका नाश करनेके लिये आया हूँ। तुम्हारे युद्ध किये बिना भी यहाँ कोई नहीं बचेगा। इन सबको मैंने पहलेसे ही मार रखा है। अतः तुम निमित्तमात्र बनकर युद्ध करो, तुम्हारी विजय होगी (११।३२–३४)।

मेरे परायण हुए जो भक्त सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके अनन्यभावसे मेरा भजन करते हैं, उनका मैं स्वयं संसार-सागरसे उद्धार करनेवाला बन जाता हूँ (१२।६-७)। जो अव्यभिचारिणी भक्तिसे मेरा भजन करता है, वह गुणोंसे अतीत हो जाता है (१४।२६)। मैं ही ब्रह्म, अविनाशी अमृत, शाश्वतधर्म और ऐकान्तिक सुखका आश्रय हूँ (१४।२७)। चन्द्र, सूर्य और अग्निमें मेरा ही तेज है। मैं ही अपने ओजसे पृथ्वीको धारण करता हूँ। मैं ही वैश्वानररूपसे प्राणियोंके खाये हुए अन्नको पचाता हूँ। मैं सबके हृदयमें रहता हूँ। सम्पूर्ण वेदोंमें जाननेयोग्य मैं ही हूँ (१५।१२–१५)। मैं क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम हूँ; अतः वेदमें और शास्त्रमें मैं ही पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ (१५।१८)। जो अनन्यभावसे मेरा ही भजन करता है, वह सर्ववित् है (१५।१९) मैंने यह अत्यन्त गोपनीय शास्त्र कहा है, जिसे जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतकृत्य हो जाता है (१५।२०)।

मनुष्य सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे अविनाशी पदको प्राप्त हो जाता है (१८।५६)।

तुम मेरे परायण होकर सम्पूर्ण कर्मोंको मेरे अर्पण कर दो तो तुम मेरी कृपासे सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंको तर जाओगे (१८ । ५७-५८) । तुम सम्पूर्ण धर्मोंके आश्रयोंको छोड़कर केवल एक मेरी शरणमें आ जाओ । मैं तुम्हें सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तुम चिन्ता मत करो (१८ । ६६) ।

—इस प्रकार भगवान्‌ने रहस्यकी जितनी भी बातें कही हैं, वे सभी गोपनीय विषय हैं ।

गीता-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर

गीताभ्यासेन ये जाताः साधकहृदि संशयाः ।
अत्र तेषां समाधानं क्रियते हि समासतः ॥

प्रश्न—भगवान् तो जानते ही थे कि भीष्मजीने दुर्योधनको प्रसन्न करनेके लिये ही शङ्ख बजाया है (१ । १२), यह युद्धारम्भकी घोषणा नहीं है। फिर भी भगवान्‌ने शङ्ख क्यों बजाया (१ । १४) ?

उत्तर—भीष्मजीका शङ्ख बजते ही कौरवसेनाके सब बाजे एक साथ बज उठे । अतः ऐसे समयपर यदि पाण्डवसेनाके बाजे न बजते तो बुरा लगता, पाण्डवसेना-की हार सूचित होती और व्यवहार भी उचित नहीं लगता । अतः भक्तपक्षपाती भगवान्‌ने पाण्डवसेनाके सेनापति धृष्टद्युम्नकी परवाह न करके सबसे पहले शङ्ख बजाया ।

प्रश्न—अर्जुनने पहले अध्यायमें धर्मकी बहुत-सी बातें कही हैं । जब वे धर्मकी इतनी बातें जानते थे, तब फिर उन्हें मोह क्यों हुआ ?

उत्तर—कुटुम्बकी ममता विवेकको दबा देती है, उसकी मुख्यताको नहीं रहने देती और मनुष्यको मोह-ममतामें तल्लीन कर देती है । अर्जुनको भी कुटुम्बकी ममताके कारण मोह हो गया ।

प्रश्न—जब अर्जुन पापके होनेमें लोभको कारण मानते थे (१ । ३८, ४५), तब फिर उन्होंने 'मनुष्य न चाहता हुआ भी पाप क्यों करता है' (३ । ३६)—यह प्रश्न क्यों किया ?

उत्तर—कौटुम्बिक मोहके कारण अर्जुन (पहले अध्यायमें) युद्धसे निवृत्त होनेको धर्म और युद्धमें प्रवृत्त होनेको अधर्म मानते थे अर्थात् शरीर आदिको लेकर उनकी दृष्टि केवल भौतिक थी । अतः वे युद्धमें स्वजनोंको मारनेमें लोभको हेतु मानते थे; परंतु आगे गीताका उपदेश सुनते-सुनते उनमें अपने कल्याणकी इच्छा जाग्रत् हो गयी (३ । २), अतः वे पूछते हैं कि मनुष्य न चाहता हुआ भी न करने योग्य काममें प्रवृत्त क्यों होता है ? तात्पर्य यह है कि पहले अध्यायमें तो अर्जुन मोहाविष्ट होकर कह रहे हैं और तीसरे अध्यायमें वे साधककी दृष्टिसे पूछ रहे हैं ।

प्रश्न—शरीरी (जीवात्मा) अविनाशी है, इसका विनाश कोई कर ही नहीं सकता (२ । १७), यह न मारता है और न मारा जाता है (२ । १९), तब फिर मनुष्यको प्राणियोंकी हत्याका पाप लगना ही नहीं चाहिये ?

उत्तर—पाप तो पिण्डप्राणोंका वियोग करनेका लगता है; क्योंकि प्रत्येक प्राणी पिण्डप्राणमें रहना चाहता है, जीना चाहता है । महात्मालोग जीना नहीं चाहते, फिर भी उन्हें मारनेका बड़ा भारी पाप लगता है; क्योंकि उनका जीना संसारमात्र चाहता है । उनके जीनेसे प्राणिमात्रका हित होता है, प्राणिमात्रको शान्ति मिलती है । जो वस्तुएँ प्राणियोंके लिये जितनी आवश्यक होती हैं, उनका नाश करनेका उतना ही अधिक पाप लगता है ।

प्रश्न—आत्मा नित्य है, सर्वत्र परिपूर्ण है, स्थिर स्वभाववाला है (२ । २४), तो फिर इसका पुराने

*

शरीरोंको छोड़कर दूसरे नये शरीरोंमें चला जाना कैसे सम्भव है (२ । २२) ?

उत्तर—जब यह प्रकृतिके अंश शरीरको अपना मान लेता है, उसके साथ तादात्म्य कर लेता है, तब यह प्रकृतिके अंशके आने-जानेको, उसके जीने-मरनेको अपना आना-जाना, जीना-मरना मान लेता है। इसी दृष्टिसे इसका अन्य शरीरोंमें चला जाना कहा गया है। वास्तवमें तत्त्वसे इसका आना-जाना, जीना-मरना है ही नहीं।

प्रश्न—कर्मोंका आरम्भ न करना और कर्मोंका त्याग करना—ये दोनों बातें एक ही हुईं; क्योंकि दोनोंमें ही कर्मोंका अभाव है। अतः भगवान्‌को 'कर्माभावसे सिद्धि नहीं होती'—ऐसा कहना चाहिये था। फिर भी भगवान्‌ने (३ । ४ में) उपर्युक्त दोनों बातें एक साथ क्यों कहीं ?

उत्तर—भगवान्‌ने ये दोनों बातें कर्मयोग और ज्ञानयोगकी दृष्टिसे कही हैं। कर्मयोगमें निष्कामभावसे कर्मोंको करनेसे ही समताका पता लगता है; क्योंकि मनुष्य कर्म करेगा ही नहीं तो 'सिद्धि-असिद्धिमें मैं सम रहा या नहीं'—इसका पता कैसे लगेगा ? अतः भगवान् कहते हैं कि कर्मोंका आरम्भ न करनेसे सिद्धिकी प्राप्ति नहीं होती। ज्ञानयोगमें विवेकसे समताकी प्राप्ति होती है, केवल कर्मोंका त्याग करनेसे नहीं। अतः भगवान् कहते हैं कि कर्मोंका त्याग करनेमात्रसे सिद्धिकी प्राप्ति नहीं होती। तात्पर्य यह है कि कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों ही मार्गोंमें कर्म करना बाधक नहीं है। दोनों ही मार्गोंमें कर्तृत्वका त्याग मुख्य है।

प्रश्न—परमात्मा तो सर्वव्यापी हैं, फिर उन्हें (३ । १५ में) केवल यज्ञमें नित्य प्रतिष्ठित क्यों कहा गया है ? क्या वे दूसरी जगह नित्य प्रतिष्ठित नहीं हैं ?

उत्तर—सर्वव्यापी परमात्माको यज्ञ अर्थात् कर्तव्य-कर्ममें नित्य प्रतिष्ठित कहनेका तात्पर्य यह है कि यज्ञ उनका उपलब्धि-स्थान है। जैसे जमीनमें सब जगह जल होनेपर भी वह कुएँसे प्राप्त होता है, ऐसे ही परमात्मा सब जगह परिपूर्ण होनेपर भी अपने कर्तव्य-कर्मका पालन करनेसे प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि अपने कर्तव्य-कर्मका पालन करनेसे सर्वव्यापी परमात्माका अनुभव हो जाता है।

प्रश्न—ज्ञानवान् पुरुष अपनी प्रकृति (स्वभाव)-के अनुसार चेष्टा करता है (३ । ३३), पर वह बँधता नहीं। अन्य प्राणी भी अपनी प्रकृतिके अनुसार ही चेष्टा करते हैं, पर वे बँध जाते हैं। ऐसा क्यों होता है ?

उत्तर—ज्ञानी महापुरुषकी प्रकृति तो राग-द्वेषरहित, शुद्ध होती है; अतः वह प्रकृतिको अपने वशमें करके ही चेष्टा करता है। इसलिये वह कर्मोंसे बँधता नहीं; परंतु अन्य प्राणियोंकी प्रकृतिमें राग-द्वेष रहते हैं और वे प्रकृतिके वशमें होकर राग-द्वेषपूर्वक कार्य करते हैं, इसलिये वे कर्मोंसे बँध जाते हैं। अतः मनुष्यको अपनी प्रकृति, अपना स्वभाव शुद्ध—निर्मल बनाना चाहिये और अपने स्वभावके वशमें होकर कोई कार्य नहीं करना चाहिये।

प्रश्न—चौथे अध्यायके सातवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि मैं अपने-आपको साकाररूपसे प्रकट करता हूँ और फिर वे नवें अध्यायके चौथे श्लोकमें कहते हैं कि मैं अव्यक्तरूपसे सम्पूर्ण संसारमें व्याप्त हूँ, तो जो एक देशमें प्रकट हो जाते हैं, वे सब देशमें कैसे व्याप्त रह सकते हैं और जो सर्वव्यापक हैं, वे एक देशमें कैसे प्रकट हो जाते हैं ?

उत्तर—जब एक प्राकृत अग्नि भी सब जगह व्यापक रहते हुए एक देशमें प्रकट हो जाती है और एक देशमें प्रकट होनेपर भी अग्निका सब देशमें अभाव नहीं होता, फिर भगवान् तो प्रकृतिसे अतीत हैं, अलौकिक हैं, सब कुछ करनेमें समर्थ हैं, वे यदि सब जगह व्यापक रहते हुए एक देशमें प्रकट हो जायँ तो इसमें कहना ही क्या है ? तात्पर्य यह है कि अवतार लेनेपर भी भगवान्‌की सर्वव्यापकता ज्यों-की-त्यों बनी रहती है।

प्रश्न—ज्ञानिजन ब्राह्मण, चाण्डाल, गाय, हाथी, कुत्ते आदिमें समदर्शी होते हैं (५ । १८), तो फिर वर्ण, आश्रम आदिका अड़ंगा क्यों ?

उत्तर—ज्ञानी महापुरुषका व्यवहार तो ब्राह्मण, चाण्डाल, गाय, हाथी आदिके शरीरोंको लेकर यथायोग्य ही होता है। शरीर नित्य-निरन्तर बदलते हैं; अतः ऐसे परिवर्तनशील शरीरमें उनकी विषमता रहती है और रहनी ही चाहिये। कारण कि सभी प्राणियोंके साथ खान-पान आदि व्यवहारकी एकता, समानता तो कोई कर ही नहीं सकता अर्थात् सबके साथ व्यवहारमें विषमता तो रहेगी ही। ऐसी विषमतामें भी तत्त्वदर्शी पुरुष एक परमात्माको ही समानरूपसे देखते हैं। इसीलिये भगवान्‌ने तत्त्वज्ञ पुरुषोंके लिये **'समदर्शिनः'** कहा है, न कि **'समवर्तिनः'**। समवर्ती (समान व्यवहार करनेवाला) तो यमराजका, मौतका नाम है*, जो कि सबको समानरूपसे मारती है।

प्रश्न—भगवान् प्राणिमात्रके सुहृद् हैं (५ । २९), बिना किसी कारणके सबका हित चाहनेवाले हैं, तो फिर वे प्राणियोंको ऊँच-नीच गतियोंमें क्यों भेजते हैं ?

उत्तर—सबके सुहृद् होनेसे ही तो भगवान् प्राणियोंको ऊँच-नीच गतियोंमें भेजकर उन्हें पुण्य-पापोंसे शुद्ध करते हैं, पुण्य-पापरूप बन्धनसे ऊँचा उठाते हैं (९ । २०-२१; १६ । १९-२०)।

प्रश्न—गीतामें कहीं तो सात्त्विक, राजस और तामस गुणोंको भगवान्‌से उत्पन्न बताया है (७ । १२), कहीं प्रकृतिसे उत्पन्न बताया है (१३ । १९; १४ । ५) और कहीं स्वभावसे उत्पन्न बताया है (१८ । ४१), तो गुण भगवान्‌से उत्पन्न होते हैं या प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं अथवा स्वभावसे उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर—जहाँ भक्तिका प्रकरण है, वहाँ गुणोंको भगवान्‌से उत्पन्न बताया है; जहाँ ज्ञानका प्रकरण है, वहाँ गुणोंको प्रकृतिसे उत्पन्न बताया है; और जहाँ कर्म-विभागका वर्णन है, वहाँ गुणोंको स्वभावसे उत्पन्न बताया है। भगवान् सबके स्वामी हैं। अतः स्वामीकी दृष्टिसे देखा जाय तो गुण भगवान्‌से पैदा होते हैं। सबकी उत्पत्तिका कारण प्रकृति है। अतः कारणकी दृष्टिसे देखा जाय तो गुण प्रकृतिसे पैदा होते हैं। व्यवहारकी दृष्टिसे देखा जाय तो गुण प्राणियोंके स्वभावसे पैदा होते हैं। तात्पर्य यह है कि ये गुण स्वामीकी दृष्टिसे भगवान्‌के हैं, कारणकी दृष्टिसे प्रकृतिके हैं और संसारमें अभिव्यक्तिकी दृष्टिसे व्यक्तियोंके हैं। अतः तीनों ही बातें ठीक हैं।

प्रश्न—नवें अध्यायके छठे श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण प्राणी मुझमें स्थित हैं और तेरहवें अध्यायके तीसवें श्लोकमें कहते हैं कि सम्पूर्ण भाव, प्राणी आदि एक प्रकृतिमें स्थित हैं, तो वास्तवमें प्राणी भगवान्‌में स्थित हैं या प्रकृतिमें ?

उत्तर—भगवान्‌के अंश होनेसे सम्पूर्ण प्राणी तत्त्वतः भगवान्‌में ही स्थित हैं और वे भगवान्‌से कभी अलग हो सकते ही नहीं, परंतु उन प्राणियोंके जो शरीर हैं, वे प्रकृतिसे उत्पन्न होनेसे, प्रकृतिके अंश होनेसे प्रकृतिमें ही स्थित हैं।

प्रश्न—मैं सम्पूर्ण प्राणियोंमें समानरूपसे हूँ; परंतु जो मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें और मैं उनमें हूँ (९ । २९)—भगवान्‌का यह पक्षपात क्यों ? यदि पक्षपात है, तो 'मैं सबमें सम हूँ'—यह कैसे ?

उत्तर—यह पक्षपात ही तो समता है ! यदि भगवान् भजन करनेवाले और भजन न करनेवालेके साथ एक समान भाव रखें तो यह समता कैसी हुई ? और भजन करनेका क्या माहात्म्य हुआ ? अतः भजन करनेवाले और न करने-वालेके साथ यथायोग्य बर्ताव करना ही भगवान्‌की समता है; और यदि भगवान् ऐसा नहीं करते तो यह भगवान्‌की विषमता है। वास्तवमें देखा जाय तो भगवान्‌में विषमता है ही नहीं। भगवान्‌में विषमता तो भजन करनेवालेके भावोंने पैदा की है अर्थात् जो संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करके केवल भगवान्‌में ही लग जाता है, उसके अनन्य भावके कारण भगवान्‌में ऐसी विषमता हो जाती है, भगवान् करते नहीं।

* 'समवर्ती परेतराट्' (अमरकोष १ । १ । ५८)

प्रश्न—तेरहवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें परमात्माको ज्ञेय कहा है और अठारहवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें संसारको ज्ञेय कहा है—इसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—ये दोनों विषय अलग-अलग हैं। तेरहवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें बताया गया है कि परमात्माको अवश्य जानना चाहिये; क्योंकि परमात्माको यथार्थरूपसे जान लेनेपर कल्याण हो जाता है और अठारहवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें बताया गया है कि जाननेमें आनेवाला दृश्यमात्र संसार है, जिससे व्यवहारकी सिद्धि होती है।

प्रश्न—अपनेको व्यष्टि शरीरमें स्थित माननेसे ही पुरुष (चेतन) भोक्ता बनता है; तेरहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने समष्टि प्रकृतिमें स्थित पुरुषको भोक्ता बताया है; ऐसा क्यों ?

उत्तर—पुरुषको समष्टि प्रकृतिमें स्थित बतानेका तात्पर्य यह है कि जैसे पुरुषका स्त्रीके साथ विवाह होनेपर स्त्रीके सम्पूर्ण सम्बन्धियोंके साथ पुरुषका सम्बन्ध हो जाता है, ऐसे ही एक व्यष्टि शरीरमें अपनी स्थिति माननेसे अर्थात् एक शरीरके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे मात्र प्रकृतिके साथ, सम्पूर्ण शरीरोंके साथ सम्बन्ध हो जाता है।

प्रश्न—अपनेको शरीरमें स्थित माननेसे ही तो पुरुष कर्ता और भोक्ता बनता है; परंतु तेरहवें अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि यह पुरुष शरीरमें स्थित रहता हुआ भी कर्ता और भोक्ता नहीं है; यह कैसे ?

उत्तर—यहाँ भगवान् प्राणिमात्रके वास्तविक स्वरूपको बता रहे हैं कि वास्तवमें अज्ञानी-से-अज्ञानी मनुष्य भी स्वरूपसे कभी कर्ता और भोक्ता नहीं बनता अर्थात् उसके स्वरूपमें कभी कर्तृत्व और भोक्तृत्व नहीं आता; परंतु अज्ञानके कारण मनुष्य अपनेको कर्ता और भोक्ता मान लेता है (३ । २७; ५ । १५)।

प्रश्न—रजोगुणकी तात्कालिक वृत्तिके बढ़नेपर और रजोगुणकी प्रधानतामें मरनेवाला प्राणी मनुष्यलोकमें जन्म लेता है (१४ । १५, १८)—इन दोनों बातोंसे यही सिद्ध होता है कि इस मनुष्यलोकमें सभी मनुष्य रजोगुणवाले ही होते हैं, सत्त्वगुण और तमोगुण-वाले नहीं; परंतु गीतामें जगह-जगह तीनों गुणोंकी बात भी आयी है (७ । १३; १४ । ६–१८; १८ । २०–४० आदि)। इसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—ऊर्ध्वगति, मध्यगति और अधोगति—इन तीनोंमें तीनों गुण रहते हैं; परंतु ऊर्ध्वगतिमें सत्त्वगुणकी, मध्यगति (मनुष्यलोक) में रजोगुणकी और अधोगतिमें तमोगुणकी प्रधानता रहती है। तभी तो तीनों गतियोंमें प्राणियोंके सात्त्विक, राजस और तामस स्वभाव होते हैं *।

प्रश्न—चौदहवें अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें तमोगुणसे अज्ञानका पैदा होना बताया है और आठवें श्लोकमें अज्ञानसे तमोगुणका पैदा होना बताया है—इसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—जैसे वृक्षसे बीज पैदा होता है और उस बीजसे फिर बहुत-से वृक्ष पैदा होते हैं, ऐसे ही तमोगुणसे अज्ञान पैदा होता है और उस अज्ञानसे तमोगुण बढ़ता है, पुष्ट होता है।

प्रश्न—पंद्रहवें अध्यायके चौथे श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि 'उस आदिपुरुष परमात्माकी ही मैं शरण हूँ' '**तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये**', तो क्या भगवान् भी किसीकी शरण होते हैं ?

उत्तर—भगवान् किसीकी भी शरण नहीं होते; क्योंकि वे सर्वोपरि हैं। केवल लोकशिक्षाके लिये भगवान् साधककी भाषामें बोलकर साधकको यह बताते हैं कि वह 'उस आदिपुरुष परमात्माकी ही मैं शरण हूँ'—ऐसी भावना करे।

प्रश्न—यह जीव परमात्माका अंश है (१५ । ७), तो क्या यह जीव परमात्मासे पैदा हुआ है ? क्या यह जीव परमात्माका एक टुकड़ा है ?

* इस विषयको विस्तारसे समझनेके लिये गीताकी 'साधक-संजीवनी' हिंदी-टीकामें चौदहवें अध्यायके अठारहवें श्लोककी व्याख्या देखनी चाहिये।

उत्तर—ऐसी बात नहीं है। यह जीव अनादि है, सनातन है और परमात्मा पूर्ण हैं; अतः जीव परमात्माका टुकड़ा कैसे हो सकता है ? वास्तवमें यह जीव परमात्मस्वरूप ही है; परंतु जब यह प्रकृतिके अंशको अपना मान लेता है, तब यह अंश हो जाता है। प्रकृतिके अंशको छोड़नेपर यह पूर्ण हो जाता है।

प्रश्न—ईश्वर अपनी मायासे सम्पूर्ण प्राणियोंको घुमाता है (१८। ६१), तो क्या ईश्वर ही प्राणियोंसे पाप-पुण्य कराता है ?

उत्तर—जैसे कोई मनुष्य रेलमें बैठ जाता है तो उसे परवश होकर रेलके अनुसार ही जाना पड़ता है, ऐसे ही जो प्राणी शरीररूपी यन्त्रपर आरूढ़ हो गये हैं अर्थात् जिन्होंने शरीररूपी यन्त्रके साथ मैं-मेरा-पनका सम्बन्ध जोड़ लिया है, उन्हीं प्राणियोंको ईश्वर उनके स्वभाव और कर्मोंके अनुसार घुमाता है, कर्मोंका फल भुगताता है,—उनसे पाप-पुण्य नहीं कराता।

प्रश्न—भगवान्‌ने अर्जुनको पहले **'तमेव शरणं गच्छ'** पदोंसे अन्तर्यामी परमात्माकी शरणमें जानेके लिये कहा (१८। ६२) और फिर **'मामेकं शरणं व्रज'** पदोंसे अपनी शरणमें आनेके लिये कहा (१८। ६६)। जब अर्जुनको अपनी ही शरणमें लेना था, तब फिर भगवान्‌ने उन्हें अन्तर्यामी परमात्माकी शरणमें जानेके लिये क्यों कहा ?

उत्तर—भगवान्‌ने पहले कहा कि मेरा शरणागत भक्त मेरी कृपासे शाश्वत पदको प्राप्त हो जाता है (१८। ५६), फिर कहा कि मेरे परायण और मुझमें चित्तवाला होकर तुम सम्पूर्ण विघ्नोंसे तर जाओगे (१८। ५७-५८)। भगवान्‌के ऐसा कहनेपर भी अर्जुन कुछ बोले नहीं, उन्होंने कुछ भी स्वीकार नहीं किया। तब भगवान्‌ने कहा कि यदि तुम मेरी शरणमें नहीं आना चाहते, तो तुम उस अन्तर्यामी परमात्माकी शरणमें चले जाओ। मैंने यह गोपनीयसे गोपनीय ज्ञान कह दिया, अब तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करो (१८। ६३)। यह बात सुनकर अर्जुन घबरा गये कि भगवान् तो मेरा त्याग कर रहे हैं ! तब भगवान् अर्जुनको सर्वगुह्यतम बात बताते हैं कि तुम केवल मेरी शरणमें आ जाओ।

प्रश्न—अर्जुनने जब पहले ही यह कह दिया था कि 'मेरा मोह चला गया'—**'मोहोऽयं विगतो मम'** (११। १), तब फिर दुबारा यह कहनेकी क्या आवश्यकता थी कि 'मेरा मोह नष्ट हो गया'—**'नष्टो मोहः'** (१८। ७३) ?

उत्तर—जब साधन करते-करते साधकको पारमार्थिक विलक्षणताका अनुभव होने लगता है, तब उसे यही ज्ञात होता है कि उस तत्त्वको मैं ठीक तरहसे जान गया हूँ, पर वास्तवमें पूर्णताकी प्राप्तिमें कमी रहती है। इसी तरह जब अर्जुनने दूसरे अध्यायसे दसवें अध्यायतक भगवान्‌के विलक्षण प्रभाव आदिकी बातें सुनीं तब वे बहुत प्रसन्न हुए। उन्हें यही ज्ञात हुआ कि मेरा मोह चला गया; अतः उन्होंने अपनी दृष्टिसे **'मोहोऽयं विगतो मम'** कह दिया; परंतु भगवान्‌ने इस बातको स्वीकार नहीं किया। आगे जब अर्जुन भगवान्‌के विश्वरूपको देखकर भयभीत हो गये, तब भगवान्‌ने कहा कि यह तुम्हारा मूढ़भाव (मोह) है; अतः तुम्हें मोहित नहीं होना चाहिये—**'मा च विमूढभावः'** (११। ४९)। भगवान्‌के इस वचनसे यही सिद्ध होता है कि अर्जुनका मोह सर्वथा नहीं गया था, परंतु आगे जब अर्जुनने सर्वगुह्यतमवाली बातको सुनकर कहा कि आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मुझे स्मृति प्राप्त हो गयी—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत'** (१८। ७३), तब भगवान् कुछ बोले नहीं, मौन रहे और उन्होंने आगे उपदेश देना समाप्त कर दिया। इससे सिद्ध होता है कि भगवान्‌ने अर्जुनके मोहनाशको स्वीकार कर लिया।

प्रश्न—अर्जुनका मोह सर्वथा नष्ट हो गया था और मोह नष्ट होनेपर फिर मोह हो ही नहीं सकता—**'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि'** (४। ३५); परंतु जब अभिमन्यु मारा गया, तब अर्जुनको कौटुम्बिक मोह क्यों हुआ ?

उत्तर—वह मोह नहीं था, प्रत्युत शिक्षा थी। मोह नष्ट होनेके बाद महापुरुषोंके द्वारा जो कुछ आचरण होता है, वह संसारके लिये शिक्षा होती है, आदर्श होता है। अभिमन्युके मारे जानेपर कुन्ती, सुभद्रा, उत्तरा आदि बहुत दुःखी हो रही थीं; अतः उनका दुःख दूर करनेके लिये अर्जुनके द्वारा मोह-शोकका नाटक हुआ था, लीला हुई थी। इसका प्रमाण यह है कि अभिमन्युके मारे जानेपर अर्जुनने जयद्रथको मारनेके लिये जो-जो प्रतिज्ञाएँ की हैं, वे सब शास्त्रों और स्मृतियोंकी बातोंको लेकर ही की गयी हैं (महाभारत, द्रोण० ७३।२५-४५)। यदि अर्जुनपर मोह, शोक ही छाया हुआ होता तो उन्हें शास्त्रों और स्मृतियोंकी बातें कैसे याद रहतीं? इतनी सावधानी कैसे रहती? कारण कि मोह होनेपर मनुष्यको पुरानी बातें याद नहीं रहतीं और आगे नया विचार भी नहीं होता (२।६३), पर अर्जुनको सब बातें याद थीं, वे शोकमें नहीं बहे। इससे यही सिद्ध होता है कि अर्जुनका शोक करना नाटकमात्र, लीलामात्र ही था।

प्रश्न—मोह नष्ट होनेपर और स्मृति प्राप्त होनेपर फिर कभी उसकी विस्मृति नहीं होती, तो फिर अर्जुनने 'अनुगीता' में यह कैसे कह दिया कि मैं तो उस ज्ञानको भूल गया हूँ (महाभारत, आश्वमेधिक० १६।६)?

उत्तर—भगवान्ने गीतोपदेशके समय अर्जुनको भक्तियोग और कर्मयोगका अधिकारी माना था और मध्यमपुरुषको प्रायः भक्तियोग और कर्मयोगका ही उपदेश दिया था। अतः अर्जुन भक्तियोग और कर्मयोगकी बातें नहीं भूले, प्रत्युत ज्ञानकी बातें ही भूले थे। इसलिये अनुगीतामें भगवान्ने ज्ञानका ही उपदेश दिया।

प्रश्न—अनुगीतामें भगवान्ने कहा है कि उस समय मैंने योगमें स्थित होकर गीता कही थी, पर अब मैं वैसी बातें नहीं कह सकता (महाभारत, आश्वमेधिक० १६।१२-१३) तो क्या भगवान् भी कभी योगमें स्थित रहते हैं और कभी योगमें स्थित नहीं रहते? क्या भगवान्का ज्ञान भी आगन्तुक है?

उत्तर—जैसे बछड़ा गायका दूध पीने लगता है तो गायके शरीरमें रहनेवाला दूध स्तनोंमें आ जाता है, ऐसे ही श्रोता उत्कण्ठित होकर जिज्ञासापूर्वक कोई बात पूछता है तो वक्ताके भीतर विशेष भाव स्फुरित होने लगते हैं। गीतामें अर्जुनने उत्कण्ठा और व्याकुलतापूर्वक अपने कल्याणकी बातें पूछी थीं, जिससे भगवान्के भीतर विशेषतासे भाव पैदा हुए थे; परंतु अनुगीतामें अर्जुनकी उतनी उत्कण्ठा, व्याकुलता नहीं थी। अतः गीतामें जैसा रसीला वर्णन आया है, वैसा वर्णन अनुगीतामें नहीं आया है।

प्रश्न—जैसे गीतामें (दसवें अध्यायमें) भगवान्ने अर्जुनसे अपनी विभूतियाँ कही हैं, ऐसे ही श्रीमद्भागवतमें (ग्यारहवें स्कन्धके सोलहवें अध्यायमें) भगवान्ने उद्धवजीसे अपनी विभूतियाँ कही हैं। जब गीता और भागवत—दोनोंमें कही हुई विभूतियोंके वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, तब फिर दोनोंमें कही हुई विभूतियोंमें अन्तर क्यों है?

उत्तर—वास्तवमें विभूतियाँ कहनेमें भगवान्का तात्पर्य किसी वस्तु, व्यक्ति आदिका महत्त्व बतानेमें नहीं है, प्रत्युत अपना चिन्तन करानेमें है। अतः गीता और भागवत—दोनों ही जगह कही हुई विभूतियोंमें भगवान्का चिन्तन करना ही मुख्य है। इस दृष्टिसे जहाँ-जहाँ विशेषता दिखायी दे, वहाँ-वहाँ वस्तु, व्यक्ति आदिकी विशेषता न देखकर केवल भगवान्की ही विशेषता देखनी चाहिये और भगवान्की ही ओर वृत्ति जानी चाहिये। तात्पर्य यह है कि मन जहाँ-कहीं चला जाय, वहाँ भगवान्का ही चिन्तन होना चाहिये—इसके लिये ही भगवान्ने विभूतियोंका वर्णन किया है (१०।४१)।

प्रश्न—जैसे भागवतमें भगवान्ने उद्धवजीको जो उपदेश दिया, उसका नाम 'उद्धवगीता' है, ऐसे ही गीताका नाम भी 'अर्जुनगीता' होना चाहिये, फिर इसका नाम 'भगवद्गीता' क्यों हुआ?

उत्तर—भागवतमें तो स्वयं उद्धवजीने भगवान्से जिज्ञासापूर्वक प्रश्न किये हैं; अतः उनके संवादका नाम 'उद्धवगीता' रखना ठीक ही है, परंतु गीता कहनेकी बात तो स्वयं भगवान्के ही मनमें आयी थी; क्योंकि

अर्जुन तो युद्ध करनेके लिये ही आये थे, उपदेश सुननेके लिये नहीं। गीता कहनेकी बात मनमें होनेसे ही तो भगवान्‌ने अर्जुनका रथ पितामह भीष्म और गुरु द्रोणाचार्यके सामने खड़ा करके अर्जुनसे 'हे पार्थ! इन कुरुवंशियोंको देखो' **'कुरून् पश्य'** (१।२५)—ऐसा कहा। यदि भगवान् ऐसा न कहकर यह कहते कि 'धृतराष्ट्रके पुत्रोंको देखो' **'धार्तराष्ट्रान् पश्य'** तो अर्जुनके भीतर मोह जाग्रत् न होकर युद्ध करनेका जोश ही आता, जिससे गीता कहनेका अवसर ही नहीं आता। गीता कहनेका अवसर तो 'कुरुवंशियोंको देखो'—ऐसा कहनेसे ही प्राप्त हुआ; क्योंकि कुरुवंशमें धृतराष्ट्रके पुत्र और पाण्डव—दोनों एक हो जाते हैं। अतः अपने ही सम्बन्धियोंको देखकर अर्जुनका सुप्त मोह जाग्रत् हो गया और वे कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय करनेमें असमर्थ होकर तथा भगवान्‌की शरण होकर अपने कल्याणकी बातें पूछने लगे। इसलिये भगवान्‌के द्वारा दिये गये उपदेशका नाम 'भगवद्गीता' रखना युक्तियुक्त, उचित ही है।

प्रश्न—जब युद्धकी तैयारी हो चुकी थी, ऐसे थोड़े समयमें भगवान्‌ने इतना बड़ा गीतोपदेश कैसे दिया?

उत्तर—जब भगवान्‌की माया भी अघटित-घटना-पटीयसी है, तब फिर स्वयं भगवान् थोड़े समयमें बहुत कुछ कह दें, इसमें आश्चर्य ही क्या है?

महाभारतको देखनेसे ज्ञात होता है कि समय थोड़ा नहीं था। अर्जुनने भगवान्‌से दोनों सेनाओंके बीचमें अपना रथ खड़ा करनेके लिये कहा तो भगवान्‌ने अर्जुनके रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा कर दिया। जब दोनों सेनाओंके बीचमें रथ खड़ा हो और उसमें दोनों मित्र आपसमें बातचीत कर रहे हों, तब दोनों सेनाओंमें युद्ध कैसे हो? अतः दोनों सेनाएँ बड़ी शान्तिसे खड़ी थीं।

गीताका उपदेश पूरा होनेके बाद युधिष्ठिर निःशस्त्र होकर कौरवसेनामें गये। उनके साथ भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव और भगवान् श्रीकृष्ण भी थे। कौरवसेनामें जाकर वे भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदिसे मिले और उनके साथ बातचीत भी की। फिर वहाँसे लौटते समय युधिष्ठिरने घोषणा की कि यह सब कौरवसेना मरेगी, यदि कोई बचना चाहे तो वह हमारी सेनामें आ सकता है। युधिष्ठिरकी ऐसी घोषणा सुनकर दुर्योधनका भाई युयुत्सु नगाड़ा बजाते हुए पाण्डवसेनामें चला आया। इसके बाद ही युद्ध आरम्भ हुआ। इससे भी यही सिद्ध होता है कि गीतोपदेश देनेके लिये पर्याप्त समय था।

प्रश्न—भगवान्‌ने गीता गद्यात्मक कही थी या पद्यात्मक?

उत्तर—उस समय जो भाषा स्वाभाविक प्रचलित थी, उसी भाषामें अर्जुनने प्रश्न किये और उसी भाषामें भगवान्‌ने उत्तर दिया, उपदेश दिया। वास्तवमें जहाँ जिज्ञासापूर्तिके लिये असली व्याकुलता होती है, वहाँ वक्ता और श्रोताका ध्यान भाषाकी ओर नहीं जाता, प्रत्युत उनका ध्यान भावकी ओर ही रहता है। बोलते समय वक्ताको कोई प्रमाण याद आ जाता है तो वह प्रमाण जिस भाषामें होता है, उसी भाषामें वह बोल देता है। इसी तरह भगवान्‌ने अर्जुनको गद्यमें उपदेश दिया और उसमें प्रमाणरूपसे जो श्रुतियाँ कहीं, वे ज्यों-की-त्यों पद्यमें ही कहीं; जैसे **'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति**.......' (८।११) आदि। तात्पर्य यह है कि भगवान्‌ने गीताका उपदेश उभयात्मक अर्थात् गद्यात्मक और पद्यात्मक—दोनों तरहसे कहा है। गद्यात्मक उपदेशको वेदव्यासजीने श्लोकबद्ध कर दिया।

प्रश्न—वेदव्यासजीके द्वारा श्लोकबद्ध की हुई होनेसे गीता भगवान्‌की वाणी कैसे हुई?

उत्तर—वेदव्यासजीकी कृति ऐसी विलक्षण है कि जहाँ जो वक्ता जैसा बोलता है, वहाँ वैसी ही भाषा देते हैं। जैसे, भागवतमें ब्रह्माजीके, ग्वालबालोंके, गोपियोंके और भगवान्‌के वचनोंको देखें तो ब्रह्माजीके वचन और तरहके लगेंगे, ग्वालबालोंके वचन ग्रामीण

वचनों-जैसे ही लगेंगे, गोपियोंके वचन स्त्रियोंके वचनों-जैसे ही लगेंगे और भगवान्‌के वचन भी और तरहके लगेंगे। इसी तरह गीतामें भगवान्‌की वाणीको भी वेदव्यासजीने उसी तरहसे श्लोकोंका रूप दिया है। अतः गीता भगवान्‌की ही वाणी है—इसमें कोई संदेह नहीं है।

गीतामें भगवानकी विषय-प्रतिपादन-शैली

विवेचनस्य या शैली गीतायां विद्यते प्रभोः।
दृश्यते नहि चान्यत्र शास्त्रेषु निगमेषु च॥

(क)

गीतामें भगवान्‌की यह शैली देखनेमें आती है कि वे भिन्न-भिन्न साधनोंसे परमात्माकी ओर चलनेवाले साधकोंके लक्षणोंके अनुसार ही परमात्माको प्राप्त सिद्ध महापुरुषोंके लक्षणोंका वर्णन करते हैं; क्योंकि जो साधन जहाँसे आरम्भ होता है, अन्तमें वहीं उसकी समाप्ति होती है। जैसे—

(१) दूसरे अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कर्मयोगके साधकोंके लिये चार बातें (चार चरणोंमें) बतायी हैं—

१—**कर्मण्येवाधिकारस्ते** (तुम्हारा कर्म करनेमें ही अधिकार है)।

२—**मा फलेषु कदाचन** (कर्मफलोंमें तुम्हारा कभी भी अधिकार नहीं है)।

३—**मा कर्मफलहेतुर्भूः** (तुम कर्मफलका हेतु मत बनो)।

४—**मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि** (तुम्हारी कर्म न करनेमें आसक्ति न हो)।

तीसरे अध्यायके अठारहवें श्लोकमें ठीक उपर्युक्त साधनाकी सिद्धिकी बात (कर्मयोगसे सिद्ध हुए महापुरुषके लक्षणोंमें) कही गयी है। यहाँ दूसरे और तीसरे चरणमें साधकके लिये जो बात कही गयी है, वह तीसरे अध्यायके अठारहवें श्लोकके उत्तरार्धमें सिद्ध महापुरुषके लिये कही गयी है कि उसका किसी भी प्राणी और पदार्थसे किञ्चिन्मात्र भी कोई सम्बन्ध नहीं रहता—**'न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः'** यहाँ पहले और चौथे चरणमें साधकके लिये जो बात कही गयी है, वह तीसरे अध्यायके अठारहवें श्लोकके पूर्वार्धमें सिद्ध महापुरुषके लिये कही गयी है कि उसका कर्म करने अथवा न करने—दोनोंसे ही कोई प्रयोजन नहीं रहता—**'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन'**।

(२) चौदहवें अध्यायके उन्नीसवें-बीसवें श्लोकोंमें भगवान्‌ने ज्ञानयोगके साधकका वर्णन करते हुए कहा है कि वह तीनों गुणोंके सिवाय अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता। सम्पूर्ण क्रियाएँ गुणोंमें ही हो रही हैं, मेरा उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है—इस तरह अपनेको गुणोंसे सर्वथा निर्लिप्त जानकर वह मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है। वह शरीरकी उत्पत्तिके कारणरूप तीनों गुणोंका उल्लङ्घन करके जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्थारूप दुःखोंसे मुक्त होकर अमरताका अनुभव कर लेता है।

चौदहवें अध्यायके ही बाईसवें-तेईसवें श्लोकोंमें भगवान् तीनों गुणोंको लेकर ही सिद्ध महापुरुषके लक्षणोंका वर्णन करते हैं कि तीनों गुणोंकी प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह-रूप वृत्तियोंके आ जानेपर वह उनसे द्वेष नहीं करता और उन वृत्तियोंके चले जानेपर उनके फिर आनेकी इच्छा नहीं करता। वह गुणों तथा उनकी वृत्तियोंसे उदासीनकी तरह स्थित रहता है। वह गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता और गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—ऐसा अनुभव करते हुए अपने स्वरूपमें स्थित रहता है।

(३) साधकके लिये भगवान्‌ने कहा है कि जो मुझे सब जगह देखता है और सबको मुझमें देखता है, उस भक्तके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता (६। ३०)। सिद्ध भक्तके लिये भगवान् कहते हैं कि उसकी दृष्टिमें सब कुछ वासुदेव ही है (७। १९), भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई तत्त्व है ही नहीं*।

(४) भगवान्‌ने साधक भक्तके लक्षणोंमें कहा है कि वह **'सङ्गवर्जितः'** अर्थात् आसक्तिसे रहित और **'निर्वैरः सर्वभूतेषु'** अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियोंमें वैरभावसे रहित हो जाता है (११। ५५)। यही लक्षण भगवान्‌ने सिद्ध भक्तके भी बताये हैं—**'सङ्गविवर्जितः'** (१२। १८) और **'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'** (१२। १३)। अपनेमें आसक्ति और वैरभाव न आ जाय—इस विषयमें साधक तो सावधान रहता है, पर सिद्ध भक्तमें ये दोष स्वाभाविक ही नहीं रहते।

(ख)

गीता किसीके भी मतका खण्डन नहीं करती; परंतु अपने मतका मण्डन करनेसे दूसरोंके मतोंका खण्डन स्वतः हो जाता है। जैसे—अठारहवें अध्यायके दूसरे-तीसरे श्लोकोंमें भगवान्‌ने 'संन्यास' और 'त्याग' के विषयमें दार्शनिकोंके चार मत बताये। दो मत संन्यासके विषयमें बताये—काम्य कर्मोंके त्यागका नाम संन्यास है और सब कर्मोंको दोषकी तरह छोड़ देना चाहिये। दो मत त्यागके विषयमें बताये—सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्याग करनेका नाम त्याग है और यज्ञ-दान-त्याग-तपरूप कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये; परंतु आगे भगवान्‌के द्वारा अपने मतका मण्डन करनेसे दार्शनिकोंके इन चारों मतोंका स्वतः खण्डन हो जाता है। इन चारों मतोंका स्वतः खण्डन कैसे होता है अर्थात् इन मतोंकी अपेक्षा भगवान्‌का मत श्रेष्ठ कैसे है, इसका विवेचन इस प्रकार है—

(१) संन्यासके पहले मतमें केवल काम्य कर्मोंका त्याग बताया गया है; परंतु इन काम्य कर्मोंके सिवाय नित्य, नैमित्तिक आदि आवश्यक कर्तव्य-कर्म शेष रह जाते हैं। इस मतमें न तो कर्तृत्वाभिमानका त्याग बताया गया है और न स्वरूपमें स्थिति बतायी गयी है। अतः यह मत पूर्ण नहीं है, परंतु भगवान्‌ने अपने मतमें कर्तृत्वाभिमानका त्याग भी बताया है और स्वरूपमें स्थिति भी बतायी है; जैसे—अठारहवें अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें 'जिसमें अहंकृतभाव नहीं है और जिसकी बुद्धि कर्मफलमें लिप्त नहीं होती'—ऐसा कहकर कर्तृत्वाभिमानका त्याग बताया है और 'यदि वह सम्पूर्ण प्राणियोंको मार दे, तो भी वह न मारता है और न बँधता है'—ऐसा कहकर स्वरूपमें स्थिति बतायी है। तात्पर्य यह है कि जैसे सर्वव्यापक परमात्मा न करता है और न लिप्त होता है, ऐसे ही जिसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व नहीं है, वह महापुरुष भी न करता है और न लिप्त होता है।

(२) संन्यासके दूसरे मतमें सब कर्मोंको दोषकी तरह छोड़ना बताया गया है; परंतु सब कर्मोंका त्याग कोई कर ही नहीं सकता (३। ५; १८। ११)। अतः भगवान्‌ने नियत कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेको राजस-तामस त्याग बताया है (१८। ७-८)।

(३) त्यागके पहले मतमें केवल कर्मोंके फलका त्याग बताया गया है; परंतु कर्मफलका त्याग करनेपर भी कर्मोंमें आसक्ति रह सकती है। अतः भगवान्‌ने अपने मतमें कर्मासक्ति और फलासक्ति—दोनोंके त्यागकी बात कही है (१८। ६)।

(४) त्यागके दूसरे मतमें यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका त्याग न करनेकी बात कही गयी है, परंतु भगवान् अपने मतमें कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको छोड़ना नहीं चाहिये—केवल इतना ही नहीं, प्रत्युत इन्हें न करते हों तो अवश्य करना चाहिये और इन तीनोंके अतिरिक्त तीर्थ, व्रत आदि कर्मोंको भी फल और आसक्तिका त्याग करके करना चाहिये (१८। ५-६)।

* मनुष्य ऊँची अवस्थावाले साधक और सिद्धके लक्षणोंमें अन्तर नहीं जान सकता; क्योंकि दोनोंके लक्षण मिलते-जुलते ही होते हैं। दोनोंमें अन्तर इतना ही रहता है कि साधकमें सबको भगवत्स्वरूप देखनेका भाव रहता है और सिद्धमें 'सब कुछ भगवत्स्वरूप है'—यह भाव स्वतः रहता है।

(ग)

भगवान् किसी विषयको समझानेके लिये पहले उस विषयके लाभका, बीचमें हानियोंका और अन्तमें फिर उसके लाभका वर्णन करके विषयका उपसंहार करते हैं। जैसे, दूसरे अध्यायके इकतीसवें-बत्तीसवें श्लोकोंमें पहले भगवान् युद्धरूप कर्तव्य-कर्मसे होनेवाले लाभका वर्णन करते हैं कि क्षत्रियके लिये स्वधर्मसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारक कर्म नहीं है। आप-से-आप प्राप्त हुआ युद्ध स्वर्गका खुला हुआ दरवाजा है और ऐसा अनायास प्राप्त युद्ध जिन क्षत्रियोंको प्राप्त होता है, वे ही वास्तवमें सुखी हैं। फिर बीचके चार (२। ३३-३६) श्लोकोंमें युद्धको न करनेसे होनेवाली हानियोंका वर्णन करते हैं कि तुम स्वधर्मका पालन नहीं करोगे, तो तुम्हें धर्मके त्यागका पाप लगेगा तथा तुम्हारी अपकीर्ति भी होगी। संसारके सभी लोग तुम्हारी सदा रहनेवाली अपकीर्तिको कहेंगे। वह अपकीर्ति सम्मानित मनुष्यके लिये मरनेसे भी बढ़कर दुःखदायिनी होती है। तुम्हें महारथीलोग भयके कारण युद्धसे निवृत्त हुआ मानेंगे। तुम जिनकी दृष्टिमें बहुमान्य हो, उनकी दृष्टिमें गिर जाओगे। वैरीलोग तुम्हें न कहने योग्य वचन कहेंगे। इससे बढ़कर दुःख तुम्हें और क्या होगा? फिर अन्तके दो (२। ३७-३८) श्लोकोंमें पुनः लाभका वर्णन करते हैं कि यदि तुम युद्धमें मारे भी जाओगे तो स्वर्गको प्राप्त होगे और यदि जीत जाओगे तो पृथ्वीका राज्य भोगोगे। तुम जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान करके युद्ध करोगे तो तुम्हें पाप नहीं लगेगा; अतः तुम युद्ध करो।

(घ)

भगवान् जिस विषयको पहले विस्तारसे कहते हैं, आगे उसी विषयको संक्षेपसे कह देते हैं; जैसे—

(१) तीसरे अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि तुम निरन्तर आसक्तिरहित होकर कर्तव्य-कर्म करो; क्योंकि आसक्तिरहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है। फिर इसी बातको बीसवें श्लोकके पूर्वार्धमें संक्षेपसे कहा है कि जनकादि भी कर्मयोगसे ही परमसिद्धिको प्राप्त हुए हैं।

(२) आठवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें भगवान्‌ने **'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः'** पदोंसे जो बात विस्तारसे कही है, वही बात फिर **'नित्ययुक्तस्य'** पदसे संक्षेपमें कही है।

(३) नवें अध्यायके सोलहवें श्लोकसे लेकर उन्नीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने कार्य-कारणरूपसे अपनी विभूतियोंका विस्तारसे वर्णन किया और उसीको अन्तमें **'सदसच्चाहम्'** पदसे संक्षेपमें बता दिया।

(४) नवें अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने **'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु'** पदोंसे जो बात विस्तारसे कही है, वही बात फिर **'मत्परायणः'** पदसे संक्षेपमें कही है।

(५) दसवें अध्यायके आठवें-नवें श्लोकोंमें भगवान्‌ने कहा है कि 'मैं संसारका मूल कारण हूँ और मुझसे ही संसार प्रवृत्त हो रहा है—ऐसा मुझे मानकर मुझमें ही श्रद्धा-प्रेम रखते हुए बुद्धिमान् भक्त मेरा ही भजन करते हैं। मुझमें चित्तवाले, मुझमें प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन आपसमें मेरे गुण, प्रभाव आदिको जनाते हुए और उनका कथन करते हुए ही नित्य-निरन्तर संतुष्ट रहते हैं और मुझसे प्रेम करते हैं।' इसी बातको फिर दसवें श्लोकके पूर्वार्धमें संक्षेपसे कहते हैं—'उन नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवाले भक्तोंको (मैं बुद्धियोग प्रदान करता हूँ)।'

(६) दसवें अध्यायके बीसवें श्लोकसे लेकर अड़तीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने विस्तारसे अपनी विभूतियोंका वर्णन किया और फिर उन्तालीसवें श्लोकमें उसे संक्षेपसे बता दिया।

(७) बारहवें अध्यायके छठे श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि 'जो भक्त मेरे परायण होकर सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके अनन्यभक्तिसे मेरा ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं', फिर इसी बातको सातवें श्लोकमें **'मय्यावेशितचेतसाम्'** (मुझमें आसक्त हुए चित्तवालोंका) पदसे संक्षेपमें कहा।

(ङ)

अर्जुन क्रियापरक प्रश्न करते हैं तो भगवान् उसका भावपरक उत्तर देते हैं; जैसे—

(१) दूसरे अध्यायके चौवनवें श्लोकमें अर्जुनने क्रियापरक प्रश्न किये कि परमात्माको प्राप्त पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है ? इनका उत्तर भगवान्ने भावपरक दिया—

वह कैसे बोलता है ? अर्थात् धीरे बोलता है या जोरसे बोलता है ? हिंदी बोलता है या संस्कृत बोलता है ? इसके उत्तरमें भगवान्ने कहा कि उसका बोलना ऐसा नहीं होता; किंतु वह दुःखोंकी प्राप्तिमें उद्विग्न नहीं होता और सुखोंकी प्राप्तिमें स्पृहा नहीं करता तथा वह राग, भय और क्रोधसे रहित होता है। शुभ-अशुभ परिस्थितियोंके आनेपर वह राग-द्वेष नहीं करता (२ । ५६-५७)।

वह कैसे बैठता है ? अर्थात् सिद्धासनसे बैठता है या पद्मासन आदिसे बैठता है ? इसके उत्तरमें भगवान्ने कहा कि उसका बैठना ऐसा नहीं होता; किंतु वह कछुएकी तरह अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे समेट लेता है, हटा लेता है। सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके वह मेरे परायण हो जाता है (२ । ५८, ६१)।

वह कैसे चलता है ? अर्थात् धीरे चलता है या तेजीसे चलता है ? इसके उत्तरमें भगवान्ने कहा कि उसका चलना ऐसा नहीं होता; किंतु वह राग-द्वेषसे रहित और कामना, अहंता, ममता तथा स्पृहासे रहित होकर आचरण करता है (२ । ६४, ७१)।

(२) तीसरे अध्यायके छत्तीसवें श्लोकमें अर्जुनने पूछा कि भगवन् ! मनुष्य न चाहता हुआ भी पाप क्यों कर बैठता है ? भगवान्ने कहा कि भीतरमें कामना रहनेसे ही पापकी क्रिया होती है (३ । ३७)। यदि भीतरमें कामना न रहे तो पापकी क्रिया हो ही नहीं सकती।

(३) चौदहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें अर्जुनने पूछा कि गुणातीतके क्या चिह्न (लक्षण) होते हैं ? अर्थात् उसकी आकृति, रंग-रूप कैसा हो जाता है ? भगवान्ने कहा कि गुणोंकी वृत्तियोंके प्रवृत्त और निवृत्त होनेपर वह इनसे न राग करता है और न द्वेष करता है अर्थात् निर्लिप्त रहता है। वह उदासीनकी तरह रहता है और गुणोंसे विचलित न होकर अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है (१४ । २२-२३)।

अर्जुनने पूछा कि गुणातीतके आचरण कैसे होते हैं ? अर्थात् वह सबके साथ एकता करता है या अलग रहता है ? छुआछूत रखता है या समान व्यवहार करता है ? भगवान्ने कहा कि उसके भीतर समभाव रहता है अर्थात् बाहरसे शास्त्र और लोकमर्यादाके अनुसार कई तरहका आचरण करते हुए भी उसके भीतर समता अटल बनी रहती है (१४ । २४-२५)।

अर्जुनने पूछा कि गुणातीत होनेका क्या उपाय है ? अर्थात् जप करना चाहिये या ध्यान करना चाहिये ? किसीके पास जाना चाहिये या तीर्थोंमें जाना चाहिये ? भगवान्ने कहा कि जो मनुष्य अव्यभिचारी भक्तियोगसे मुझमें लग जाता है, वह गुणोंका अतिक्रमण कर जाता है अर्थात् गुणातीत हो जाता है (१४ । २६)।

—इस प्रकार अर्जुनके द्वारा क्रियापरक प्रश्न करनेपर भगवान्ने उसका भावपरक उत्तर दिया है। इसके सिवाय अर्जुनने जहाँ भावपरक प्रश्न किया है, वहाँ भगवान्ने उसका भावपरक ही उत्तर दिया है; जैसे—तीसरे अध्यायके पहले श्लोकमें अर्जुनने प्रश्न किया कि जब आपके मतमें समबुद्धि ही श्रेष्ठ है, तब फिर आप मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं ? भगवान्ने कहा कि निष्कामभावपूर्वक कर्म करनेसे ही समबुद्धि प्राप्त होती है (३ । ७)।

तात्पर्य यह है कि भगवान् बाहरी आचरणों, वेशभूषा, रहन-सहन, आश्रम-परिवर्तन आदिको महत्त्व नहीं देते, प्रत्युत भावको ही महत्त्व देते हैं। कारण कि भाव बदलनेसे क्रिया अपने-आप ठीक हो जाती है। विशेषता तो भावमें ही है, क्रियामें नहीं; क्योंकि क्रिया तो मनुष्य पाखण्डसे भी कर सकता है।

गीतामें भगवान्‌की वर्णन-शैली

चित्रा वर्णनशैली वै नटनाथस्य विद्यते।
भक्तौ ज्ञानं च संन्यासे भक्तिश्च कथिता स्वयम् ॥

भगवान् जहाँ ज्ञानका वर्णन करते हैं, वहाँ फलमें भक्तिका वर्णन करते हैं; जैसे-अठारहवें अध्यायके उन्चासवें श्लोकसे पचपनवें श्लोकतक ज्ञानका प्रकरण है, पर ज्ञानके फलके रूपमें भगवान्‌ने अपनी पराभक्तिकी प्राप्ति बतायी—**'मद्भक्तिं लभते पराम्'**। ऐसे ही भगवान् जहाँ भक्तिका वर्णन करते हैं, वहाँ फलमें ज्ञानका वर्णन करते हैं; जैसे—दसवें अध्यायके आठवें श्लोकसे ग्यारहवें श्लोकतक भक्तिका प्रकरण है, पर भक्तिके फलके रूपमें भगवान्‌ने ज्ञानकी प्राप्ति बतायी—**'अज्ञानजं तमः........ज्ञानदीपेन भास्वता'**।

जहाँ ज्ञानके साधनोंका वर्णन है, वहाँ भगवान्‌ने अपनी अनन्य अव्यभिचारिणी भक्तिको ज्ञानका साधन बताया (१३ । १०); जहाँ गुणातीत होनेका वर्णन है, वहाँ भगवान्‌ने गुणातीत होनेका उपाय भक्तिको बताया (१४ । २६) और जहाँ भक्तिका प्रकरण है, वहाँ भगवान्‌ने तत्त्वसे जाननेकी अर्थात् ज्ञानकी बात बतायी (१० । १०)।

तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञानमें भक्ति और भक्तिमें ज्ञान आवश्यक है। अतः ज्ञानमार्गी साधकको चाहिये कि वह भक्तिका और भक्तिमार्गीका तिरस्कार, निरादर आदि न करे और भक्तिमार्गी साधकको चाहिये कि वह ज्ञानका और ज्ञानमार्गीका तिरस्कार, निरादर आदि न करे। कारण कि यदि ज्ञानमार्गी और भक्तिमार्गी एक-दूसरेका तिरस्कार, निन्दा करेंगे तो उनका साधन सिद्ध नहीं होगा, उसमें बाधा लग जायगी अर्थात् वह यह समझे कि हमारे द्वारा साधकका और उसके साधनका जो तिरस्कार होगा, वह हमारे साधनकी सिद्धिमें बाधक हो जायगा। अतः सभी साधकोंको चाहिये कि वे साधकमात्रके प्रति सद्भाव रखें। ऐसे तो परमात्माका अंश होनेसे प्राणिमात्रके प्रति सद्भाव होना ही चाहिये, पर उन प्राणियोंमेंसे जो भगवान्‌में लगे हुए हैं, उन साधकोंका तो विशेष आदर होना चाहिये। ऐसा करनेसे साधकके साधनकी सिद्धि शीघ्र हो जायगी। गीतामें भगवान्‌ने भी किसीके मतका खण्डन या निन्दा न करके अपना मत बताया है (१८ । २-६ आदि)।

गीतामें भगवान्‌के विवेचनकी विशेषता

पृच्छति फाल्गुनो यावत्प्रयच्छति तदुत्तरम्।
अपृष्टोऽपि स्वमन्तव्यं कृपया भाषते स्वयम् ॥

गीतामें प्रायः भगवान्‌का यह स्वभाव देखनेको मिलता है कि अर्जुन जो प्रश्न करते हैं, उसका उत्तर तो भगवान् दे ही देते हैं, पर उसके सिवाय भगवान् अपनी ओरसे और भी बात कह देते हैं; जैसे—

दूसरे अध्यायके चौवनवें श्लोकमें अर्जुनने स्थितप्रज्ञके विषयमें चार प्रश्न किये, तो भगवान्‌ने उन प्रश्नोंका उत्तर देते हुए स्थितप्रज्ञके वर्णनके साथ-साथ साधकोंकी बातें अपनी ओरसे बतायीं।

तीसरे अध्यायमें अर्जुनने पूछा कि यदि कर्मोंकी अपेक्षा समबुद्धि ही श्रेष्ठ है तो फिर आप मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं? उत्तरमें भगवान्‌ने बताया कि कर्मोंके त्यागसे कोई भी सिद्धि नहीं होती। ऐसा कहकर सिद्धिके लिये कर्तव्य-कर्म करनेकी आवश्यकता बतायी। फिर ब्रह्माजीकी दृष्टिसे, सृष्टिचक्रकी दृष्टिसे, सिद्धोंकी दृष्टिसे, साधकोंकी दृष्टिसे, अपनी दृष्टिसे और ज्ञानीकी दृष्टिसे लोकसंग्रहके लिये कर्तव्य-कर्म करनेकी आवश्यकताकी

बात अपनी ओरसे बतायी। तीसरे अध्यायके ही छत्तीसवें श्लोकमें अर्जुनने पूछा कि बलपूर्वक पाप करानेवाला कौन है? उत्तरमें भगवान्‌ने काम (कामना)-को पाप करानेवाला बताया और उसे जीतनेकी, उसके रहनेके स्थानकी और उसे मारनेकी बातें अपनी ओरसे बतायीं।

चौथे अध्यायके आरम्भमें 'मैंने ही यह उपदेश सूर्यको दिया था'—यह बात भगवान्‌ने अपनी ओरसे ही कही। इसपर अर्जुनने प्रश्न किया, तो उत्तरमें भगवान्‌ने अपने अवतार और कर्मोंकी बात कहकर कर्मोंके तत्त्वको जाननेकी और यज्ञोंकी बहुत-सी बातें अपनी ओरसे ही कहीं।

पाँचवें अध्यायमें अर्जुनने पूछा कि सांख्य और योगमें श्रेष्ठ कौन है? उत्तरमें भगवान्‌ने कर्मयोगको श्रेष्ठ बताया तथा सांख्ययोग और कर्मयोगके विषयमें बहुत गहरी बातें बतायीं। इसमें संतोष नहीं हुआ तो छठे अध्यायका विषय अपनी ओरसे ही आरम्भ किया और कर्मयोगकी बात बताकर ध्यानयोगका वर्णन पूर्ण विस्तारसे किया, जिसके विषयमें अर्जुनने पूछा ही नहीं था।

छठे अध्यायके तैंतीसवें-चौंतीसवें श्लोकोंमें अर्जुनने मनकी चञ्चलताके विषयमें पूछा तो भगवान्‌ने आधे श्लोकमें उसका उत्तर देकर छत्तीसवाँ श्लोक अपनी ओरसे ही कहा। फिर अर्जुनने पूछा कि जिसका अन्तकालमें साधन छूट जाता है, उसकी क्या गति होती है? उत्तरमें भगवान्‌ने कहा कि कल्याणकारी काम करनेवालेका यहाँ और मरनेके बाद भी पतन नहीं होता। यह बात बताकर भगवान्‌ने बयालीसवें श्लोकमें वैराग्यवान् योगभ्रष्टकी बात अपनी ओरसे ही कही। भक्तिके विषयमें अर्जुनका प्रश्न न होनेपर भी भगवान्‌ने छठे अध्यायके अन्तमें भक्तिकी बात अपनी ओरसे कही। फिर सातवें अध्यायका विषय भी अपनी ओरसे आरम्भ करके भक्तोंकी विलक्षणता बतायी।

सातवें अध्यायके अन्तमें कही बातोंपर ही आठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने सात प्रश्न किये। उनमेंसे छः प्रश्नोंका उत्तर संक्षेपसे देकर अन्तकालीन गति-विषयक सातवें प्रश्नका उत्तर विस्तारसे दिया और अन्तमें शुक्ल और कृष्ण-मार्गका वर्णन भगवान्‌ने अपनी ओरसे ही किया। फिर नवें अध्यायका विषय भी अपनी ओरसे प्रारम्भ करके भगवान्‌ने उसमें भक्ति और उसके सात अधिकारियोंकी बातें अपनी ओरसे ही बतायीं। इतना कहनेपर भी भगवान्‌को संतोष नहीं हुआ तो फिर दसवें अध्यायका विषय अपनी ओरसे ही आरम्भ करके उसमें योग और विभूतियोंको जाननेका फल अपनेमें दृढ़ भक्तिका होना बताया। फिर भक्तोंपर कृपा करनेकी विशेष बात अपनी ओरसे ही कही। इसे सुनकर अर्जुन बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने भगवान्‌की स्तुति की तथा योग और विभूतियोंको कहनेके लिये प्रार्थना की। भगवान्‌ने विभूतियोंका वर्णन करके 'अन्तमें तुम्हें बहुत जाननेकी क्या आवश्यकता है, मेरे एक अंशमें अनन्त संसार है'—यह बात अपनी ओरसे ही कही। इसपर अर्जुनको विश्वरूप देखनेकी इच्छा हुई तो भगवान्‌ने अपनी ओरसे उन्हें दिव्यचक्षु देकर अपना विश्वरूप दिखाया और ग्यारहवें अध्यायके अन्तमें अनन्यभक्तिकी महिमा कही, जिसके विषयमें अर्जुनने पूछा ही नहीं था।

बारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने पूछा कि व्यक्त (सगुण-साकार) और अव्यक्त (निर्गुण-निराकार)—दोनोंकी उपासना करनेवालोंमें श्रेष्ठ कौन है? उत्तरमें भगवान्‌ने व्यक्तकी उपासना करनेवाले भक्तोंको श्रेष्ठ बताया। फिर भक्तिके प्रकार और सिद्ध भक्तोंके लक्षण अपनी ओरसे कहे। अव्यक्तकी उपासनामें विवेककी मुख्यता होती है। अतः भगवान्‌ने तेरहवें अध्यायमें अपनी ओरसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, प्रकृति पुरुष आदिका विवेचन करके विवेकका वर्णन किया। इतना वर्णन करनेपर भी भगवान्‌को संतोष नहीं हुआ तो चौदहवें अध्यायमें फिर उसी विवेकका प्रकारान्तरसे विस्तारपूर्वक वर्णन किया।

चौदहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें अर्जुनने गुणातीतके विषयमें तीन प्रश्न किये। उनका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने गुणातीत होनेका उपाय अपनी अव्यभिचारिणी भक्ति बताया और अपनी ओरसे अपना विशेष प्रभाव

कहा। फिर पंद्रहवें अध्यायमें अपनी ओरसे ही अव्यभिचारिणी भक्तिका विस्तारसे वर्णन किया, जिसके लिये अर्जुनका कोई प्रश्न नहीं था। इसी प्रकार भगवान्‌ने अपनी ही ओरसे भक्तिके अधिकारी और अनधिकारीका सोलहवें अध्यायमें विस्तारसे वर्णन किया।

सत्रहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने निष्ठा (स्थिति) के विषयमें प्रश्न किया। उसके उत्तरमें तीन तरहकी श्रद्धा बताकर भगवान्‌ने अपनी ही ओरसे आहार, यज्ञ, तप और दानकी बात कही तथा 'ॐ तत्सत्' नामकी व्याख्या भी की।

अठारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने संन्यास और त्यागका तत्त्व पूछा। उत्तरमें भगवान्‌ने पहले त्यागका और फिर संन्यासका विचित्र ढंगसे वर्णन किया। फिर अपनी ओरसे ही शरणागतिकी और अपने संवादकी महिमाकी बात विशेषतासे कही।

—इस प्रकार अर्जुन ज्यों-ज्यों सुनते गये, त्यों-ही-त्यों भगवान् अपनी ओरसे कहते गये। [यहाँ तो केवल दिग्दर्शन कराया गया है। पूरी बातका पता तो इन अध्यायोंको मननपूर्वक पढ़नेसे ही लगेगा।]

गीताका तात्पर्य

श्रीकृष्णगीतगीतायास्तात्पर्यं दृश्यते बुधैः।
विवेकभावयोर्मध्ये तावपि द्विविधौ स्मृतौ॥

गीताका तात्पर्य विवेक और भावमें है। गीताने विवेकको दो तरहका बताया है—

(१) **सत्-असत्‌का विवेक**—जो सदा रहनेवाला है, अपरिवर्तनशील है, जिसका कभी नाश नहीं होता, वह शरीरी 'सत्' है और जो सदा हमारे साथ नहीं रहता, परिवर्तनशील है, नाशवान् है, वह शरीर 'असत्' है (२। ११–३०; १३। १९-२३, २९-३४; १४। ५–२० आदि)।

(२) **कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेक**—कर्तव्य क्या है और अकर्तव्य क्या है; प्रवृत्ति क्या है और निवृत्ति क्या है; धर्म क्या है और अधर्म क्या है; अपना धर्म क्या है और दूसरोंका धर्म क्या है—यह कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान (विवेक) है (२। ३१–५३; ३। ८–१६, ३५; ४। १५; १८। ४१–४८ आदि)।

ऐसे ही भावको भी दो तरहका बताया है—

(१) **निष्कामभाव (त्यागभाव)**—इस भावमें कर्मोंकी और कर्मोंके फलकी आसक्ति, कामनाका त्याग होता है। गीतामें **'सङ्गं त्यक्त्वा'** (२। ४८); **प्रजहाति यदा कामान्** (२। ५५); **'विहाय कामान्यः सर्वान्'** (२। ७२); **'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम्'** (४। २०); **'सङ्गं त्यक्त्वा'** (५। ११); **'सङ्गं त्यक्त्वा फलानि'** (१८। ६); **'सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव'** (१८। ९); **'यस्तु कर्मफलत्यागी'** (१८। ११) आदि पदोंमें निष्कामभावका वर्णन हुआ है।

(२) **अनन्यभाव (प्रेमभाव)**—संसार अन्य है। उस संसारके आश्रयका, महत्त्वका त्याग करना, उससे विमुख हो जाना अनन्यभाव है। गीतामें **'अनन्यचेताः सततम्'** (८। १४); **'भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया'** (८। २२); **'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्'** (९। २२); **'अनन्येनैव योगेन'** (१२। ६) आदि पदोंमें अनन्यभावका वर्णन हुआ है।

विवेक और भाव—इन दोनोंकी मुख्यता प्रत्येक साधनमें होनी आवश्यक है। कारण कि इन दोनोंके बिना मनुष्य संसारमें फँस जायगा, जन्म-मरणमें चला जायगा। तात्पर्य यह है कि 'विवेक' को महत्त्व न देनेसे मनुष्यमें जड़ता (मूढ़ता) आ जायगी और वह अकर्तव्यमें

लग जायगा, तथा 'भाव' (निष्कामभाव और अनन्यभाव) न होनेसे मनुष्यकी संसारमें आसक्ति—कामना हो जायगी और वह भगवान्‌से विमुख हो जायगा।

विवेकमें निष्कामभावका होना भी आवश्यक है (५। २३, २६); क्योंकि यदि निष्कामभाव नहीं होगा तो मनुष्य कामनाओंमें फँस जायगा, जिससे संसारका त्याग नहीं होगा। ऐसे ही विवेकमें अनन्यभाव अर्थात् प्रेमभावका होना भी आवश्यक है, चाहे वह प्रेमभाव स्वरूपमें हो (५। २४), चाहे कर्तव्य-कर्ममें हो (१८। ४५)।

निष्कामभावमें भी विवेकका होना बहुत आवश्यक है (४। १९, ४१; ६। ८ आदि); क्योंकि यदि विवेक नहीं होगा तो मनुष्य निष्काम कैसे होगा ? ऐसे ही अनन्यभावमें भी विवेकका होना आवश्यक है (५। २९; ९। १३; १०। ७ आदि); क्योंकि विवेकके बिना अन्यका त्याग कैसे होगा ?

इस प्रकार गीताका तात्पर्य विवेक और भाव-परक साधनोंमें ही है। जहाँ क्रियापरक साधनोंका वर्णन आया है, वहाँ भी क्रियापरक साधनोंपर इतना बल नहीं दिया है, जितना बल विवेक और भाव-परक साधनों-पर दिया है। जहाँ क्रियापरक साधनोंपर बल दिया हैं, वहाँ भी वास्तवमें निष्कामभावकी ही प्रधानता है (२। ४७; ३। ८, १७-१८; ४। १५ आदि)।

गीतोक्त अन्वय-व्यतिरेक वाक्योंका तात्पर्य

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां विषयः सरलायते।
सा शैली चैव गीतायां गृह्यते हरिणा स्वयम्॥

जिन बातोंको काममें लानेसे कार्य सिद्ध होता है, वे बातें 'अन्वय' कहलाती हैं और जिन बातोंको काममें लानेसे कार्य सिद्ध नहीं होता, प्रत्युत बाधा लगती है, वे बातें 'व्यतिरेक' कहलाती हैं। ऐसी अन्वय और व्यक्तिरेक बातोंसे विषय स्पष्ट होता है। अतः गीतामें विषयको स्पष्ट करनेके लिये भगवान्‌ने अनेक अन्वय और व्यतिरेक वाक्य कहे हैं; जैसे—

(१) दूसरे अध्यायके चौबीसवें-पचीसवें श्लोकोंमें भगवान्‌ने कहा कि शरीरी (आत्मा) को नित्य, सर्वगत आदि समझनेसे शोक नहीं हो सकता और छब्बीसवें-सत्ताईसवें श्लोकोंमें कहा कि यदि तुम शरीरीको नित्य जन्मने-मरनेवाला मान लो, तो भी शोक नहीं हो सकता; क्योंकि जन्मनेवालेकी निश्चित मृत्यु होगी और मरनेवालेका निश्चित जन्म होगा।

—इसका तात्पर्य यह है कि किसी भी दृष्टिसे मनुष्यको शोक नहीं हो सकता और शोक करना उचित भी नहीं है।

(२) दूसरे अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि अपने धर्मको देखकर भी तुम्हें भयभीत नहीं होना चाहिये; क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्ममय युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणका साधन नहीं है; और तैंतीसवें श्लोकमें कहा कि यदि तुम इस धर्ममय युद्धको नहीं करोगे तो तुम्हें पाप लगेगा।

—इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यको किसी भी दृष्टिसे अपने कर्तव्य-कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत अपने कल्याणके लिये निष्कामभावपूर्वक अपने कर्तव्य-कर्मका तत्परतासे पालन करना चाहिये।

(३) दूसरे अध्यायके बासठवें-तिरसठवें श्लोकोंमें भगवान्‌ने बताया कि रागपूर्वक विषयोंका चिन्तन करनेमात्रसे पतन हो जाता है और चौंसठवें-पैंसठवें श्लोकोंमें बताया कि रागरहित होकर विषयोंका सेवन करनेसे स्थितप्रज्ञताकी अर्थात् परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

—इसका तात्पर्य यह है कि साधकको राग-द्वेष मिटाना चाहिये; क्योंकि ये दोनों ही साधकके शत्रु हैं (३। ३४)।

(४) दूसरे अध्यायके चौंसठवें-पैंसठवें श्लोकोंमें भगवान्‌ने कहा कि जिसका मन और इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित होती है और छाछठवें-सड़सठवें श्लोकोंमें कहा कि जिसका मन और इन्द्रियाँ वशमें नहीं होतीं, उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित नहीं होती। असंयमी होनेके कारण उसका मन उसकी बुद्धिको हर लेता है।

—इसका तात्पर्य यह है कि कर्मयोगीके लिये मन और इन्द्रियोंको वशमें रखना बहुत आवश्यक है।

(५) तीसरे अध्यायके नवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि यज्ञके अतिरिक्त कर्म अर्थात् अपने लिये किये गये कर्म बन्धनकारक हो जाते हैं—**'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः'** और चौथे अध्यायके तेईसवें श्लोकमें कहा कि यज्ञके लिये अर्थात् दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म विलीन हो जाते हैं—**'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।'**

—इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यको केवल दूसरोंके हितके लिये ही सम्पूर्ण कर्म करने चाहिये, अपने लिये नहीं।

(६) तीसरे अध्यायके तेरहवें श्लोकके पूर्वार्धमें भगवान्‌ने कहा कि यज्ञशेषका अनुभव करनेवाले सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं; और उत्तरार्धमें कहा कि जो केवल अपने लिये ही पकाते अर्थात् सब कर्म करते हैं, वे पापी पाप ही कमाते हैं।

—इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यको निष्काम-भावसे अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये। कारण कि निष्कामभावपूर्वक कर्तव्य-कर्म करनेसे मुक्ति हो जाती है और सकामभावपूर्वक कर्तव्य-कर्म करनेसे बन्धन हो जाता है।

(७) तीसरे अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि श्रेष्ठ मनुष्य जैसा आचरण करते हैं, वैसा ही आचरण दूसरे मनुष्य करते हैं और पचीसवें श्लोकमें कहा कि कर्मविधायक शास्त्रों, कर्मों और कर्मफलोंपर आस्था रखनेवाले आसक्तियुक्त अज्ञानी मनुष्य जैसे तत्परतापूर्वक कर्म करते हैं, वैसे ही आसक्तिरहित विद्वान् (ज्ञानी) मनुष्यको भी तत्परतापूर्वक कर्म करने चाहिये। इस प्रकार इक्कीसवें श्लोकमें श्रेष्ठ (ज्ञानी) मनुष्यको साधारण मनुष्योंके लिये आदर्श बताया है और पचीसवें श्लोकमें अज्ञानी मनुष्योंको ज्ञानी मनुष्यके लिये आदर्श बताया है*।

—इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञानी महापुरुष 'आदर्श' रहे अथवा 'अनुयायी' बने, उसके द्वारा स्वतः लोकसंग्रह होता है।

(८) तीसरे अध्यायके बाईसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि मेरे लिये त्रिलोकीमें कोई कर्तव्य नहीं है, फिर भी मैं कर्तव्य-कर्म करता हूँ और तेईसवें श्लोकमें कहा कि यदि मैं निरालस्य होकर कर्तव्य-कर्म न करूँ तो लोग भी कर्तव्य-कर्म छोड़कर आलसी हो जायँगे।

—इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञानी महापुरुषके लिये कोई कर्तव्य न होनेपर भी उसे लोकसंग्रहके लिये, लोक-मर्यादाको अटल रखनेके लिये कर्तव्य-कर्म करने चाहिये; क्योंकि स्वयं भगवान् भी कर्तव्य-कर्मका पालन करते हैं।

(९) तीसरे अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिके गुणोंद्वारा होती हैं; परंतु मूढ़ मनुष्य अपनेको उन क्रियाओंका कर्ता मान लेते हैं और अट्ठाईसवें श्लोकमें कहा कि तत्त्ववेत्ता मनुष्य अपनेको उन क्रियाओंका कर्ता नहीं मानता। अतः मूढ़ मनुष्य तो क्रियाओंमें आसक्त होकर बँध जाते हैं और तत्त्ववेत्ता मनुष्य क्रियाओंमें आसक्त न होकर मुक्त हो जाते हैं।

—इसका तात्पर्य यह है कि साधक अपनेको किसी भी क्रियाका कर्ता न माने। वास्तवमें कर्तापन प्रकृतिमें ही है। आत्मा अकर्ता ही है। आत्मामें कर्तापन कभी

* विद्वान् मनुष्यके लिये अज्ञानी मनुष्योंके कर्म करनेका प्रकारमात्र आदर्श है, उनका भाव नहीं। इसीलिये विद्वान् मनुष्यके लिये 'असक्तः' (आसक्तिरहित) पद आया है।

हुआ नहीं, है नहीं और होना सम्भव भी नहीं; परंतु जो मनुष्य संसारमें मोहित होते हैं, वे आत्माको कर्ता मान लेते हैं और जो तत्त्वको यथार्थरूपसे जाननेवाले हैं, वे आत्माको कर्ता नहीं मानते।

(१०) तीसरे अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें 'गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं' ऐसा कहकर गुणोंको कर्ता बताया और चौदहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें गुणोंके सिवाय अन्य कर्ताका निषेध किया।

—इसका तात्पर्य यह है कि गुण ही कर्ता है, स्वयं (आत्मा) नहीं अर्थात् सम्पूर्ण क्रियाएँ गुणोंके द्वारा और गुणोंमें ही होती हैं, स्वयंके द्वारा और स्वयंमें नहीं।

(११) तीसरे अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि जो दोषदृष्टिसे रहित होकर श्रद्धापूर्वक मेरे मतका अनुष्ठान करते हैं, वे सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट जाते हैं, मुक्त हो जाते हैं और बत्तीसवें श्लोकमें कहा कि जो मुझमें दोषदृष्टि करके मेरे मतका अनुष्ठान नहीं करते, उनका पतन हो जाता है।

—इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यमात्रको अपना उद्धार करनेके लिये दोषदृष्टिरहित होकर श्रद्धापूर्वक भगवान्‌की कही हुई बातों (मत) का निष्काम-भावपूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये।

(१२) चौथे अध्यायके उन्तालीसवें श्लोकमें आया है कि श्रद्धावान् मनुष्यको ज्ञान हो जाता है और चालीसवें श्लोकमें आया है कि अश्रद्धावान् मनुष्यको संशय रहता है अर्थात् उसे ज्ञान नहीं होता।

—इसका तात्पर्य यह है कि जो इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदिका विषय नहीं है, उस परमात्मापर श्रद्धा करनी चाहिये; क्योंकि उसकी प्राप्तिका मुख्य साधन श्रद्धा ही है।

(१३) पाँचवें अध्यायके चौथे श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि जो सांख्य और योगको फलमें अलग-अलग मानते हैं, वे बालक अर्थात् बेसमझ हैं और पाँचवें श्लोकमें कहा कि जो सांख्य और योगको फलमें एक मानते हैं, वे ही वास्तवमें सही देखते हैं अर्थात् वे ही पण्डित हैं।

—इसका तात्पर्य यह है कि सांख्ययोग और कर्मयोग—ये दोनों अनुष्ठान करनेमें दो (अलग-अलग) हैं, पर फलमें दोनों एक ही हैं अर्थात् सांख्ययोगसे जिस तत्त्वकी प्राप्ति होती है, वही प्राप्ति कर्मयोगसे होती है।

(१४) पाँचवें अध्यायके बारहवें श्लोकके पूर्वार्धमें भगवान्‌ने कहा कि योगी कर्मफलका त्याग करके कर्म करता है तो सदा रहनेवाली शान्तिको प्राप्त होता है और उत्तरार्धमें कहा कि अयोगी (भोगी) अपने स्वार्थके लिये कर्म करता है तो बँध जाता है, जन्म-मरणके चक्करमें चला जाता है।

—इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यको सदा योगी अर्थात् कर्मफलका त्यागी होना चाहिये। उसे कर्म-फलका भोगी नहीं बनना चाहिये।

(१५) पाँचवें अध्यायके उन्तीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि जो मुझे सब कर्मोंका भोक्ता और सब लोकोंका स्वामी मानते हैं, वे शान्तिको प्राप्त हो जाते हैं और नवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें कहा कि जो मुझे सब कर्मोंका भोक्ता और सब लोकोंका स्वामी नहीं मानते, उनका पतन हो जाता है।

—इसका तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण शुभ कर्मोंके भोक्ता और सारे संसारके स्वामी भगवान् ही हैं। अतः मनुष्य अपनेको किसी भी कर्मका भोक्ता और किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदिका स्वामी न माने, प्रत्युत भगवान्‌को ही माने।

(१६) छठे अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि संकल्पोंका त्याग किये बिना मनुष्य कोई-सा भी योगी नहीं हो सकता और चौथे श्लोकमें कहा कि सम्पूर्ण संकल्पोंका त्याग करनेवाला मनुष्य योगारूढ़ (योगी) हो जाता है।

—इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यको अपना संकल्प नहीं रखना चाहिये, प्रत्युत भगवान्‌के संकल्पमें अपना संकल्प मिला देना चाहिये अर्थात् भगवान्‌के विधानमें परम प्रसन्न रहना चाहिये।

(१७) छठे अध्यायके सोलहवें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि जिसका आहार और सोना-जागना नियमित नहीं है, उसका योग सिद्ध नहीं होता और सत्रहवें श्लोकमें कहा कि जिसका आहार-विहार और सोना-जागना नियमित है, उसका योग सिद्ध होता है।

—इसका तात्पर्य यह है कि साधकको अपना जीवन नियमित बनाना चाहिये; क्योंकि जो मनमाने ढंगसे आचरण करता है, उसे सुख और सिद्धि नहीं मिलती।

(१८) छठे अध्यायके छत्तीसवें श्लोकके पूर्वार्धमें भगवान्ने कहा कि जिसका मन संयत नहीं है, उसके द्वारा योगका प्राप्त होना कठिन है और उत्तरार्धमें कहा कि जिसका मन अपने वशमें है, उसके द्वारा योगका प्राप्त होना सुलभ है।

—इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यको अपनी इन्द्रियों और मनको अपने वशमें कर ही लेना चाहिये, उनके वशमें कभी नहीं होना चाहिये।

(१९) ग्यारहवें अध्यायके तिरपनवें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि वेदाध्ययन, दान और तपके द्वारा मैं देखा नहीं जा सकता और चौवनवें श्लोकमें कहा कि अनन्यभक्तिके द्वारा मैं देखा जा सकता हूँ।

—इसका तात्पर्य यह है कि वेदाध्ययन, दान आदि शुभ कर्मोंमें क्रियाकी प्रधानता है और अनन्यभक्तिमें भावकी प्रधानता है। क्रियाएँ सीमित होती हैं और भाव असीम होता है। क्रियाओंका तो आरम्भ और अन्त होता है, पर भावका आरम्भ और अन्त नहीं होता। भाव अनन्त होता है। जीव भी नित्य है और भगवान् भी नित्य हैं; अतः नित्यके प्रति जो भाव होता है, वह भी नित्य ही होता है। इसलिये मनुष्य क्रियाओंसे भगवान्को देख नहीं सकता, प्रत्युत भाव (अनन्यभक्ति)से ही भगवान्को देख सकता है, प्राप्त कर सकता है। यदि यज्ञ, दान आदिमें भी भावकी प्रधानता हो जाय तो वे क्रियाएँ भी भक्तिमें परिणत हो जाती हैं। भगवान् भावग्राही हैं, क्रियाग्राही नहीं—**'भावग्राही जनार्दनः'**; अतः भावसे ही भगवान् दर्शन देते हैं, क्रियासे नहीं।

(२०) अठारहवें अध्यायके अट्ठावनवें श्लोकके पूर्वार्धमें भगवान्ने कहा कि यदि (मेरी आज्ञाके अनुसार) तुम मुझमें अपना चित्त लगा दोगे तो मेरी कृपासे तुम सम्पूर्ण विघ्नोंको तर जाओगे और उत्तरार्धमें कहा कि यदि तुम अहंकारके आश्रित होकर मेरी बात (आज्ञा) नहीं सुनोगे तो तुम्हारा पतन हो जायगा।

—इसका तात्पर्य यह है कि भगवान्के सम्मुख होनेसे उद्धार होता है और विमुख होनेसे पतन होता है। अतः साधकको चाहिये कि वह भगवान्के ही आश्रित रहे, अहंकारका आश्रय कभी न ले।

गीतामें आये विरोधी पदोंका तात्पर्य

वस्तुतो न विरोधोऽस्ति स्वाल्पबुद्ध्यैव दृश्यते।
तस्मात् पदानां तात्पर्यं कथितं च विरोधिनाम्॥

(१) इस तत्त्वको कोई सुनकर भी नहीं जानता (२। २९) और यत्न करनेवालोंमेंसे कोई एक भगवान्को तत्त्वसे जानता है (७। ३)—यह कैसे?

यहाँ और वहाँका प्रसङ्ग अलग-अलग है। यहाँ (२। २९ में) ज्ञानयोगका प्रसङ्ग है; अतः सुननेमात्रसे कोई भी अपने स्वरूपको नहीं जान सकता, प्रत्युत अपने-आपसे ही अपने-आपको जान सकता है। वहाँ (७। ३ में) भक्तियोगका प्रसङ्ग है; अतः भगवान्की कृपासे साधक भगवान्के तत्त्वको जान लेता है।

(२) मैं अज (अजन्मा) रहता हुआ ही जन्म लेता हूँ, प्राणियोंका ईश्वर (स्वामी) रहता हुआ ही दास बन जाता हूँ और अव्ययात्मा रहता हुआ ही अन्तर्धान हो जाता हूँ (४। ६), तो अजका जन्म कैसे?

स्वामीका दास होना कैसे ? और अव्ययात्माका अन्तर्धान होना कैसे ?

यह तो भगवान्‌की लीला है। जन्म लेते हुए भी भगवान्‌का अजपना मिटता नहीं है, प्रत्युत अखण्डित ही रहता है। भगवान् भक्तोंके दास भी बन जाते हैं, पर उनका ईश्वरपना मिटता नहीं। भगवान् जिनके दास बनते हैं, उनपर भी भगवान्‌का शासन ज्यों-का-त्यों ही रहता है। ऐसे ही अव्ययात्मा रहते हुए ही भगवान् अन्तर्धानकी लीला करते हैं; भक्तोंका प्रेम बढ़ानेके लिये छिप जाते हैं। तात्पर्य यह है कि यह सब लीलापुरुषोत्तमकी लीला है; अतः इसमें कोई विरोध या आश्चर्य नहीं है।

(३) मैं चारों वर्णोंकी रचना करता हूँ, पर तुम मुझे अकर्ता ही समझो (४ । १३), तो भगवान् कर्ता होते हुए भी अकर्ता कैसे ?

भगवान् तो केवल संसारकी व्यवस्था करने और अपने भक्तोंकी सेवा करनेके लिये ही संसारकी रचना करते हैं। इसमें भगवान्‌का अपना कोई भी प्रयोजन, स्वार्थका सम्बन्ध नहीं है। सब प्राणियोंका कर्मबन्धन नष्ट हो जाय, सब मुक्त हो जायँ, इसी दृष्टिसे भगवान् संसारकी व्यवस्था करते हैं। भक्तोंका भगवान्‌में और भगवान्‌का भक्तोंमें प्रेमका आदान-प्रदान हो, दोनोंमें प्रेमकी लीला हो, इसके लिये ही भगवान् सृष्टिकी रचना करते हैं। अतः सृष्टिकी रचना करनेपर भी भगवान् अकर्ता ही रहते हैं।

(४) कर्मोंमें अच्छी तरहसे प्रवृत्त होता हुआ भी अर्थात् कर्मोंको साङ्गोपाङ्ग करता हुआ भी वह (कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुष) कुछ भी नहीं करता (४ । २०)—यह कैसे ?

जो अपने भीतर किसी बातकी कमीका अनुभव करता है, जिसके भीतर फलकी इच्छा होती है और जो जड़ताका आश्रय लेकर कर्म करता है, वह कर्म करता हुआ भी कर्म करता है और कर्म न करता हुआ भी कर्म करता है; क्योंकि उसका जड़ताके साथ सम्बन्ध है; परंतु जो अपनेमें किञ्चिन्मात्र भी कमीका अनुभव नहीं करता, जिसके भीतर फलकी इच्छा नहीं है और जिसके भीतर जड़ताका आश्रय नहीं है, वह कर्म करता हुआ भी कर्म नहीं करता; क्योंकि उसका जड़ताके साथ सम्बन्ध नहीं है।

(५) पापी-से-पापी भी ज्ञानरूपी नौकाद्वारा संसारसे तर जाता है अर्थात् उसे ज्ञान हो जाता है (४ । ३६); जो अकृतात्मा और अचेतस् हैं, वे यत्न करते हुए भी परमात्माको नहीं देख सकते अर्थात् उन्हें ज्ञान नहीं होता (१५ । ११)—यह कैसे ?

सामान्यतः अन्तःकरण शुद्ध होनेपर ही ज्ञान, भक्ति आदि होते हैं, पर किसीपर विशेष संकट आ जाय, जिसमें कोई सहारा न दीखे, ऐसी अवस्थामें यदि वह संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है तो उसे अपने स्वरूपका ज्ञान हो सकता है।

(६) ज्ञान होनेपर तत्काल परमशान्तिरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है (४ । ३९) और ज्ञानवान् पुरुष भगवान्‌की शरण हो जाता है (७ । १९)। ज्ञान होनेपर जब परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, तब फिर भगवान्‌की शरण होना कैसे ?

जिज्ञासु दो प्रकारके होते हैं—(१) जो संसारसे दुःखी होकर तत्त्वको जानना चाहते हैं। तत्त्वज्ञान होनेपर इनका दुःख मिट जाता है और परमशान्तिकी प्राप्ति हो जाती है और (२) जो भगवत्तत्त्वको जाननेके साथ-साथ भगवान्‌का प्रेम भी चाहते हैं, उन्हें 'सब कुछ वासुदेव ही है' ऐसा अनुभव होनेपर भी वे भगवान्‌की शरणमें रहते हैं, भगवान्‌के प्रेमी बने रहते हैं।

(७) देखना, सुनना, स्पर्श करना आदि क्रियाएँ करता हुआ भी ऐसा मानता है कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ (५ । ८-९)—यह कैसे ?

सांख्ययोगीको यही अनुभव होता है कि वास्तवमें इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके विषयोंमें बरत रही हैं अर्थात् सभी क्रियाएँ इन्द्रियोंमें ही हो रही हैं। करनामात्र प्रकृतिमें ही है; क्योंकि मात्र क्रियाएँ और पदार्थ प्रकृतिके ही हैं। स्वरूपमें न क्रिया है, न पदार्थ। अतः 'मैं स्वयं प्रकृतिसे अतीत चिन्मय तत्त्व हूँ; मेरे स्वरूपके साथ इनका कोई सम्बन्ध था नहीं, है नहीं, होगा नहीं और होना सम्भव

ही नहीं, इसलिये मैं कुछ भी नहीं करता हूँ'—इस प्रकार अपने स्वरूपकी दृष्टिसे कहना वास्तविक ही है।

(८) भगवान् किसीके पाप-पुण्यको ग्रहण नहीं करते (५ । १५); तुम जो कुछ करते हो, वह सब मेरे अर्पण कर दो अर्थात् भगवान् सब कुछ ग्रहण करते हैं (९ । २७)—यह कैसे ?

ये विषय दो हैं, एक नहीं। पाँचवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें सामान्य प्राणियोंकी बात है और नवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें भक्तोंकी बात है। सामान्य प्राणी तो स्वयं ही कर्ता और भोक्ता बनते हैं अर्थात् अपने किये हुएका फल स्वयं ही भोगते हैं, इसलिये भगवान् उनके पाप-पुण्यको ग्रहण नहीं करते; परंतु जो सर्वथा भगवान्‌की शरण हो जाते हैं, वे भक्त भगवान्‌को ही सबका भोक्ता और स्वामी मानते हैं। अतः वे भक्त भावपूर्वक भगवान्‌को जो कुछ देते हैं, अर्पण करते हैं, उसे भगवान् ग्रहण करते हैं। उन भक्तोंके भावके कारण ही भगवान्‌को भूख लग जाती है, प्यास लग जाती है (९ । २६)। कारण कि भगवान् भावके ही भोक्ता हैं।

(९) कर्मोंमें आसक्ति न रहनेपर मनुष्य योगारूढ हो जाता है (६ । ४); अपने-अपने कर्ममें अभिरत रहता हुआ मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो जाता है (१८ । ४५)—यह कैसे ?

योगारूढ होना और सिद्धिको प्राप्त होना—ये दोनों एक ही हैं; परंतु कर्मोंमें आसक्ति और कर्मोंमें अभिरति—ये दोनों अलग-अलग हैं। फलेच्छापूर्वक अर्थात् अपने लिये कर्म करनेसे कर्मोंमें आसक्ति हो जाती है और भगवान्‌के लिये कर्म करनेसे कर्मोंमें अभिरति (तत्परता) हो जाती है। आसक्तिमें कर्मों तथा पदार्थोंके साथ सम्बन्ध जुड़ता है और अभिरतिमें कर्मों तथा पदार्थोंसे सम्बन्ध टूटता है और भगवान्‌में प्रीति हो जाती है, भगवत्सम्बन्धकी जागृति हो जाती है। अतः कर्मोंमें अभिरति तो होनी चाहिये, पर आसक्ति नहीं होनी चाहिये।

(१०) कोई एक मुझे तत्त्वसे जानता है (७ । ३); मुझे कोई नहीं जानता (७ । २६)—यह कैसे ?

सातवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें साधकोंकी बात है। जो संसारसे उपराम होकर भगवान्‌में लग जाते हैं, वे भगवान्‌की कृपासे भगवान्‌को जान जाते हैं। सातवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें सामान्य प्राणियोंकी बात है। जो प्राणी जन्म-मृत्युके प्रवाहमें पड़े हुए हैं, उन्हें भगवान् तो जानते हैं, पर वे प्राणी मूढ़ताके कारण भगवान्‌को नहीं जानते। तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त दोनों श्लोकोंमें साधक-असाधकका भेद है अर्थात् तीसरे श्लोकमें जाननेके कर्ता साधक हैं और छब्बीसवें श्लोकमें जाननेके कर्ता असाधक हैं।

(११) यत्न (भजन) करनेवालोंमें कोई एक मुझे तत्त्वसे जानता है (७ । ३); भक्त मुझे सम्पूर्ण प्राणियोंका आदि जानकर मेरा भजन करते हैं (९ । १३), तो बिना जाने भजन कैसे ? और बिना भजन किये जानना कैसे ?

सातवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्‌को तत्त्वसे जाननेकी बात है। भगवान्‌को जानना साधकके बलसे नहीं होता, प्रत्युत भगवान्‌की कृपासे ही वह भगवान्‌को तत्त्वसे जानता है। नवें अध्यायके तेरहवें श्लोकमें भगवान्‌को श्रद्धा-भक्तिपूर्वक माननेकी बात है अर्थात् वहाँ श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मानना ही जानना है। अतः भगवान् सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि हैं—ऐसा मानकर ही वे भजन करते हैं।

(१२) सात्त्विक, राजस और तामस भाव (पदार्थ, क्रिया आदि) मुझमें नहीं हैं और मैं उनमें नहीं हूँ (७ । १२); सम्पूर्ण प्राणी उस परमात्मामें हैं और परमात्मा उन प्राणियोंमें हैं (८ । २२)—यह कैसे ?

जिन साधकोंकी दृष्टिमें भगवान्‌के सिवाय संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, उनकी दृष्टिसे कहा गया है कि सात्त्विक, राजस और तामस भाव भगवान्‌में और भगवान् उनमें नहीं हैं, प्रत्युत सब कुछ भगवान्-ही-भगवान् हैं (७।१२); परंतु जिन साधकोंकी दृष्टिमें संसारकी सत्ता है,

उनकी दृष्टिसे कहा गया है कि सम्पूर्ण प्राणी परमात्मामें और परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियोंमें हैं (८ । २२) ।

(१३) तीनों गुणोंसे सभी मोहित हैं (७ । १३); तमोगुण सबको मोहित करनेवाला है (१४ । ८)—यह कैसे ?

सत्त्वगुणका स्वरूप निर्मल, रजोगुणका स्वरूप रागात्मक और तमोगुणका स्वरूप मोहनात्मक कहा गया है । तात्पर्य यह है कि जहाँ तीनों गुणोंका भेद किया गया है, वहाँ तमोगुणका स्वरूप मोहनात्मक बताया गया है । वास्तवमें तो सत्त्व, रज और तम—ये तीनों ही गुण मोहित करनेवाले हैं । सत्त्वगुण ज्ञान और सुखकी आसक्तिसे, रजोगुण कर्मोंकी आसक्तिसे और तमोगुण स्वरूपसे ही मनुष्योंको मोहित करता है (१४ । ६-८) । अतः जो ऊँचा-से-ऊँचा ब्रह्मलोकतकका भी सुख चाहता है, वह भी गुणोंसे मोहित है ।

(१४) जिनका ज्ञान मायाके द्वारा हरा गया है जिन्होंने आसुरभावका आश्रय ले रखा है, ऐसे दुराचारी (पापी) भगवान्‌की शरण नहीं होते (७ । १५); दुराचारी-से-दुराचारी भी भगवान्‌की शरण होता है (९ । ३०)—यह कैसे ?

जो वेद, शास्त्र, पुराण, भगवान् और उनके सिद्धान्तसे विरुद्ध चलनेवाला है, दुर्गुणी है, दुराचारी है, ऐसे मनुष्यका स्वाभाविक भगवान्‌की ओर चलनेका, भगवान्‌की शरण होनेका स्वभाव नहीं होता, परंतु वह भी किसी कारणविशेषसे अर्थात् किसी संतकी कृपासे, किसी स्थान या तीर्थके प्रभावसे, किसी पूर्वपुण्यके उदय होनेसे अथवा किसी विपत्तिमें फँस जानेसे भगवान्‌की शरण हो सकता है । तात्पर्य यह है कि सामान्य रीतिसे तो पापी मनुष्य भगवान्‌की शरण नहीं होता (७ । १५), पर किसी कारणविशेषसे वह भगवान्‌की शरण हो सकता है (९ । ३०) ।

(१५) परमात्मा अचिन्त्य है—**'अचिन्त्यम्'**, उसका जो चिन्तन (स्मरण) करता है—**'अनुस्मरेत्'** (८ । ९), तो जो अचिन्त्य है, उसका चिन्तन कैसे ? और जिसका चिन्तन होता है, वह अचिन्त्य कैसे ?

यद्यपि वह परमात्मा चिन्तनका विषय नहीं है, तथापि उस परमात्माका अभाव नहीं है । वह परमात्मा भावरूपसे सब जगह परिपूर्ण है । अतः 'वह परमात्म-तत्त्व अचिन्त्य है'—ऐसी दृढ़ धारणा ही उस परमात्माका चिन्तन है । तात्पर्य यह है कि यद्यपि वह परमात्मा चिन्तनका विषय नहीं है, तथापि चिन्तन करनेवाला उस तत्त्वको लक्ष्य बना सकता है ।

(१६) यह सब संसार मेरे अव्यक्तरूपसे व्याप्त है और सम्पूर्ण प्राणी मुझमें स्थित हैं; परंतु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ और वे प्राणी भी मुझमें स्थित नहीं हैं (९ । ४-५)—यह कैसे ?

जहाँ प्राणियोंकी स्वतन्त्र सत्ता मानकर चलते हैं, वहाँ तो सब प्राणियोंमें भगवान् हैं और सब प्राणी भगवान्‌में हैं; परंतु जहाँ प्राणियोंकी, संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी जाती, वहाँ प्राणियोंमें भगवान् नहीं हैं और भगवान्‌में प्राणी नहीं हैं, प्रत्युत सब कुछ भगवान् ही हैं ।

(१७) मैं अव्यक्तरूपसे सब जगह व्याप्त हूँ (९ । ४); भक्त भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल आदि जो कुछ भी देता है, उसे मैं खा लेता हूँ (९ । २६); तो जो अव्यक्त है, उसका खाना-पीना कैसे ? और जो खाता-पीता है, वह अव्यक्त कैसे ?

पृथ्वी स्थूलरूपसे व्यक्त और गन्धरूपसे अव्यक्त है । जल नदी, ओले, बर्फ आदिके रूपसे व्यक्त और परमाणुरूपसे (आकाशमें रहते हुए) अव्यक्त है । तेज सूर्य, चन्द्रमा और अग्निरूपसे व्यक्त तथा दियासलाई, काष्ठ आदिमें अव्यक्त है । इस प्रकार जब पृथ्वी, जल, तेज आदि भौतिक पदार्थ भी व्यक्त और अव्यक्त—दोनों होते हैं, तब फिर भगवान् व्यक्त और अव्यक्त—दोनों होते हों, इसमें आश्चर्य ही क्या है ! तात्पर्य यह है कि भगवान् अव्यक्तरूपसे व्यापक भी हैं; और भक्तोंके भावोंके अनुसार व्यक्त भी हैं; क्योंकि भगवान्‌का यह नियम है—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (४ । ११) ।

(१८) भगवान् सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त हैं (९ । ४); भगवान् सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें अच्छी तरहसे स्थित हैं (१५ । १५); तो जो सर्वव्यापक है, वह एक देश हृदयमें अच्छी तरहसे स्थित कैसे ?

भगवान् तो सब जगह व्यापक, सबमें ओतप्रोत हैं ही, पर सब जगह, सब वस्तुओंमें भगवान्‌का अनुभव करनेके लिये हृदयके समान इतनी स्वच्छता नहीं है। हृदय स्वच्छ होनेपर हृदयमें भगवान्‌का अनुभव होता है और हृदयमें अनुभव होनेपर 'भगवान् सब जगह हैं'—इसका अनुभव हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जैसे तारमें सब जगह विद्युत् होनेपर भी लट्टू (बल्ब) के बिना प्रकाश नहीं होता, ऐसे ही भगवान् सब जगह व्यापक होनेपर भी हृदयके बिना उनका अनुभव नहीं होता। इसी आशयसे 'मैं सबके हृदयमें अच्छी तरहसे स्थित हूँ' यह कहा गया है।

(१९) सत् और असत् भी मैं ही हूँ (९।१९), उस परमात्माको न सत् कहा जा सकता है और न असत् ही कहा जा सकता है (१३ । १२)—यह कैसे ?

भगवान् जहाँ कार्य-कारणरूपसे अपनी विभूतियोंका वर्णन करते हैं, वहाँ कहते हैं कि सत् और असत् जो कुछ भी है, वह सब मैं ही हूँ, मेरे सिवाय कुछ भी नहीं है। परंतु जहाँ ज्ञेय-तत्त्वका वर्णन करते हैं वहाँ कहते हैं कि उस तत्त्वको न सत् कहा जा सकता है और न असत् ही कहा जा सकता है; क्योंकि उस तत्त्वका किसी शब्दके द्वारा वर्णन नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि सगुणकी दृष्टिसे सब कुछ भगवान् ही हैं; निर्गुणकी दृष्टिसे वे न सत् कहे जा सकते हैं और न असत् ही; और भक्तिकी दृष्टिसे सत् और असत् भी वे ही हैं तथा सत्-असत्से परे भी वे ही हैं—**'सदसत्तत्परं यत्'** (११ । ३७)।

(२०) मेरे भक्तका विनाश (पतन) नहीं होता (९ । ३१), तुम मेरे भक्त हो (४ । ३), और यदि तुम मेरी बात नहीं सुनोगे तो तुम्हारा विनाश (पतन) हो जायगा (१८ । ५८)—यह कैसे ?

यद्यपि भक्त भगवान्‌की बात न सुने, उनकी आज्ञाके विरुद्ध चले—ऐसा सम्भव नहीं है, तथापि यदि वह भगवान्‌की बात नहीं सुनेगा तो वह भगवान्‌का भक्त नहीं रहेगा अर्थात् भक्तपनसे छूट जायगा। फिर उसके पतनको रोकनेवाला कौन है ? तात्पर्य यह है कि जबतक वह भगवान्‌का भक्त है, तबतक उसका पतन हो ही नहीं सकता; परंतु जब वह भक्तपनको छोड़ देता है, अभक्त हो जाता है, तब उसका पतन हो जाता है।

(२१) जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिरूप दुःख-को बार-बार देखना चाहिये (१३ । ८); कर्तव्य-कर्ममें दुःख देखनेवाले तथा शरीरके भयसे कर्म छोड़नेवाले राजस मनुष्यको त्यागका फल नहीं मिलता (१८ । ८)—यह कैसे ?

यहाँ विषय दो हैं। भोगोंमें जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिरूप दुःखको देखना वैराग्यमें हेतु है, अर्थात् अभी भोग भोगेंगे तो उसके परिणाममें बार-बार जन्मना-मरना पड़ेगा, शरीरमें रोग होंगे, वर्तमानमें भय और चिन्ता होगी, परलोकमें दुर्दशा होगी—इस प्रकार भोगोंमें दुःखको देखनेसे भोगोंसे वैराग्य हो जायगा। अतः भोगोंमें दुःख-दृष्टि अवश्य करनी चाहिये; परंतु कर्तव्य-कर्ममें दुःख देखना पतनमें हेतु है; अतः कर्तव्य-कर्ममें दुःख-दृष्टि कभी करनी ही नहीं चाहिये, प्रत्युत कर्तव्य-कर्मको उत्साहपूर्वक तत्परतासे करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि भोगोंमें राग नहीं होना चाहिये और कर्तव्य-कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये।

(२२) परमात्मा 'ज्ञेय' अर्थात् जाननेयोग्य है (१३ । १२); परमात्मा 'अविज्ञेय' अर्थात् जाननेका विषय नहीं है (१३ । १५)—यह कैसे ?

जानना दो तरहका होता है—करण-निरपेक्ष और करण-सापेक्ष। जो इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि करणोंके द्वारा नहीं जाना जा सकता, वह करण-निरपेक्ष होता है और जो करणोंके द्वारा जाना जा सकता है, वह करण-सापेक्ष होता है। परमात्मतत्त्वका ज्ञान करण-निरपेक्ष होता है अर्थात् वह स्वयंके द्वारा ही जाना

जाता है, इसलिये वह 'ज्ञेय' है और वह करणोंके द्वारा जाननेमें नहीं आता, इसलिये वह 'अविज्ञेय' है।

(२३) वह परमात्मा सम्पूर्ण इन्द्रियों और उनके विषयोंको प्रकाशित करनेवाला है तथा वह सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे रहित है (१३ । १४)—यह कैसे ?

जैसे एक-एक इन्द्रियसे एक-एक विषयका ज्ञान होता है, पर मनको पाँचों इन्द्रियोंका, उनके विषयोंका और उन विषयोंमें एक-एक विषयमें क्या कमी है, क्या घटिया है, क्या बढ़िया है आदिका ज्ञान होता है अर्थात् मन पाँचों इन्द्रियोंको तथा उनके विषयोंको प्रकाशित करता है। मनको ऐसा ज्ञान होते हुए भी मनमें पाँचों इन्द्रियाँ नहीं हैं। ऐसे ही वह परमात्मा सबको, संसार-मात्रको प्रकाशित करता है, पर वह इन्द्रियोंसे रहित है अर्थात् उस परमात्मामें इन्द्रियाँ नहीं हैं।

(२४) वह परमात्मा आसक्ति रहित है और वह सबका भरण-पोषण करनेवाला है (१३ । १४)—यह कैसे ?

जैसे माता-पिता अपनी संतानका पालन-पोषण करते हैं, उसकी रक्षा करते हैं, पर करते हैं आसक्तिपूर्वक ही। ऐसे ही परमात्मा सबका भरण-पोषण करता है, उनकी रक्षा करता है, पर करता है आसक्तिरहित होकर ही। तात्पर्य यह है कि उस परमात्माकी किसीमें भी आसक्ति नहीं है।

(२५) वह परमात्मा गुणोंसे रहित है और वह गुणोंका भोक्ता है (१३ । १४)—यह कैसे ?

वह परमात्मा सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंको काममें लाता है अर्थात् तीनों गुणोंको लेकर सृष्टि-रचना आदि सब कार्य करता है। अतः उसे गुणोंका भोक्ता कहा गया है; परंतु उस परमात्माकी किसी भी गुणके साथ किञ्चिन्मात्र भी लिप्तता नहीं होती, इसलिये उसे गुणोंसे रहित कहा गया है।

(२६) वह परमात्मा दूर-से-दूर भी है और वह निकट-से-निकट भी है (१३ । १५)—यह कैसे ?

नाशवान् पदार्थोंके संग्रह और सुखभोगकी इच्छा करनेवाले तथा परमात्मासे विमुख मनुष्योंके लिये तो परमात्मा दूर-से-दूर हैं, पर जो केवल परमात्माके ही सम्मुख है, जो सब जगह परमात्माको ही देखता है, जिसके ज्ञानमें एक परमात्माके सिवाय दूसरोंकी और अपने-आपकी भी कोई अलग सत्ता नहीं है, उसके लिये परमात्मा निकट-से-निकट हैं।

(२७) वह परमात्मा स्वयं विभागरहित होते हुए भी सम्पूर्ण प्राणियोंमें विभक्तकी तरह स्थित है (१३ । १६)—यह कैसे ?

जैसे सोनेसे बने हुए गहनोंके नाम, आकृति, माप, तौल और मूल्य अलग-अलग होते हुए भी धातुरूपसे सबमें एक सोना ही है, ऐसे ही परमात्मतत्त्व वस्तु, व्यक्ति आदिके अनेक रूपोंमें होता हुआ भी तत्त्वसे एक ही है। जैसे मनोराज्यमें स्थावर-जङ्गम, जड़-चेतन आदि जो कुछ दीखता है, वह सब एक मन ही होता है, ऐसे ही एक परमात्मतत्त्व सृष्टिके अनेक रूपोंमें दीखता है, पर अनेक होते हुए भी वह तत्त्वतः एक ही है।

(२८) प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही भोक्ता बनता है (१३ । २१); शरीरमें स्थित होता हुआ भी पुरुष भोक्ता नहीं बनता (१३ । ३२)—यह कैसे ?

तेरहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें तो जो प्रकृतिमें स्थित* है अर्थात् जिसने प्रकृति (शरीर) के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लिया है, वही प्रकृतिजन्य गुणोंका भोक्ता बनता है और बत्तीसवें श्लोकमें जो शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद करके अपने स्वरूपमें स्थित हो गया है, वह शरीरमें रहता हुआ भी भोक्ता नहीं बनता। तात्पर्य यह है कि इक्कीसवें श्लोकमें तो प्रकृति (शरीर) के साथ सम्बन्ध जोड़े हुए पुरुषका वर्णन है और बत्तीसवें श्लोकमें शरीरके साथ सम्बन्ध तोड़े हुए पुरुषका वर्णन है।

(२९) संसार-वृक्ष ऊपरकी ओर मूलवाला है—'ऊर्ध्वमूलम्' (१५ । १) और संसार-वृक्षके मूल

* यहाँ व्यष्टि शरीरमें स्थित रहनेको ही 'प्रकृतिमें स्थित' कहा गया है; क्योंकि प्रकृति अर्थात् समष्टि शरीरमें स्थित होकर कोई भोक्ता बनता ही नहीं।

नीचे हैं—'अधश्च मूलानि' (१५ । २), तो एक ही संसार-वृक्षके ऊर्ध्वमूल और अधोमूल कैसे ?

ऊर्ध्वमूल परमात्माका वाचक है, जो कि संसार-वृक्षका आधार है और अधोमूल तादात्म्य, ममता और कामनाके वाचक हैं, जिनसे ऊर्ध्व, मध्य और अधोगतिरूप शाखाएँ निकलती हैं। तात्पर्य यह है कि मनुष्यको इन तादात्म्य, ममता और कामनारूप मूलोंका तो छेदन करना है और ऊर्ध्वमूल परमात्माकी शरण लेना है।

(३०) वह सम्पूर्ण प्राणियोंको मार करके भी न मारता है और न बँधता है (१८ । १७) अर्थात् वह क्रिया करके भी क्रिया नहीं करता और उसके फलका भी भागी नहीं होता—यह कैसे ?

अहंकृत भाव अर्थात् 'मैं कर्म करता हूँ'—ऐसा भाव होनेसे ही मनुष्य कर्मोंका कर्ता बनता है और फलकी इच्छासे उसे फलका भागी होना पड़ता है, परंतु जिसके भीतर अहंकृत भाव नहीं है और फलकी इच्छा भी नहीं है, वह सब कुछ करता हुआ भी वास्तवमें कुछ नहीं करता और किसी भी कर्मके फलका भागी नहीं होता (१३।३१)।

(३१) सात्त्विक सुख आरम्भमें विषकी तरह है और परिणाममें अमृतकी तरह है (१८ । ३७); राजस सुख आरम्भमें अमृतकी तरह है और परिणाममें विषकी तरह है (१८ । ३८)—यह कैसे ?

वास्तवमें सात्त्विक सुख आरम्भमें विषकी तरह नहीं है। जब मनुष्य सात्त्विक सुखकी ओर चलता है, तब उसे भोग, सुख-आराम, मान-बड़ाई आदि राजस सुखका और निद्रा, आलस्य, प्रमाद, खेल-तमाशा आदि तामस सुखका त्याग करना विषकी तरह मालूम देता है; परंतु सात्त्विक सुखमें प्रवेश होनेपर परमात्मविषयक बुद्धिसे पैदा हुआ वह सुख अमृतकी तरह दीखता है। अतः सात्त्विक सुख आरम्भमें विषकी तरह और परिणाममें अमृतकी तरह है।

भोगोंको भोगनेमें, विषयोंका सेवन करनेमें पहले एक सुख मालूम देता है, एक रस आता है; अतः राजस सुख पहले अमृतकी तरह दीखता है परंतु भोगोंके, विषय-सेवनके परिणाममें शरीरकी, इन्द्रियोंकी शक्तिका ह्रास होता है, बल-बुद्धिका ह्रास होता है, शरीरमें रोग होते हैं, थकावट आती है। अतः राजस सुख परिणाममें विषकी तरह है।

तात्पर्य यह है कि बुद्धिमान् मनुष्य परिणामकी ओर देखते हैं और अज्ञानी मनुष्य परिणामकी ओर नहीं देखते। अतः साधकको चाहिये कि वह परिणामकी ओर ही ध्यान दे।

गीतामें आये समान चरणोंका तात्पर्य

समानाः श्लोकपादा हि गीतायां सन्ति यत्र च।
तात्पर्यं कथितं तेषां पूर्वापरप्रसङ्गतः॥

(१) 'सेनयोरुभयोर्मध्ये' (१ । २१, २४; २ । १०)—एक बार तो अर्जुनने भगवान्‌से अपना रथ दोनों सेनाओंके मध्यभागमें खड़ा करनेके लिये कहा (१ । २१), एक बार भगवान्‌ने दोनों सेनाओंके बीचमें रथ खड़ा कर दिया (१ । २४), और एक बार वहीं (दोनों सेनाओंके बीचमें) अर्जुनको उपदेश दिया (२ । १०)। इस प्रकार तीन तरहकी परिस्थितियाँ हुईं। रथ खड़ा करो—ऐसा कहते समय अर्जुनका भाव और ही था. अर्थात् वे अपनेको रथी और भगवान्‌को सारथि मानते थे; दोनों सेनाओंके बीचमें रथ खड़ा करके भगवान्‌ने कहा कि इन कुरुवंशियोंको देखो तो अर्जुनका भाव और ही हुआ अर्थात् उनमें कौटुम्बिक मोह जाग्रत् हो गया; और भगवान्‌ने उपदेश दिया तो अर्जुनका भाव और ही हुआ अर्थात् वे शिष्यभावसे उपदेश सुनने लगे।

(२) **'कुलक्षयकृतं दोषम्'** (१ । ३८, ३९)—ये पद कुलका नाश करनेसे होनेवाले दोषको न देखने और देखनेके अर्थमें आये हैं। दुर्योधन आदि तो कुलके क्षयरूप दोषको नहीं देख रहे हैं और पाण्डव कुलके क्षयरूप दोषको देख रहे हैं। तात्पर्य यह है कि जो संसारमें फँसे हुए हैं, उनकी दृष्टि संसारके गुण-दोषोंकी ओर भी नहीं जा सकती, फिर धर्मविषयक गुण-दोषोंकी ओर उनकी दृष्टि जा ही कैसे सकती है; परंतु जो विचारशील मनुष्य हैं, वे धर्मविषयक गुण-दोषोंको जानते हैं कि धर्म क्या है, अधर्म क्या है, आदि।

(३) **'येन सर्वमिदं ततम्'** (२ । १७; ८ । २२; १८ । ४६)—एक बार तो शरीरी (जीवात्मा) की व्यापकता बतायी (२ । १७) और दो बार परमात्माकी व्यापकता बतायी (८ । २२; १८ । ४६)। तात्पर्य यह है कि साधकको अपने स्वरूपको भी सर्वत्र व्यापक मानना चाहिये और परमात्माको भी सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिमें व्यापक मानना चाहिये। इससे बहुत शीघ्र साधनकी सिद्धि होती है।

(४) **'न त्वं शोचितुमर्हसि'** (२ । २७, ३०)—दोनों सेनाओंमें अपने स्वजनोंको देखकर अर्जुनको शोक हो रहा था; अतः भगवान् उन्हें बार-बार चेताते हैं। यदि लौकिक दृष्टिसे देखा जाय तो जिसका जन्म होता है, उसकी मृत्यु अवश्य होगी और जिसकी मृत्यु होगी, उसका जन्म अवश्य होगा—इस निश्चित नियमको लेकर भी शोक नहीं हो सकता (२ । २७)। यदि चेतन तत्त्वको लेकर देखा जाय तो उसका कभी नाश होता ही नहीं; अतः उसके लिये भी शोक करना बनता नहीं (२ । ३०)।

(५) **'व्यवसायात्मिका बुद्धिः'** (२ । ४१, ४४)—जिसके अन्तःकरणमें संसारका महत्त्व नहीं होता, उसकी तो व्यवसायात्मिका (एक निश्चयवाली) बुद्धि होती है (२ । ४१) और जिसके भीतर संसारका, भोगोंका महत्त्व होता है, उसकी व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं होती (२ । ४४)। तात्पर्य यह है कि निष्काम मनुष्यकी एक बुद्धि होती है और सकाम मनुष्यकी एक बुद्धि नहीं होती, प्रत्युत अनन्त बुद्धियाँ होती हैं।

(६) **'तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'** (२ । ५७, ६१)—ये पद दूसरे अध्यायके सत्तावनवें श्लोकमें सिद्ध कर्मयोगीके लिये और इकसठवें श्लोकमें कर्मयोगी साधकके लिये आये हैं। साधककी भी प्रज्ञा (बुद्धि) स्थिर हो जाती है। प्रज्ञा स्थिर होनेपर साधकको भी सिद्धके समान ही समझना चाहिये। गीतामें सिद्धोंको भी महात्मा कहा गया है (७ । १९) और साधकोंको भी महात्मा कहा गया है (९ । १३)।

(७) **'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'** (२ । ५८, ६८)—दूसरे अध्यायके अट्ठावनवें श्लोकमें तो एकान्तमें बैठकर वृत्तियोंका संयम करनेका वर्णन है; अतः वहाँ **'संहरते'** क्रियाका प्रयोग हुआ है और अड़सठवें श्लोकमें व्यवहारमें अर्थात् सांसारिक कार्य करते हुए भी इन्द्रियोंको वशमें रहनेकी बात आयी है; अतः वहाँ **'निगृहीतानि'** पद आया है। तात्पर्य यह है कि एकान्त स्थानमें अथवा व्यवहारकालमें भी साधकका अपनी इन्द्रियोंपर आधिपत्य रहना चाहिये। एकान्तमें तो मानसिक वृत्ति भी नहीं रहनी चाहिये और व्यवहारमें इन्द्रियोंके वशीभूत नहीं होना चाहिये, तभी साधककी एक निश्चयात्मिका बुद्धि स्थिर, दृढ़ होगी*।

(८) **'युक्त आसीत मत्परः'** (२ । ६१; ६ । १४)—इन पदोंके द्वारा एक बार तो कर्मयोगमें भगवत्परायण होनेकी बात कही गयी है (२ । ६१) और एक बार ध्यानयोगमें भगवत्परायण होनेकी बात कही गयी है (६ । १४)। कर्मयोगमें भी भगवत्परायण

---

* चौथे अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें एकान्तमें इन्द्रियोंके संयमको ही 'श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति' पदोंद्वारा 'संयमरूप यज्ञ' बताया है और व्यवहारमें इन्द्रियोंके संयमको ही 'शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति' पदोंद्वारा 'विषयहवनरूप यज्ञ' बताया है अर्थात् व्यवहारमें विषयोंका सेवन करते हुए भी विषयोंमें भोग-बुद्धि (राग-द्वेष) न हो।

होना आवश्यक है; क्योंकि भगवत्परायणता होनेसे कर्मयोगकी शीघ्र विशेष सिद्धि होती है। ऐसे ही ध्यानयोगमें भी भगवान्‌के परायण होना आवश्यक है; क्योंकि ध्यानयोगमें भगवत्परायणता न होनेसे सकामभावके कारण सिद्धियाँ तो प्रकट हो सकती हैं, पर मुक्ति नहीं हो सकती।

(९) **'निर्ममो निरहङ्कारः'** (२। ७१; १२। १३)—ये पद एक बार तो कर्मयोगीके लिये आये हैं (२। ७१) और एक बार भक्तियोगीके लिये आये हैं (१२। १३)। कर्मयोगी केवल अपना कर्तव्य समझकर कामना-आसक्तिका त्याग करके कर्म करता है; अतः वह अहंता-ममतासे रहित हो जाता है। भक्तियोगी सर्वथा भगवान्‌के समर्पित हो जाता है; अतः उसमें अहंता-ममता नहीं रहती। तात्पर्य यह है कि कामना-आसक्ति न रखनेसे भी वही स्थिति होती है और भगवान्‌के समर्पित होनेसे भी वही स्थिति होती है अर्थात् दोनों ही अहंता-ममतासे रहित हो जाते हैं।

(१०) **'मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः'** (३। २३; ४। ११)—मैं कर्म नहीं करूँगा तो सभी लोग मेरे मार्गका ही अनुसरण करेंगे अर्थात् वे भी कर्म नहीं करेंगे, अपने कर्तव्यसे च्युत हो जायँगे (३। २३)—ऐसा कहकर भगवान्‌ने कर्मयोगकी बात कही और जो जैसे मेरी शरण होते हैं, मैं उनके साथ वैसा ही प्रेमका बर्ताव करता हूँ; अतः मेरा यह बर्ताव देखकर मनुष्य भी दूसरोंके साथ वैसा ही यथायोग्य प्रेमका बर्ताव करेंगे—ऐसा कहकर भगवान्‌ने भक्तियोगकी बात कही। तात्पर्य यह है कि भगवान् कर्मयोग और भक्तियोग—इन दोनोंमें आदर्श हैं।

(११) **'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्'** (३। ३५; १८। ४७)—अर्जुन युद्ध करनेकी अपेक्षा भिक्षा माँगने (परधर्म) को श्रेष्ठ समझते थे; अतः पहली बार इन पदोंसे भगवान्‌ने अर्जुनको परधर्मसे हटकर युद्ध करना श्रेष्ठ बताया (३। ३५) और दूसरी बार इन पदोंसे अपने धर्ममें कमी होनेपर भी अपने धर्मका अनुष्ठान करना श्रेष्ठ बताया (१८। ४७)। इस प्रकार पहली बार आये पदोंसे परधर्ममें गुणोंकी अधिकता होनेसे परधर्ममें रुचि बतायी गयी है और दूसरी बार आये पदोंसे अपने धर्ममें गुणोंकी कमी होनेसे अपने धर्ममें अरुचि बतायी गयी है। तात्पर्य यह है कि न तो अपने कर्तव्य-कर्मको निकृष्ट समझकर उससे अरुचि होनी चाहिये और न दूसरोंके कर्तव्य-कर्मको श्रेष्ठ समझकर उसपर दृष्टि जानी चाहिये, प्रत्युत प्राप्त परिस्थितिके अनुसार अपने कर्तव्य-कर्मका उत्साह और तत्परतापूर्वक पालन करना चाहिये।

(१२) **'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्'** (४। १६; ९। १)—चौथे अध्यायके सोलहवें श्लोकमें इन पदोंके द्वारा कर्मयोगके विषयमें कहा है कि कर्मके तत्त्वको जाननेसे तुम अशुभ संसारसे मुक्त हो जाओगे और नवें अध्यायके पहले श्लोकमें इन पदोंके द्वारा भक्तियोगके विषयमें कहा है कि भगवान् सब जगह हैं, भगवान्‌से ही संसार उत्पन्न हुआ है, उन्हींमें रहता है और उन्हींमें लीन होता है तथा सब कुछ भगवान् ही बने हैं, भगवान्‌के सिवाय दूसरा कुछ है ही नहीं—इस विज्ञानसहित ज्ञानको जानने अर्थात् अनुभव करनेसे तुम अशुभ संसारसे मुक्त हो जाओगे। तात्पर्य यह है कि चौथे अध्यायके सोलहवें श्लोकमें निष्कामताकी मुख्यता है और नवें अध्यायके पहले श्लोकमें सब जगह भगवान्‌को देखनेकी मुख्यता है। कर्मके तत्त्वको जाननेसे जड़ता मिट जाती है और चिन्मयता आ जाती है (४। १६) तथा चिन्मय भगवान्‌को जाननेसे चिन्मयता आ जाती है और जड़ता मिट जाती है।

(१३) **'(कर्म) कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्'** (४। २१; १८। ४७)—केवल शरीर-निर्वाहकी दृष्टिसे कर्म करते हुए भी पाप नहीं लगता (४। २१) और अपने कर्तव्य (स्वधर्म)का पालन करते हुए भी पाप नहीं लगता (१८। ४७)। तात्पर्य यह है कि साधकमें जो कुछ विलक्षणता आती है, वह एक निश्चयात्मिका बुद्धि होनेसे ही आती है। निश्चयात्मिका बुद्धिके होनेमें भोग और संग्रहकी आसक्ति ही बाधक है। इसलिये भगवान्‌ने चौथे अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें

शरीर-निर्वाह अर्थात् भोगोंमें भोगबुद्धि न होनेमें सावधान किया है। संग्रहके लोभमें मनुष्य कर्तव्य-अकर्तव्यका ध्यान नहीं रखता; अतः अठारहवें अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें अकर्तव्यका त्याग करके कर्तव्य-कर्म करनेमें सावधान किया है।

(१४) '(कर्माणि) निबध्नन्ति धनंजय' (४। ४१; ९। ९)—चौथे अध्यायके इकतालीसवें श्लोकमें ये पद कर्मयोगीके लिये आये हैं। तात्पर्य यह है कि कर्म करते हुए भी कर्मयोगीका कर्मोंके साथ और कर्मफलोंके साथ किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता; अतः उसे कर्म नहीं बाँधते। नवें श्लोकमें ये पद भगवान्‌के लिये आये हैं। तात्पर्य यह है कि भगवान् सृष्टिकी रचना करते हैं, पर उन कर्मोंसे वे बँधते नहीं; क्योंकि भगवान्‌में कर्तृत्वाभिमान और फलासक्ति होती ही नहीं (४। १३-१४)।

(१५) 'यः पश्यति स पश्यति' (५। ५; १३। २७)—पहली बार ये पद साधनके विषयमें आये हैं और दूसरी बार ये पद साध्य (परमात्मा) के विषयमें आये हैं। सांख्ययोग और कर्मयोग—ये दोनों ही साधन परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले हैं, इनमें कोई छोटा-बड़ा नहीं, दोनों समान हैं—इस प्रकार जो देखता है, वही ठीक देखता है (५। ५)। जो परमात्माको सब जगह समानरूपसे व्यापक देखता है, वही वास्तवमें सही देखता है (१३। २७)। तात्पर्य यह है कि साधनोंमें तो भिन्नताकी मान्यता नहीं होनी चाहिये और साध्य (परमात्मा) को सब जगह परिपूर्ण मानना चाहिये।

(१६) 'सर्वभूतहिते रताः' (५। २५; १२। ४) —ये पद दोनों ही बार सांख्ययोगमें आये हैं, परंतु पाँचवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें इन पदोंसे निर्वाण ब्रह्म अर्थात् निर्गुण-निराकारकी प्राप्ति बतायी गयी है और बारहवें अध्यायके चौथे श्लोकमें इन पदोंसे 'माम्' अर्थात् सगुण-साकारकी प्राप्ति बतायी गयी है। तात्पर्य यह है कि सांख्ययोगी निर्गुणकी प्राप्ति चाहे या सगुणकी प्राप्ति चाहे, पर उसके लिये सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत होना आवश्यक है। कारण कि जड पदार्थोंका त्याग करनेमें दूसरोंके हितकी भावना बड़ी सहायक होती है। सांख्ययोगी (ज्ञानमार्गी) प्रायः संसारसे उपराम रहता है, इसलिये उसकी शीघ्र सिद्धि नहीं होती; परंतु प्राणिमात्रके हितमें रति होनेसे शीघ्र सिद्धि हो जाती है।

(१७) 'युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी' (६। १५, २८)—ये पद छठे अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें तो सगुण-साकारके ध्यानके विषयमें और अट्ठाईसवें श्लोकमें निर्गुण-निराकारके ध्यानके विषयमें आये हैं। पंद्रहवें श्लोकमें तो निर्वाणपरमा शान्तिकी प्राप्ति बतायी है और अट्ठाईसवें श्लोकमें अत्यन्त सुखकी प्राप्ति बतायी है। तात्पर्य यह है कि ध्यान चाहे सगुणका करें, चाहे निर्गुणका करें, दोनोंसे एक ही तत्त्वकी प्राप्ति होगी।

(१८) 'शीतोष्णसुखदुःखेषु' (६। ७; १२। १८) —यह पद छठे अध्यायके सातवें श्लोकमें सिद्ध कर्मयोगीके लक्षणोंमें और बारहवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंमें आया है। तात्पर्य यह है कि शीत-उष्ण (अनुकूलता-प्रतिकूलता) और सुख-दुःखमें कर्मयोगी भी प्रशान्त (निर्विकार) रहता है और भक्तियोगी भी सम (निर्विकार) रहता है।

(१९) 'तथा मानापमानयोः' (६। ७; १२। १८) —ये पद छठे अध्यायके सातवें श्लोकमें सिद्ध कर्मयोगीके लक्षणोंमें और बारहवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंमें आये हैं। इन दोनों सिद्धोंके लिये तो मान-अपमानमें सम रहना स्वाभाविक होता है, पर साधकको इनमें विशेष सावधान रहना चाहिये *। तात्पर्य यह है कि सांसारिक आसक्ति तो पतन करनेवाली है ही, पर मान-अपमान अच्छे-अच्छे साधकोंको भी विचलित कर देते हैं। अतः साधकोंको मान-अपमानके विषयमें विशेष

* सिद्ध ज्ञानयोगीके लिये भी 'मानापमानयोस्तुल्यः' (१४। २५) पद आया है अर्थात् वह भी मान और अपमानमें स्वाभाविक सम रहता है।

सावधान रहना चाहिये कि वे शरीर आदिके साथ अपना सम्बन्ध न जोड़ें; क्योंकि शरीर आदिके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही मान-अपमानका असर पड़ता है।

(२०) 'समलोष्टाश्मकाञ्चनः' (६। ८; १४। २४)—यह पद छठे अध्यायके आठवें श्लोकमें सिद्ध कर्मयोगीके लिये आया है और चौदहवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें सिद्ध सांख्ययोगीके लिये आया है। तात्पर्य यह है कि कर्मयोगी और सांख्ययोगी—दोनोंके द्वारा एक ही स्थितिकी प्राप्ति होती है (५। ५)।

(२१) 'सर्वथा वर्तमानोऽपि' (६। ३१; १३। २३)—ये पद छठे अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें भक्तियोगीके लिये और तेरहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें सांख्ययोगीके लिये आये हैं। भगवान्के साथ सम्बन्ध (अपनापन) हो जानेसे भक्त सदा ही भगवान्के साथ रहता है (६। ३१)। प्रकृति और पुरुषके अलगावका ठीक-ठीक अनुभव हो जानेसे सांख्ययोगीका फिर जन्म नहीं होता (१३। २३)। तात्पर्य यह है कि चाहे भगवान्के साथ सम्बन्ध जोड़ लो, चाहे प्रकृतिके साथ सम्बन्ध तोड़ लो, दोनोंका परिणाम एक ही होगा।

(२२) 'ततो याति परां गतिम्' (६। ४५; १३। २८; १६। २२)—जो साधनमें लग गया है, अपने मुख्य ध्येयमें लग गया है, उसकी परमगतिमें कभी संदेह नहीं करना चाहिये। किसी कारणसे उसका दूसरा जन्म भी हो जाय, तो भी उसकी परमगति होगी ही (६। ४५)। जो विनाशी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना आदिमें समरूपसे रहनेवाले एक परमात्माको ही देखता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है (१३। २८)। काम, क्रोध और लोभ—इन तीनोंमें पतन करनेवाला काम (कामना) ही है; क्योंकि कामनासे ही क्रोध और लोभ पैदा होते हैं। इस कामनासे छूटा हुआ व्यक्ति परमगतिको प्राप्त हो जाता है (१६। २२)। इस प्रकार भगवान्ने कामनाका त्याग करना और सब जगह परमात्माको देखना—ये दो साधन बताये तथा साधनमें लगनेवालेकी परमगति होनेकी बात बतायी।

(२३) '(अस्मि) तेजस्तेजस्विनामहम्' (७। १०; १०। ३६)—इन पदोंसे सातवें अध्यायके दसवें श्लोकमें कारणरूपसे तेजका वर्णन हुआ है, जो कि भगवान्से उत्पन्न हुआ है और दसवें अध्यायके छत्तीसवें श्लोकमें कार्यरूपसे तेजका वर्णन हुआ है, जो कि संसारमें देखनेमें आता है। तात्पर्य यह है कि मूल (भगवान्) की ओर दृष्टि करनेके लिये कारणरूपसे तेजका वर्णन किया गया है और संसारमें जो तेज (प्रभाव) दीखता है, उसमें भगवद्बुद्धि करनेके लिये कार्यरूप तेजका वर्णन किया गया है।

(२४) 'परं भावमजानन्तो मम' (७। २४; ९। ११)—सातवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें कहा कि जो कामनापूर्तिके लिये देवताओंकी उपासना करते हैं, वे भगवान्के परम अविनाशी भावको न जानते हुए भगवान्को साधारण मनुष्य मानते हैं, वे बुद्धिहीन हैं। नवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें कहा कि आसुरी, राक्षसी और मोहिनी प्रकृतिवाले मनुष्य भगवान्के अज, अविनाशी और सम्पूर्ण प्राणियोंके महान् ईश्वरभावको न जानते हुए उन्हें साधारण मनुष्य मानकर उनकी अवहेलना करते हैं। तात्पर्य यह है कि सातवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें वर्णित लोग तो भगवान्को साधारण मनुष्य मानकर उनकी उपेक्षा करते हैं और नवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें वर्णित लोग भगवान्को साधारण मनुष्य मानकर उनका तिरस्कार करते हैं।

परम भाव दो तरहका होता है—पहला, वह अविनाशी है, उत्तम है और दूसरा, वह सबका ईश्वर (स्वामी) है, शासक है। यह बतानेके लिये ही भगवान्ने दोनों जगह (७। २४ और ९। ११ में) 'परम भाव' पदका प्रयोग किया अर्थात् इस पदसे पहली बार अपनेको अविनाशी (जन्म-मरणसे रहित) बताया (७। २४) और दूसरी बार अपनेको सबका स्वामी, शासक बताया (९। ११)। इन दोनों भावोंके मिलनेसे ही परम भाव

पूर्ण होता है। ऐसे परम भावको न जाननेवाले बुद्धिहीन हैं, मूढ़ हैं।

(२५) **'तस्मात्सर्वेषु कालेषु'** (८।७,२७)—आठवें अध्यायके सातवें श्लोकमें सब समय भगवान्‌को याद रखनेकी बात है; क्योंकि युद्ध अर्थात् कर्तव्य-कर्म तो सब समय नहीं हो सकता, पर भगवान्‌का स्मरण सब समय हो सकता है। सत्ताईसवें श्लोकमें अनुकूल-प्रतिकूल देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिमें सम रहनेकी बात है अर्थात् अनुकूलता-प्रतिकूलतामें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि नहीं होने चाहिये; किंतु सम रहना चाहिये। समता परमात्माका स्वरूप है; अतः समरूप परमात्माकी आराधना भी समता ही है—**'समत्वमाराधनमच्युतस्य'** (विष्णुपुराण १।१७।९०)। तात्पर्य यह है कि चाहे सब समयमें भगवान्‌का स्मरण करें, चाहे योग अर्थात् समतासे समरूप परमात्माकी आराधना करें, एक ही बात है।

(२६) **'मय्यर्पितमनोबुद्धिः'** (८।७; १२।१४)—यह पद आठवें अध्यायके सातवें श्लोकमें साधक भक्तके लिये और बारहवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें सिद्ध भक्तके लिये आया है। साधक भक्त तो अपने मन और बुद्धिको भगवान्‌के अर्पित करता है, पर सिद्ध भक्तके मन और बुद्धि स्वतः-स्वाभाविक भगवान्‌के अर्पित होते हैं—यह अन्तर बतानेके लिये यह चरण दो बार आया है। तात्पर्य यह है कि मनुष्यके पास बड़े-से-बड़े दो ही औजार हैं—मन और बुद्धि। ये दोनों औजार जबतक जड़ता (संसार) में लगे रहते हैं, तबतक यह स्वयं इन मन-बुद्धिके साथ जड़तामें आबद्ध रहता है; परंतु जब इनका मुख भगवान्‌की ओर हो जाता है अर्थात् इनमेंसे ममता छूट जाती है, तब स्वयं भगवान्‌के साथ अभिन्न हो जाता है।

(२७) **'न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'** (८।२१; १५।६)—आठवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें परमात्मविषयक वर्णनकी एकता करते हुए कहते हैं कि उसीको परमधाम कहते हैं और पंद्रहवें अध्यायके छठे श्लोकमें अपनी महिमाका वर्णन करते हुए कहते हैं कि जो संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करके परमात्माकी शरण हो जाता है, उसे परमधामकी प्राप्ति हो जाती है, जहाँसे फिर लौटकर नहीं आना पड़ता।

(२८) **'पश्य मे योगमैश्वरम्'** (९।५; ११।८)—**'पश्य'** क्रियाके दो अर्थ होते हैं—जानना और देखना। नवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें बुद्धिसे जाननेकी बात आयी है कि सब कुछ भगवत्स्वरूप है और ग्यारहवें अध्यायके आठवें श्लोकमें विराट्-रूपको देखनेकी बात आयी है। गुरु, संत, भगवान् जना दें तो मनुष्य बुद्धिसे जान सकता है, पर भगवान्‌का दिव्य विराट्‌रूप तभी देखा जा सकता है, जब भगवान् कृपा करके नेत्रोंमें दिव्यता देते हैं। तात्पर्य यह है कि नवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें **'ज्ञानचक्षु'** का वर्णन है और ग्यारहवें अध्यायके आठवें श्लोकमें **'दिव्यचक्षु'** का वर्णन है।

(२९) **'नित्ययुक्ता उपासते'** (९।१४; १२।२)—नवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें तो दैवी सम्पत्तिका आश्रय लेनेवालोंके नित्य-निरन्तर भगवान्‌में लगे रहनेकी बात कही है और बारहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान्‌के लिये कर्म करनेवाले तथा उन्हींके परायण रहनेवालोंके नित्य-निरन्तर भगवान्‌में लगे रहनेकी बात कही है। तात्पर्य यह है कि भगवान्‌की उपासना दो तरहसे होती है—एकमें सभी कर्म भगवत्सम्बन्धी ही होते हैं और दूसरीमें कर्म संसार-सम्बन्धी भी होते हैं और भगवत्सम्बन्धी भी होते हैं। दोनों तरहकी उपासनामें क्रियाओंका भेद तो है, पर भावोंका भेद नहीं है अर्थात् भक्तिके साधनमें क्रियाभेद तो हो सकता है, पर भावभेद नहीं होता। भगवान्‌का ही भाव होनेके कारण दोनों ही साधक नित्य-निरन्तर भगवान्‌में ही लगे रहते हैं। दूसरा भाव यह है कि भगवान्‌के साथ अपने वास्तविक सम्बन्धको चाहे दैवी सम्पत्तिका आश्रय लेकर पहचान ले, चाहे साधनपञ्चक (११।५५) से पहचान ले, फिर साधक नित्य-निरन्तर भगवान्‌में ही लगा रहता है।

(३०) **'यजन्ते श्रद्धयान्विताः'** (९ । २३; १७ । १)—नवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें सकाम मनुष्योंके द्वारा सत्-असत्‌रूप भगवान्‌का अविधिपूर्वक पूजन करनेकी बात आयी है। सकाम मनुष्य अपने इष्टको भगवान्‌से अलग मानते हैं, उसे भगवद्रूप नहीं मानते, इसलिये उनके द्वारा किया गया पूजन अविधिपूर्वक होता है। सत्रहवें अध्यायके पहले श्लोकमें शास्त्रविधिका त्याग करके श्रद्धासे पूजन करनेवालोंकी निष्ठाके विषयमें अर्जुनका प्रश्न है कि वे कौन-सी निष्ठा (श्रद्धा)वाले हैं। उसके उत्तरमें भगवान्‌ने सम्पूर्ण प्राणियोंकी स्वभावसे उत्पन्न तीन प्रकारकी श्रद्धा बतायी। तात्पर्य यह है कि नवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें देवताओंमें भगवद्‌बुद्धि न होनेसे उनका पूजन श्रद्धापूर्वक किये जानेपर भी उसे अविधिपूर्वक कहा गया है और सत्रहवें अध्यायके पहले श्लोकमें शास्त्रविधिका अज्ञतापूर्वक त्याग होनेपर भी तीन प्रकारकी श्रद्धाकी बात कही गयी है।

(३१) **'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु'** (९ । ३४; १८ । ६५)—नवें अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें तो पहले राजविद्या, राजगुह्य और भक्तिके अधिकारियोंका वर्णन करके फिर **'मन्मना भव……'** आदिकी आज्ञा दी और अठारहवें अध्यायके पैंसठवें श्लोकमें पहले गुह्य, गुह्यतर और सर्वगुह्यतम बात बताकर फिर **'मन्मना भव ……'** आदिकी आज्ञा दी। नवें अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें 'तुम मुझे प्राप्त हो जाओगे'—ऐसा कहनेमें भक्तका सूक्ष्म पुरुषार्थ मालूम देता है और अठारहवें अध्यायके पैंसठवें श्लोकमें 'तुम मुझे प्राप्त हो जाओगे, ऐसी मैं प्रतिज्ञा करता हूँ'—ऐसा कहनेमें भगवान्‌की कृपाकी मुख्यता है।

(३२) **'शृणु मे परमं वचः'** १० । १; १८ । ६४)—ये पद दोनों ही बार भक्तिके विषयमें आये हैं; परंतु दसवें अध्यायके पहले श्लोकमें भगवान्‌ने परम वचन कहकर अपना महत्त्व, प्रभाव, सामर्थ्य, ऐश्वर्य सुननेके लिये आज्ञा दी है और अठारहवें अध्यायके चौंसठवें श्लोकमें परम वचन कहकर अपनी शरण होनेके लिये आज्ञा दी है।

(३३) **'दिव्या ह्यात्मविभूतयः'** (१० । १६, १९)—दसवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें तो अर्जुनने भगवान्‌से अपनी दिव्य विभूतियोंको कहनेकी प्रार्थना की है और उन्नीसवें श्लोकमें भगवान् अर्जुनकी प्रार्थनाको स्वीकार करते हुए कहते हैं कि तुम मेरी जिन दिव्य विभूतियोंको सुनना चाहते हो, उन्हें मैं कहूँगा। तात्पर्य यह है कि साधकको भगवान्‌के द्वारा कही हुई विभूतियोंको दिव्य अर्थात् भगवत्स्वरूप ही मानना चाहिये; क्योंकि विभूतियोंको भगवत्स्वरूप मानना ही दिव्यता है और संसारके रूपमें देखना ही अदिव्यता है, लौकिकता है।

(३४) **'त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्'** (११ । १८, ३८)—ग्यारहवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें तो इन पदोंसे देवरूपमें विराट् भगवान्‌की स्तुति की गयी है और अड़तीसवें श्लोकमें अत्युग्ररूपमें विराट् भगवान्‌की स्तुति की गयी है। तात्पर्य यह है कि साधककी दृष्टि निरन्तर भगवान्‌की ओर ही रहनी चाहिये; क्योंकि सबके निधान, आश्रय, निवासस्थान भगवान् ही हैं। सम्पूर्ण संसार भगवान्‌के ही अन्तर्गत है।

(३५) **'प्रसीद देवेश जगन्निवास'** (११ । २५, ४५)—ग्यारहवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें तो भगवान्‌के अत्युग्र (अत्यन्त भयानक) विराटरूपको देखकर अर्जुन भयभीत हो जाते हैं और भगवान्‌से प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करते हैं और पैंतालीसवें श्लोकमें अर्जुन भयभीत और हर्षित होते हुए भगवान्‌से विष्णुरूप दिखानेके लिये प्रार्थना करते हैं।

(३६) **'सर्वकर्मफलत्यागम्'** (१२ । ११; १८ । २)— बारहवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें तो भगवान्‌ने सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्याग करनेको भक्तियोगका एक साधन बताया और अठारहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें दूसरोंके मतमें सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्याग बताया। पहले (१२ । ११ में) भगवान्‌का आश्रय लेकर कर्मफलके त्यागकी बात बतायी और फिर (१८ । २ में) दूसरोंके मतमें अपने पुरुषार्थसे कर्मफलके त्यागकी बात बतायी। तात्पर्य यह है कि भगवान्‌के आश्रयसे कर्मफलत्याग सुगमतासे होता है

और अपने पुरुषार्थसे कर्मफलत्याग कठिनतासे होता है। भगवान्‌का आश्रय लेनेपर तो अधूरापन नहीं रहता अर्थात् कर्मोंकी आसक्ति भी नहीं रहती, पर अपने पुरुषार्थसे कर्मफलत्याग करनेपर कर्मोंकी आसक्ति रह सकती है।

(३७) 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः' (१२।१४, १६)—ये पद दोनों जगह सिद्ध भक्तोंके लिये आये हैं। बारहवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें तो भगवान्‌की निर्भरता विशेष है और सोलहवें श्लोकमें संसारसे उपरामता विशेष है। तात्पर्य यह है कि भक्तिमें ये दोनों ही होने चाहिये।

(३८) 'सर्वारम्भपरित्यागी' (१२।१६; १४।२५)—यह पद बारहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें तो सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंमें आया है और चौदहवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें गुणातीतके लक्षणोंमें आया है। तात्पर्य यह है कि ये दोनों (भक्त और ज्ञानी) भोग और संग्रहके लिये किये जानेवाले मात्र कर्मोंके सर्वथा त्यागी होते हैं।

(३९) 'न शोचति न काङ्क्षति' (१२।१७; १८।५४)—ये पद बारहवें अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें सिद्ध भक्तके लिये आये हैं अर्थात् जो भक्त भगवन्निष्ठ हो जाता है, उसे हर्ष-शोक नहीं होते। अठारहवें अध्यायके चौवनवें श्लोकमें ये पद ब्रह्मभूत अवस्थाको प्राप्त सांख्ययोगीके लिये आये हैं अर्थात् जो सांख्ययोगी अपने मार्गपर ठीक आरूढ़ हो जाता है, जिसका विवेक जाग्रत् हो जाता है, उसे हर्ष-शोक नहीं होते।

(४०) 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' (१४।२६; १८।५३)—इन पदोंसे भगवान्‌ने चौदहवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें बताया कि सर्वथा मेरी शरण हो जानेपर शरणागत भक्तको मेरी कृपासे ब्रह्मभूत अवस्था स्वतः प्राप्त हो जाती है, इसके लिये उसे कुछ करना नहीं पड़ता और अठारहवें अध्यायके तिरपनवें श्लोकमें बताया कि अहंता-ममतासे सर्वथा रहित होनेपर सांख्ययोगीको ब्रह्मभूत-अवस्था प्राप्त हो जाती है अर्थात् ब्रह्मभूत-अवस्था प्राप्त करनेके लिये उसे साधन करना पड़ता है। तात्पर्य यह है कि विश्वास और विवेक-विचारसे एक ही अवस्थाकी प्राप्ति होती है।

(४१) 'सर्वभावेन भारत' (१५।१९; १८।६२)—ये पद पंद्रहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें सगुण-साकार भगवान्‌की शरणागतिके विषयमें कहे गये हैं और अठारहवें अध्यायके बासठवें श्लोकमें सगुण-निराकार (अन्तर्यामी) भगवान्‌की शरणागतिके विषयमें कहे गये हैं। तात्पर्य यह है कि रुचिभेदसे साध्यमें तो अन्तर है, पर शरण्यभावमें कोई अन्तर नहीं है। शरणागति चाहे सगुण-साकारकी हो, चाहे सगुण-निराकारकी हो, पर दोनोंमें संसारका आश्रय किञ्चिन्मात्र भी नहीं होना चाहिये।

(४२) 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च' (१६।७; १८।३०)—सोलहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें तो आसुरी सम्पत्तिवालोंका वर्णन है, जो प्रवृत्ति और निवृत्तिको नहीं जानते। अठारहवें अध्यायके तीसवें श्लोकमें सात्त्विक बुद्धिवालोंका वर्णन है; जो प्रवृत्ति और निवृत्तिको ठीक-ठीक जानते हैं। तात्पर्य यह है कि पहले (१६।७ में) तो प्रवृत्ति-निवृत्तिको न जाननेकी बात आयी है और फिर (१८।३० में) प्रवृत्ति-निवृत्तिको जाननेकी बात आयी है।

(४३) 'अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधम्' (१६।१८; १८।५३)—सोलहवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें तो अहंकार आदिका आश्रय लेनेकी बात कही है; क्योंकि आसुर स्वभाववाले मनुष्योंके लिये अहंकार आदि ही आश्रय होते हैं, इष्टदेव होते हैं। अठारहवें अध्यायके तिरपनवें श्लोकमें अहंकार आदिका त्याग करनेकी बात कही है; क्योंकि साधकोंके लिये अहंकार आदिका त्याग करना विशेष रहता है।

(४४) 'तत्तामसमुदाहृतम्' (१७।१९, २२; १८।२२, ३९)—सत्रहवें अध्यायके उन्नीसवें और बाईसवें श्लोकोंमें यह पद श्रद्धाकी पहचानके प्रकरणमें तथा तप और दानके विषयमें आया है अर्थात् दूसरोंको पीड़ा पहुँचानेके उद्देश्यसे किया हुआ तप तामस है

और तिरस्कारसे तथा कुपात्रको दिया हुआ दान तामस है। अठारहवें अध्यायके बाईसवें और उन्तालीसवें श्लोकोंमें यह पद विवेक-विचारके प्रकरणमें तथा ज्ञान और सुखके विषयमें आया है अर्थात् शरीरको 'मैं यही हूँ' ऐसा मानना और उसमें आसक्त होना तामस ज्ञान है* और निद्रा, आलस्य तथा प्रमादसे उत्पन्न होनेवाला सुख तामस है।

(४५) **'यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यम्'** (१८।३,५)—अठारहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें अन्य दार्शनिकोंका मत कहा गया है और पाँचवें श्लोकमें भगवान्का मत कहा गया है। तीसरे श्लोकमें यज्ञ, दान और तपरूप कर्मका त्याग न करनेकी बात कही गयी है और पाँचवें श्लोकमें यज्ञ, दान और तपरूप कर्मको विशेषतासे करनेकी बात कही गयी है।

गीतामें आये समानार्थक पदोंका तात्पर्य

समानार्थानि चोक्तानि पदानि यत्र यत्र वै।
तात्पर्यं तत्र तत्रापि तेषां प्रोक्तं प्रसङ्गतः॥

पदों (शब्दों) का अर्थ प्रसङ्गके अनुसार किया जाता है। जहाँ एक ही अर्थके दो पद आते हैं, वहाँ दोनों पदोंका अलग-अलग अर्थ होता है और जहाँ एक पद आता है, वहाँ उसीके अन्तर्गत दोनों अर्थ आ जाते हैं, गीतामें कई जगह समानार्थक पद (एक ही अर्थके दो पद) आये हैं, जिनका तात्पर्य इस प्रकार है—

(१) **'स्थाणुः'** और **'अचलः'** (२ । २४)—देही (आत्मा) **'स्थाणुः'** अर्थात् स्थिर स्वभाववाला (चलनरूपी क्रियासे रहित) है और **'अचलः'** अर्थात् हिलनेकी क्रियासे रहित है।

(२) **'विजानतः'** और **'ब्राह्मणस्य'** (२ । ४६)—जो श्रोत्रिय अर्थात् शास्त्रोंका जानकार है, उसके लिये **'विजानतः'** पद आया है और जो तत्त्वज्ञ अर्थात् तत्त्वका अनुभव करनेवाला है, उसके लिये **'ब्राह्मणस्य'** पद आया है।

(३) **'निश्चला'** और **'अचला'** (२ । ५३)—संसारसे हटनेमें तो बुद्धि **'निश्चला'** अर्थात् एक निश्चयवाली होनी चाहिये और परमात्मामें लगनेमें बुद्धि **'अचला'** अर्थात् इधर-उधर हिलनेवाली नहीं होनी चाहिये।

(४) **'विहाय कामान्'** और **'निःस्पृहः'** (२।७१)—मुझे अमुक वस्तु मिल जाय—इस इच्छाका न रहना **'विहाय कामान्'** पदोंसे और जीवन-निर्वाहकी इच्छाका न रहना **'निःस्पृहः'** पदसे कहा गया है।

(५) **'सर्वज्ञानविमूढान्'** और **'अचेतसः'** (३ । ३२)—जो मनुष्य भगवान्के मतका अनुसरण नहीं करते, उनमें सांसारिक बातोंका ज्ञान नहीं होता—इस बातको **'सर्वज्ञानविमूढान्'** पदसे कहा गया है। उन मनुष्योंमें सत्-असत्, धर्म-अधर्म, सार-असार आदि पारमार्थिक बातोंका भी ज्ञान (विवेक) नहीं होता—इस बातको **'अचेतसः'** पदसे कहा गया है।

(६) **'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम्'** और **'निराश्रयः'** (४ । २०)—कर्मफलका त्याग करना अथवा कर्मका आश्रय न लेना एक ही बात है; क्योंकि आगे (६ । १ में) यही बात कही गयी है कि कर्मफलका आश्रय न लेकर कर्तव्य-कर्म करना चाहिये—**'अनाश्रितः कर्मफलम्'**। अतः **'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम्'** पदोंसे कर्म और कर्मफलकी आसक्तिका त्याग लेना चाहिये और **'निराश्रयः'** पदसे प्राप्त देश, काल आदिके आश्रयसे रहित होना लेना चाहिये। तात्पर्य यह है कि साधकको व्यष्टि कर्म-सामग्रीकी

* तामस ज्ञानको वास्तवमें 'ज्ञान' कहा ही नहीं जा सकता। इसी कारण भगवान्ने यहाँ (१८ । २२ में) ज्ञान शब्द नहीं दिया है।

आसक्तिसे भी रहित होना चाहिये और समष्टि देश, काल आदिके आश्रयसे भी रहित होना चाहिये।

(७) **'सर्वम्'** और **'अखिलम्'** (४ । ३३)——प्रकृति दो ही रूपोंसे प्रकट होती है——क्रियारूपसे, पदार्थरूपसे। अतः **'सर्वम्'** पदका अर्थ है—सम्पूर्ण क्रियाएँ और **'अखिलम्'** पदका अर्थ है—सम्पूर्ण पदार्थ।

(८) **'तत्त्वदर्शिनः'** और **'ज्ञानिनः'** (४ । ३४) —जो परमात्मतत्त्वके अनुभवी हैं, उन्हें **'तत्त्वदर्शिनः'** पदसे और जो वेदों तथा शास्त्रोंको भलीभाँति जाननेवाले हैं, उन्हें **'ज्ञानिनः'** पदसे कहा गया है।

(९) **'शीतोष्णसुखदुःखेषु'** अर्थात् 'शीत-उष्ण' और 'सुख-दुःख' (६ । ७; १२ । १८)—यहाँ **'शीत-उष्ण**'पदसे प्रारब्धके अनुसार मिलनेवाली अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति ली गयी है और **'सुख-दुःख'** पदसे वर्तमानमें किये जानेवाले क्रियमाण कर्मोंकी तात्कालिक सिद्धि-असिद्धि ली गयी है।

(१०) **'सुहृद्'** और **'मित्र'** (६ । ९)—जो ममतारहित होकर बिना कारण हित चाहनेवाला और करनेवाला है, वह **'सुहृद्'** है और जो उपकारके बदलेमें उपकार करनेवाला है, वह **'मित्र'** है।

(११) **'अरि'** और **'द्वेष्य'** (६ । ९)—जो बिना कारण अहित करनेवाला है, वह **'अरि'** है और जो अपने स्वार्थको लेकर अहित (अपकार) करनेवाला है, वह **'द्वेष्य'** है।

(१२) **'शनैः शनैरुपरमेत्'** और **'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्'** (६ । २५)—संसारका चिन्तन न करे, उससे उपराम हो जाय—यह बात **'शनैः शनैरुपरमेत्'** पदोंसे कही गयी है और कुछ भी चिन्तन न करे, न संसारका चिन्तन करे, न परमात्माका——यह बात **'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्'** पदोंसे कही गयी है। तात्पर्य यह है कि ध्यानयोगका साधक चिन्तन करने अथवा न करने——दोनोंसे तटस्थ, उपराम हो जाय।

(१३) **'अस्थिरम्'** और **'चञ्चलम्'**(६ । २६)—यह मन ध्येय (साध्य)में टिकता नहीं, लगता नहीं, इसलिये इसे **'अस्थिरम्'** कहा गया है। यह मन तरह-तरहके सांसारिक पदार्थोंका चिन्तन करता रहता है, इसलिये इसे **'चञ्चलम्'** कहा गया है।

(१४) **'सततम्'** और **'नित्यशः'** (८ । १४) —यहाँ **'सततम्'** पदका अर्थ है—निरन्तर स्मरण करना अर्थात् जबसे नींद खुले तबसे लेकर रातमें नींद आनेतक स्मरण करते रहना और **'नित्यशः'** पदका अर्थ है—सदा स्मरण करना अर्थात् जबसे इस बातकी ओर वृत्ति हुई, ध्यान हुआ, तबसे लेकर मृत्युतक स्मरण करते रहना।

(१५) **'निवासः'**, **'स्थानम्'** और **'निधानम्'** (९ । १८)—भगवान्के चिदंश ये सभी जीव स्वरूपसे नित्य-निरन्तर भगवान्में ही रहते हैं; अतः भगवान् सब जीवोंके **'निवास'** हैं। प्रलय होनेपर प्रकृति-सहित सारा संसार भगवान्में ही रहता है; अतः भगवान् इस संसारके **'स्थान'** हैं। संसारकी चाहे सर्ग-अवस्था हो, चाहे प्रलय अवस्था हो, इन सब अवस्थाओंमें प्रकृति, संसार, जीव तथा जो कुछ देखने, सुनने, समझनेमें आता है, वह सब-का-सब भगवान्में ही रहता है; अतः भगवान् सबके **'निधान'** हैं।

(१६) **'असक्तिः'** और **'अनभिष्वङ्गः'**(१३।९) —चित्तपर अनुकूल वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिका रंग चढ़ जाना उनमें प्रियता पैदा हो जाना **'सक्तिः'** है और उसके अभावका नाम **'असक्तिः'** है। वस्तु, व्यक्ति आदिके बनने-बिगड़नेसे, रहने न रहनेसे स्वयं (कर्ता)-पर उसका असर पड़नेका नाम **'अभिष्वङ्गः'** है और उसके अभावका नाम **'अनभिष्वङ्गः'** है।

(१७) **'अनन्ययोगेन'** और **'भक्तिरव्यभिचारिणी'** (१३ । १०)—यहाँ ज्ञानयोगका प्रकरण है। अतः 'अनन्ययोग' को साधनके विषयमें और 'अव्यभिचारिणी भक्ति' को साध्यके विषयमें लेना चाहिये। तात्पर्य यह है कि तत्त्वका साधन भी भगवान् ही हों और साध्य भी भगवान् ही हों—इन दो बातोंको बतानेके लिये ही यहाँ उपर्युक्त दो पद आये हैं।

*

(१८) **'उत्तमम्'** और **'परम्'** (१४ । १)—यहाँ **'उत्तमम्'** पदका अर्थ है कि यह ज्ञान प्रकृति और उसके कार्य संसार-शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद करानेवाला होनेसे श्रेष्ठ है और **'परम्'** पदका अर्थ है कि यह ज्ञान परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला होनेसे सर्वोत्कृष्ट है।

(१९) **'प्रकाशः'** और **'ज्ञानम्'** (१४ । ११)—इन्द्रियों तथा अन्तःकरणमें स्वच्छता, निर्मलता होनेका नाम **'प्रकाश'** है, जिससे पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा पाँचों विषयोंका स्पष्ट ज्ञान होता है, मनसे किसी भी विषयका ठीक-ठीक मनन होता है और बुद्धिसे स्पष्ट निर्णय होता है। इन्द्रियों तथा अन्तःकरणमें स्वच्छता, निर्मलता होनेसे 'वे विषय शास्त्र और लौकिक मर्यादाके अनुकूल हैं या प्रतिकूल, उन विषयोंका परिणाम हमारे लिये; दुनियाके लिये हितकारक है या अहितकारक, उचित है या अनुचित' आदि बातोंका ठीक-ठीक विवेक होनेका नाम **'ज्ञान'** है।

(२०) **'प्रवृत्तिः'** और **'आरम्भः'** (१४ । १२)—अपने-अपने वर्ण, आश्रम, देश, वेश आदिमें रहते हुए प्राप्त परिस्थितिके अनुसार जो कर्तव्यकर्म सामने आ जाय, उसे सुचारुरूपसे साङ्गोपाङ्ग करना **'प्रवृत्तिः'** है और भोग तथा संग्रहके उद्देश्यसे नये-नये कर्म प्रारम्भ करना **'आरम्भः'** है।

(२१) **'समदुःखसुखः'** और **'तुल्यप्रियाप्रियः'** (१४ । २४)—प्रारब्धके अनुसार प्राप्त अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंमें सम रहना **'समदुःखसुखः'** है और क्रियमाण कर्मोंके तात्कालिक फलकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें सम रहना **'तुल्यप्रियाप्रियः'** है।

(२२) **'निर्मानमोहाः'** और **'अमूढाः'** (१५ । ५)—मोह दो प्रकारका होता है—(१) परमात्माकी ओर न लगकर संसारमें ही लग जाना और (२) परमात्माको ठीक तरहसे न जानना। यहाँ **'निर्मानमोहाः'** पदसे संसारका मोह चले जानेकी बात और **'अमूढाः'** पदसे परमात्माको ठीक तरहसे जान लेनेकी बात कही गयी है।

(२३) **'अकृतात्मानः'** और **'अचेतसः'** (१५।११)—जिन्होंने अपना अन्तःकरण शुद्ध नहीं किया है, वे **'अकृतात्मानः'** हैं और जिन्होंने सत्-असत्के ज्ञान (विवेक) को महत्त्व नहीं दिया है, वे **'अचेतसः'** हैं।

(२४) **'अक्रोधः'** और **'क्षमा'** (१६ । २-३)—**'अक्रोध'** में अपनी ओर दृष्टि रहती है कि हमारेमें क्रोध न हो, हलचल न हो और **'क्षमा'** में जिसने अपराध किया है, उसपर दृष्टि रहती है कि उसे कभी किसी प्रकारका दण्ड न मिले।

(२५) **'दर्पः'** और **'अभिमानः'** (१६ । ४)—ममताकी वस्तुओंको अर्थात् धन, पुत्र, परिवार आदि बाहरकी वस्तुओंको लेकर **'दर्प'** होता है और अहंताकी वस्तुओंको अर्थात् विद्या, बुद्धि आदि भीतरकी वस्तुओंको लेकर **'अभिमान'** होता है।

(२६) **'चलम्'** और **'अध्रुवम्'** (१७ । १८)—जो तप सत्कार, मान और पूजाके लिये किया जाता है, उसका फल **'चल'** अर्थात् नाशवान् होता है और जो तप केवल दिखावटीपनके लिये किया जाता है, उसका फल **'अध्रुव'** अर्थात् अनिश्चित (फल मिले या न मिले, दम्भ सिद्ध हो या न हो) होता है।

(२७) **'अकृतबुद्धित्वात्'** और **'दुर्मतिः'** (१८ । १६)—यहाँ **'अकृतबुद्धित्वात्'** पद हेतुके रूपमें आया है और **'दुर्मतिः'** पद कर्ताके विशेषणके रूपमें आया है अर्थात् कर्ताके दुर्मति होनेमें अकृतबुद्धि ही हेतु है। तात्पर्य यह है कि बुद्धिको शुद्ध न करनेसे अर्थात् उसमें विवेक जाग्रत् न करनेसे ही वह दुर्मति है। यदि वह विवेकको जाग्रत् करता, उसे महत्त्व देता तो वह दुर्मति नहीं रहता।

(२८) **'धर्मम्, अधर्मम्'** और **'कार्यम्, अकार्यम्'** (१८ । ३१)—शास्त्रोंने जिसकी आज्ञा दी है और जिससे परलोकमें सद्गति होती है, वह **'धर्म'** है और शास्त्रोंने जिसकी आज्ञा नहीं दी है और निषेध किया है तथा जिससे परलोकमें दुर्गति होती है, वह **'अधर्म'** है। वर्ण, आश्रम, देश, काल, लोकमर्यादा, परिस्थितिके अनुसार शास्त्रोंने जिसके लिये जिस कर्मको

करनेकी आज्ञा दी है, उसके लिये वह कर्म 'कार्य' (कर्तव्य) है और परिस्थितिके अनुसार प्राप्त हुए कर्तव्यका पालन न करना तथा न करने योग्य कामको करना 'अकार्य' (अकर्तव्य) है।

(२९) 'परां शान्तिम्' और 'शाश्वतं स्थानम्' (१८ । ६२)—संसारसे सर्वथा उपरतिको 'परां शान्तिम्' पदोंसे और परमधामको 'शाश्वतं स्थानम्' पदोंसे कहा गया है।

गीतामें आये पुनरुक्त समानार्थक वाक्योंका तात्पर्य

पुनरुक्तानि वाक्यानि समानार्थानि यत्र हि।
अत्र तेषां च तात्पर्यं कथ्यते भावपूर्वकम् ॥

(१) 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा' (२।४८), 'समः सिद्धावसिद्धौ च' (४ । २२) और 'सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः' (१८ । २६)—ये तीनों वाक्य समानार्थक होते हुए भी इनमें थोड़ा अन्तर है। पहलेके दोनों वाक्य कर्मयोगी साधकके हैं और अन्तिम वाक्य सांख्ययोगी साधकका है। कर्मयोगी साधक 'मुझे कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धि' पूर्ति-अपूर्तिमें सम रहना है'—इस भावसे कर्तव्य-कर्म करता है (२ । ४८)। इस तरह कर्म करनेसे वह सिद्धि-असिद्धिमें स्वतः सम रहता है (४ । २२)। सांख्ययोगी साधक सम्पूर्ण विकारोंको प्रकृतिके ही मानता है, अपनेमें नहीं। अतः वह सिद्धि-असिद्धिमें स्वतः निर्विकार रहता है। तात्पर्य यह है कि सिद्धि-असिद्धिमें सम कहो अथवा निर्विकार कहो, एक ही बात है। सिद्धि-असिद्धिमें सम, निर्विकार होनेपर दोनोंको तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है।

(२) 'वीतरागभयक्रोधः' (२ । ५६), 'वीतरागभयक्रोधाः' (४ । १०) और 'विगतेच्छाभयक्रोधः' (५ । २८)—ये तीनों वाक्य क्रमशः कर्मयोग, भक्तियोग और ध्यानयोगमें आये हैं। तात्पर्य यह है कि कर्मयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग आदि कोई-सा भी योग (साधन) हो, उसके द्वारा साधक सांसारिक राग, इच्छा, भय, क्रोध आदिकी वृत्तियोंसे रहित हो जाता है। कारण कि ये राग आदिकी वृत्तियाँ संसारके साथ सम्बन्ध माननेसे ही पैदा हुई हैं। वास्तवमें ये साधकके स्वरूपमें हैं ही नहीं। अतः संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होते ही ये मिट जाती हैं और स्वतःसिद्ध निर्विकारताका अनुभव हो जाता है।

(३) 'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा' (३ । ३०), 'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि' (५ । १०), 'ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य' (१२ । ६), 'चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य' (१८ । ५७), और 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते' (५ । १३)—पहलेके चार वाक्य भक्तियोगमें और अन्तिम वाक्य ज्ञानयोगमें आया है। तात्पर्य यह है कि भक्तियोगमें सब कर्म भगवान्‌के अर्पण होते हैं और ज्ञानयोगमें सब कर्म शरीर (प्रकृति)के अर्पण होते हैं। वास्तवमें कर्मोंका अपने साथ सम्बन्ध किसी भी योगमें नहीं होता। कर्मोंका अपने साथ सम्बन्ध होनेपर भोग होता है, योग नहीं होता।

(४) 'कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः' (३ । ५), 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः' (३ । २७), 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (३।२८), 'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते' (५ । ९), 'प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः' (१३ । २९), 'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारम्' (१४।१९), 'गुणा वर्तन्त इत्येव' (१४ । २३)—इन सबका तात्पर्य यह है कि चाहे प्रकृतिके द्वारा सब कर्म होते हैं—ऐसा कह दो, चाहे प्रकृतिके कार्य गुणोंके द्वारा सब कर्म होते हैं—ऐसा कह दो, चाहे गुणोंके कार्य इन्द्रियोंके द्वारा सब

कर्म होते हैं—ऐसा कह दो, तीनों बातें एक ही हैं। करनेवाली प्रकृति ही है, पुरुष (चेतन) नहीं। क्रियामात्र प्रकृतिमें ही होती है, पुरुष सर्वथा अक्रिय है।

(५) **'स मे युक्ततमो मतः'** (६ । ४७) और **'ते मे युक्ततमा मताः'** (१२ । २)—इन दोनोंमें एकवचन-बहुवचनका ही अन्तर है, शब्दोंका अन्तर नहीं है। पहली बार (६ । ४७ में) तो भगवान्‌ने अर्जुनके बिना पूछे ही कहा कि सम्पूर्ण योगियोंमें भक्तियोगी युक्ततम (श्रेष्ठ) है और दूसरी बार (१२ । २ में) अर्जुनके पूछनेपर कहा कि ज्ञानयोगी और भक्तियोगी—इन दोनोंमें भक्तियोगी युक्ततम है। तात्पर्य यह है कि बिना अपनी जिज्ञासाके जो बात सुनी जाती है, वह बात पकड़में नहीं आती, परंतु स्वयंकी जिज्ञासा होनेपर जो बात सुनी जाती है, वह बात दृढ़तासे पकड़में आ जाती है। जैसे पहली बार भगवान्‌ने भक्तियोगीको सम्पूर्ण योगियोंमें श्रेष्ठ बताया, पर अर्जुनने इस बातको नहीं पकड़ा। इसीलिये उन्होंने (१२ । १ में) इसी विषयमें प्रश्न किया। अर्जुनके प्रश्न करनेपर भगवान्‌ने वही बात पुनः कही तो अर्जुनके द्वारा वह बात पकड़ी गयी; क्योंकि उसके बाद अर्जुनने पुनः इस विषयमें प्रश्न नहीं किया।

(६) **'यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'** (८ । २१) और **'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'** (१५ । ६)—यद्यपि **'यं प्राप्य'** और **'यद्गत्वा'**—इन दोनों पदोंका अर्थ एक ही है; क्योंकि **'प्राप्य'** (**आप्लृ व्याप्तौ**) का अर्थ भी प्राप्त होना होता है और **'गत्वा' (गम्लृ गतौ)** का अर्थ भी प्राप्त होना होता है, तथापि पहले वाक्यमें सगुण-निराकार परमात्माके स्वरूपका वर्णन है, जिसका सम्पूर्ण प्राणियोंके नष्ट होनेपर भी नाश नहीं होता। उसकी सब जगह व्यापकता दीखती है, अपरोक्षता दीखती है। अतः उसे प्राप्त होनेकी बात कही गयी है; परंतु दूसरे वाक्यमें वैकुण्ठलोक, गोलोक, साकेतलोक आदि धामकी मुख्यताको लेकर वर्णन है, जिसे सूर्य आदि भी प्रकाशित नहीं कर सकते। वह धाम दूर, परोक्ष दीखता है। अतः वहाँ जानेकी बात कही गयी है। वास्तवमें परमात्माका स्वरूप और परमात्माका धाम—दोनों तत्त्वसे एक ही हैं।

(७) **'उदासीनवदासीनम्'** (९ । ९) और **'उदासीनवदासीनः'** (१४ । २३)—भगवान् प्राणियोंके स्वभावके अनुसार सृष्टिकी रचना करते हैं; परंतु वे उस सृष्टिरचना-रूप कर्मसे लिप्त नहीं होते, प्रत्युत उदासीनकी तरह रहते हैं (९ । ९)। ऐसे ही गुणातीत महापुरुष भी उदासीनकी तरह रहता है; क्योंकि वह गुणोंकी वृत्तियों आदिसे कभी किञ्चिन्मात्र भी विचलित नहीं होता (१४ । २३)।

(८) **'अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च'** (१० । २०) और **'सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन'** (१० । ३२)—दसवें अध्यायमें भगवान् अपने चिन्तनके लिये विभूतियोंका वर्णन कर रहे हैं। अतः पहले वाक्यका तात्पर्य है कि यदि साधककी दृष्टि प्राणियोंकी ओर चली जाय तो वहाँ यही चिन्तन करे कि सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि, मध्य और अन्तमें भगवान् ही हैं। दूसरे वाक्यका तात्पर्य है कि यदि साधककी दृष्टि सर्गों (सृष्टियों) की ओर चली जाय तो वहाँ भी यही चिन्तन करे कि अनन्त सृष्टियोंके आदि, मध्य और अन्तमें भगवान् ही रहते हैं।

(९) **'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्'** (१३ । १६) और **'अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्'** (१८ । २०)—पहले वाक्यमें ज्ञेय तत्त्व अर्थात् वास्तविक बोधका और दूसरे वाक्यमें सात्त्विक ज्ञानका वर्णन है। साधकके लिये सात्त्विक ज्ञान उपादेय है और राजस-तामस ज्ञान त्याज्य हैं। वास्तविक बोध सात्त्विक ज्ञानसे भी ऊँचा है अर्थात् वह सात्त्विक ज्ञानके द्वारा प्रापणीय है। वह वास्तविक बोध ही सात्त्विक ज्ञान (विवेक) के रूपमें प्रकट होता है।

जैसे सिद्ध महापुरुष और ऊँचे साधकके लक्षणोंमें भेद करना कठिन होता है, ऐसे ही वास्तविक बोध

और सात्त्विक ज्ञानमें भेद करना भी कठिन है। फिर भी वास्तविक बोध करण-निरपेक्ष, गुणातीत होता है और सात्त्विक ज्ञान करण-सापेक्ष होता है।

(१०) **'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्'** (१३ । २७) और **'सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्यय-मीक्षते'** (१८ । २०)—पहले वाक्यमें तो ज्ञानयोगी की दृष्टिका वर्णन है और दूसरे वाक्यमें सात्त्विक ज्ञान-का वर्णन है। सब जगह परमात्माको देखनेसे साधकको परमात्माकी प्राप्ति होती है और सात्त्विक ज्ञानमें स्थित रहनेसे साधक गुणातीत हो जाता है। तात्पर्य यह है कि परिणाममें दोनों साधनोंसे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है *।

गीतामें आये विपरीत क्रमका तात्पर्य

पूर्वं यथाक्रमं प्रोक्तं पश्चान्न स्यात्तथाक्रमम्।
विपरीतक्रमस्यापि तात्पर्यं कथ्यतेऽधुना ॥

(१) पहले अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें अर्जुनने **'पितॄनथ पितामहान् । आचार्यान्······'** कहकर सबसे पहले पिता तथा पितामहोंका और तीसरे नम्बरमें आचार्योंका नाम लिया। फिर चौंतीसवें श्लोकमें **'आचार्याः पितरः पुत्राः······'** कहकर सबसे पहले आचार्योंका और दूसरे नम्बरमें पिता आदिका नाम लिया। यह विपरीत क्रम क्यों?

एक तो मोह-ममताका सम्बन्ध होता है और एक धर्मका सम्बन्ध होता है। जहाँ मोह-ममताका सम्बन्ध होता है, वहाँ पिता आदि कुटुम्बी पहले याद आते हैं, पीछे आचार्य आदि याद आते हैं और जहाँ धर्मका सम्बन्ध होता है, वहाँ आचार्य आदि पहले याद आते हैं, पीछे पिता आदि कुटुम्बी याद आते हैं। अर्जुनकी दृष्टि जब अपने स्वजनोंकी ओर जाती है, तब उन्हें सबसे पहले पिता आदि याद आये; और जब उनकी दृष्टि धर्मकी ओर जाती है, तब उन्हें सबसे पहले आचार्य आदि याद आये।

(२) दूसरे अध्यायके चौथे श्लोकमें अर्जुन सबसे पहले पितामह भीष्मजीका और बादमें आचार्य द्रोणका नाम लेते हैं—**'कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च'**, परंतु ग्यारहवें अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें भगवान् सबसे पहले द्रोणका और बादमें भीष्मजीका नाम लेते हैं—**'द्रोणं च भीष्मं च'**। यह विपरीत क्रम क्यों?

भीष्मजीके साथ अर्जुनका कौटुम्बिक सम्बन्ध था। भीष्मजी बालब्रह्मचारी थे। वे शास्त्र और धर्मके तत्त्वको जाननेवाले तथा लोकमात्रके आदरणीय थे। महाभारतमें भगवान्ने भीष्मजीको शास्त्रज्ञानका सूर्य बताया है। इस प्रकार भीष्मजीके अधिक आदरणीय, पूजनीय होनेसे अर्जुन सबसे पहले उन्हींका नाम लेते हैं। आचार्य द्रोण अर्जुनके विद्यागुरु थे। अर्जुनके मनमें गुरुजनोंको मारनेके पापका भय था। अतः भगवान् सबसे पहले आचार्य द्रोणका नाम लेकर अर्जुनको यह बताना चाहते हैं कि जिन्होंने तुम्हें शस्त्र-अस्त्रकी विद्या सिखायी है, उन्हें तुम क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे मार भी दो तो भी तुम्हें पाप नहीं लगेगा। कारण कि मेरे द्वारा मारे हुए इन द्रोण आदिको मारनेसे तुम्हारे द्वारा अपने प्राप्त कर्तव्यका पालन होगा।

(३) दसवें अध्यायके सातवें श्लोकमें भगवान्ने **'एतां विभूतिं योगं च'** पदोंमें विभूतिको पहले तथा योगको पीछे कहा; परंतु दसवें अध्यायके ही अठारहवें

*इसी तरह **'बलं भीष्माभिरक्षितम्'** और **'बलं भीमाभिरक्षितम्'** (१ । १०); **'प्रभवन्त्यहरागमे'** और **'प्रभवत्य-हरागमे'** (८ । १८-१९) आदि पुनरुक्त समानार्थक वाक्य भी गीतामें आये हैं, पर इनमें कोई विशेष विचारणीय विषय न होनेसे इन्हें यहाँ नहीं लिया गया है।

श्लोकमें अर्जुनने **'विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च'** पदोंमें योगको पहले तथा विभूतिको पीछे कहा। यह विपरीत क्रम क्यों?

मनुष्य पहले भगवान्‌की विभूतियोंको, विशेषताओंको ही देखता है, फिर वह भगवान्‌में आकृष्ट होता है। भगवान्‌के योग (सामर्थ्य) को तो वह केवल मान ही सकता है। अतः भगवान्‌ने सबसे पहले विभूतिको कहा है; परंतु अर्जुन पहले भगवान्‌के योग (सामर्थ्य, प्रभाव) को सुनकर ही प्रभावित हुए थे और उन्होंने **'परं ब्रह्म परं धाम'.....** (१० । १२) आदि पदोंसे भगवान्‌की स्तुति भी की थी। अतः वे सबसे पहले योगकी बात पूछते हैं।

(४) तेरहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने पहले प्रकृतिका और फिर पुरुषका नाम लिया—**'प्रकृतिं पुरुषं चैव'** और तेईसवें श्लोकमें पहले पुरुषका और फिर प्रकृतिका नाम लिया—**'य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च'**। यह विपरीत क्रम क्यों?

तेरहवें अध्यायके उन्नीसवेंसे इक्कीसवें श्लोकतक बन्धनका विषय है और तेईसवें श्लोकमें बोधका विषय है। बन्धनमें प्रकृतिके मुख्य होनेसे उन्नीसवें श्लोकमें पहले प्रकृतिको और फिर पुरुषको बताया है। बोधमें पुरुषके मुख्य होनेसे तेईसवें श्लोकमें पहले पुरुषको और फिर प्रकृतिको बताया है। तात्पर्य यह है कि प्रकृति-पुरुषका विवेक होनेपर पहले प्रकृतिका, बन्धनका ही ज्ञान होता है, जिससे प्रकृति (बन्धन) की निवृत्ति हो जाती है; अतः प्रकृतिको पहले बताया। जन्म-मरणसे रहित होनेमें, बोध होनेमें पुरुषका ही ज्ञान मुख्य है; क्योंकि पुरुषका जन्म-मरण होता ही नहीं, उसमें जन्म-मरणका अत्यन्त अभाव है; अतः पुरुषको पहले बताया।

(५) तेरहवें अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने **'न करोति न लिप्यते'** अर्थात् न करता है और न लिप्त होता है—ऐसा कहकर पहले कर्तृत्वका और फिर भोक्तृत्वका निषेध किया, परंतु इन दोनोंको समझानेके लिये बत्तीसवें-तैंतीसवें श्लोकोंमें पहले भोक्तृत्वका और फिर कर्तृत्वका उदाहरण दिया। यह विपरीत क्रम क्यों?

कर्तृत्वके बाद ही भोक्तृत्व आता है अर्थात् कर्म करनेके बाद ही उस कर्मके फलका भोग होता है—इस दृष्टिसे भगवान्‌ने इकतीसवें श्लोकमें पहले कर्तृत्वका और फिर भोक्तृत्वका निषेध किया है, परंतु मनुष्य जो कुछ भी करता है, पहले मनमें किसी फलकी इच्छा, उद्देश्य रखकर ही करता है। तात्पर्य यह है कि मनमें पहले लिप्तता अर्थात् भोक्तृत्व आता है और फिर कर्तृत्व आता है। अतः भगवान्‌ने पहले उदाहरणमें भोक्तृत्वका और दूसरे उदाहरणमें कर्तृत्वका निषेध किया है। कारण कि भोक्तृत्वका त्याग होनेपर कर्तृत्वका त्याग स्वतः हो जाता है अर्थात् फलेच्छाका सर्वथा त्याग होनेपर क्रिया करनेपर भी कर्तृत्व नहीं बनता।

(६) चौदहवें अध्यायके आठवें श्लोकमें भगवान्‌ने **'प्रमादालस्यनिद्राभिः'** पदमें प्रमादको सबसे पहले और निद्राको सबके अन्तमें दिया है और अठारहवें अध्यायके उन्तालीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने **'निद्रालस्य-प्रमादोत्थम्'** पदमें निद्राको सबसे पहले और प्रमादको सबके अन्तमें दिया है। यह विपरीत क्रम क्यों?

चौदहवें अध्यायके आठवें श्लोकमें बाँधनेका प्रकरण है; अतः प्रमादको सबसे पहले दिया। कारण कि प्रमादसे जितना बन्धन होता है, उतना आलस्यसे नहीं होता और आलस्यसे जितना बन्धन होता है, उतना निद्रासे नहीं होता अर्थात् प्रमादसे अधिक बन्धन होता है, उससे कम आलस्यसे और उससे कम अति निद्रासे होता है; परंतु अठारहवें अध्यायके उन्तालीसवें श्लोकमें सुखका प्रकरण है; अतः निद्राको सबसे पहले दिया। कारण कि आवश्यक निद्रासे शरीरमें हलकापन आता है, वृत्तियाँ स्वच्छ होती हैं, जो लिखने-पढ़ने-सुनने आदिमें सहायक होती हैं। अतः आवश्यक निद्राका सुख इतना त्याज्य नहीं है। इससे अधिक त्याज्य आलस्यका सुख है और आलस्यसे अधिक त्याज्य प्रमादका सुख है। इस प्रकार चौदहवें अध्यायके आठवें श्लोकमें प्रमादको आरम्भमें देनेसे और अठारहवें अध्यायके उन्तालीसवें

श्लोकमें प्रमादको अन्तमें देनेसे सबसे अधिक बन्धनका कारण प्रमाद ही सिद्ध होता है। महाभारतमें भी प्रमादको मृत्यु बताया गया है—**'प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि'** (उद्योग० ४२ । ४)।

(७) तेरहवाँ और चौदहवाँ—ये दोनों अध्याय ज्ञानके हैं। तेरहवाँ अध्याय प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये और चौदहवाँ अध्याय प्रकृतिके कार्य गुणोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये है। इन दोनों अध्यायोंके आरम्भके वर्णनको देखा जाय तो तेरहवें अध्यायके आरम्भमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तथा चौदहवें अध्यायके आरम्भमें महद्ब्रह्म (मूल प्रकृति) और परमात्माका वर्णन है; परंतु वास्तवमें होना चाहिये था तेरहवें अध्यायके आरम्भमें मूल प्रकृति और परमात्माका वर्णन और फिर चौदहवें अध्यायके आरम्भमें होना चाहिये था उस प्रकृतिके क्षुद्र अंश क्षेत्रका और परमात्माके अंश क्षेत्रज्ञका; परंतु ऐसा क्रम न देनेका तात्पर्य यह है कि तत्त्वतः क्षेत्र और महद्ब्रह्म तथा क्षेत्रज्ञ और परमात्मा एक ही हैं, दो नहीं। अतः दोनोंका भेद मिटानेके लिये ही भगवान्‌ने ऐसा वर्णन किया है।

(८) अठारहवें अध्यायके पहले श्लोकमें अर्जुनने पहले संन्यासका और पीछे त्यागका तत्त्व जाननेके लिये पूछा; परंतु उत्तरमें भगवान्‌ने पहले त्यागके विषयमें कहना आरम्भ किया। यह विपरीत क्रम क्यों?

अठारहवें अध्यायके पहले भगवान्‌ने 'संन्यास' शब्दका प्रयोग कर्मयोग (४ । ४१), ज्ञानयोग (५ । १३) और भक्तियोग (९ । २८; १२ । ६)—तीनोंमें किया था और 'त्याग' शब्दका प्रयोग कर्मयोगमें किया था (२ । ४८; ४ । २०; ५ । ११ आदि)। अर्जुन संन्यास और त्याग—दोनोंका तत्त्व जानना चाहते थे; परंतु तीनों योगोंमें 'संन्यास' पद आनेसे संन्यासका तत्त्व जानना अर्जुनके लिये जटिल हो गया। तात्पर्य यह है कि अर्जुनके मनमें संन्यासके विषयमें जितना अधिक संदेह था, उतना त्यागके विषयमें नहीं था। अतः अर्जुन मुख्यरूपसे संन्यासका ही तत्त्व जानना चाहते थे और त्यागका तत्त्व गौणतासे जानना चाहते थे। इसलिये भगवान्‌ने 'सूचीकटाहन्याय'* से पहले त्यागका वर्णन किया; क्योंकि त्यागके विषयमें भगवान्‌को थोड़ी ही बातें कहनी थीं, जबकि संन्यासके विषयमें बहुत बातें कहनी थीं, जिससे अर्जुनका संन्यास-विषयक संदेह दूर हो जाय।

(९) गीतामें (७ । १२; १४ । ५—१८, २२ आदि) सब जगह तीनों गुणोंका 'सात्त्विक, राजस और तामस'—ऐसा क्रम दिया है; परंतु अठारहवें अध्यायके सातवें श्लोकसे नवें श्लोकतक 'तामस, राजस और सात्त्विक'—ऐसा क्रम दिया है। यह विपरीत क्रम क्यों?

इसका कारण यह है कि (१) यदि भगवान् छठे श्लोकके बाद ही सातवें श्लोकमें सात्त्विक त्यागका वर्णन करते तो भगवान्‌के निश्चित मत और सात्त्विक त्यागमें पुनरुक्ति-दोष आ जाता; क्योंकि भगवान्‌का निश्चित मत और सात्त्विक त्याग एक ही है। (२) किसी वस्तुकी उत्तमता, श्रेष्ठता तभी सिद्ध होती है, जब उस वस्तुके पहले अनुत्तम, निकृष्ट वस्तुका वर्णन किया जाय। अतः सात्त्विक त्यागकी उत्तमता सिद्ध करनेके लिये भगवान् पहले अनुत्तम तामस और राजस त्यागका वर्णन करते हैं। (३) आगे दसवेंसे बारहवें श्लोकतक सात्त्विक त्यागीका वर्णन हुआ है। यदि सात्त्विक त्यागका वर्णन सात्त्विक त्यागीके पास (नवें श्लोकमें) न देते तो तामस त्याग पासमें होनेसे सात्त्विक त्यागीके श्लोकोंका नवें श्लोकसे सम्बन्ध नहीं जुड़ता। इन सभी दृष्टियोंसे भगवान्‌ने यहाँ गुणोंका विपरीत क्रम रखा है।

---

* किसीने लुहारके पास जाकर एक कड़ाह बनानेके लिये लोहा दे दिया। लुहार कड़ाह बनाने लगा। इतनेमें ही कोई सुई बनानेके लिये थोड़ा-सा लोहा लेकर लुहारके पास आ गया। लुहारने कड़ाह बनानेका बड़ा काम स्थगित कर दिया और सुई बनानेका छोटा-सा काम पहले कर दिया—यही 'सूचीकटाहन्याय' कहलाता है।

गीतामें आये 'मत्तः' पदका तात्पर्य

'मत्त' एतत्पदैः कृष्णो महिमानं स्वमब्रवीत् ।
तेषां प्रोक्तं च तात्पर्यं भावगाम्भीर्यपूर्वकम् ॥

सबके मूलमें परमात्मा ही हैं। परमात्माके सिवाय दूसरा कोई कारण है ही नहीं और हो सकता ही नहीं। सृष्टिकी रचना, प्रलय आदिका कार्य करनेमें परमात्मा प्रकृति आदि किसीकी भी सहायता नहीं लेते; क्योंकि वे सर्वदा सर्वथा समर्थ और स्वतन्त्र हैं। वे सब कुछ करनेमें अथवा न करनेमें तथा उलट-पलट करनेमें सर्वथा स्वतन्त्र हैं। संसारमें जो कुछ प्रभाव देखनेमें आता है, वह सब परमात्माका ही है, वस्तु, व्यक्ति आदिका नहीं। रावणने हनुमान्‌जीसे पूछा—'हे बंदर! तुम किसके दूत हो? किसके बलसे तुमने वाटिका उजाड़ी है?' उत्तरमें हनुमान्‌जीने कहा—'जिनकी शक्तिसे तुमने सम्पूर्ण चर-अचरको जीत लिया है, सबको अपने वशमें कर लिया है, मैं उन्हींका दूत हूँ।' हिरण्यकशिपुने प्रह्लादजीसे पूछा—'तू जिसका नाम लेता है, वह कौन है?' उत्तरमें प्रह्लादजीने कहा—'पिताजी! जिनकी शक्तिसे आपने देवता, दानव आदि सबपर विजय पायी है, मैं उन्हींका नाम लेता हूँ।' तात्पर्य यह है कि सबमें उस परमात्माकी ही शक्ति है। उसके सिवाय दूसरा कोई ऐसा स्वतन्त्र शक्तिशाली है ही नहीं। इसी बातका वर्णन भगवान्‌ने गीतामें 'मत्तः' पदसे किया है; जैसे—

'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति' (७।७)

'मेरे सिवाय इस संसारका दूसरा कोई कारण है ही नहीं।'

'मत्त एवेति तान्विद्धि (७।१२)

'ये सात्त्विक, राजस और तामस भाव मुझसे ही होते हैं।'

'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः' (१०।५)

'प्राणियोंके बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह आदि सभी भाव मुझसे ही होते हैं।'

'मत्तः सर्वं प्रवर्तते' (१०।८)

'यह सब संसार मुझसे ही चेष्टा कर रहा है।'

'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च' (१५।१५)

'स्मृति, ज्ञान आदि मुझसे ही होते हैं।'

तात्पर्य यह है कि संसारमें जो कुछ अच्छा-मन्दा, सुख-दुःख आदि है, उन सबमें भगवान्‌का ही प्रभाव है, शक्ति है। वे सभी भगवान्‌से ही होते हैं, भगवान्‌में ही रहते हैं और भगवान्‌में ही लीन होते हैं।

गीतामें आये 'अवशः' पदका तात्पर्य

सम्बन्धः प्रकृतेर्यावत्तावज्जीवोऽवशो भवेत् ।
प्रकृतेर्वशतात्यागे जीवस्तु स्ववशस्तदा ॥

शरीर, इन्द्रियों आदिसे सुख लेनेकी जो आदत पड़ी हुई है, उसे स्वभाव कहते हैं। इस स्वभावके परवश, अवश, अधीन हुए प्राणियोंसे प्रकृतिजन्य गुण कर्म कराते हैं—'कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः' (३।५) यह स्वभावकी अवशता है।

श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पुरुष भोगोंकी बहुलताके कारण भोगोंके परवश हो जाता है, भोगोंकी ओर खिंच जाता है, भोगोंके परवश होनेपर भी पूर्वजन्मकृत अभ्यासके कारण वह पुनः साधनमें खिंच जाता है—'पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः' (६।४४)। यह भोगोंकी अवशता है।

एक हजार चतुर्युगी बीतनेपर जब ब्रह्माजीकी रातका आरम्भ होता है, तब प्रलय होता है। उस प्रलयमें प्रकृतिके, गुणोंके अथवा स्वभावके परवश हुए जीव

ब्रह्माजीके सूक्ष्मशरीरमें लीन हो जाते हैं। फिर जब ब्रह्माजीके दिनका आरम्भ होता है, तब सर्ग होता है। उस सर्गमें सभी परवश जीव ब्रह्माजीके सूक्ष्मशरीरसे पैदा होते हैं—**'रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे'** (८। १९)। यह प्रलय और सर्गकी अवशता है।

ब्रह्माजीके सौ वर्ष पूरे होनेपर जब महाप्रलय होता है, तब सम्पूर्ण जीव प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं। जब प्रकृतिमें लीन उन जीवोंके कर्म परिपक्व हो जाते हैं, तब भगवान् प्रकृतिको अपने वशमें करके महासर्गके आदिमें उन परवश हुए जीवोंकी रचना कर देते हैं—**'भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्'** (९। ८)। यह महाप्रलय और महासर्गकी अवशता है।

पूर्वकर्मोंके अनुसार यह जीव जिस वर्णमें जन्मा है और वहाँपर माता-पिताके रज-वीर्यके अनुसार उसका जैसा स्वभाव बना हुआ है, यह जीव उस स्वभावके परवश रहता है और उसके अनुसार ही यह कर्म करनेमें बाध्य होता है—**'कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्'** (१८। ६०)। यह स्वभावकी अवशता है।

स्वभाव बनता है वृत्तियोंसे, वृत्तियाँ बनती हैं गुणोंसे और गुण पैदा होते हैं प्रकृतिसे। अतः चाहे स्वभावके परवश कहो, चाहे गुणोंके परवश कहो और चाहे प्रकृतिके परवश कहो; एक ही बात है। वास्तवमें सबके मूलमें प्रकृतिजन्य पदार्थोंकी परवशता ही है। इसी परवशतासे सभी परवशताएँ पैदा होती हैं। अतः प्रकृतिजन्य पदार्थोंकी परवशताको ही कहीं कालकी, कहीं स्वभावकी, कहीं कर्मकी और कहीं गुणोंकी परवशता कह दिया है।

तात्पर्य यह है कि यह जीव जबतक प्रकृति और उसके गुणोंसे अतीत नहीं होता, परमात्माकी प्राप्ति नहीं कर लेता, भगवान्की शरण नहीं लेता, तबतक यह गुण, काल, भोग और स्वभावके अवश (परवश) ही रहता है अर्थात् यह जीव जबतक प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध मानता है, प्रकृतिमें स्थित रहता है, तबतक यह कभी गुणोंके, कभी कालके, कभी भोगोंके और कभी स्वभावके परवश होता रहता है, कभी स्ववश (स्वतन्त्र) नहीं रहता। इनके सिवाय यह परिस्थिति, व्यक्ति, स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदिके भी परवश होता रहता है; परंतु जब यह गुणोंसे अतीत अपने स्वरूपका अथवा परमात्मतत्त्वका अनुभव कर लेता है, तब फिर इसकी यह परवशता नहीं रहती और यह स्वतःसिद्ध स्वतन्त्रताको प्राप्त हो जाता है।

यहाँ यह शङ्का होती है कि ज्ञानी तो स्ववश होता है पर भक्त स्ववश नहीं होता, प्रत्युत भगवान्के परवश होता है। इसका समाधान यह है कि भगवान् 'पर' नहीं हैं, प्रत्युत 'स्व' हैं: स्वकीय हैं, आत्मीय हैं। अतः जो स्वकीय है, उसके परवश होना वास्तवमें स्ववश होना ही है। भक्तकी यह परवशता ज्ञानीकी स्ववशतासे भी श्रेष्ठ है। कारण कि ज्ञानीमें तो बहुत दूरतक सूक्ष्म अहंकार (व्यक्तित्व) रहनेकी सम्भावना रहती है, पर भक्तमें आरम्भसे ही अहंकार नहीं रहता। भगवान्पर ही निर्भर रहनेसे भक्तमें राग-द्वेष आदि नहीं होते। भगवान् स्वयं उसे ज्ञान देते हैं (१०। ११) और उसका उद्धार भी स्वयं कर देते हैं (१२। ७)।

गीतामें आये 'तत्त्वतः' पदका तात्पर्य

'तत्त्वतः' पदं गीतायां पञ्चकृत्वो हि चागतम्।
चतुरुदीरितं कृष्णे सकृत्प्रोक्तं तथाऽऽत्मनि॥

चौथे अध्यायके नवें श्लोकमें 'तत्त्वतः' पद भगवान्के अवतारको तत्त्वसे जाननेके अर्थमें आया है। इस पदकी व्याख्या चौथे अध्यायके ही छठे श्लोकमें की गयी है कि भगवान् अजन्मा रहते हुए ही जन्म लेते हैं अर्थात्

भगवान्‌का अजपना निरन्तर रहता है, मिटता नहीं। वे अव्यय (अविनाशी) स्वरूप रहते हुए ही अन्तर्धान हो जाते हैं अर्थात् उनका अव्ययपना निरन्तर रहता है। वे प्राणिमात्रके महान् ईश्वर (स्वामी) होते हुए भी माता-पिताकी आज्ञाका पालन करते हैं, उनके अधीन हो जाते हैं, ऐसा होनेपर भी उनका ईश्वरपना (आधिपत्य) मिटता नहीं। वे प्रकृतिको अपने वशमें करके अपनी योगमायासे प्रकट होते हैं। उनका जन्म लेना जीवोंकी तरह कर्मोंके अधीन नहीं होता।

छठे अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'तत्त्वतः' पद अपने स्वरूपको ठीक-ठीक जाननेके अर्थमें आया है। जिसे अपने स्वरूपका ठीक-ठीक बोध हो जाता है, वह फिर कभी भी अपनी स्थितिसे विचलित नहीं होता अर्थात् अनुकूल-से-अनुकूल और प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर भी वह अपनी स्थितिसे विचलित नहीं होता (६। २२)। कारण कि उसकी प्रकृतिकी, गुणोंकी परतन्त्रता मिट जाती है अर्थात् वह कभी किञ्चिन्मात्र भी प्रकृतिके, गुणोंके परवश नहीं होता।

सातवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें 'तत्त्वतः' पद भगवत्तत्त्वका ठीक-ठीक अनुभव करनेके अर्थमें आया है कि सब कुछ भगवान् ही हैं। भगवान्‌के सिवाय दूसरे किसीकी भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इस तरह जो तत्त्वसे भगवान्‌को जानता है, उसके लिये कुछ भी जानना शेष नहीं रहता।

दसवें अध्यायके सातवें श्लोकमें 'तत्त्वतः' पद भगवान्‌के प्रभाव, सामर्थ्य आदिको तथा उससे प्रकट होनेवाली विभूतियोंको जानने अर्थात् अटलभावसे माननेके अर्थमें आया है। इस तरह जो अटलभावसे मान लेता है; उसकी भगवान्‌में अटल भक्ति हो जाती है अर्थात् उसकी मान्यतामें भगवान्‌के सिवाय दूसरी कोई स्वतन्त्र सत्ता, महत्ता, विलक्षणता स्वप्नमें भी नहीं रहती।

अठारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकमें 'तत्त्वतः' पद दो बार आया है। पहली बार 'तत्त्वतः' पद परमात्माको तत्त्वसे जाननेके अर्थमें आया है कि वे ही परमात्मा अनेक रूपोंमें, अनेक आकृतियोंमें, अनेक कार्य करनेके लिये बार-बार प्रकट होते हैं और साधकोंकी अपनी-अपनी भावनाओंके अनुसार अनेक इष्टदेवोंके रूपमें कहे जाते हैं, पर वास्तवमें वे परमात्मा एक ही हैं। दूसरी बार 'तत्त्वतः' पद परमात्मप्राप्तिके लिये आया है अर्थात् परमात्माको तत्त्वसे जाननेके बाद भक्त तत्काल परमात्मामें प्रविष्ट हो जाता है, परमात्मासे अपनी वास्तविक अभिन्नताका अनुभव कर लेता है।

तात्पर्य यह है कि चौथे अध्यायके नवें श्लोकमें, सातवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें, दसवें अध्यायके सातवें श्लोकमें और अठारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकमें आया हुआ 'तत्त्वतः' पद भगवत्तत्त्वको ठीक-ठीक जाननेके अर्थमें आया है* और छठे अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें आया हुआ 'तत्त्वतः' पद अपने स्वरूपको ठीक-ठीक जाननेके अर्थमें आया है।

तत्त्वसे जाननेका अर्थ है—जैसा है, वैसा जान लेना। वह जानना दो तरहका होता है—(१) अपने शुद्ध-बुद्ध स्वरूपका साक्षात्कार कर लेना, ठीक-ठीक अनुभव कर लेना और (२) सबके मूलमें परमेश्वर है, उसी परमेश्वरसे सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न होती है—ऐसा दृढ़तासे मान लेना। ज्ञानयोगमें अपने स्वरूपका साक्षात्कार करना ही तत्त्वसे जानना है और भक्तियोगमें 'सबके मूलमें भगवान् ही हैं'—ऐसा दृढ़तासे मानना ही तत्त्वसे जानना है; क्योंकि यथार्थमें सबके मूलमें भगवान् ही हैं। दृढ़तासे मानना तत्त्वसे जाननेसे कम नहीं है अर्थात् तत्त्वसे जाननेका जो फल होता है, वही फल दृढ़तासे माननेका होता है। भक्तलोग पहले 'सबके मूलमें भगवान् ही हैं' ऐसा दृढ़तासे मान लेते हैं। फिर वे 'सब कुछ वासुदेव ही हैं' ऐसा तत्त्वसे

* नवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें तथा ग्यारहवें अध्यायके चौवनवें श्लोकमें आया 'तत्त्वेन' पद भी भगवत्तत्त्वको ठीक-ठीक जाननेके अर्थमें आया है।

जान लेते हैं अर्थात् उन्हें ऐसा अनुभव हो जाता है। सातवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें इसी माननेको 'ज्ञान' नामसे और अनुभव करनेको 'विज्ञान' नामसे कहा है।

'सब कुछ वासुदेव ही हैं'—ऐसा अनुभव होनेपर भक्तको अपने स्वरूपका अनुभव अपने-आप हो जाता है। इसी बातको भगवान्‌ने गीतामें **'यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते'** (७।२), **'स सर्ववित्'** (१५।१९) पदोंसे कहा है। रामचरितमानसमें भगवान् रामने भी कहा है—**'मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥'** (३।३५।५)।

गीतामें 'यत्' शब्दके दो बार प्रयोगका तात्पर्य

द्वियच्छब्दप्रयोगस्तु गीतायां यत्र यत्र वै।
यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्तात्पर्यमिह कथ्यते॥

(१) **'यद् यद् आचरति श्रेष्ठः'**···(३।२१)—सामान्य जनताके सामने श्रेष्ठ पुरुषोंके आचरणोंका ही असर पड़ता है। कारण कि कौन-सा व्यक्ति किस समय, किस भावसे, कौन-सी क्रिया कर रहा है—इस ओर जनताकी दृष्टि प्रायः जाती ही नहीं। इसीलिये भगवान्‌ने अपना उदाहरण दिया है कि 'त्रिलोकीमें मेरे लिये कोई कर्तव्य नहीं है, तो भी मैं कर्तव्य-कर्म करता हूँ' (३।२२)। ज्ञानीको भी भगवान्‌ने लोकसंग्रहके लिये कर्तव्य-कर्म करनेकी आज्ञा दी है (३।२५)। अतः श्रेष्ठ पुरुष क्रियारूपसे जो-जो आचरण करते हैं, उन्हींका सामान्य जनतापर असर पड़ता है। दो नम्बरमें उनके वचनोंका असर पड़ता है। वह असर भी उन्हीं वचनोंका पड़ता है, जिन वचनोंके अनुसार वे आचरण भी करते हैं। जिन वचनोंके अनुसार उनका आचरण नहीं होता, उन वचनोंका इतना असर नहीं पड़ता; क्योंकि उन वचनोंमें शक्ति नहीं होती; परंतु साधक गुरु, संत-महात्माके वचनोंकी तरह केवल उनके वचनोंसे भी लाभ ले सकता है।

(२) **'यदा यदा हि धर्मस्य'**·······(४।७)—भगवान् किसी एक युगमें एक या दो बार अवतार लेते होंगे अथवा किसी युगमें अवतार नहीं भी लेते होंगे—यह कोई नियम नहीं है। भगवान्‌के अवतार लेनेमें युग, वर्ष, महीना, दिन आदि कोई कारण नहीं है। जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मका अभ्युत्थान होता है, तब-तब भगवान् प्रकट होते हैं अर्थात् जिस युगमें लोगोंका जैसा बर्ताव होना चाहिये, वैसा न होकर उससे अधिक गिर जाता है और अधर्म अधिक बढ़ जाता है, तब भगवान् अवतार लेते हैं। धर्मकी हानि और अधर्मका बढ़ना—इसका माप-तौल मनुष्य नहीं कर सकता कि अब तो धर्मका बहुत ह्रास हो गया, अब अधर्म बहुत बढ़ गया, तो अब भगवान्‌का अवतार होना ही चाहिये। इस विषयको पूरा तो भगवान् ही जानते हैं।

(३) **'यतो यतो निश्चरति'**····(६।२६)—यहाँ **'यतः यतः'** पदोंमें केवल 'जहाँ-जहाँसे'—यह पञ्चमीका अर्थ ही नहीं है, प्रत्युत यह अर्थ है कि मन जब-जब, जहाँ-जहाँ, जिस-जिस प्रयोजनके लिये और जैसे-जैसे चला जाय, तब-तब मनको वहाँसे हटाकर परमात्मामें लगाना चाहिये। यहाँ यह बात साधककी विशेष सावधानी, सजगताके लिये कही गयी है; क्योंकि साधककी सावधानी ही सिद्धिमें कारण है।

(४) **'यो यो यां यां तनुं भक्तः'**········(७।२१)—यहाँ **'यः यः'** पदोंसे उपासककी और **'यां यां'** पदोंसे उपास्यकी बात बतायी गयी है कि जो-जो उपासक जिस-जिस उपास्यका श्रद्धापूर्वक पूजन करना चाहता है, उस-उस साधककी श्रद्धाको भगवान् उस-उस उपास्यके प्रति दृढ़ करते हैं। ऐसा कहनेमें भगवान्‌का यह तात्पर्य मालूम देता है कि मैं सभी उपासकोंको केवल अपनी ओर ही नहीं खींचता हूँ,

अपना पक्ष ही नहीं रखता हूँ, प्रत्युत मैं यह देखता हूँ कि उपासककी रुचि, श्रद्धा किस उपास्यमें है। अन्तर्यामी और सर्वसमर्थ होते हुए भी मैं उस उपासकको वहाँसे विचलित न करके, उसकी श्रद्धाको वहाँसे न हटाकर उसी उपास्यमें उसकी श्रद्धाको दृढ़ कर देता हूँ। भगवान्‌की इस अत्यन्त कृपालुताको समझकर उपासकका आकर्षण, खिंचाव, श्रद्धा, प्रेम केवल भगवान्‌में ही होना चाहिये; क्योंकि जीवका कल्याण, हित वास्तवमें भगवान्‌की ओर चलनेमें ही है। उसे विचार करना चाहिये कि जब भगवान् कृपावश होकर मेरी ही रुचि रखते हैं, तब फिर मुझे भी भगवान्‌की ही रुचि रखनी चाहिये, क्योंकि भगवान्‌के समान दयालु, हितैषी और कौन होगा तथा कौन हो सकता है? तात्पर्य यह है कि भगवान्‌के इस निष्पक्ष व्यवहारसे उनकी निर्लिप्तता, कृपालुता और प्राणिमात्रकी हितैषिताका ही ज्ञान होता है।

(५) **'यं यं वापि स्मरन्भावं……'** (८।६)—भगवान्‌ने जीवको सम्पूर्ण जन्मोंका अन्त करनेवाला यह अन्तिम मनुष्य-शरीर देकर यह स्वतन्त्रता दी है कि वह जीवनभर साधन करके, मेरी शरण होकर आगे होनेवाले सम्पूर्ण जन्मोंका अन्त कर ले, सम्पूर्ण बन्धनोंसे मुक्त हो जाय। यदि यह चेत जीवनभर नहीं भी हुआ, तो भी कोई बात नहीं, वह अन्तकालमें भी मेरा स्मरण कर ले, तो मुझे प्राप्त हो जायगा! कारण कि जीव अन्तकालमें जिस-जिस भावका स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है, वह उस स्मरणके अनुसार उस-उस भाव अर्थात् योनि आदिको ही प्राप्त होता है। यह भगवान्‌की दयालुता ही है कि जिस अन्तकालीन चिन्तनसे अन्य योनि आदिकी प्राप्ति हो जाय, उसी अन्तकालीन चिन्तनसे (भगवान्‌का चिन्तन करनेसे) भगवान्‌की प्राप्ति हो जाय!

(६) **'यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं……'** (१० । ४१)—सब साधकोंके भाव, रुचि, श्रद्धा, स्वभाव आदि भिन्न-भिन्न होते हैं; अतः किसीको किसीमें महत्ता दीखती है तो किसीको किसीमें महत्ता दीखती है। इसलिये भगवान्‌ने विभूतिके रूपमें अपने चिन्तनमें साधकोंको स्वतन्त्रता दी है कि साधकको जिस-किसीमें, जहाँ-जहाँ, जब-जब कोई महत्ता दीखती है, विशेषता दीखती है, उस महत्ता, विशेषताको उसकी न समझकर मेरी ही समझे। तात्पर्य यह है कि साधककी दृष्टि मेरी ओर ही जानी चाहिये, वस्तु, व्यक्ति आदिकी ओर नहीं।

गीतामें आये 'कृत्वा', 'ज्ञात्वा' और 'मत्वा' पदोंका तात्पर्य

त्रिषु योगेषु गीतायां मुख्यत्वेन पदत्रयम्।
ज्ञाने ज्ञात्वा व्रजेद् भक्तौ मत्वा कृत्वा च कर्मणि*॥

गीतामें **'कृत्वा'** (करना), **'ज्ञात्वा'** (जानना) और **'मत्वा'** (मानना)—ये तीनों पद मुख्यतासे आये हैं। कर्मयोगमें निष्कामभावसे कर्म करना मुख्य है। अतः गीतामें जहाँ-जहाँ कर्मयोगका प्रकरण आया है, वहाँ मुख्यरूपसे कर्तव्य-कर्म करनेकी बात आयी है, जैसे—'कर्म करते हुए भी नहीं बँधता' (४ । २२) आदि। इसी तरह **'कुरु'**, **'करोति'**, **'कुर्वन्'** आदि पद भी **'करनेके'** अर्थमें आये हैं।

यद्यपि कर्मयोगमें 'करना' मुख्य है, तथापि उसमें **'ज्ञात्वा'** अर्थात् जाननेकी बात भी आती है। कारण कि केवल कर्म करनेसे शरीर-संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता। सम्बन्ध-विच्छेद तभी होता है, जब कर्म करनेके साथ-साथ निष्कामभाव और कर्मोंके तत्त्वको जानना भी हो। अतः गीतामें कर्मोंको तत्त्वसे जाननेकी बात आती है; जैसे—'इस तरह कर्मोंके तत्त्वको जानकर मुमुक्षुओंने कर्म किये हैं' (४ । १५); 'जिसे जानकर

* 'कर्मणि' इति कर्मयोगे।

तुम अशुभ संसारसे मुक्त हो जाओगे' (४ । १६); 'इस तरह सम्पूर्ण यज्ञोंको कर्मजन्य जानकर तुम अशुभ संसारसे मुक्त हो जाओगे' (४ । ३२) ।

ज्ञानयोगमें अपने स्वरूपको जानना मुख्य है । अतः गीतामें जहाँ-जहाँ ज्ञानयोगका प्रकरण आया है, वहाँ मुख्य-रूपसे जाननेकी बात आयी है; जैसे—'जिसे जानकर फिर मोह नहीं होता' (४ । ३५) आदि । ज्ञानयोगके प्रकरणमें जहाँ **'मत्वा'** अर्थात् माननेकी बात आयी है, वह भी वास्तवमें 'जानने' के अर्थमें ही आयी है; जैसे—'गुण और कर्मके विभागको जाननेवाला मनुष्य गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, ऐसा मानकर आसक्त नहीं होता' (३ । २७) । इसी तरह **'वेत्ति'**, **'पश्यति'** आदि पद भी 'जानने' के अर्थमें आये हैं ।

भक्तियोगमें भगवान्‌को मानना मुख्य है । अतः गीतामें जहाँ-जहाँ भक्तियोगका प्रकरण आया है, वहाँ मुख्यरूपसे माननेकी बात आयी है; जैसे—सबके आदिमें भगवान् हैं (९ । १३), तो मेरे आदिमें भी भगवान् हैं; सबमें भगवान् हैं (६ । ३०; १० । २०; १५ । १५), तो मुझमें भी भगवान् हैं; सब भगवान्‌में हैं (७ । ७; ८ । २२), तो मैं भी भगवान्‌में हूँ; सबके स्वामी भगवान् हैं (४ । ६; ५ । २९; ९ । ११, २४), तो मेरे स्वामी भी भगवान् हैं; सब कुछ भगवान्‌से ही होता है (७ । १२; १० । ५, ८), तो मेरे द्वारा भी जो कुछ होता है, वह भगवान्‌की सत्ता-स्फूर्तिसे ही होता है; सबके विधायक भगवान् हैं (७ । २२; १८ । ६१), तो मेरे विधायक भी भगवान् हैं; भगवान् प्राणिमात्रके सुहृद् हैं (५ । २९), तो मेरे भी सुहृद् भगवान् हैं; भगवान् भक्तोंका योगक्षेम वहन करते हैं (९ । २२), तो मेरा योगक्षेम भी भगवान् करेंगे ही; आदि-आदि । इन सब पदोंमें 'मानने' की ही मुख्यता है ।

भक्तियोगके प्रकरणमें जहाँ **'ज्ञात्वा'** अर्थात् जाननेकी बात आयी है, वह भी वास्तवमें 'मानने' के अर्थमें ही आयी है; जैसे—'भक्त मुझे सब यज्ञों और तपोंका भोक्ता, सम्पूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर तथा सम्पूर्ण प्राणियोंका सुहृद् जानकर शान्तिको प्राप्त हो जाता है' (५ । २९); 'महात्मालोग मुझे सम्पूर्ण प्राणियोंका आदि और अविनाशी जानकर मेरा भजन करते हैं (९ । १३) । इसी तरह **'वेत्ति'**, **'जानाति'** आदि पद भी 'मानने' के अर्थमें आये हैं (१० । ७; १५ । १९ आदि) ।

भक्तोंकी यह जो दृढ़तापूर्वक मान्यता है, यह तत्त्व-ज्ञानसे कम नहीं है, प्रत्युत कुछ अंशमें तत्त्वज्ञानसे भी श्रेष्ठ है । कारण कि तत्त्वज्ञान होनेपर भी साधकमें सूक्ष्म अहंभाव रह सकता है, पर दृढ़ मान्यतामें अहंभाव रह ही नहीं सकता । भक्तोंकी इसी दृढ़ मान्यताको 'भगवन्निष्ठा' कहते हैं । जैसे भगवान् गुणोंसे परे हैं (७ । १३), ऐसे ही यह भगवन्निष्ठा भी गुणातीत है । जैसे ज्ञानीको सब जगह परमात्मतत्त्वका अनुभव होता है, ऐसे ही भक्तोंकी 'सब जगह भगवान् ही हैं' —यह मान्यता केवल मान्यता ही नहीं रहती, प्रत्युत ऐसा प्रत्यक्ष दीखने लग जाता है ।

ज्ञानमार्गमें 'जानने' की मुख्यता होनेसे ज्ञानयोगी साधक जड़तासे अलग होता है; अतः उसका शरीर चिन्मय नहीं होता, परंतु भक्तमें भगवान्‌की मान्यता, भगवद्भाव इतना उतर आता है कि उसके शरीरमें जड़ताका अभाव हो सकता है और शरीर चिन्मय हो सकता है । शरीर चिन्मय होनेके कारण ही भक्त प्रह्लादके शरीरको अग्नि जला नहीं सकी, शस्त्र काट नहीं सके, जहर मार नहीं सका; मीराबाईका शरीर भगवान्‌के विग्रहमें समा गया; तुकाराम सदेह वैकुण्ठ चले गये ।

गीताका सार

अष्टादशाद् ये विषयास्तु पूर्वमुक्ताश्च कृष्णेन किरीटिने वै ।
अष्टादशे ते च विधान्तरेण व्यासेन सर्वे हि समासतश्च ॥

गीताका अठारहवाँ अध्याय ही पूरी गीताका सार है । इसमें भगवान्‌द्वारा पहले कहे हुए विषयोंका उप-संहार किया गया है, जिसमें तीन बातें विशेषतासे ज्ञात होती हैं—(१) पहले अध्यायोंमें जो विषय संक्षेपसे कहा

गया है, उसका यहाँ विस्तारसे उपसंहार किया गया है; (२) पहले अध्यायोंमें जो विषय विस्तारसे कहा गया है, उसका यहाँ संक्षेपसे उपसंहार किया गया है; और (३) पहले अध्यायोंमें कहे हुए विषयोंको ही यहाँ प्रकारान्तरसे अर्थात् कुछ दूसरे ही प्रकारसे कहा गया है।

भगवान्के उपदेशमें मुख्यतासे दो निष्ठाओंका ही वर्णन हुआ है, जिनका भगवान्ने **'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु'** (२ । ३९) पदोंमें संकेतरूपसे और **'लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा······ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्'** (३ । ३) पदोंमें स्पष्टरूपसे वर्णन किया है। उन्हीं दो निष्ठाओंको तत्त्वसे जाननेके लिये अर्जुनने अठारहवें अध्यायके आरम्भमें प्रश्न किया। अतः उन्हीं दो निष्ठाओंमें आये हुए विषयोंका इस अठारहवें अध्यायमें संक्षेपसे, विस्तारसे अथवा प्रकारान्तरसे उपसंहार किया गया है।

जिस भगवद्भक्तिका सातवेंसे बारहवें अध्यायतक विशेषतासे वर्णन हुआ है, वह भगवान्के अपने हृदयकी बात है और दोनों निष्ठाओंसे विलक्षण है। वह सांख्यनिष्ठा या योगनिष्ठा नहीं है, प्रत्युत भगवन्निष्ठा है, जिसमें केवल भगवत्परायणता है। इसी भगवन्निष्ठाके वर्णनमें भगवान्ने अपने उपदेशका उपसंहार किया है।

दूसरे अध्यायके उन्तालीसवें श्लोकसे लेकर अध्यायकी समाप्तितक कर्मयोगका वर्णन हुआ है। फिर तीसरे अध्यायमें भी प्रधानतासे उसीका वर्णन हुआ है। दूसरे अध्यायके इकसठवें श्लोकमें **'मत्परः'** पद भगवान्की परायणताके लिये आया है, उसीको तीसरे अध्यायके तीसवें श्लोकमें थोड़ा विस्तारसे कह दिया गया है। इस प्रकार कर्मयोगमें उपासनाका भी थोड़ा साथ हुआ है। चौथे अध्यायमें भगवान्ने कर्मयोगकी परम्परा बताते हुए अपने जन्मों और कर्मोंका तत्त्व बताया और अपने कर्मोंको आदर्श बताते हुए कर्मयोगका वर्णन किया। फिर पाँचवें अध्यायमें उसी कर्मयोग और सांख्ययोगकी बारी-बारीसे (एक बार कर्मयोगकी और एक बार सांख्ययोगकी) चर्चा की और अन्तमें भक्तिका विवेचन करते हुए अध्यायकी समाप्ति की। इस प्रकार दूसरे अध्यायसे पाँचवें अध्यायकी समाप्तितक कर्मयोगका वर्णन हुआ है, उसीको अठारहवें अध्यायके चौथेसे बारहवें श्लोकतक प्रकारान्तरसे कहा गया है।

पाँचवें अध्यायके तेरहवेंसे छब्बीसवें श्लोकतक और तेरहवें अध्यायके उन्नीसवेंसे चौंतीसवें श्लोकतक विचार-प्रधान सांख्ययोगका वर्णन हुआ है, उसीका अठारहवें अध्यायके तेरहवेंसे अठारहवें श्लोकतक प्रकारान्तरसे वर्णन किया गया है।

तीसरे अध्यायके आठवें श्लोकमें जिस नियत कर्मकी बात आयी थी, उसीका अठारहवें अध्यायके बयालीसवेंसे अड़तालीसवें श्लोकतक विस्तारसे वर्णन किया गया है।

सातवें अध्यायसे लेकर बारहवें अध्यायतक भक्तियोगका जो विस्तारसे वर्णन हुआ है, उसीका अठारहवें अध्यायके छप्पनवेंसे छाछठवें श्लोकतक पहलेकी अपेक्षा कुछ संक्षेपसे और कुछ प्रकारान्तरसे वर्णन हुआ है।

चौथे अध्यायके तेरहवें श्लोकमें चारों वर्णोंका जो विषय संक्षेपसे कहा गया था, उसीको अठारहवें अध्यायके इकतालीसवेंसे चौवालीसवें श्लोकतक विस्तारसे कहा गया है। यहाँ (१८ । ४१—४४में) सत्रहवें अध्यायके दूसरे-तीसरे श्लोकोंमें आयी स्वभावजा श्रद्धाका भी उपसंहार माना जा सकता है।

भगवान्ने गीतामें सांख्ययोगका वर्णन करते हुए कहीं कहा कि प्रकृति और उसके गुणोंद्वारा ही सब कर्म किये जाते हैं (३ । २७; १३ । २९), कहीं कहा कि द्रष्टा गुणोंके सिवाय अन्यको कर्ता नहीं देखता (१४ । १९); और कहीं कहा कि इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंमें बरतती हैं (५ । ९) आदि। उसीका अठारहवें अध्यायके तेरहवेंसे अठारहवें श्लोकतक संक्षेपसे और प्रकारान्तरसे वर्णन हुआ है।

चौदहवें अध्यायके पाँचवेंसे अठारहवें श्लोकतक जो गुणोंका वर्णन हुआ है, उसीको अठारहवें अध्यायके बीसवेंसे चालीसवें श्लोकतक विस्तारसे और प्रकारान्तरसे कहा गया है।

छठे और आठवें अध्यायोंमें जो ध्यानका विस्तारसे वर्णन हुआ है, उसीका अठारहवें अध्यायके इक्यावनवेंसे तिरपनवें श्लोकतक प्रकारान्तरसे और संक्षेपसे वर्णन हुआ है। यहाँ (१८। ५१-५३ में) तेरहवें अध्यायके सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक वर्णित ज्ञानयोगके बीस साधनोंका भी उपसंहार माना जा सकता है।

सातवें अध्यायके आठवेंसे बारहवें श्लोकतक, नवें अध्यायके सोलहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक, दसवें अध्यायके बीसवेंसे अड़तीसवें श्लोकतक और पंद्रहवें अध्यायके बारहवेंसे पंद्रहवें श्लोकतक जिन विभूतियोंका भगवान्‌ने वर्णन किया, उन्हींका अठारहवें अध्यायके अठहत्तरवें श्लोकमें संजयने संक्षेपसे उपसंहार किया है।

ग्यारहवें अध्यायमें भगवान्‌के विश्वरूपका जो वर्णन हुआ, उसीका अठारहवें अध्यायके सतहत्तरवें श्लोकमें संजयने स्मृतिरूपसे वर्णन करते हुए संक्षेपसे उपसंहार किया है।

तीसरे अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें, चौथे अध्यायके उन्तालीसवें श्लोकमें और सत्रहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें जिस श्रद्धाका वर्णन हुआ है, उसीका अठारहवें अध्यायके इकहत्तरवें श्लोकमें भगवान् संक्षेपसे वर्णन करते हैं।

दूसरे अध्यायके इकतीसवेंसे अड़तीसवें श्लोकतक जिस क्षात्रधर्मका वर्णन हुआ है, उसीका अठारहवें अध्यायके तैंतालीसवें श्लोकमें संक्षेपसे वर्णन हुआ है।

तीसरे अध्यायके तैंतीसवें श्लोकमें जिस स्वभावकी परवशता बतायी गयी है, उसीका अठारहवें अध्यायके उनसठवें-साठवें श्लोकोंमें उपसंहार किया गया है।

पहले अध्यायके इकतीसवेंसे छियालीसवें श्लोकतक जिस मोहकी बात आयी है, उसीका अठारहवें अध्यायके सातवें, साठवें, बहत्तरवें और तिहत्तरवें श्लोकोंमें संक्षेपसे उपसंहार हुआ है।

दूसरे अध्यायके पचपनवेंसे बहत्तरवें श्लोकतक स्थितप्रज्ञके जिन लक्षणोंका वर्णन हुआ है, उन्हींका अठारहवें अध्यायके दसवें-ग्यारहवें श्लोकोंमें संक्षेपसे उपसंहार हुआ है।

आठवें अध्यायमें अन्तकालके स्मरणकी जो बात आयी है, उसीका अठारहवें अध्यायके सत्तावनवें, अट्ठावनवें और पैंसठवें श्लोकोंमें संक्षेपमे उपसंहार किया गया है।

सोलहवें अध्यायके पहलेसे तीसरे श्लोकतक जिस दैवी सम्पत्तिके लक्षणोंका विस्तारसे वर्णन हुआ है, उन्हीं लक्षणोंका अठारहवें अध्यायके बयालीसवेंसे चौवालीसवें श्लोकतक वर्णधर्मके नामसे वर्णन हुआ है।

सोलहवें अध्यायके सातवेंसे बीसवें श्लोकतक जिस आसुरी सम्पत्तिका विस्तारसे वर्णन हुआ है, उसीका अठारहवें अध्यायके सड़सठवें श्लोकमें गीताश्रवणके अनधिकारीका वर्णन करते हुए संक्षेपसे वर्णन हुआ है।

चौथे अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें जिस स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञकी बात आयी है, उसीका अठारहवें अध्यायके सत्तरवें श्लोकमें 'ज्ञानयज्ञेन' पदसे उपसंहार हुआ है।

दूसरे अध्यायके ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक जिस शोकका निषेध किया है, उसीका अठारहवें अध्यायके छाछठवें श्लोकमें 'मा शुचः' पदसे उपसंहार हुआ है।

इस प्रकार अठारहवाँ अध्याय गीताका सार है। इस अध्यायका ठीक मनन करनेसे गीताका सार समझमें आ जाता है।

सब ग्रन्थोंका सार है वेद, वेदोंका सार है उपनिषद्, उपनिषदोंका सार है भगवद्गीता और भगवद्गीताका सार है सर्वगुह्यतम तत्त्व अर्थात् सगुण भगवान्‌की शरणागति, जिसका वर्णन अठारहवें अध्यायके छाछठवें श्लोकमें हुआ है।

उत्तरार्ध

भगवान व्रजेन्द्रनन्दन

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

गीताका अनुबन्ध-चतुष्टय

विषयश्चाधिकारी च ग्रन्थस्य च प्रयोजनम्।
सम्बन्धश्च चतुर्थोऽस्तीत्यनुबन्धचतुष्टयम् ॥

प्रत्येक ग्रन्थमें चार बातें होती हैं—ग्रन्थका विषय, उसका प्रयोजन, उसका अधिकारी और प्रतिपाद्य-प्रतिपादकका सम्बन्ध। इन चारोंको 'अनुबन्ध-चतुष्टय' नामसे कहा जाता है। गीताका अनुबन्ध-चतुष्टय इस प्रकार है—

(१) **विषय**—जिनसे जीवका कल्याण हो, वे कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग आदि सब विषय (साधन) गीतामें आये हैं।

(२) **प्रयोजन**—जिसे प्राप्त होनेपर करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता, उसकी प्राप्ति कराना अर्थात् जीवका उद्धार करना गीताका प्रयोजन है।

(३) **अधिकारी**—जो अपना कल्याण चाहते हैं, वे सब-के-सब गीताके अधिकारी हैं। मनुष्य चाहे किसी देशमें रहनेवाला हो, किसी वेशको धारण करनेवाला हो, किसी सम्प्रदायको माननेवाला हो, किसी वर्ण-आश्रमका हो, किसी अवस्थावाला हो और किसी परिस्थितिमें स्थित हो, वह गीताका अधिकारी है।

(४) **सम्बन्ध**—गीताके विषय और गीतामें परस्पर प्रतिपाद्य-प्रतिपादकका सम्बन्ध है अर्थात् गीताका विषय 'प्रतिपाद्य' है और गीताग्रन्थ स्वयं 'प्रतिपादक' है। जिसे समझाया जाता है, वह विषय 'प्रतिपाद्य' कहलाता है और जो समझानेवाला होता है, वह 'प्रतिपादक' कहलाता है। जीवका कल्याण कैसे हो—यह गीताका प्रतिपाद्य विषय है और कल्याणकी युक्तियाँ बतानेवाली होनेसे गीता स्वयं प्रतिपादक है।

गीताका षड्लिङ्ग

उपक्रमोपसंहारमभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥

किसी ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषयका निर्णय करनेके लिये उपक्रम-उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति—ये छः लिङ्ग होते हैं। अर्थात् ग्रन्थका उपक्रम और उपसंहार किसमें हुआ है, ग्रन्थमें बार-बार कौन-सी बात कही गयी है, ग्रन्थमें कौन-सी अलौकिकता है, फलरूपमें क्या बताया गया है, किसकी प्रशंसा की गयी है और कौन-सी युक्तियाँ दी गयी हैं—ये छः बातें होती हैं। इन छहों लिङ्गोंसे गीताके प्रतिपाद्य विषयका भी निर्णय हो जाता है।

(१) **उपक्रम-उपसंहार**—गीताका उपक्रम और उपसंहार शरणागतिमें हुआ है। आरम्भमें **'शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'** (२। ७) 'आपकी शरण हुए मुझे शिक्षा दीजिये' कहकर अर्जुन भगवान्‌की शरण हो जाते हैं और उपसंहारमें **'मामेकं शरणं व्रज'** (१८। ६६) 'केवल मेरी शरणमें आ जाओ' कहकर भगवान् अपनी शरणमें आनेकी आज्ञा देते हैं।

(२) **अभ्यास**—गीतामें शरणागतिकी बात ही बार-बार कही गयी है; जैसे—**'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः'** (२। ६१) 'उन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके मेरे परायण होकर बैठे'; **'मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः'** (६। १४) 'मनका संयम करके मुझमें चित्त लगाता हुआ मेरे परायण होकर बैठे'; **'मय्यासक्तमनाः'** (७। १) 'मुझमें आसक्त मनवाला'; **'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः'** (८। १४) 'अनन्यचित्तवाला जो मनुष्य मेरा नित्य-निरन्तर स्मरण

करता है'; **'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते'** (९ । २२) 'जो अनन्य भक्त मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं'; **'मन्मना भव मद्भक्तः'** (९ । ३४) 'तुम मेरा भक्त और मुझमें मनवाला हो जाओ'; **मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः'** (११ । ५५) 'जो मेरे लिये ही कर्म करनेवाला, मेरे ही परायण और मेरा ही भक्त है'; **'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय'** (१२ । ८) 'तुम मुझमें मनको लगाओ और मुझमें ही बुद्धिको लगाओ'; **'मत्कर्मपरमो भव'** (१२ । १०) 'मेरे लिये कर्म करनेके परायण हो जाओ'; **'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते'** (१४ । २६) 'जो मनुष्य अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मेरा सेवन करता है' आदि-आदि ।

(३) अपूर्वता—शरणागतिके विषयमें भगवान्ने अर्जुनके सामने अपने हृदयकी गोपनीय अलौकिक बातें बतायी हैं । शरणागत होनेपर भक्तको अपने उद्धारके लिये कुछ भी करना नहीं पड़ता; सब जिम्मेवारी भगवान्पर ही आ जाती है । भगवान् स्वयं भक्तोंके योगक्षेमका वहन करते हैं—**'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** (९ । २२) । भगवान् कहते हैं कि मैं अपनी ओरसे ही भक्तोंको समता देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते हैं—**'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते'** (१० । १०); मैं स्वयं भक्तोंके अज्ञानजन्य अन्धकारका नाश कर देता हूँ—**'नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता'** (१० । ११); शरणागत भक्तोंके लिये मैं सुलभ हूँ—**'तस्याहं सुलभः'** (८ । १४); मैं स्वयं भक्तोंका मृत्यु-संसार-सागरसे उद्धार करनेवाला बन जाता हूँ—**'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्'** (१२ । ७); आदि-आदि ।

(४) फल—शरणागतिका फल भगवान्ने अपनी प्राप्ति बतायी है; जैसे मुझे यज्ञों और तपोंका भोक्ता और सम्पूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर मानकर भक्त परम-शान्तिको प्राप्त हो जाता है—**'शान्तिमृच्छति'** (५ । २९); मेरे लिये ही कर्म करनेवाला भक्त मुझे प्राप्त हो जाता है—**'स मामेति'** (११ । ५५); मेरे लिये कर्म करते हुए तुम सिद्धिको अर्थात् मुझे प्राप्त हो जाओगे—**'सिद्धिमवाप्स्यसि'** (१२ । १०); सम्पूर्ण बन्धनोंसे मुक्त होकर तुम मुझे प्राप्त हो जाओगे—**'विमुक्तो मामुपैष्यसि'** (९ । २८); पापयोनि आदि भी मेरा आश्रय लेकर परमगतिको अर्थात् मुझे प्राप्त हो जाते हैं—**'तेऽपि यान्ति परां गतिम्'** (९ । ३२); मेरी कृपासे भक्त शाश्वत अविनाशी पदको प्राप्त हो जाता है—**'मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्'** (१८ । ५६); तुम केवल मेरी शरण हो जाओ, मैं तुम्हें सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा—**'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि'** (१८।६६); आदि-आदि ।

(५) अर्थवाद—गीतामें भगवान्ने अपने शरणागत भक्तोंकी प्रशंसा की है; जैसे—सम्पूर्ण योगियोंमें मेरा भक्त सर्वश्रेष्ठ है—**'स मे युक्ततमो मतः'** (६ । ४७); श्रद्धावान् भक्त मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ योगी हैं—**'ते मे युक्ततमा मताः'** (१२ । २); मुझमें श्रद्धा रखनेवाले और मेरे परायण हुए भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं—**'तेऽतीव मे प्रियाः'** (१२ । २०); जो मुझे पुरुषोत्तम जान लेता है, वह सर्ववित् हो जाता है—**'स सर्ववित्'** (१५ । १९); आदि-आदि ।

(६) उपपत्ति—शरणागत भक्त होनेके विषयमें भगवान्ने गीतामें बहुत-सी युक्तियाँ दी हैं; जैसे—मुझमें चित्तवाले तुम मेरी कृपासे सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंको तर जाओगे और यदि तुम अहंकारके कारण मेरी बात नहीं सुनोगे तो तुम्हारा पतन हो जायगा—**'न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि'** (१८ । ५८); ब्रह्मलोकतक जानेवालोंको फिर लौटकर आना ही पड़ता है, पर मुझे प्राप्त होनेवाला भक्त फिर लौटकर नहीं आता—**'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते'** (८।१६); देवताओंके भक्त देवताओंको प्राप्त होते हैं, पर मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं—**'देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि'** (७ । २३); आदि-आदि ।

उपर्युक्त छः बातोंका तात्पर्य है कि भगवान्की शरण होनेपर लौकिक-पारलौकिक सब तरहका लाभ है और शरण न होनेपर लौकिक-पारलौकिक सब तरहकी हानि है ।

गीतामें काव्यगत विशेषताएँ

सृष्टौ यावन्ति काव्यानि गीता सर्वोत्तमा ततः।
काव्येभ्य ऐहिको लाभो गीता लाभमयी सदा॥

(क)

गीता एक दार्शनिक ग्रन्थ है, काव्य-ग्रन्थ नहीं। यह ग्रन्थ केवल जीवके कल्याणके लिये ही है; अतः इसमें काव्यकी वातोंकी आवश्यकता ही नहीं है। फिर भी इस ग्रन्थमें स्वाभाविक ही काव्यगत विशेषताएँ आ गयी हैं। काव्यगत विशेषताएँ छः हैं—'**काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मितयोपदेशयुजे**' अर्थात् काव्य-रचनाका प्रयोजन यश-प्राप्तिके लिये, धन-प्राप्तिके लिये, व्यावहारिक ज्ञानके लिये, अनिष्ट-निवृत्तिके लिये, शीघ्र परमशान्तिकी प्राप्तिके लिये और स्नेहपूर्वक उपदेश देनेके लिये होता है।

काव्यकी रचना तथा पठन-पाठन तो केवल सांसारिक यशकी प्राप्तिके लिये होता है, पर गीताके अनुसार चलनेसे सांसारिक यश भी होता है—'पण्डितलोग भी उसे पण्डित कहते हैं'—'**तमाहुः पण्डितं बुधाः**' (४ । १९) और भगवान्‌के दरबारमें भी उसका आदर होता है—'ज्ञानी (प्रेमी) तो मेरा स्वरूप ही है'—'**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**' (७ । १८); 'मेरा भक्त मुझे प्रिय है'—'**यो मद्भक्तः स मे प्रियः**' (१२ । १४, १६), '**स च मे प्रियः**' (१२ । १५), '**भक्तिमान्यः स मे प्रियः**' (१२ । १७), '**भक्तिमान्मे प्रियो नरः**' (१२ । १९); 'वह सब कुछ जान जाता है'—'**स सर्ववित्**' (१५ । १९)। वह योगी हो जाता है, गुणोंसे अतीत हो जाता है, भगवद्भक्त हो जाता है। उसका उद्धार तो हो ही जाता है, उसकी वातोंको माननेसे दूसरोंका भी उद्धार हो जाता है—'**तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः**' (१३ । २५)। इस तरह वह सबसे श्रेष्ठ, पवित्र हो जाता है।

काव्यकी रचना जिस सांसारिक धनकी प्राप्तिके लिये की जाती है, वह धन केवल जीवन-निर्वाहके लिये सहायक होता है। उस धनसे तृष्णा, कामना नहीं मिटती। कितना ही धन क्यों न मिल जाय, फिर भी अपूर्ति (कमी) ही रहती है, पूर्ति कभी होती ही नहीं; परंतु गीताके उपदेशको जीवनमें उतारनेसे संतोष-रूपी महान् धनकी प्राप्ति हो जाती है—'**यदृच्छा-लाभसंतुष्टः**' (४ । २२), '**संतुष्टः सततं योगी**' (१२ । १४), '**संतुष्टो येन केनचित्**' (१२ । १९)। फिर धनकी आशा, तृष्णा, कामना आदि दोष सदाके लिये मिट जाते हैं—'**विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः**' (२ । ७१)। सदाके लिये अभाव मिट जाता है और पूर्ति हो जाती है।

काव्य सांसारिक व्यवहार जाननेके लिये उपयोगी होता है। सांसारिक व्यवहारमें स्वार्थ, पक्षपात, काम, क्रोध, मोह, ईर्ष्या आदि दोष रहते हैं, जो वास्तविक उन्नतिमें बाधक होते हैं; परंतु गीताके अनुसार जीवन बनानेसे स्वार्थ, पक्षपात, काम, क्रोध आदि दोष मिटकर जीवन सर्वथा निर्मल हो जाता है। फिर उसके द्वारा जो कुछ भी व्यवहार होता है, वह सर्वथा निर्दोष होता है। उसमें समता आ जानेसे वह सबमें एक समरूप परमात्माको ही देखता है—'**पण्डिताः समदर्शिनः**' (५ । १८), पर उसका व्यवहार सबके साथ यथायोग्य ही होता है। उसके व्यवहारसे प्राणिमात्रका हित होता है—'**सर्वभूतहिते रताः**' (५ । २५; १२ । ४)। तात्पर्य यह है कि काव्यसे जीवनमें इतनी निर्मलता नहीं आती, जितनी निर्मलता गीताके अनुसार चलनेसे आती है।

काव्य दुःखोंके नाशके लिये और सुख-प्राप्तिके लिये बनाया जाता है; परंतु काव्यकी रचना करनेसे, उसे पढ़ने-पढ़ानेसे सब दुःखोंका नाश नहीं होता और सदा रहनेवाला सुख भी नहीं मिलता। हाँ, इष्टदेवकी स्तुति-प्रार्थनासे तात्कालिक शान्ति मिलती है और रोग आदि भी दूर होते हैं, पर सर्वथा दुःख-निवृत्ति और निरतिशय सुखकी प्राप्ति नहीं होती; परंतु गीताके अनुसार चलने-

वालेको रोग, अपमान आदिका दुःख कभी होता ही नहीं। उसे सदा रहनेवाले परम सुखकी प्राप्ति हो जाती है—**'सुखमक्षयमश्नुते'** (५ । २१), **'सुखमात्यन्तिकम्'** (६ । २१), **'अत्यन्तं सुखमश्नुते'** (६ । २८)। गीताका पाठ करनेसे, मनन करनेसे प्रत्यक्ष शान्ति मिलती है, हृदयकी हलचल मिटती है, हृदयकी शङ्काएँ मिट जाती हैं और समाधान हो जाता है। गीताका अध्ययन करनेमात्रसे भगवान् अपनेको ज्ञानयज्ञसे पूजित मानते हैं (१८ । ७०)। गीताको सुननेमात्रसे मनुष्य सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर वैकुण्ठ, साकेत, गोलोक आदि लोकोंको प्राप्त हो जाता है (१८ । ७१)।

काव्यमें स्नेहपूर्वक, प्यारसे उपदेश दिया जाता है। गीता 'प्रभुसम्मित' वाक्य* होते हुए भी इसमें अर्जुनको बड़े प्यारसे उपदेश दिया गया है। जैसे, अर्जुन घबराकर भगवान्‌से पूछते हैं कि अन्तकालमें किसी कारणवश साधनसे विचलितमन हुआ साधक छिन्न-भिन्न बादलकी तरह नष्ट तो नहीं हो जाता (६ । ३७-३८), तो भगवान् बड़े प्यारसे कहते हैं कि 'हे प्यारे ! कल्याणकारी काम करनेवाले किसी भी मनुष्यकी दुर्गति नहीं होती'—**'न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति'** (६ । ४०)। जो योग (समता) को प्राप्त करना चाहता है, वह भी वेदोंमें कहे हुए सकाम अनुष्ठानोंका अतिक्रमण कर जाता है, फिर योगभ्रष्टका तो कहना ही क्या है !—**'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते'** (६ । ४४)। गीतोपदेशके अन्तमें भगवान् कहते हैं कि 'तुम मेरा भक्त हो जाओ, मुझमें मनवाला हो जाओ, मेरा ही पूजन करो और मुझे ही नमस्कार करो, फिर तुम मुझे ही प्राप्त हो जाओगे, ऐसी मैं सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तुम मुझे अत्यन्त प्यारे हो' (१८ । ६५)। 'तुम सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर केवल एक मेरी शरण प्राप्त करो; मैं तुम्हें सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तुम चिन्ता मत करो' (१८ । ६६)।

तात्पर्य यह है कि काव्यसे केवल सांसारिक लाभ होता है, जो अनित्य है, ठहरनेवाला नहीं है; परंतु गीताका पठन-पाठन, श्रवण-श्रावण, विचार-मनन, अनुष्ठान करनेसे कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता। इससे उस पारमार्थिक लाभकी प्राप्ति होती है, जिससे बढ़कर दूसरा कोई लाभ है ही नहीं (६ । २२); क्योंकि वह पारमार्थिक लाभ नित्य है, सदा रहनेवाला है।

संसारमें जितने भी काव्य हैं, साहित्य हैं, उन सबसे गीतारूप ग्रन्थ श्रेष्ठ है। कारण कि गीतामें इतनी विलक्षणता है कि प्रत्येक सम्प्रदायवाला, भाषावाला, देशवाला मनुष्य इसपर मुग्ध हो जाता है, इसकी ओर आकृष्ट हो जाता है और उसे गीतासे पारमार्थिक लाभ होता है। गीता स्वयं भगवान्‌की वाणी है। आजतक गीतापर जितनी टीकाएँ लिखी गयी हैं, उतनी टीकाएँ अन्य किसी भी ग्रन्थपर नहीं लिखी गयी हैं। अतः यह सबसे अधिक आदरणीय हो गयी है।

जिस काव्यमें भगवान् और उनके चरित्रोंका वर्णन होता है, उसके पठन-पाठन आदिसे भी मनुष्योंका कल्याण होता है; परंतु कल्याण होनेमें महिमा भगवान् और उनके चरित्रोंकी ही है, काव्यकी नहीं। इसके सिवाय दूसरे काव्य सुन्दर हो सकते हैं और उन्हें पढ़नेसे तात्कालिक प्रसन्नता भी हो सकती है, पर उनसे कल्याण नहीं होता। कारण कि उन काव्योंका प्रयोजन सांसारिक होता है। अतः उनसे होनेवाला लाभ सीमित ही होता है, असीम नहीं।

(ख)

काव्यमें श्लोकोंके अन्वयोंके चार भेद माने गये हैं—युग्म, विशेषक, कलाप और कुलक—

* तीन तरहका वाक्य होता है—प्रभुसम्मित, मित्र-सम्मित और कान्तासम्मित। वेदकी वाणी 'प्रभुसम्मित' है अर्थात् वेदने कह दिया कि 'ऐसा काम करो, ऐसा काम मत करो'; अतः इसमें अपनी बुद्धि नहीं लगानी है, प्रत्युत वेदने जैसा कहा है, वैसा ही करना है। गीता भी वेदकी तरह होनेसे 'प्रभुसम्मित' है। पुराण, इतिहास, स्मृतियाँ आदि 'मित्रसम्मित' हैं; क्योंकि ये मित्रकी तरह समझाते हैं। साहित्य, काव्य 'कान्तासम्मित' हैं; क्योंकि ये स्त्रीकी तरह प्यारसे समझाते हैं।

द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम्।
चतुर्भिः कलापं ज्ञेयं तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम्॥

जहाँ दो श्लोकोंका एक साथ अन्वय किया जाता है, उसे **'युग्म'** कहते हैं, जहाँ तीन श्लोकोंका एक साथ अन्वय किया जाता है, उसे **'विशेषक'** कहते हैं, जहाँ चार श्लोकोंका एक साथ अन्वय किया जाता है, उसे **'कलाप'** कहते हैं और जहाँ चारसे अधिक श्लोकोंका एक साथ अन्वय किया जाता है, उसे **'कुलक'** कहते हैं। गीतामें इन चारोंका प्रयोग हुआ है; जैसे—

पहले अध्यायके चौंतीसवें-पैंतीसवें, दूसरे अध्यायके बासठवें-तिरसठवें, तीसरे अध्यायके चौदहवें-पंद्रहवें एवं बयालीसवें-तैंतालीसवें, पाँचवें अध्यायके आठवें-नवें, आठवें अध्यायके बारहवें-तेरहवें, नवें अध्यायके चौथे-पाँचवें, दसवें अध्यायके चौथे-पाँचवें एवं बारहवें-तेरहवें, ग्यारहवें अध्यायके इकतालीसवें-बयालीसवें, बारहवें अध्यायके अठारहवें-उन्नीसवें, चौदहवें अध्यायके चौबीसवें-पचीसवें आदि श्लोकोंमें **'युग्म'** अन्वयका प्रयोग हुआ है।

पहले अध्यायके चौथेसे छठे श्लोकतक एवं सोलहवेंसे अठारहवें श्लोकतक, दूसरे अध्यायके बयालीसवेंसे चौवालीसवें श्लोकतक, सोलहवें अध्यायके पहलेसे तीसरे श्लोकतक, अठारहवें अध्यायके इक्यावनवेंसे तिरपनवें श्लोकतक **'विशेषक'** अन्वयका प्रयोग हुआ है।

छठे अध्यायके बीसवेंसे तेईसवें श्लोकतक, अठारहवें अध्यायके बयालीसवेंसे पैंतालीसवें श्लोकतक **'कलाप'** अन्वयका प्रयोग हुआ है।

चौथे अध्यायके चौबीसवेंसे तीसवें श्लोकतक, तेरहवें अध्यायके सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक **'कुलक'** अन्वयका प्रयोग हुआ है।

गीतामें अलंकार

अलंकारविशिष्टस्य शोभा ग्रन्थस्य वर्धते।
भावज्ञानात्मिका गीताऽलंकारा यत्र कुत्रचित्॥

अलंकार नाम सुन्दरता देनेवालेका है। यह सुन्दरता दो तरहसे होती है—शब्दसे और अर्थसे। जिस श्लोक या वाक्यमें शब्दोंको अर्थात् अक्षरोंको लेकर सुन्दरता होती है, वह 'शब्दालंकार' कहलाता है; जैसे—**'तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्'** (१। २६) इस वाक्यमें 'प' व्यञ्जनको लेकर सुन्दरता है। जिस श्लोक या वाक्यमें अर्थको लेकर सुन्दरता होती है, वह 'अर्थालंकार' कहलाता है; जैसे—**'वायुर्नावमिवाम्भसि'** (२। ६७)।

'शब्दालंकार'के अनुप्रास, यमक आदि और 'अर्थालंकार'के उपमा, रूपक आदि कई भेद होते हैं। गीतामें भी कुछ अलंकार आये हैं; जैसे—

(१) **अनुप्रास**—जहाँ 'अ, आ····' आदि स्वरोंकी भिन्नता होनेपर भी 'क, ख····' आदि व्यञ्जनोंकी समानता हो, वहाँ 'अनुप्रास अलंकार' होता है। पाँचवें अध्यायके आठवें-नवें श्लोकोंमें **'पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्'·····'** आदि पदोंमें **'न'** व्यञ्जनकी समानता है। ऐसे ही पाँचवें अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें **'तद्बुद्धयस्तदात्मानः·····'** आदि पदोंमें **'त'** व्यञ्जनकी समानता है।

(२) **यमक**—जहाँ एक ही शब्द कई बार आता है, पर उसका अर्थ भिन्न-भिन्न होता है, वहाँ 'यमक अलंकार' होता है। आठवें अध्यायके बीसवें श्लोकमें **'भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः'** पदमें 'अव्यक्त' शब्द दो बार आया है। यहाँ पहला 'अव्यक्त' शब्द परमात्माका और दूसरा 'अव्यक्त' शब्द ब्रह्माका वाचक है।

(३) **उपमा**—जिसे उपमा दी जाती है, वह 'उपमेय' होता है और जिसकी उपमा दी जाती है, वह 'उपमान' होता है। जहाँ उपमेयको उपमानके सदृश बताया जाता है, वहाँ 'उपमा अलंकार' होता है। छठे अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें उपमेयरूप मनको उपमानरूप दीपककी लौकी उपमा दी गयी है।

(४) **रूपक**—जहाँ उपमानके पूरे-के-पूरे अवयवोंको उपमेयमें घटाकर उपमेयको उपमानके समान ही बताते हैं, वहाँ 'रूपक अलंकार' होता है। पंद्रहवें अध्यायके पहले श्लोकमें उपमानरूप पीपलके वृक्षके सभी अवयव उपमेयरूप संसारमें घटाकर संसारको पीपलके वृक्षके समान बताया गया है।

(५) **दृष्टान्त**—दृष्टान्तको दार्ष्टान्तमें प्रतिबिम्बित-मात्र करना अर्थात् दृष्टान्तका जैसा धर्म है, वैसा ही धर्म दार्ष्टान्तमें घटाना 'दृष्टान्त अलंकार' है। नवें अध्यायके छठे श्लोकमें आकाशमें स्थित वायुका दृष्टान्त देकर दार्ष्टान्तमें सम्पूर्ण प्राणियोंको भगवान्‌में स्थित बताया है। दूसरे अध्यायके सत्तरवें, तेरहवें अध्यायके बत्तीसवें-तैंतीसवें आदि श्लोकोंमें भी इसी अलंकारका प्रयोग हुआ है।

(६) **सम्भावना**—ऐसा न करें, तो ऐसा हो जायगा—इस प्रकारके तर्कको 'सम्भावना अलंकार' कहते हैं। अठारहवें अध्यायके अट्ठावनवें श्लोकमें भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि यदि तुम अहंकारके कारण मेरी बात नहीं सुनोगे तो तुम्हारा पतन हो जायगा।

(७) **अनन्वय**—जहाँ उपमेय और उपमान एक ही होता है अर्थात् जहाँ उपमेयको उपमा देनेके लिये दूसरा कोई उपमान न हो, वहाँ 'अनन्वय अलंकार' होता है। छठे अध्यायके उन्तालीसवें श्लोकमें अर्जुन भगवान्‌से कहते हैं कि इस संशयका छेदन करनेवाला आपके समान दूसरा कोई नहीं है।

(८) **उत्प्रेक्षा**—जो वस्तु वैसी है नहीं, फिर भी वैसी कल्पना करना 'उत्प्रेक्षा अलंकार' है। ग्यारहवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें विराट्‌रूपके प्रकाशके समान हजारों सूर्योंका प्रकाश न होनेपर भी हजारों सूर्योंके प्रकाशकी कल्पना की गयी है।

(९) **विषाद**—जैसा चाहते हैं, वैसा न होकर उससे विरुद्ध हो जाय तो 'विषाद अलंकार' होता है। अर्जुन पहले बड़ी शूरवीरतासे युद्ध करने आये थे, पर मोहके कारण धनुष-बाणका त्याग करके विषादमग्न होकर रथके मध्यभागमें बैठ जाते हैं (१ । ४७)।

(१०) **कारणमाला**—जहाँ एक-एकके प्रति एक-एककी कारणता (हेतुता) हो, वहाँ 'कारणमाला अलंकार' होता है। दूसरे अध्यायके बासठवें-तिरसठवें श्लोकोंमें विषय-चिन्तनसे लेकर पतन होनेतक एक-एकके प्रति एक-एकको कारण बताया गया है। ऐसा ही वर्णन पहले अध्यायके चालीसवेंसे चौवालीसवें श्लोकतक भी आया है।

(११) **विरोधाभास**—जहाँ पदोंमें परस्पर विरोध दीखे, पर वास्तवमें विरोध न हो, वहाँ 'विरोधाभास अलंकार' होता है। आठवें अध्यायके बीसवें श्लोकमें **'नश्यत्सु न विनश्यति'** (नष्ट होनेवालोंमें नष्ट नहीं होता) पदोंमें 'नश्यत्सु' पद प्राणियोंके शरीर आदिका वाचक है, जिनका नाश होता है और 'विनश्यति' पद परमात्माका वाचक है, जिसका नाश नहीं होता। यही बात तेरहवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें **'विनश्यत्स्वविनश्यन्तम्'** पदसे कही गयी है।

गीतामें अभिधा आदि शक्तियोंका वर्णन

अभिधा लक्षणा शक्तिस्तात्पर्या व्यञ्जना तथा।
गौणरूपेण गीतायां सन्ति वै यत्र कुत्रचित्॥

शब्द और अर्थका आपसमें घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। किसी बातको, अर्थको समझाना हो तो शब्दोंके द्वारा ही समझाया जाता है और शब्दोंके द्वारा वही समझ सकता है, जिसे उन शब्दोंके अर्थका ज्ञान हो। इस शब्दका यह अर्थ है—इसका ज्ञान करानेके लिये चार शक्तियाँ हैं—अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना और तात्पर्या। इनमेंसे अभिधा शक्ति तो सब जगह रहती ही है, उसके साथ लक्षणा आदि शक्तियाँ भी काम करती रहती हैं। गीतामें अभिधा शक्ति तो सब जगह है ही, कहीं-कहीं लक्षणा आदि शक्तियाँ भी आयी हैं। इसका ज्ञान करानेके लिये अभिधा, लक्षणा आदि शक्तियोंका थोड़ा-सा दिग्दर्शन कराया जाता है।

(१) **अभिधा**—जो शब्दके अर्थको सीधा ही प्रकट करती है, वह 'अभिधा शक्ति' कहलाती है अर्थात् वाच्य-वाचकके सम्बन्धमें वाचक (शब्द) अपने वाच्य (वस्तु, व्यक्ति आदि) को जिस शक्तिसे प्रकट करता

है, उसे 'अभिधा' कहते हैं। जैसे, भगवान्ने कहा कि 'अर्जुन ! इस शरीरको क्षेत्र कहा जाता है'—**'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते'** (१३ । १)। यहाँ 'क्षेत्र' की अभिधा शक्ति है।

(२) **लक्षणा**—जिस शब्द अथवा वाक्यके अर्थको प्रकट करनेमें अभिधा शक्ति काम नहीं करती, उस शब्द अथवा वाक्यका अर्थ जिससे प्रकट होता है, वह 'लक्षणा शक्ति' कहलाती है। दूसरे शब्दोंमें वक्ताके लक्ष्यको बतानेकी जो वृत्ति है, उसे 'लक्षणा शक्ति' कहते हैं। जैसे, अर्जुनने कहा कि 'जिन कुटुम्बियोंके लिये हम राज्य, भोग और सुख चाहते हैं, वे ही धन और प्राणोंकी आशाको छोड़कर युद्ध करनेके लिये सामने खड़े हैं'—**'प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च'** (१ । ३३)। यदि यहाँ अभिधा शक्तिसे सीधा यह अर्थ लिया जाय कि 'प्राणोंको छोड़कर खड़े हैं' तो यह असम्भव बात होगी; क्योंकि जिन्होंने प्राणोंको छोड़ दिया है, वे खड़े कैसे हैं ? और खड़े हैं तो प्राणोंको छोड़ा कैसे ? अतः यहाँ लक्षणा शक्तिसे 'वे प्राणोंकी (जीनेकी) भी आशाको छोड़कर खड़े हैं'—ऐसा अर्थ ही लेना पड़ेगा। इसी तरह **'मदर्थे त्यक्तजीविताः'** (१ । ९) आदि उदाहरण भी समझ लेने चाहिये।

(३) **व्यञ्जना**—जिस शब्द अथवा वाक्यका अर्थ अभिधा और लक्षणा शक्तिसे प्रकट नहीं होता, प्रत्युत व्यङ्ग्य वृत्तिसे ही प्रकट होता है, उसे 'व्यञ्जना शक्ति' कहते हैं। जैसे, भगवान्ने कहा कि 'हे पार्थ ! जो मनुष्य सृष्टि-चक्रके अनुसार अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला अघायु मनुष्य व्यर्थ ही जीता है'—**'मोघं पार्थ स जीवति'** (३ । १६)। यहाँ व्यञ्जना-शक्तिसे यह अर्थ निकाला जायगा कि 'वह मर जाय तो अच्छा है'।

(४) **तात्पर्या**—जहाँ वक्ताके आशय, भावको प्रकट करनेमें अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना शक्तियाँ काम नहीं करतीं, वहाँ जिस वृत्तिसे वक्ताका आशय, भाव प्रकट होता है, उसे 'तात्पर्या शक्ति' कहते हैं अर्थात् प्रकरण अथवा अवसरके अनुसार वक्ताके भावको प्रकट करनेकी वृत्तिका नाम 'तात्पर्या शक्ति' है। जैसे, भगवान्ने दूसरे अध्यायके ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक सत्-असत्, नित्य-अनित्यका वर्णन किया तो यहाँ देहीको नित्य और देहको अनित्य बतानेका तात्पर्य शोक दूर करनेमें है। इसी तरह 'वह ज्ञेय-तत्त्व न सत् कहा जा सकता है और न असत् ही'—**'न सत्तन्नासदुच्यते'** (१३ । १२), तो यहाँ ऐसा कहनेका तात्पर्य ज्ञेय तत्त्वको करणनिरपेक्ष बतानेमें है।

गीतासम्बन्धी व्याकरणकी कुछ बातें

शब्दशास्त्रेण गीताया रहस्यं प्रकटीकृतम्।
तस्मात्केचित्प्रयोगा हि बोधार्थं लिखिता इह॥

श्रीमद्भगवद्गीता संस्कृत-भाषामें ही है। अतः गीताको गहराईसे समझनेके लिये संस्कृत-व्याकरणका बोध होना आवश्यक है। जिन श्लोकों या पदोंका अर्थ, भाव समझनेमें कठिनता प्रतीत होती है, उन्हें यहाँ व्याकरणके द्वारा समझाया जा रहा है।

(१)

गीतामें अर्जुनने अपने लिये कहीं तो एकवचनका प्रयोग किया है और कहीं बहुवचनका; जैसे—**'मे'** (१ । २१), **'अहम्'** (१ । २२-२३; ३ । २), **'मया'** (११ । ४) आदि पदोंमें एकवचन आया है; और **'नः'** (१ । ३२–३३), **'अस्मान्'** (१ । ३६), **'वयम्'** (१ । ३७), **'अस्माभिः'** (१ । ३९) आदि पदोंमें बहुवचन आया है। एक संख्याके बोधके लिये एकवचनका और तीन अथवा तीनसे अधिक संख्याके बोधके लिये बहुवचनका प्रयोग किया जाता है; परंतु पाणिनि-व्याकरणके अनुसार अपने लिये एकवचनकी जगह बहुवचनका प्रयोग करना दोषी नहीं है—**'अस्मदो द्वयोश्च'** (पाणि० अष्टा० १ । २ । ५९)।

(२)

जहाँ पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग शब्दोंका एक साथ प्रयोग हुआ हो और इन तीनोंका एक-शेष समास करना हो, वहाँ तीनों लिङ्गोंमें नपुंसकलिङ्ग बलवान् होगा; जहाँ पुँल्लिग और नपुसकलिङ्ग शब्दोंका एक-शेष करना हो, वहाँ भी नपुंसकलिङ्ग बलवान् होगा; और जहाँ पुँल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग शब्दोंका एक-शेष करना हो, वहाँ पुँल्लिङ्ग बलवान् होगा। गीतामें आये **'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि'** (१८ । ५) इन पदोंमें 'यज्ञ' शब्द पुँल्लिङ्ग है और 'दान' तथा 'तप'—ये दोनों शब्द नपुंसकलिङ्ग हैं । अत: इनके एक-शेषमें **'पावनानि'** नपुंसकलिङ्गका प्रयोग किया गया है । इसी तरह **'सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ'** (२ । ३८)—इन पदोंमें 'सुख-दुःख' शब्द नपुंसकलिङ्ग हैं और 'लाभ-अलाभ' तथा 'जय-अजय' शब्द पुंल्लिङ्ग हैं । अत: एक-शेषमें **'समे'** नपुंसक-लिङ्गका प्रयोग किया गया है । ऐसे ही **'कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि'** (५ । ११)—इन पदोंमें **'कायेन'** शब्द पुंल्लिङ्ग, **'मनसा'** और **'इन्द्रियैः'** शब्द नपुंसकलिङ्ग तथा **'बुद्धया'** शब्द स्त्रीलिङ्ग है । अत: एक-शेषमें **'केवलैः'** नपुंसकलिङ्गका प्रयोग किया गया है ।

(३)

जहाँ प्रथम, मध्यम और उत्तम—इन तीनों पुरुषोंका प्रयोग होता है, वहाँ **'उत्तम पुरुष'** शेष रहता है; जैसे—गीतामें दूसरे अध्यायके बारहवें श्लोकमें प्रथम पुरुष (**इमे जनाधिपाः**), मध्यम पुरुष (**त्वम्**) और उत्तम पुरुष (**अहम्**)—इन तीनोंका प्रयोग हुआ है अर्थात् 'ये राजालोग, तुम और मैं पहले नहीं थे, यह बात नहीं है' । अत: श्लोकके उत्तरार्धमें उत्तम पुरुषका प्रयोग हुआ है—**'भविष्यामः सर्वे वयम्'** अर्थात् हम सब आगे नहीं रहेंगे, यह बात भी नहीं है ।

जहाँ प्रथम और मध्यम पुरुषोंका प्रयोग होता है, वहाँ **'मध्यम पुरुष'** शेष रहता है; जैसे—तीसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें प्रथम पुरुष (**ते**) और मध्यम पुरुष (**वः**) का प्रयोग हुआ है अर्थात् वे देवता तुमलोगोंको उन्नत करें । अत: श्लोकके उत्तरार्धमें मध्यम पुरुषका प्रयोग हुआ है—**'श्रेयः परमवाप्स्यथ'** अर्थात् तुमलोग परम-कल्याणको प्राप्त हो जाओगे ।

(४)

कर्मको अत्यन्त सुगमतापूर्वक द्योतन करनेके लिये जहाँ कर्म आदिको ही कर्ता बना दिया जाता है, उसे 'कर्मकर्तृ'-प्रयोग कहते हैं । जैसे कोई लकड़ीको चीर रहा है, तो इस कर्मको सुगम बतानेके लिये 'लकड़ी चीरी जा रही है' ऐसा प्रयोग किया जाता है । ऐसे ही पहले अध्यायके तेरहवें श्लोकमें 'बाजे बजाये गये' ऐसा प्रयोग होना चाहिये; परंतु बाजे बजानेमें सुगमता बतानेके लिये, सेनाका उत्साह दिखानेके लिये 'बाजे बज उठे' (**अभ्यहन्यन्त**)—ऐसा प्रयोग किया गया है ।

दूसरे अध्यायके सड़सठवें श्लोकके पूर्वार्धमें कर्मकर्तृ-प्रयोग करनेके पहले कर्तृवाच्य था अर्थात् **'चरताम् इन्द्रियाणाम् इन्द्रियम् यत् मनः अनुविदधाति'**—ऐसा वाक्य था । इस वाक्यमें इन्द्रिय कर्ता थी और मन कर्म था, परंतु जब वाक्यको सरल बनानेके लिये 'कर्मकर्तृ'का प्रयोग किया जाता है अर्थात् कर्मको कर्ता बनाया जाता है, तब वहाँ उस कर्ताको कर्मवद्भाव किया जाता है । इससे कर्मको लेकर जो कार्य होते हैं, वे सभी कार्य कर्ताको लेकर हो जाते हैं । यहाँ मनकी मुख्यता दिखानेके लिये अर्थात् इन्द्रियोंके बिना मन ही सब कुछ करता है—यह दिखानेके लिये कर्मरूप मनको कर्ता बना दिया गया है । मन प्रथम पुरुष होनेसे प्रथम पुरुष **'अनुविधीयते'** क्रियाका प्रयोग हुआ है । अब जो कर्तृवाच्यका कर्ता इन्द्रिय थी, उसकी आवश्यकता न होनेसे वह कर्ता हट गया, तो पूरा वाक्य बना—**'इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते'** जो कि उपर्युक्त श्लोकमें है । इस कर्मकर्तृका प्रयोग करनेका तात्पर्य यह हुआ कि इन्द्रियाँ जिन विषयोंमें विचरती हैं, उन विषयोंमेंसे मन जिस-किसी विषयमें खिंच जाता है, रस लेने लग जाता है, वह अकेला मन ही बुद्धिको हर

लेता है अर्थात् मनमें विषयभोगकी प्रधानता हो जाती है।

(५)

इदमस्तु स्यात्संनिकृष्टे समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्।
अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात्॥

—इस उक्तिके अनुसार **'इदम्'** शब्द समीपके लिये, **'एतत्'** शब्द अत्यन्त समीपके लिये, **'अदस्'** शब्द दूरके लिये और **'तत्'** शब्द परोक्षके लिये प्रयुक्त होता है। गीतामें इन शब्दोंका प्रयोग इसी दृष्टिसे हुआ है; जैसे—

तेरहवें अध्यायके पहले श्लोकमें समीप दीखनेवाले शरीरके लिये **'इदम्'** पद आया है—**'इदं शरीरम्'** और अत्यन्त समीप दीखनेवाले अहंभावके लिये **'एतत्'** पद आया है—**'एतद्यो वेत्ति'**; क्योंकि अहंभाव स्वयंके अत्यन्त समीप है।

ग्यारहवें अध्यायके इक्यावनवें श्लोकमें अर्जुनने सामने दीखनेवाले भगवान्के मनुष्यरूपके लिये **'इदम्'** शब्दका प्रयोग किया है—**'दृष्ट्वेदं मानुषं रूपम्'** और छठे अध्यायके उन्तालीसवें श्लोकमें अपने हृदयमें स्थित संदेहके लिये **'एतत्'** शब्दका प्रयोग किया है—**'एतन्मे संशयं कृष्ण'**।

विश्वरूपके समीप होनेसे उसके लिये अर्जुनने ग्यारहवें अध्यायके उन्नीसवें, बीसवें आदि अनेक श्लोकोंमें **'इदम्'** शब्दका प्रयोग किया है। भीष्म, द्रोण आदि योद्धाओंके विश्वरूप भगवान्के अत्यन्त समीप होनेसे अर्थात् विश्वरूपके ही अङ्ग होनेसे भगवान्ने उनके लिये **'एतत्'** (**एते**) शब्दका प्रयोग किया है—**'मयैवैते निहताः पूर्वमेव'** (११। ३३)।

भगवान्की दी हुई दिव्यदृष्टिसे विराट्रूप बहुत दूरतक दीखता था और उसमें देवता आदि भी दूरतक दीखते थे। अतः अर्जुनने उनके लिये ग्यारहवें अध्यायके इक्कीसवें, छब्बीसवें और अट्ठाईसवें श्लोकोंमें **'अदस्'** (**अमी**) शब्दका प्रयोग किया है।

विराट्रूपके पहले स्तरमें देखा हुआ चतुर्भुज विष्णुरूप (विराट्रूपके स्तर बदलनेके कारण) नेत्रोंके सामने न होनेसे अर्थात् परोक्ष हो जानेसे अर्जुनने उसके लिये ग्यारहवें अध्यायके पैंतालीसवें-छियालीसवें श्लोकोंमें **'तत्'** (**तत्** और **तेन**) शब्दका प्रयोग किया है।

(६)

'द्वन्द्वादौ द्वन्द्वमध्ये द्वन्द्वान्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमनुसम्बध्यते' अर्थात् द्वन्द्व-समासके आरम्भमें, मध्यमें और अन्तमें आये हुए पदका सब पदोंके साथ समानरीतिसे सम्बन्ध हो जाता है; जैसे—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः (१७।९)—इस द्वन्द्वसमासवाले वाक्यके मध्यमें आये हुए **'अति'** पदका सम्बन्ध सभी शब्दोंके साथ हो जाता है और तब 'अति कड़वा, अति नमकीन, अति गरम, अति तीखा, अति रूखा और अति दाह-कारक'—यह अर्थ हो जाता है।

'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम्' (४। २०)—इस द्वन्द्वसमासके अन्तमें आये हुए **'आसङ्ग'** शब्दका सम्बन्ध 'कर्म' और 'फल'—दोनों शब्दोंके साथ है। अतः इसका अर्थ होता है—कर्म और फलकी आसक्तिका त्याग करके।

'शुभाशुभपरित्यागी' (१२। १७)—इस द्वन्द्वसमासके अन्तमें आये हुए **'परित्यागी'** शब्दका सम्बन्ध 'शुभ' और 'अशुभ'—दोनों शब्दोंके साथ है। अतः इसका अर्थ होता है—शुभ और अशुभका परित्यागी।

'तुल्यनिन्दास्तुतिः' (१२। १९)—इस द्वन्द्व-समासमें आये 'तुल्य' शब्दका सम्बन्ध 'निन्दा' और 'स्तुति'—दोनों शब्दोंके साथ है। अतः इसका अर्थ होता है—निन्दा और स्तुतिमें तुल्य (सम)।

(७)

'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' (पाणि० अष्टा० २। ३। ३७)—जिसकी क्रियासे किसी दूसरेकी क्रियाका लक्ष्य होता है, उसमें सप्तमी विभक्ति हो जाती है; जैसे—

'प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य' (१ । २०) 'शस्त्रोंके चलनेकी तैयारी हो रही थी कि अर्जुनने धनुष उठाकर'—इस वाक्यमें 'शस्त्रोंके चलनेकी तैयारी होना-रूप क्रिया 'धनुष उठाकर' इस दूसरी क्रियाका लक्ष्य कराती है। अतः 'शस्त्रोंके चलनेकी तैयारी होना'—रूप क्रियामें सप्तमी विभक्ति हो गयी।

(८)

'किञ्चित्कार्यं विधातुमुपात्तस्य कार्यान्तरं विधातुं पुनरुपादानमन्वादेशः' अर्थात् पहले जिसके विषयमें 'इदम्' और 'एतत्' शब्दोंसे कुछ कहा गया हो और फिर उसीके विषयमें 'इदम्' और 'एतत्' शब्दोंसे कुछ कहना हो, उसे 'अन्वादेश' कहते हैं। ऐसे अवसरपर 'इदम्' और 'एतत्' शब्दोंके स्थानपर द्वितीया (अम्, औट् और शस्), तृतीया (टा) और षष्ठी-सप्तमी (ओस्) विभक्तियोंके आगे रहते 'द्वितीयाटौस्स्वेनः' (पाणि० अष्टा० २ । ४ । ३४) इस सूत्रसे 'एन' आदेश होता है। गीतामें भी उपर्युक्त अर्थमें 'इदम्' और 'एतत्' शब्दके स्थानपर अन्वादेश मिलते हैं; जैसे—'अस्य (२ । १७)—एनम् (२ । १९)'; 'अयम् (२ । २०)—एनम् (२ । २१)'; 'अयम् (२ । २४)—एनम् (२ । २५-२६)'; 'एषा एनाम् (२ । ७२)'; 'एष—एनम् (३ । ३७)'; 'एष (३ । ४०)—एनम् (३ । ४१)'; 'अस्य-एनम् (१५ । ३)'—इन पदोंमें 'इदम्' और 'एतत्' शब्दोंके स्थानपर 'एन' अन्वादेश हुआ है।*

'कथितस्य कथनमन्वादेशः' अर्थात् पूर्वमें कहे हुएका फिर कथन करना 'अन्वादेश' है—इस नियमसे पूर्वमें 'इदम्' और 'एतत्' शब्दका प्रयोग होना आवश्यक नहीं है। अतः पूर्वमें इन दोनों शब्दोंका योग न होनेपर भी उपर्युक्त नियमसे अन्वादेश हो जाता है; जैसे—दूसरे अध्यायके तेईसवें तथा उन्तीसवें, चौथे अध्यायके बयालीसवें और छठे अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें आये 'एनम्' पदमें पूर्वमें बिना 'इदम्' और 'एतत्' शब्दके अन्वादेश किया गया है।†

(९)

'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते' (५ । ५) और 'भुञ्जते ते त्वघं पापाः' (३ । १३) —यहाँ 'अर्शआदिभ्योऽच्' (पाणि० अष्टा० ५ । २ । १२७) इस सूत्रसे 'अच्' प्रत्यय करनेसे 'सांख्य' शब्द सांख्ययोगीका, 'योग' शब्द कर्मयोगीका और 'पाप' शब्द पापीका वाचक हो जाता है।

(१०)

'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (पाणि० अष्टा० ६ । ३ । १०९) इस सूत्रसे 'भविष्यत्' शब्दके 'त्' कारका लोप होनेसे 'भविष्याणि' (गीता ७ । २६) रूप बन जाता है।

(११)

'कौरव्य' शब्दके बहुवचनमें 'तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्' (पाणि० अष्टा० २ । ४ । ६२)—इस सूत्रसे 'ण्य' प्रत्ययका लोप होनेसे 'कुरून्' (गीता १ । २५) शब्द बन जाता है, जो कि कुरुवंशियोंका वाचक होता है।

(१२)

'मा शुचः' (गीता १६ । ५; १८ । ६६)—ये दो क्रियाएँ दिवादिगणकी 'ईशुचिर् पूतीभावे' धातुके लुङ् लकारके रूप हैं।

(१३)

'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये' (गीता ७ । ३)—संख्यावाचक शब्दको यदि किसीका विशेषण बताया जाय, तो उस शब्दमें एकवचन ही होता है यदि उसके योगमें षष्ठी की जाय तो संख्यावाचक

---

* 'इमे (१ । ३३)—एतान् (१ । ३५)'; 'एषा—इमाम् (२ । ३९)'; 'एषा—एताम् (७ । १४)'; 'इदम्—एतत् (१३ । १)'; 'इदम्—एतत् (१६ । २१)'; 'इदम् (१८ । ६७)—इमम् (१८ । ६८)'; 'इमम् (१८ । ७४)—एतत् (१८ । ७५)'—इन पदोंमें अन्वादेश न करना आर्ष है।

† पंद्रहवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें 'एनम्' अन्वादेश परमात्मतत्त्वके लिये आया है, पर इस प्रकरणमें पहले परमात्मतत्त्वका वर्णन न होनेसे यह अन्वादेश आर्ष है।

शब्दमें तीनों वचन होते हैं। यहाँ **'मनुष्याणाम्'** पदमें सहस्र संख्याके योगमें षष्ठी हुई है औ **'सहस्राणि'** पदमें निर्धारण अर्थमें सप्तमीका बहुवचन हुआ है। अतः **'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये'** पदोंका अर्थ हुआ—**'मनुष्याणां सहस्राणि भगवति रुचिं कुर्वन्ति सहस्रेषु कश्चित् सिद्धये यतति च'** 'हजारों मनुष्य भगवान्‌में रुचि रखते हैं, पर उन हजारोंमें कोई एक सिद्धिके लिये यत्न करता है।'

(१४)

'कालेनात्मनि विन्दति' (गीता ४ । ३८)—यहाँ **'कालेन'** शब्दमें **'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे'** (पाणि० अष्टा० २ । ३ । ५)—इससे प्राप्त द्वितीया विभक्तिका निषेध करके **'अपवर्गे तृतीया'** (२ । ३ । ६)—इससे तृतीया विभक्ति हुई है। तृतीया विभक्ति वहीं होती है, जहाँ अवश्य फलप्राप्तिका अर्थात् कार्य अवश्य सिद्ध होनेका द्योतन होता है, परंतु जहाँ द्वितीया विभक्ति होती है, वहाँ अवश्य फलप्राप्तिका द्योतन नहीं होता; जैसे—**'मासम् अधीते'** पद द्वितीयामें प्रयुक्त होता है तो इसका अर्थ है कि एक मासमें पूरा पढ़ लिया। इसी प्रकार भगवान्‌ने यहाँ द्वितीयामें **'कालम्'** पद न देकर तृतीयामें **'कालेन'** पद दिया है, जिससे यह अर्थ निकलता है कि कर्मयोगसे अवश्य फलप्राप्ति (सिद्धि) होती है।

(१५)

'धार्तराष्ट्राणाम्' (गीता १ । १९)—**'अन्यायेन धृतं राष्ट्रं यैस्ते धृतराष्ट्राः'** ऐसा बहुव्रीहि समास करनेके बाद **'धृतराष्ट्रा एव'** इस विग्रहमें स्वार्थमें तद्धितका **'अण्'** प्रत्यय किया गया, जिससे **'धार्तराष्ट्राः'** यह रूप बन गया। यहाँ षष्ठी विभक्तिके प्रयोगकी आवश्यकता होनेसे षष्ठीमें **'धार्तराष्ट्राणाम्'** ऐसा प्रयोग किया गया है।

(१६)

'अनुशुश्रुम' (गीता १ । ४४)—शोकाविष्ट होनेके कारण ही अर्जुनने इस पदमें परोक्ष लिट्‌की क्रियाका प्रयोग किया है।

(१७)

'अनार्यजुष्टम्' (गीता २ । २)—इस पदमें जो **'नञ्'** समास है, वह **'आर्यैर्जुष्टमार्यजुष्टम्'**—इस तृतीया समासके बाद ही करना चाहिये; जैसे—**'न आर्यजुष्टम् अनार्यजुष्टम्'**। यदि **'नञ्'** समास तृतीया समासके पहले किया जाय कि **'न आर्या अनार्याः अनार्यैर्जुष्टमनार्यजुष्टम्'** तो यहाँ यह कहना बनता ही नहीं, क्योंकि अनार्य पुरुषोंके द्वारा जिसका सेवन किया जाता है, वह दूसरोंके लिये आदर्श नहीं होता।

(१८)

'इष्टकामधुक्' (गीता ३ । १०)—**'इष्ट'** शब्द **'यज्'** धातुसे कृदन्तका **'क्त'** प्रत्यय करनेसे बनता है, जो यज्ञ (कर्तव्य-कर्म) का वाचक है और **'काम'** शब्द **'कमु'** धातुसे **'अण्'** प्रत्यय करनेसे बनता है, जो पदार्थ (सामग्री) का वाचक है अतः **'इष्टकामधुक्'** पदका अर्थ हुआ—कर्तव्य-कर्म करनेकी आवश्यक सामग्री प्रदान करनेवाला।

(१९)

'चातुर्वर्ण्यम्' (गीता ४ । १३)—**'चत्वारो वर्णाश्चातुर्वर्ण्यम्'**—यहाँपर **'चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम्'** इस वार्तिकसे स्वार्थमें **'ष्यञ्'** प्रत्यय किया गया है।

(२०)

'अनेकजन्मसंसिद्धः' (गीता ६ । ४५)—**'अनेकजन्म'** का अर्थ है—**'न एकजन्म इति अनेकजन्म'** अर्थात् एकसे अधिक जन्म। योगभ्रष्टके अनेक जन्म हो ही गये हैं। **'संसिद्धः'** पदमें भूतकालका **'क्त'** प्रत्यय होनेसे इसका अर्थ है—यह योगी अनेक जन्मोंमें संसिद्ध (शुद्ध) हो चुका है।

(२१)

'अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च' (गीता १० । २०)—यहाँ **'आदिः'** और **'अन्तः'** शब्दका प्रयोग पुँल्लिङ्गमें और **'मध्यम्'** शब्दका प्रयोग नपुंसकलिङ्गमें किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि आदिमें अकेले परमपुरुष भगवान् रहते हैं—**'अहमादिर्हि**

देवानां महर्षीणां च सर्वशः' (गीता १० । २) और अन्तमें भी अकेले परमपुरुष भगवान् रहते हैं—'शिष्यते शेषसंज्ञः' (श्रीमद्भा० १० । ३ । २५)। इसलिये भगवान्ने 'आदि' और 'अन्त' शब्दका प्रयोग पुँल्लिङ्गमें किया है; परंतु मध्यमें अर्थात् सृष्टिके समय पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग—तीनों लिङ्गोंवाले व्यक्ति, वस्तु, पदार्थ, क्रिया, भाव आदि रहते हैं। अतः इन तीनों लिङ्गोंमें नपुंसकलिङ्ग ही शेष रहता है अर्थात् नपुंसकलिङ्गके अन्तर्गत ही तीनों लिङ्ग आ जाते हैं। इसलिये भगवान्ने यहाँ और आगे बत्तीसवें श्लोकमें भी 'मध्य' शब्दका प्रयोग नपुंसकलिङ्गमें किया है।

(२२)

'महिमानं तवेदम्' (गीता ११ । ४१)—इसमें आया **'इदम्'** पद **'महिमानम्'**का विशेषण नहीं है; क्योंकि **'महिमानम्'** पद पुँल्लिङ्गमें आया है और **'इदम्'** पद नपुंसकलिङ्गमें आया है। अतः यहाँ **'इदम्'** का अर्थ 'स्वरूप' लिया गया है। इस दृष्टिसे **'महिमानं तवेदम्'** का अर्थ हुआ—आपकी महिमा और स्वरूप।

(२३)

'देहवद्भिः' (गीता १२ । ५)—यहाँ **'देह'** शब्दमें **'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने । संसर्गेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥'** इस कारिकाके अनुसार संसर्ग अर्थमें **'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्'** (पाणि० अष्टा० ५ । २ । ९४) इस सूत्रसे **'मतुप्'** प्रत्यय किया गया है। अतः **'देहवद्भिः'** पदका अर्थ हुआ—वे मनुष्य, जिनका देहके साथ दृढ़तापूर्वक सम्बन्ध माना हुआ है।

(२४)

'संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः' (गीता ५ । ६)—यद्यपि यहाँ 'संन्यास' पद **'आप्तुम्'** क्रियाका कर्म होनेसे उसमें द्वितीया होनी चाहिये, तथापि **'तु'** पदको निपात संज्ञा मानकर उससे कर्म उक्त होनेसे **'संन्यास'** पदमें प्रथमा हुई है।

'तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति' (गीता १३ । १)—यद्यपि यहाँ **'प्राहुः'** क्रियाका कर्म होनेसे **'क्षेत्रज्ञ'** शब्दमें द्वितीया विभक्ति होनी चाहिये थी, तथापि आगे 'इति' पद आनेसे अर्थात् 'इति' पदसे उक्त होनेसे 'क्षेत्रज्ञ' शब्दमें प्रथमा विभक्ति हो गयी है।

गीताके छन्द

मुख्यत्वेन तु गीतायां द्विधा छन्दः प्रयुज्यते।
अनुष्टुप् त्रिष्टुबित्थं हि भेदाश्च विविधास्तयोः ॥

छन्दोंके सम्बन्धमें कुछ ज्ञातव्य बातें

वर्णोच्चारणमात्रके दो भेद होते हैं—लघु (।) और गुरु (ऽ)। जितने भी ग्रन्थ होते हैं, वे गद्यात्मक, पद्यात्मक अथवा उभयात्मक (गद्य-पद्य-मिश्रित) होते हैं।

पद्यका नाम 'छन्द' है। प्रत्येक छन्दके प्रायः चार चरण (पाद) होते हैं। छन्दके तीन प्रकार हैं—गणछन्द (जैसे उपेन्द्रवज्रा आदि), अक्षरछन्द (जैसे पथ्यावक्त्र आदि) और मात्राछन्द (जैसे आर्या आदि)। इनमेंसे मात्राछन्द गीतामें नहीं है; अतः यहाँ उसपर विचार नहीं किया जा रहा है।

गणछन्द एक अक्षरसे छब्बीस अक्षरोंतकके होते हैं, जिनके अलग-अलग छब्बीस नाम हैं।

तीन अक्षरोंके समूहको 'गण' कहते हैं। आदि, मध्य और अन्तके अक्षरोंके गुरु-लघुके विचारसे गणोंके आठ भेद होते हैं। उनके नाम और लक्षण इस प्रकार हैं—

आदिमध्यावसानेषु य-र-ता यान्ति लाघवम्।
भ-ज-सा गौरवं यान्ति म-नौ तु गुरुलाघवम् ॥
(पिङ्गल-छन्दःसूत्रम् १ । ९)

आदि मध्य अरु अन्त लघु
य-र-त भ-ज-स गुरु जान।
मगण सर्व गुरु लघु नगण
इहि विधि गण अठ मान ॥

संख्या	गण-नाम	चिह्न	लक्षण
१	यगण	।ऽऽ	पहला अक्षर लघु, शेष दोनों गुरु ।
२	रगण	ऽ।ऽ	दूसरा अक्षर लघु, शेष दोनों गुरु ।
३	तगण	ऽऽ।	तीसरा अक्षर लघु, शेष दोनों गुरु ।
४	भगण	ऽ।।	पहला अक्षर गुरु, शेष दोनों लघु ।
५	जगण	।ऽ।	दूसरा अक्षर गुरु, शेष दोनों लघु ।
६	सगण	।।ऽ	तीसरा अक्षर गुरु, शेष दोनों लघु ।
७	मगण	ऽऽऽ	तीनों अक्षर गुरु ।
८	नगण	।।।	तीनों अक्षर लघु ।

किस छन्दके कितने भेद हो सकते हैं, इसका ज्ञान करानेवाली प्रणालीको 'प्रस्तार' कहते हैं अर्थात् उपर्युक्त गणोंको क्रमसे लिखनेके प्रकारको ही 'प्रस्तार' कहते हैं।

एक अक्षरके छन्दके प्रस्तारके दो भेद, दो अक्षरके प्रस्तारके चार भेद और तीन अक्षरके प्रस्तारके आठ भेद होते हैं। इसी प्रकार संख्या बढ़ती जाती है अर्थात् छन्दमें एक अक्षर बढ़नेसे पिछले छन्दकी संख्यासे प्रस्तारके दुगुने भेद हो जाते हैं। इस प्रकार गणछन्दके एकसे छब्बीसतकके अक्षरोंके करोड़ों भेद हो जाते हैं।

प्रस्तार लिखनेकी कई विधियाँ हैं। उनमें मुख्य विधियाँ दो हैं—

(१) जैसे, तीन अक्षरोंवाले गणछन्दका प्रस्तार लिखना हो तो पहली पंक्तिमें (ऊपरसे नीचे) क्रमशः एक गुरु और एक लघु लिखे; दूसरी पंक्तिमें क्रमशः दो गुरु और दो लघु लिखे; और तीसरी पंक्तिमें क्रमशः चार गुरु और चार लघु लिखे। इस प्रकार तीन अक्षरोंवाले गणछन्दके प्रस्तारके आठ भेद हो जायँगे।

(२) 'गुरुके नीचे लघु अंक, आगे नकल पीछे बंक' अर्थात् तीन अक्षरोंवाले गणछन्दका प्रस्तार लिखना हो तो पहली पंक्तिमें (बायेंसे दायें) क्रमशः तीन गुरु लिखे। अब आगेकी पंक्तियोंमें ऊपरके पहले गुरुके नीचे लघु लिखे; फिर उसके बायीं ओर सभी गुरु लिखे और दायीं ओर ऊपरके अनुसार (गुरु या लघु) लिखे। इस प्रकार लिखते-लिखते जब सभी लघु आ जायँगे, तब (आठ भेद पूरे होनेपर) प्रस्तार पूरा हो जायगा।

उपर्युक्त दोनों विधियोंसे निकाले गये प्रस्तारका यह रूप होगा—

ऽ ऽ ऽ
। ऽ ऽ
ऽ । ऽ
। । ऽ
ऽ ऽ ।
। ऽ ।
ऽ । ।
। । ।

प्रस्तारकी संख्या और रूप निकालनेकी विधि— जिस छन्दके प्रस्तारकी संख्या तो याद है, पर प्रस्तारके रूपका पता नहीं है, उस प्रस्तारका रूप बनानेकी विधि 'नष्ट' कहलाती है। जिस छन्दके प्रस्तारका रूप तो याद है, पर प्रस्तारकी संख्याका पता नहीं है, उसकी प्रस्तार-संख्याको बनानेकी विधि 'उद्दिष्ट' कहलाती है।

'नष्ट' विधि (संख्यासे रूप बनाना)—जैसे, तीन अक्षरोंवाले छन्दकी छठी संख्याका रूप बनाना है तो सबसे पहले यह देखे कि यह छः संख्या सम है या विषम। उदाहरणके लिये—दो, चार, छः, आठ आदि संख्याएँ 'सम' हैं; और एक, तीन, पाँच, सात, नौ आदि संख्याएँ 'विषम' हैं;। सम संख्याके नीचे लघु (।) लिखना चाहिये और विषम संख्याके नीचे गुरु (ऽ) लिखना चाहिये। छः संख्या सम है; अतः छःके नीचे लघु लिखे। छःका आधा तीन होता है, जो

विषम संख्या है; अतः तीनके नीचे गुरु लिखे। तीनका आधा डेढ़ होता है। पर जहाँ संख्या टूटती हो, वहाँ उस संख्यामें एक और मिला लेना चाहिये। यहाँ तीनका आधा करनेसे संख्या टूटती है; अतः तीनमें एक और मिला दे, जिससे चार संख्या हो जायगी। चारका आधा दो होता है, जो सम संख्या है; अतः दोके नीचे लघु लिखे। इस प्रकार तीन अक्षरोंवाली संख्याका छठा रूप (प्रस्तार) निकल आता है—

६	३	२
।	ऽ	।

तात्पर्य यह है कि जबतक प्रस्तारका पूरा रूप न निकले, तबतक उस संख्याका आधा करता जाय और संख्या टूटती हो तो उसमें एक मिलाकर उसका आधा करता जाय।

'उद्दिष्ट' विधि (रूपसे संख्या बनाना)—जैसे, तीन अक्षरोंवाले छन्दके । ऽ ।—इस रूपकी संख्या बतानी है, तो इस रूपपर क्रमशः दुगुनी संख्या (जैसे १, २, ४, ८, १६ आदि) लिखता जाय—

१	२	४
।	ऽ	।

अब इस रूप (प्रस्तार) में जितने लघु आये हैं, उन सबके ऊपरकी संख्या जोड़कर उसमें एक और मिला दे। यहाँ लघुके ऊपर १ और ४ संख्या है, जिसे जोड़नेपर ५ संख्या आती है। इस संख्यामें एक और जोड़ दे तो छः संख्या निकल आती है। अतः रूप (प्रस्तार) की संख्या छः हुई।

इस प्रकार गणोंके अनुसार छन्दोंके भेद होते हैं। यह गणछन्द लिखनेका प्रकार है। छन्दोंके तीन और भेद होते हैं—सम, अर्धसम और विषम। जिस श्लोकके चारों चरणोंमें छन्दके लक्षण समान हों, उसे **'सम'** कहते हैं। जिसमें पहला और तीसरा चरण एक तरहका तथा दूसरा और चौथा चरण एक तरहका हो, उसे **'अर्धसम'** कहते हैं। जिसमें चारों ही चरणोंके लक्षण अलग-अलग हों, उसे **'विषम'** कहते हैं।

ये सभी छन्द दो तरहके होते हैं—लौकिक और वैदिक।

गीतामें प्रयुक्त हुए छन्दोंपर विचार

श्रीमद्भगवद्गीता पद्यात्मक ग्रन्थ है और भगवद्वाणी होनेसे वेदस्वरूप है*। यद्यपि इसमें वैदिक छन्दके नियम ही लागू होते हैं—इस दृष्टिसे कुछ भी विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है, तथापि यहाँ लौकिक दृष्टिसे भी विचार किया जा रहा है।

जैसा कि पहले कहा गया है, गीतामें गणछन्द और अक्षरछन्द—ये दो प्रकारके छन्द ही प्रयुक्त हुए हैं।

एक अक्षरसे छब्बीस अक्षरोंतकके छन्दोंके छब्बीस नाम हैं। उनमेंसे केवल चार छन्द गीतामें प्रयुक्त हुए हैं—

(१) आठ अक्षरोंवाले **'अनुष्टुप्'** छन्द।

(२) नौ अक्षरोंवाले **'बृहती'** छन्द।

(३) ग्यारह अक्षरोंवाले **'त्रिष्टुप्'** छन्द।

(४) बारह अक्षरोंवाले **'जगती'** छन्द।

—इनमें नौ अक्षरोंवाले **'बृहती'** छन्दका तो केवल एक ही चरण गीतामें आया है—ग्यारहवें अध्यायके पहले श्लोकका पहला चरण। इसी तरह बारह अक्षरोंवाले **'जगती'** छन्दके भी पाँच ही चरण गीतामें आये हैं—दूसरे अध्यायके छठे श्लोकका पहला और दूसरा चरण तथा उन्तीसवें श्लोकका दूसरा चरण; आठवें अध्यायके दसवें श्लोकका चौथा चरण और पंद्रहवें अध्यायके तीसरे श्लोकका पहला चरण।

---

* 'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्' (छान्दोग्योपनिषद् ७।१।२)—इस उपनिषद्वाक्यके अनुसार यद्यपि महाभारत पञ्चम वेद है, तथापि महाभारत और उसमें आयी गीताको पढ़ने-सुननेका अधिकार मनुष्यमात्रको है। मनुष्य किसी भी देश, वेश, सम्प्रदाय, जाति आदिका क्यों न हो, वह महाभारतका अध्ययन करके उसमें आये हुए उत्तमोत्तम उपदेशोंको यथाधिकार आचरणमें लाकर अपना कल्याण कर सकता है। महाभारतकी रचना करनेमें महर्षि वेदव्यासजीका प्रधान उद्देश्य यही था कि जिन्हें शास्त्र वेद पढ़नेकी आज्ञा नहीं देते, वे स्त्रियाँ, शूद्र और पतित भी वेदोंके महत्त्वपूर्ण ज्ञानसे वञ्चित न रह जायँ। वह ज्ञान भगवान्‌के द्वारा गीतामें साररूपसे वर्णित है। गीतामें स्वयं भगवान्‌ने स्त्री, वैश्य, शूद्र आदि सभीको (अपनी शरणागतिसे) परमगतिकी प्राप्तिका अधिकारी बताया है (९ । ३२) और गीताध्ययनमें भी ('यः' पदसे) सभीका अधिकार माना है (१८ । ७०)।

वैदिक दृष्टिसे छन्दोंमें यह नियम है—**'ऊनाधिकेनैकेन निचृद्भुरिजौ'** (पिङ्गल० ३ । ५९) अर्थात् एक अक्षर कम होनेसे उसकी **'निचृत्'** और एक अक्षर अधिक होनेसे **'भुरिक्'** संज्ञा होकर छन्दकी पूर्व संज्ञा ही रह जाती है । इसके अनुसार नौ अक्षरोंवाले बृहती छन्दका एक चरण आठ अक्षरोंवाले **'अनुष्टुप्'** छन्दमें और बारह अक्षरोंवाले जगती छन्दके पाँच चरण ग्यारह अक्षरोंवाले **'त्रिष्टुप्'** छन्दमें सम्मिलित हो जाते हैं । अतः वैदिक दृष्टिसे गीतामें दो प्रकारके ही छन्द हैं—अनुष्टुप् और त्रिष्टुप् ।

सम्पूर्ण गीतामें सात सौ श्लोक हैं । उनमें छः सौ पैंतालीस श्लोक **'अनुष्टुप्'** छन्दके और पचपन श्लोक **'त्रिष्टुप्'** छन्दके हैं ।

अनुष्टुप् छन्द

अनुष्टुप् छन्दके प्रत्येक चरणमें आठ अक्षर होते हैं और पूरा श्लोक बत्तीस अक्षरोंका होता है ।

अनुष्टुप् छन्दके दो भेद होते हैं—अनुष्टुप् गणछन्द और अनुष्टुप् अक्षरछन्द । प्रस्तार-भेदसे अनुष्टुप् गणछन्दके दो सौ छप्पन भेद होते हैं और अनुष्टुप् अक्षरछन्दके लाखों भेद होते हैं । गीतामें **'अनुष्टुप् गणछन्द'** नहीं है । छन्दोंके जो सम, अर्धसम और विषम—ये तीन भेद पहले बताये गये हैं, उनमें गीताके अनुष्टुप् छन्दोंमें **'अर्धसम'** छन्द प्रयुक्त हुए हैं ।

छन्दःशास्त्रमें इस अर्धसम अनुष्टुप् छन्दके पहले और आठवें अक्षरोंपर विचार नहीं है; वे गुरु हों या लघु—दोनों ही मान्य हैं । चारों चरणोंमें पहले अक्षरके बाद (दूसरे, तीसरे और चौथे अक्षरका गण) 'सगण' और 'नगण' नहीं होना चाहिये—**'न प्रथमात्स्नौ'** (पिङ्गल० ५ । ११) और दूसरे तथा चौथे चरणोंमें पहले अक्षरके बाद (दूसरे, तीसरे और चौथे अक्षरका गण) 'रगण' भी नहीं होना चाहिये—**'द्वितीयचतुर्थयो रश्च'** (पिङ्गल० ५ । १२) ।

यदि चारों चरणोंमें चौथे अक्षरके बाद 'यगण' होगा, तो उस श्लोकके छन्दका नाम **'अनुष्टुब्वक्त्र'** होगा—**'यश्चतुर्थात्'** (पिङ्गल० ५ । १४), **'पादस्यानुष्टुब्वक्त्रम्'** (पिङ्गल० ५ । १०) ।

यदि पहले और तीसरे चरणोंमें चौथे अक्षरके बाद 'यगण' तथा दूसरे और चौथे चरणोंमें चौथे अक्षरके बाद 'जगण' होगा तो उसकी **'पथ्यावक्त्र'** संज्ञा होगी—**'पथ्या युजो ज्'** (पिङ्गल० ५ । १५), **'युजोर्जेन सरिद्भर्तु पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्'** (वृत्तरत्नाकर २ । २२) । यह 'अर्धसम' छन्द है । श्रीकालिदासने इसी बातको इस प्रकार कहा है—

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम् ।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥

'श्लोकके सभी चरणोंमें छठा अक्षर गुरु और पाँचवाँ अक्षर लघु होता है । सातवाँ अक्षर दूसरे और चौथे चरणोंमें ह्रस्व तथा पहले और तीसरे चरणोंमें दीर्घ होता है ।' (चौथे अक्षरके बाद पहले और तीसरे चरणोंमें 'यगण' तथा दूसरे और चौथे चरणोंमें 'जगण' होना चाहिये—यही बात इस श्लोकमें कही गयी है ।)

गीतामें इन अनुष्टुप् छन्दके श्लोकोंके दूसरे और चौथे चरणोंमें चौथे अक्षरके बाद सब जगह ही **'जगण'** प्रयुक्त हुए हैं; परंतु पहले और तीसरे चरणोंमें कई श्लोकोंमें **'यगण'** की जगह दूसरे गण भी आ गये हैं; उनके लिये यह नियम है कि इस प्रकार जो गण प्रयुक्त होगा, उसके नामके आरम्भके अक्षरके साथ **'विपुला'** संज्ञा मानी जायगी । यदि केवल पहले चरणमें या केवल तीसरे चरणमें अथवा पहले और तीसरे—दोनों चरणोंमें ही **'यगण'**-के अतिरिक्त दूसरा गण होगा तो वह श्लोक उसी गणके नामसे युक्त विपुलान्त संज्ञावाले छन्दका होगा । गीतामें ऐसे न-विपुला, भ-विपुला, र-विपुला, म-विपुला और स-विपुला छन्दोंका प्रयोग हुआ है । इसके अन्तर्गत एक नियम और है—यदि केवल पहले या तीसरे किसी

एक चरणमें ('यगण'के अतिरिक्त) दूसरा गण हो तो वह 'व्यक्तिपक्ष-विपुला', दोनों चरणोंमें ('यगण'के अतिरिक्त) एक तरहके गण हों तो वह 'जातिपक्ष-विपुला' और दोनों चरणोंमें ('यगण'के अतिरिक्त) अलग-अलग गण हों तो वह 'संकीर्ण-विपुला' छन्द कहा जाता है। ये सब 'पथ्यावक्त्र' के ही अवान्तर भेद हैं।

गीतामें अनुष्टुप् छन्दके छः सौ पैंतालीस श्लोकोंमें पाँच सौ सात श्लोक ठीक 'पथ्यावक्त्र'के लक्षणोंसे युक्त हैं। इनमें पहले और तीसरे चरणोंमें 'यगण' प्रयुक्त हुए हैं; अतः इन्हें 'य-विपुला' भी कह सकते हैं— 'य-विपुला यकारोऽब्धेः' (वाग्वल्लभ)। शेष एक सौ अड़तीस श्लोकोंमेंसे (१) एक सौ सत्ताईस श्लोकोंमें पहले या तीसरे किसी एक चरणमें 'यगण'के अतिरिक्त गण प्रयुक्त हुए हैं, वे 'व्यक्तिपक्ष-विपुला' संज्ञावाले श्लोक हैं, (२) तीन श्लोकोंमें पहले और तीसरे चरणोंमें ('यगण'के अतिरिक्त) एक ही प्रकारके अन्य गण प्रयुक्त हुए हैं, वे 'जातिपक्ष-विपुला' संज्ञावाले श्लोक हैं और (३) आठ श्लोकोंमें पहले और तीसरे चरणोंमें ('यगण'के अतिरिक्त) अलग-अलग गण प्रयुक्त हुए हैं, वे 'संकीर्ण-विपुला' संज्ञावाले श्लोक हैं।

नीचेकी तालिकामें किस श्लोकमें कौन विपुला है, यह अध्याय-क्रमसे दिखाया जाता है—

'व्यक्तिपक्ष-विपुला' संज्ञावाले १२७ श्लोकोंकी तालिका

[जिनमें पहले या तीसरे किसी एक चरणमें 'नगण', 'भगण', 'रगण', 'मगण' और 'सगण' प्रयुक्त हुए हैं।]

अध्याय	श्लोक	छन्दका नाम		श्लोक-प्रतीक
		पहला चरण	तीसरा चरण	
१	५	र—विपुला	—	धृष्टकेतु०
”	९	—	न—विपुला	अन्ये च०
”	२५	न—विपुला	—	भीष्मद्रोण०
”	३३	र—विपुला	—	येषामर्थे०
”	४३	—	र—विपुला	दोषैरेतैः०
२	२	न—विपुला	—	कुतस्त्वा०
”	१२	र—विपुला	—	न त्वेवाहं०
”	२६	र—विपुला	—	अथ चैनं०
”	३१	—	म—विपुला	स्वधर्ममपि०
”	३२	र—विपुला	—	यदृच्छया०
”	३६	भ—विपुला	—	अवाच्य०
”	४६	स—विपुला	—	यावानर्थ०
”	५२	न—विपुला	—	यदा ते०
”	५६	भ—विपुला	—	दुःखेष्वनु०
”	६१	—	र—विपुला	तानि सर्वाणि०
”	६३	—	र—विपुला	क्रोधाद्भवति०

अध्याय	श्लोक	छन्दका नाम		श्लोक-प्रतीक
		पहला चरण	तीसरा चरण	
२	६७	न–विपुला	—	इन्द्रियाणां०
,,	७१	म–विपुला	—	विहाय कामान्०
३	१	र–विपुला	—	ज्यायसी०
,,	५	न–विपुला	—	न हि कश्चित्०
,,	८	—	भ–विपुला	नियतं कुरु०
,,	११	—	र–विपुला	देवान्भाव०
,,	१९	भ–विपुला	—	तस्मादसक्तः०
,,	२१	—	भ–विपुला	यद्यदाचरति०
,,	२६	भ–विपुला	—	न बुद्धिभेदं०
,,	३५	भ–विपुला	—	श्रेयान् स्व०
,,	३७	र–विपुला	—	काम एष क्रोध०
४	२	—	न–विपुला	एवं परम्परा०
,,	६	र–विपुला	—	अजोऽपि०
,,	१०	—	न–विपुला	वीतरागभय०
,,	१३	—	न–विपुला	चातुर्वर्ण्यं०
,,	२४	भ–विपुला	—	ब्रह्मार्पणं०
,,	३०	—	भ–विपुला	अपरे नियता०
,,	३१	न–विपुला	—	यज्ञशिष्टामृत०
,,	३८	न–विपुला	—	न हि ज्ञानेन०
,,	४०	—	न–विपुला	अज्ञश्चाश्रद्दधान०
५	१३	न–विपुला	—	सर्वकर्माणि०
,,	२२	—	म–विपुला	ये हि संस्पर्शजा०
,,	२९	न–विपुला	—	भोक्तारं यज्ञ०
६	१	भ–विपुला	—	अनाश्रितः०
,,	१०	न–विपुला	—	योगी युञ्जीत०
,,	११	—	र–विपुला	शुचौ देशे०
,,	१४	न–विपुला	—	प्रशान्तात्मा०
,,	१५	—	न–विपुला	युञ्जन्नेवं०
,,	२५	न–विपुला	—	शनैः शनैः०
,,	२६	भ–विपुला	—	यतो यतो०
,,	२७	—	न–विपुला	प्रशान्तमनसं०
,,	३६	—	न–विपुला	असंयतात्मना०

अध्याय	श्लोक	छन्दका नाम		श्लोक-प्रतीक
		पहला चरण	तीसरा चरण	
६	४२	—	न–विपुला	अथवा योगि०
७	६	—	न–विपुला	एतद्योनीनि०
,,	११	—	म–विपुला	बलं बलवतां०
,,	१४	न–विपुला	—	दैवी ह्येषा०
,,	१७	र–विपुला	—	तेषां ज्ञानी०
,,	१९	—	भ–विपुला	बहूनां जन्मना०
,,	२५	म–विपुला	—	नाहं प्रकाशः०
,,	३०	—	भ–विपुला	साधिभूताधि०
८	२	—	भ–विपुला	अधियज्ञः०
,,	१४	भ–विपुला	—	अनन्यचेताः०
,,	२४	—	म–विपुला	अग्निर्ज्योति०
,,	२७	र–विपुला	—	नैते सृती०
९	२	र–विपुला	—	राजविद्या०
,,	३	भ–विपुला	—	अश्रद्दधानाः०
,,	१०	भ–विपुला	—	मयाध्यक्षेण०
,,	१३	—	न–विपुला	महात्मानस्तु०
,,	१७	न–विपुला	—	पिताहमस्य०
,,	२६	—	न–विपुला	पत्रं पुष्पं फलं०
१०	२	न–विपुला	—	न मे विदुः०
,,	५	—	म–विपुला	अहिंसा समता०
,,	६	र–विपुला	—	महर्षयः०
,,	७	म–विपुला	—	एतां विभूतिं०
,,	८	भ–विपुला	—	अहं सर्वस्य०
,,	२५	न–विपुला	—	महर्षीणां०
,,	२६	—	भ–विपुला	अश्वत्थः सर्व०
,,	३२	—	म–विपुला	सर्गाणामादि०
११	१	भ–विपुला	—	मदनुग्रहाय०
,,	११	न–विपुला	—	दिव्यमाल्याम्बर०
,,	५३	न–विपुला	—	नाहं वेदैर्न०
,,	५५	भ–विपुला	—	मत्कर्मकृन्म०
१२	९	—	भ–विपुला	अथ चित्तं०
,,	१९	—	न–विपुला	तुल्यनिन्दा०

अध्याय	श्लोक	छन्दका नाम		श्लोक-प्रतीक
		पहला चरण	तीसरा चरण	
१३	१	म–विपुला	—	इदं शरीरं०
”	१७	—	र–विपुला	ज्योतिषामपि०
”	१८	—	म–विपुला	इति क्षेत्रं०
”	२३	न–विपुला	—	य एवं वेत्ति०
”	३१	र–विपुला	—	अनादित्वान्नि०
१४	५	न–विपुला	—	सत्त्वं रजस्तम०
”	६	र–विपुला	—	तत्र सत्त्वं०
”	१०	र–विपुला	—	रजस्तमश्चा०
”	१५	—	म–विपुला	रजसि प्रलयं०
”	१७	—	म–विपुला	सत्त्वात्संजायते०
”	१९	म–विपुला	—	नान्यं गुणेभ्यः०
१५	९	र–विपुला	—	श्रोत्रं चक्षुः०
”	१८	—	म–विपुला	यस्मात्क्षर०
”	१९	—	न–विपुला	यो मामेव०
”	२०	—	र–विपुला	इति गुह्यतमं०
१६	६	म–विपुला	—	द्वौ भूतसर्गौ०
”	१०	—	म–विपुला	काममाश्रित्य०
”	११	—	न–विपुला	चिन्तामपरि०
”	१३	—	न–विपुला	इदमद्य मया०
”	१९	—	न–विपुला	तानहं द्विषतः०
”	२२	म–विपुला	—	एतैर्विमुक्तः०
१७	१०	न–विपुला	—	यातयामं०
”	११	—	म–विपुला	अफलाकाङ्क्षि०
”	१२	न–विपुला	—	अभिसन्धाय०
”	१६	म–विपुला	—	मनःप्रसादः०
”	१९	र–विपुला	—	मूढग्राहेणा०
”	२२	म–विपुला	—	अदेशकाले०
”	२५	—	न–विपुला	तदित्यनभि०
”	२६	—	न–विपुला	सद्भावे साधु०
१८	१२	म–विपुला	—	अनिष्टमिष्टं०
”	१३	—	म–विपुला	पञ्चैतानि०
”	२३	न–विपुला	—	नियतं सङ्ग०
”	२६	—	र–विपुला	मुक्तसङ्गः०

अध्याय	श्लोक	छन्दका नाम		श्लोक-प्रतीक
		पहला चरण	तीसरा चरण	
१८	३२	न—विपुला	—	अधर्मं०
,,	३३	भ—विपुला	—	धृत्या यया०
,,	३६	भ—विपुला	—	सुखं त्विदानीं०
,,	३७	न—विपुला	—	यत्तदग्रे विष०
,,	३८	—	न—विपुला	विषयेन्द्रिय०
,,	४१	न—विपुला	—	ब्राह्मणक्षत्रिय०
,,	४५	न—विपुला	—	स्वे स्वे कर्मण्य०
,,	४६	म—विपुला	—	यतः प्रवृत्तिः०
,,	४७	भ—विपुला	—	श्रेयान् स्व०
,,	५२	म—विपुला	—	विविक्तसेवी०
,,	५६	न—विपुला	—	सर्वकर्माण्यपि०
,,	६४	—	न—विपुला	सर्वगुह्यतमं०
,,	७०	न—विपुला	—	अध्येष्यते०
,,	७५	भ—विपुला	—	व्यासप्रसादात्०

'जातिपक्ष-विपुला' संज्ञावाले ३ श्लोकोंकी तालिका

[जिनके पहले और तीसरे दोनों चरणोंमें एक ही प्रकारके गण प्रयुक्त हुए हैं।]

अध्याय	श्लोक	पहला चरण	तीसरा चरण	श्लोक-प्रतीक
२	३५	न—विपुला	न—विपुला	भयाद्रणा०
८	३	न—विपुला	न—विपुला	अक्षरं०
१५	७	र—विपुला	र—विपुला	ममैवांशो०

'संकीर्ण-विपुला' संज्ञावाले ८ श्लोकोंकी तालिका

[जिनके पहले और तीसरे दोनों चरणोंमें अलग-अलग गण प्रयुक्त हुए हैं।]

अध्याय	श्लोक	पहला चरण	तीसरा चरण	श्लोक-प्रतीक
२	४३	भ—विपुला	न—विपुला	कामात्मानः०
३	७	न—विपुला	र—विपुला	यस्त्विन्द्रि०
९	१	भ—विपुला	न—विपुला	इदं तु ते०
११	१०	न—विपुला	भ—विपुला	अनेकवक्त्र०
१२	२०	न—विपुला	भ—विपुला	ये तु धर्म्या०
१४	९	भ—विपुला	न—विपुला	सत्त्वं सुखे०
१७	३	म—विपुला	भ—विपुला	सत्त्वानुरूपा०
१८	४९	म—विपुला	भ—विपुला	असक्तबुद्धिः०

त्रिष्टुप् छन्द

त्रिष्टुप् छन्दके प्रत्येक चरणमें ग्यारह अक्षर होते हैं और पूरा श्लोक चौवालीस अक्षरोंका होता है। प्रस्तारसे इसके दो हजार अड़तालीस प्रकार होते हैं; परंतु इनके सब नाम नहीं मिलते। छन्द-ग्रन्थ **'वाग्वल्लभ'** में इन प्रकारोंके केवल एक सौ बारह नाम ही दिये गये हैं। गीतामें इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, शालिनी, ईहामृगी, प्राकारबन्ध, वातोर्मी, संश्रयश्री, गुणाङ्गी आदि छन्द प्रयुक्त हुए हैं। बारह अक्षरोंवाले जगती छन्दको त्रिष्टुप् छन्दमें ही माना गया है, उसका भी एक चरण **'वंशस्थ'** छन्दका प्रयुक्त हुआ है। इनके स्वरूप तथा लक्षण इस प्रकार हैं—

प्रस्तार-संख्या	छन्द-नाम	रूप	लक्षण	प्रमाण
३५७	इन्द्रवज्रा	ऽऽ। ऽऽ। ।ऽ। ऽऽ	स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः	वृत्तरत्नाकर
३५८	उपेन्द्रवज्रा	।ऽ। ऽऽ। ।ऽ। ऽऽ	उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ	"
२८९	शालिनी	ऽऽऽ ऽऽ। ऽऽ। ऽऽ	शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः	"
३०९	ईहामृगी	ऽऽ। ऽ।। ऽऽ। ऽऽ	ईहामृगी किल चेत्तो भतौ गौ	वाग्वल्लभ
२९३	प्राकारबन्ध	ऽऽ। ऽऽ। ऽऽ। ऽऽ	प्राकारबन्धस्तकारत्रयं गौ	"
३०५	वातोर्मी	ऽऽऽ ऽ।। ऽऽ। ऽऽ	वातोर्मीयं कथिताम्भौ तगौ गः	वृत्तरत्नाकर
१३१७	संश्रयश्री	ऽऽ। ऽऽ। ऽऽ। ऽ।	ताः स्युस्त्रयः संश्रयश्रीर्गलौ च	वाग्वल्लभ
३५३	गुणाङ्गी	ऽऽऽ ऽऽ। ।ऽ। ऽऽ	म्तौ ज्गौ गः स्यादब्धिनगर्गुणाङ्गी	काव्यमाला
१३८२	वंशस्थ	।ऽ। ऽऽ। ।ऽ। ऽ।ऽ	जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ	वृत्तरत्नाकर
६१०	राधा	।ऽऽ ऽऽ। ।ऽऽ ।ऽऽ	यतौ यौ राधा शरलोकैर्यतिः स्यात्	*
६२९	गङ्गा	ऽऽ। ऽ।। ।ऽऽ ।ऽऽ	गङ्गा तभौ ययुगला पूर्ववत् स्यात्	"
७५७	रति	ऽऽ। ऽ।। ।।ऽ ।ऽऽ	वेदोरगैस्तभसययुग् रतिः स्यात्	"
७५८	गति	।ऽ। ऽ।। ।।ऽ ।ऽऽ	युगोरगैर्जभसययुग् गतिः स्यात्	"
२९०	विशाखा	।ऽऽ ऽऽ। ऽऽ ऽऽ	विशाखोक्ता यतौ तगौ गोऽब्धिलोकैः	"
२९४	यशोदा	।ऽऽ ऽऽ। ऽऽ। ऽऽ	जतौ तगौ गोऽब्धिलोकैर्यशोदा	"
३०६	ललिता	।ऽऽ ऽ।। ऽऽ। ऽऽ	यभौ तगौ गो ललिता साऽब्धिलोकैः	"
३१०	शारदा	।ऽ। ऽ।। ऽऽ। ऽऽ	जभौ तगौ ग-युता शारदा च	"
३३७	चित्रा	ऽऽऽ ऽ।ऽ ।ऽ। ऽऽ	चित्रा प्रोक्ता मरौ जगौ ग-युक्ता	"
३७३	इष्ट	ऽऽ। ऽ।। ।ऽ। ऽऽ	बाणर्तुभिस्तभजगा ग इष्टम्	"
३७४	ईष	।ऽ। ऽ।। ।ऽ। ऽऽ	शरर्तुभिर्जभजगा ग ईषम्	"

वैदिक और लौकिक—दोनों दृष्टियोंसे ग्यारह अक्षरोंवाले सभी छन्द त्रिष्टुप् हैं।

किसी श्लोकमें एक, दो, तीन अथवा चारों चरण भिन्न-भिन्न जातिके छन्दके हों, तो वह **'उपजाति'** छन्द होता है।

उपजाति छन्द

(१) जिस श्लोकका कोई चरण इन्द्रवज्रा और कोई उपेन्द्रवज्राके लक्षणोंसे युक्त हो, उसको मुख्य उपजाति छन्द कहते हैं। इसके चौदह भेद होते हैं—

* प्राचीन छन्द-ग्रन्थोंमें इन छन्दोंके नाम ज्ञात नहीं हो सके; अतः इनके नामों और लक्षणोंको महाकवि श्रीवनमालिदासजी शास्त्रीसे बनवाया गया है।

चेदिन्द्रवज्राचरणानि यस्या-
मुपेन्द्रवज्राचरणानि च स्युः।
तदोपजातिः कथिता कवीन्द्रै-
र्भेदा भवन्तीह चतुर्दशास्याः॥
(वाग्वल्लभ)

(२) जिस श्लोकका प्रत्येक चरण भिन्न-भिन्न छन्दका हो, ऐसे छन्दकी संज्ञा भी उपजाति है—

इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु
स्मरन्ति जातिष्विदमेव नाम।
(वृत्तरत्नाकर ३। ३१)

(३) विषमाक्षरवाले त्रिष्टुप् और जगतीके मिलनेसे उसकी संज्ञा भी उपजाति कही गयी है। प्राचीन आचार्योंने इसे 'गाथा' नामसे कहा है—

'आद्यन्तावुपजातयः' (पिङ्गल० ६। २३)

इस सूत्रपर 'हलायुध-वृत्ति' और उसके ऊपर श्रीजीवानन्द विद्यासागरकी टीका 'सुबोधिनी'में लिखा है—

तत्रोपजातिर्विविधा विदग्धैः
संयोज्यते तु व्यवहारकाले।

इस प्रकार गीतामें त्रिष्टुप् छन्दके पचपन श्लोक हैं। उनमें इन्द्रवज्रा छन्दके तीन, उपेन्द्रवज्रा छन्दके तीन, इन्द्रवज्रा-उपेन्द्रवज्रा-मिश्रित मुख्य उपजातिके पंद्रह और भिन्न-भिन्न छन्द-मिश्रित उपजातिके चौंतीस श्लोक हैं। नीचे तालिकामें इन सब श्लोकोंको दिखाया जाता है—

इन्द्रवज्रा छन्दके तीन श्लोक

अध्याय	श्लोक	श्लोक-प्रतीक
८	२८	वेदेषु यज्ञेषु०
१५	५	निर्मानमोहा०
१५	१५	सर्वस्य चाहं०

उपेन्द्रवज्रा छन्दके तीन श्लोक

अध्याय	श्लोक	श्लोक-प्रतीक
११	२८	यथा नदीनां०
११	२९	यथा प्रदीप्तं०
११	४५	अदृष्टपूर्वं०

इन्द्रवज्रा-उपेन्द्रवज्रा-मिश्रित मुख्य उपजातिके पंद्रह श्लोक

अध्याय	श्लोक	छन्दका नाम				श्लोक-प्रतीक
		पहला चरण	दूसरा चरण	तीसरा चरण	चौथा चरण	
२	८	उपेन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	न हि प्रपश्यामि०
„	२२	इन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	„	„	वासांसि जीर्णानि०
११	१५	„	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	पश्यामि देवां०
„	१९	उपेन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	„	„	अनादिमध्यान्त०
„	२४	„	इन्द्रवज्रा	„	„	नभःस्पृशं०
„	२५	इन्द्रवज्रा	„	उपेन्द्रवज्रा	„	दंष्ट्राकरालानि०
„	३४	„	„	„	इन्द्रवज्रा	द्रोणं च भीष्मं०
„	३६	„	उपेन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	„	स्थाने हृषीकेश०

११	३८	उपेन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	त्वमादिदेवः०
,,	३९	इन्द्रवज्रा	,,	उपेन्द्रवज्रा	,,	वायुर्यमोऽग्निः०
,,	४०	उपेन्द्रवज्रा	,,	,,	इन्द्रवज्रा	नमः पुरस्तादथ०
,,	४२	इन्द्रवज्रा	,,	इन्द्रवज्रा	,,	यच्चावहासार्थं०
,,	४३	उपेन्द्रवज्रा	,,	,,	,,	पितासि लोकस्य०
,,	४४	इन्द्रवज्रा	,,	उपेन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	तस्मात्प्रणम्य०
,,	४७	उपेन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	मया प्रसन्नेन०

भिन्न-भिन्न छन्द-मिश्रित उपजातिके चौंतीस श्लोक

अध्याय	श्लोक	छन्दका नाम				श्लोक-प्रतीक
		पहला चरण	दूसरा चरण	तीसरा चरण	चौथा चरण	
२	५	उपेन्द्रवज्रा	गुणाङ्गी	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	गुरूनहत्वा०
,,	६	राधा	गङ्गा	,,	ईहामृगी	न चैतद्विद्मः०
,,	७	इन्द्रवज्रा	शालिनी	शालिनी	शालिनी	कार्पण्यदोषो०
,,	२०	शारदा	वातोर्मी	विशाखा	यशोदा	न जायते०
,,	२९	इन्द्रवज्रा	रति	संश्रयश्री	गुणाङ्गी	आश्चर्यवत्पश्यति०
,,	७०	इष्ट	उपेन्द्रवज्रा	गुणाङ्गी	उपेन्द्रवज्रा	आपूर्यमाण०
८	९	ईष	,,	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	कविं पुराण०
,,	१०	उपेन्द्रवज्रा	गुणाङ्गी	विशाखा	गति	प्रयाणकाले०
,,	११	,,	शारदा	,,	प्राकारबन्ध	यदक्षरं वेदविदो०
९	२०	शालिनी	शालिनी	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	त्रैविद्या मां०
,,	२१	,,	,,	,,	यशोदा	ते तं भुक्त्वा०
११	१६	उपेन्द्रवज्रा	,,	,,	इन्द्रवज्रा	अनेकबाहू०
,,	१७	शारदा	,,	शालिनी	,,	किरीटिनं गदिनं०
,,	१८	,,	उपेन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	त्वमक्षरं परमं०
,,	२०	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	प्राकारबन्ध	इन्द्रवज्रा	द्यावापृथिव्यो०
,,	२१	ललिता	गुणाङ्गी	चित्रा	ललिता	अमी हि त्वां०
,,	२२	वातोर्मी	ईहामृगी	इन्द्रवज्रा	शालिनी	रुद्रादित्या०
,,	२३	इन्द्रवज्रा	ललिता	शारदा	गुणाङ्गी	रूपं महत्ते०
,,	२६	ललिता	इन्द्रवज्रा	शालिनी	उपेन्द्रवज्रा	अमी च त्वां०
,,	२७	ईहामृगी	,,	इन्द्रवज्रा	शालिनी	वक्त्राणि ते०
,,	३०	,,	,,	,,	इन्द्रवज्रा	लेलिह्यसे०
,,	३१	प्राकारबन्ध	उपेन्द्रवज्रा	,,	उपेन्द्रवज्रा	आख्याहि मे०
,,	३२	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	ललिता	प्राकारबन्ध	कालोऽस्मि०

११	३३	इन्द्रवज्रा	शालिनी	ललिता	उपेन्द्रवज्रा	तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ०
"	३५	वातोर्मी	यशोदा	विशाखा	यशोदा	एतच्छ्रुत्वा०
"	३७	ईहामृगी	"	उपेन्द्रवज्रा	शारदा	कस्माच्च ते०
"	४१	उपेन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	शारदा	उपेन्द्रवज्रा	सखेति मत्वा०
"	४६	शारदा	"	इन्द्रवज्रा	"	किरीटिनं गदिनं०
"	४८	उपेन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	गुणाङ्गी	इन्द्रवज्रा	न वेदयज्ञा०
"	४९	इन्द्रवज्रा	शालिनी	उपेन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	मा ते व्यथा०
"	५०	प्राकारबन्ध	विशाखा	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	इत्यर्जुनं०
१५	२	ललिता	उपेन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	"	अधश्चोर्ध्वं०
"	३	वंशस्थ	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा	न रूपमस्येह०
"	४	उपेन्द्रवज्रा	ईहामृगी	उपेन्द्रवज्रा	"	ततः पदं०

नोट— (१) दूसरे अध्यायके छठे श्लोकमें पहला और दूसरा चरण जगती छन्दका है, शेष चरण त्रिष्टुप् छन्दके हैं।

(२) दूसरे अध्यायके उन्तीसवें श्लोकमें दूसरा चरण जगती छन्दका है, शेष चरण त्रिष्टुप् छन्दके हैं।

(३) आठवें अध्यायके दसवें श्लोकमें चौथा चरण जगती छन्दका है, शेष चरण त्रिष्टुप् छन्दके हैं।

(४) पंद्रहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें पहला चरण जगती छन्दका है, शेष चरण त्रिष्टुप् छन्दके हैं।

(यहाँ गीता-सम्बन्धी छन्दोंका विषय आवश्यकतानुसार संक्षेपमें लिखा गया है। अग्निपुराण, नारदपुराण और अन्यान्य छन्द-ग्रन्थोंमें छन्दोंका विस्तारसे वर्णन है।)

गीतामें आर्ष-प्रयोग

वेदमन्त्रा यथा प्रोक्ता गीताश्लोकास्तथैव च।
गीताधिकारिणः सर्वे वेदाधिकारिणो द्विजाः॥

छान्दोग्योपनिषद्में इतिहास और पुराणको पाँचवाँ वेद कहा गया है—**'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्'** (७। १। २)। **'भारतं पञ्चमो वेदः'**—यह उक्ति भी प्रसिद्ध है। पञ्चम वेद महाभारतके अन्तर्गत गीता स्वतः-प्रमाणभूत एक उपनिषद् है। यह बात प्रत्येक अध्यायके अन्तमें दी गयी पुष्पिकाके **'श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु'** पदसे भी स्पष्ट हो जाती है। इस दृष्टिसे गीताका प्रत्येक श्लोक वैदिक मन्त्ररूप है। वेदमें जो मन्त्र, वाक्य अथवा छन्द जिस रूपमें उपलब्ध हैं, वे उसी रूपमें शुद्ध हैं। उनपर लौकिक अनुशासन या व्याकरणका नियम लागू नहीं हो सकता। फिर भी लौकिक अनुशासनकी दृष्टिसे जो प्रयोग साधु नहीं हैं या लोकमें प्रयुक्त नहीं हैं, उनके लिये वैयाकरणोंने **'छन्दसि दृष्टानुविधिः'** (वेदमें जैसा प्रयोग देखा गया है, वह उसी रूपमें विहित है)—यह सिद्धान्त लागू कर दिया है। इसके अतिरिक्त लौकिक व्याकरणके सारे नियम और विधान वेदमें विकल्पसे होते हैं, जैसा कि **'सर्वे विधयश्छन्दसि वैकल्पिकाः'**—इस परिभाषासे सिद्ध है। इस परिभाषाका मूल **'षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा'** (पाणिनि० अष्टा० १। ४। ९)—यह सूत्र है। इस सूत्रमें **'वा'** शब्दको पृथक् करके उसे स्वतन्त्र सूत्र मान लेते हैं। इस क्रियाको योगविभाग कहते हैं। **'वा'**में **'छन्दसि'** पदकी अनुवृत्ति होती है। तब उसका अर्थ इस प्रकार होता है—'सभी विधियाँ वेदमें विकल्पसे होती हैं।' यह विकल्प बाहुलकरूप ही है। **'बहुलं छन्दसि'** आदि सारी वैदिक प्रक्रिया इसीका विस्तार है।

व्याकरण-शास्त्रमें बाहुलक चार प्रकारका माना गया है—(१) कहीं प्रवृत्ति, (२) कहीं अप्रवृत्ति, (३) कहीं विकल्प अर्थात् प्रवृत्ति भी और अप्रवृत्ति भी और (४) कहीं सूत्रोंमें आपेक्षित निमित्तोंसे अन्य, सर्वथा भिन्न, विपरीत तथा उनके अभावमें भी कार्यका पूर्ण हो जाना ।

इसी प्रसङ्गमें **'व्यत्ययो बहुलम्'** (पाणिनि० अष्टा० ३ । १ । ८५)—इस सूत्रसे छन्दमें विकरणोंका बहुल प्रकारसे व्यत्यय कहा गया है। यहाँ महाभाष्यकार पतञ्जलिका कथन है कि विकरणोंके अतिरिक्त सुप्, तिङ्, उपग्रह (आत्मनेपद-परस्मैपद), लिङ्ग, प्रथम आदि पुरुष, भूतादि कालवाची प्रत्यय, हल् अच् उदात्तादि स्वर, कर्त्ता आदि कारक, यङ् अर्थात् **'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्'** (पाणिनि० अष्टा० ३ । १ । २२) सूत्रघटक 'यङ्' के यकारसे लेकर **'लिङ्याशिष्यङ्'** (पाणिनि० अष्टा० ३ । १ । ८६) सूत्रघटक 'अङ्' के ङकार-पर्यन्त प्रत्याहार मानकर तन्मध्यवर्ती स्य-तासि-शप्-श्यन् आदि विकरण, ल्िस्थानीय सिजादि आदेश, आम्, यङ्, णिच्, णिङ्, आय्, इयङ्—इनका व्यत्यय भी व्याकरण-शास्त्रकर्ता आचार्य पाणिनिको अभीष्ट है और वह बाहुलकसे सिद्ध है; अतः सूत्रमें **'बहुलम्'** पद प्रयुक्त हुआ है ।

'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः' (पाणिनि० अष्टा० ७ । १ । ३९)—इस सूत्रमें वेदमें सुप्के स्थानपर सुलुक्, पूर्वसवर्ण, आ, आत्, शे, या, डा, ड्या, आच् और आल् आदेश होते हैं ।

उपर्युक्त सिद्धान्तके आधारपर गीता-सम्बन्धी आर्ष (वैदिक) प्रयोगोंकी तालिका नीचे दी जा रही है—

क्रम-संख्या	श्लोकांश	अध्याय	श्लोक	विवरण
१	न काङ्क्षे विजयं कृष्ण	१	३२	परस्मैपदके स्थानमें आत्मनेपदका प्रयोग आर्ष है ।
२	व्रजेत	२	५४	,, ,, ,,
३	नमेरन् महात्मन्	११	३७	,, ,, ,,
४	विशते तदनन्तरम्	१८	५५	,, ,, ,,
५	न तु मां शक्यसे द्रष्टुम्	११	८	परस्मैपदके स्थानमें आत्मनेपद तथा विकरण-व्यत्यय आर्ष है ।
६	इषुभिः प्रति योत्स्यामि	२	४	आत्मनेपदके स्थानमें परस्मैपदका प्रयोग आर्ष है ।
७	यततो* ह्यपि	२	६०	,, ,, ,,
८	यदि ह्यहं न वर्तेयम्	३	२३	,, ,, ,,
९	नोद्विजेत्	५	२०	,, ,, ,,
१०	वश्यात्मना तु यतता	६	३६	,, ,, ,,
११	कश्चिद्यतति	७	३	,, ,, ,,
१२	यततामपि सिद्धानाम्	७	३	,, ,, ,,
१३	मामाश्रित्य यतन्ति ये	७	२९	,, ,, ,,
१४	युध्य च	८	७	,, ,, ,,
१५	यतन्तश्च दृढव्रताः	९	१४	,, ,, ,,

* गीतामें प्रयुक्त हुई धातुओंमेंसे 'यती प्रयत्ने', 'वृतु वर्तने' आदि, धातुएँ 'अनुदात्तेत्' होनेसे स्वतः आत्मनेपदमें चलती हैं । इस दृष्टिसे 'यतति, यतताम्, यततः, निवर्तन्ति' आदि क्रियाओं, पदोंको आर्ष माना जाता है । परंतु 'अनुदात्तेत्त्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यं चक्षिङ् ङित् करणाद् ज्ञापकात्'—इस ज्ञापक (नियम) से (आत्मनेपदमें चलनेवाली) सभी धातुएँ अनित्य होती हैं । इस दृष्टिसे 'यतति, निवर्तन्ति' आदि क्रियाओं, पदोंको आर्ष नहीं मानना चाहिये ।

क्रम-संख्या	श्लोकांश	अध्याय	श्लोक	विवरण
१६	प्रतिजानीहि	९	३१	आत्मनेपदके स्थानमें परस्मैपदका प्रयोग आर्ष है
१७	रमन्ति च	१०	९	” ” ”
१८	प्रलये न व्यथन्ति च	१४	२	” ” ”
१९	अवतिष्ठति	१४	२३	” ” ”
२०	निवर्तन्ति भूयः	१५	४	” ” ”
२१	यतन्तः; यतन्तः	१५	११	” ” ”
२२	नैव त्यागफलं लभेत्	१८	८	” ” ”
२३	अशोच्यानन्वशोचः	२	११	लुङ्के स्थानमें लङ्का प्रयोग आर्ष है।
२४	प्रसविष्यध्वम्	३	१०	लोट्के स्थानमें यह प्रयोग आर्ष है।
२५	सर्वशः पृथिवीपते	१	१८	शास्त्रापेक्षित निमित्तके अभावमें 'शस्'का प्रयोग आर्ष है।
२६	कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः	२	५८	” ” ”
२७	गुणकर्मविभागशः	४	१३	” ” ”
२८	श्रुतौ विस्तरशो मया	११	२	” ” ”
२९	अल्पमेधसाम्	७	२३	शास्त्रापेक्षित निमित्तके अभावमें 'असिच्'-का प्रयोग आर्ष है।
३०	हे सखेति	११	४१	यहाँ सन्धिका प्रयोग आर्ष है।
३१	प्रियायार्हसि	११	४४	” ” ”
३२	तस्याराधनम्	७	२२	” ” ”
३३	जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते	२	५०	यहाँ सन्धिका अभाव आर्ष है।
३४	शक्य अहं नृलोके	११	४८	” ” ”
३५	भक्त्या त्वनन्यया शक्य अह-मेवंविधोऽर्जुन	११	५४	” ” ”
३६	मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः	१२	८	” ” ”
३७	निवसिष्यसि	१२	८	'इट्' का आगम आर्ष है।
३८	नमस्कृत्वा	११	३५	'ल्यप्' के स्थानमें 'क्त्वा'का प्रयोग आर्ष है।
३९	एतन्मे संशयम्	६	३९	यहाँ नपुंसकलिङ्ग आर्ष है।
४०	महिमानं तवेदम्	११	४१	” ” ”
४१	संप्रवृत्तानि; निवृत्तानि	१४	२२	” ” ”
४२	सेनानीनाम्	१०	२४	'यग्'के स्थानमें 'नुट्' आर्ष है।

छन्दःशास्त्रमें दो तरहके आर्ष माने जाते हैं— निचृत् और भुरिक्। छन्दके नियमानुसार जिस छन्दमें अक्षर कम होते हैं, उसे 'निचृत् आर्ष'; और जिस छन्दमें अक्षर अधिक होते हैं, उसे 'भुरिक्' आर्ष कहते हैं।
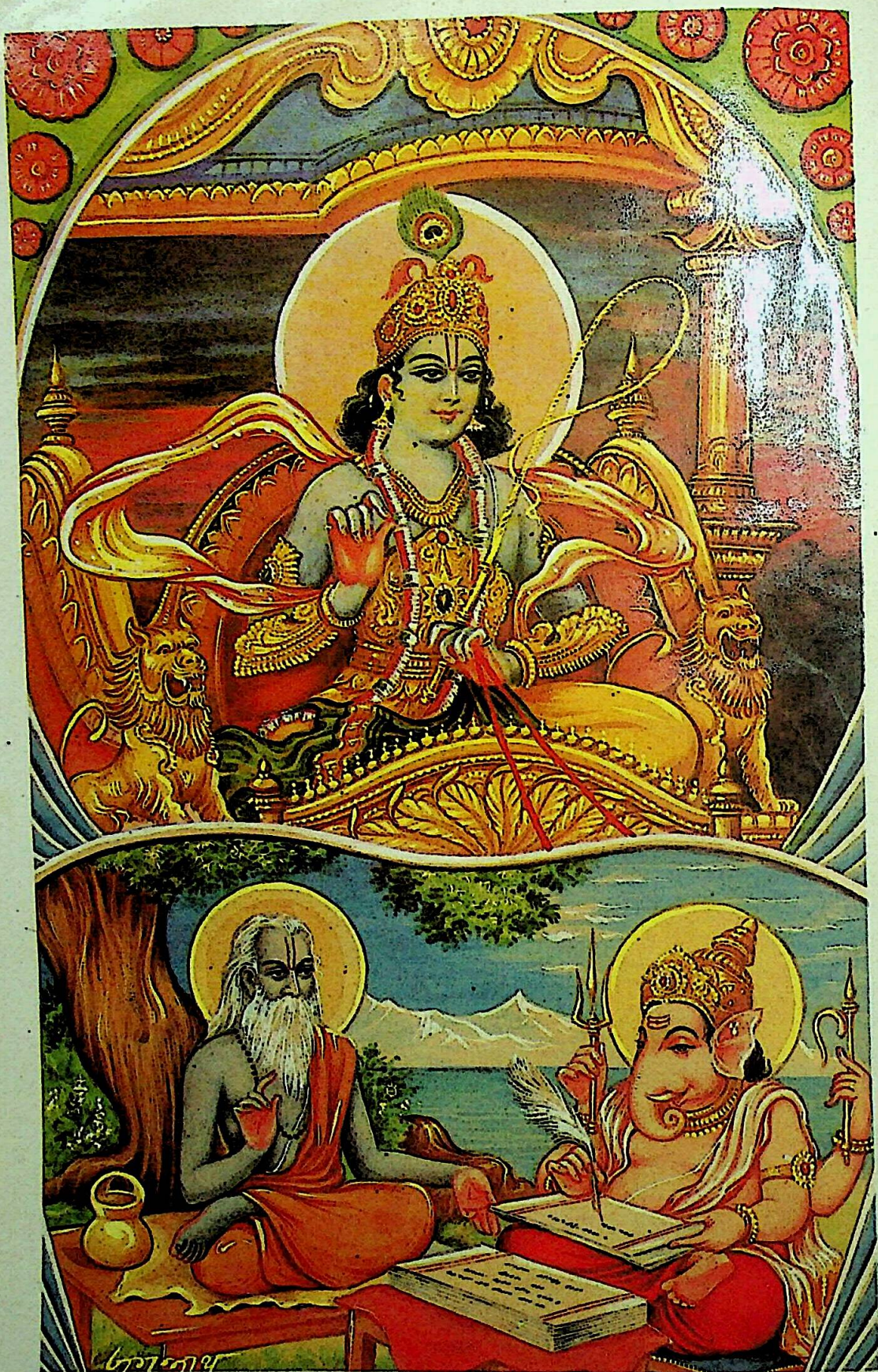
व्यासजी और गणेशजी

दूसरे अध्यायके छठे श्लोकमें 'जगती' छन्दके नियमानुसार तीसरे और चौथे चरणोंमें एक अक्षर कम होनेसे अर्थात् ग्यारह अक्षर होनेसे यह 'निचृत् आर्ष' छन्द है। इसी श्लोकमें 'त्रिष्टुप्' छन्दके नियमानुसार पहले और दूसरे चरणोंमें एक अक्षर अधिक होनेसे अर्थात् बारह अक्षर होनेसे यह 'भुरिक् आर्ष' छन्द है।

दूसरे अध्यायके उन्तीसवें श्लोकमें 'जगती' छन्दके नियमानुसार पहले, तीसरे और चौथे चरणोंमें एक अक्षर कम होनेसे यह 'निचृत् आर्ष' छन्द है। इसी श्लोकमें 'त्रिष्टुप्' छन्दके नियमानुसार दूसरे चरणमें एक अक्षर अधिक होनेसे यह 'भुरिक् आर्ष' छन्द है।

आठवें अध्यायके दसवें श्लोकमें 'जगती' छन्दके नियमानुसार पहले, दूसरे और तीसरे चरणोंमें एक अक्षर कम होनेसे यह 'निचृत् आर्ष' छन्द है। इसी श्लोकमें 'त्रिष्टुप्' छन्दके नियमानुसार चौथे चरणमें एक अक्षर अधिक होनेसे यह 'भुरिक् आर्ष' छन्द है।

ग्यारहवें अध्यायके पहले श्लोकमें 'अनुष्टुप्' छन्दके नियमानुसार एक अक्षर अधिक होनेसे अर्थात् तैंतीस अक्षर होनेसे यह 'भुरिक् आर्ष' छन्द है।

पंद्रहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें 'जगती' छन्दके नियमानुसार दूसरे, तीसरे और चौथे चरणोंमें एक अक्षर कम होनेसे यह 'निचृत् आर्ष' छन्द है। इसी श्लोकमें 'त्रिष्टुप्' छन्दके नियमानुसार पहले चरणमें एक अक्षर अधिक होनेसे यह 'भुरिक् आर्ष' छन्द है।

गीत...

भगव...

महर्षि ... ः सौ बीस श्लोक कहे

वैशम्पायनजीने ... हैं, संजयने सड़सठ

श्लोक बताये हैं- ... श्लोक कहा है। यह

षट्शतानि ... *

अर्जुनः सप्तपञ्चाशत् सप्त... ...नुसार अठारह अध्यायोंके

धृतराष्ट्रः श्लोकमेकं गीताया ...

(भीष्म० ४३।४-५) सम्पूर्ण श्लोक जोड़नेपर पाँच सौ चौहत्तर श्लोक भगवान्

---
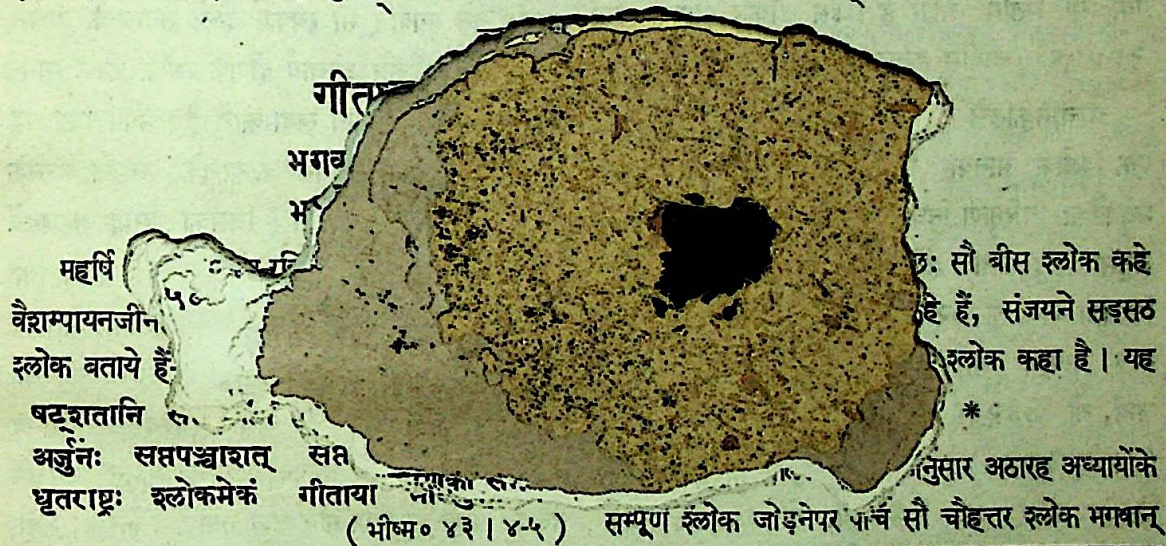
* महाभारत (आदिपर्व १।७४-८३) में आता है कि ब्रह्माजीके कहनेसे महर्षि वेदव्यासजीने गणेशजीसे महाभारत-ग्रन्थका लेखक बननेकी प्रार्थना की। इसपर गणेशजीने एक शर्त रखी कि यदि लिखते समय क्षणभरके लिये भी मेरी लेखनी न रुके तो मैं इस ग्रन्थका लेखक बन सकता हूँ। वेदव्यासजीने भी गणेशजीके सामने यह शर्त रखी कि आप भी बिना समझे किसी भी प्रसङ्गमें एक अक्षर भी न लिखें। गणेशजीने इसे स्वीकार कर लिया और महाभारत लिखने बैठ गये। लिखवाते समय बीच-बीचमें वेदव्यासजी ऐसे-ऐसे (गूढ़ अर्थवाले) कूट-श्लोक बोल देते थे, जिन्हें समझनेके लिये गणेशजीको थोड़ा रुकना पड़ता था। उतने समयमें वेदव्यासजी और बहुत-से श्लोकोंकी रचना कर लेते थे। गीता-परिमाण-सम्बन्धी श्लोक भी ऐसे ही कूट श्लोक प्रतीत होते हैं। इसलिये कोई-कोई टीकाकार गीता-परिमाणकी संगति बैठानेमें असमर्थ होकर इन श्लोकोंको प्रक्षिप्त (क्षेपक) मान लेते हैं। परंतु वास्तवमें ये महाभारतके ही श्लोक प्रतीत होते हैं; क्योंकि एक तो ये महाभारतकी पुरानी-से-पुरानी प्रतियोंमें पाये जाते हैं और दूसरे, गीताका गहराईसे विचार करनेपर इन श्लोकोंके अनुसार गीता-परिमाणकी संगति ठीक-ठीक बैठ जाती है।

महाभारतकी जिन प्रतियोंमें हमें गीता-परिमाण-सम्बन्धी उपर्युक्त श्लोक मिले हैं, उनका परिचय इस प्रकार है—

(१) गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित—

पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्त शास्त्रीकृत हिंदी-टीका, पृष्ठ २८। ३।

(२) सनातनधर्म प्रेस, मुरादाबादसे प्रकाशित—श्रीरामस्वरूपकृत हिंदी-टीका, पृ० १८४।

श्रीकृष्णके, चौरासी श्लोक अर्जुनके, इकतालीस श्लोक संजयके और एक श्लोक धृतराष्ट्रका है, जिनका कुल योग सात सौ होता है। इन सात सौ श्लोकोंमें छः सौ चौवालीस श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं, एक श्लोक (११।१) तैंतीस अक्षरोंका है, इक्यावन श्लोक चौवालीस अक्षरोंके हैं, तीन श्लोक (२।२९; ८।१०; और १५।३) पैंतालीस अक्षरोंके हैं और एक श्लोक (२।६) छियालीस अक्षरोंका है। इस प्रकार गीताके श्लोकोंके सम्पूर्ण अक्षर २३०६६ (तेईस हजार छाछठ) हैं। पुष्पिकाओंके कुल आठ सौ तिहत्तर अक्षर हैं। उवाचोंके कुल तीन सौ तिरासी अक्षर हैं। **'अथ श्रीमद्भगवद्गीता', 'अथ प्रथमोऽध्यायः'** आदिके कुल एक सौ सैंतीस अक्षर हैं। इस प्रकार गीता[illegible] २४४५९ (चौबीस हज[illegible]

प्राचीनकालसे [illegible]
एक श्लोक मानकर [illegible]
श्लोकोंका परिमाण नि[illegible]
अनुसार यदि गीताके श्लो[illegible]
निकाला जाय, तो ७२[illegible]
साथ 'उवाच' के [illegible]
जायँ, तो ७३२ ५/३२ [illegible]
(श्लोकाक्षरोंके) सा[illegible]
तिहत्तर अक्षर जोड़ दिये जायँ, तो ७४८ ३/३२ श्लोक होते हैं। यदि श्लोकोंके सम्पूर्ण अक्षरोंके साथ 'उवाच' 'पुष्पिका' और **'अथ प्रथमोऽध्यायः'** आदिके कुल १३९३ (एक हजार तीन सौ तिरानबे) अक्षर और जोड़ें, तो ७६४ ११/३२ श्लोक होते हैं। इस तरह किसी भी प्रकारसे महाभारत-कथित गीताके परिमाणकी संगति नहीं बैठती। फिर भी परिमाण-सूचक श्लोक उपलब्ध होनेके कारण परिमाणकी संगति बैठाना आवश्यक समझकर एक संतके द्वारा प्राप्त संकेतके अनुसार चेष्टा की गयी है। विद्वानोंसे निवेदन है कि वे इसपर गम्भीरतासे विचार करके अपनी सम्मति देनेकी कृपा करें।

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीमद्भगवद्गीताके प्रथम अध्यायको देखनेसे पता चलता है कि अर्जुन युद्धके लिये पूर्णरूपसे तैयार हैं। वे स्वयं रथी बने हैं और सारथि बने भगवान्को दोनों सेनाओंके बीचमें रथ खड़ा करनेकी आज्ञा देते हैं—**'सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत'** (१।२१)। [illegible] बने भगवान् भी रथको दोनों सेनाओंके बीचमें,
[illegible] और आचार्य द्रोणके रथोंके ठीक सामने
[illegible]थ खड़ा करते हैं। भगवान्की यह
[illegible]नको कल्याणके उन्मुख करनेके
[illegible]ी (जिसकी सिद्धि अठारहवें
[illegible] भगवान्को
[illegible]नाकर गीताका
[illegible] लिये अर्जुनको
[illegible] युद्धस्थलमें पितामह
[illegible] द्रोणको अपने सामने विपक्षमें देखकर अर्जुनका छिपा मोह जाग गया। इतना ही नहीं, भगवान्ने स्वयं कहा भी कि हे पार्थ! युद्धके लिये एकत्र हुए इन कुरुवंशियोंको देख—**'उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति'** (१।२५)। यहाँ भगवान्ने 'धृतराष्ट्रके पुत्रोंको देख' यह न कह

---

(३) महाभारत-प्रकाशक-मण्डल, मालीवाड़ा, दिल्लीसे प्रकाशित—श्रीगंगाप्रसाद शास्त्रीकृत हिंदी-टीका पृ० ३८७।
(४) स्वाध्याय-मण्डलद्वारा प्रकाशित—श्रीपाद दामोदर सातवलेकरकृत हिंदी-टीका, पृ० २२१।
(५) श्रीद्वारकाप्रसाद शर्माद्वारा किया महाभारतका हिंदी-अनुवादमात्र, पृ० १४६।
(६) महाभारतकी नीलकण्ठी टीका—मूलमें गीता-परिमाण-सम्बन्धी श्लोक दिये हैं; किंतु उनकी टीका न करके 'गीता सुगीता कर्तव्या इत्यादयः सार्धाः पञ्च श्लोकाः गौडैर्न पठ्यन्ते' ऐसा लिखा है।

* श्रीमद्भागवतमहापुराणको 'अन्वितार्थप्रकाशिका' टीकाके लेखक पं० श्रीगंगासहायजी शर्माने भी श्रीमद्भागवतके श्लोकोंकी गणनाके लिये इसी अक्षर-गणनाकी (सम्पूर्ण अक्षरोंमें बत्तीसका भाग देनेवाली) पद्धतिको अपनाया है और प्रत्येक अध्यायके अन्तमें उसके श्लोकोंकी गणनाको श्लोकबद्ध करके लिखा है। यह बात दूसरी है कि उनकी गणनाके अनुसार श्रीमद्भागवतके अठारह हजार श्लोकोंमेंसे केवल डेढ़ श्लोक ही कम हैं।

इसी अक्षर-गणनाके आधारपर किसी ग्रन्थके लेखकको पारिश्रमिक देनेकी परम्परा भी प्राचीनकालसे है।

करके कुरुवंशियोंको देखनेके लिये कहा। ऐसा कहनेमें भी स्पष्ट ही अर्जुनका मोह जाग्रत् करनेका भाव मालूम देता है। यदि भगवान् **'कुरून् पश्य'**की जगह **'धार्तराष्ट्रान् पश्य'** कह देते तो सम्भवतः अर्जुनका मोह जाग्रत् न होकर युद्ध करनेका उत्साह ही विशेष बढ़ता; क्योंकि **'धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः'** (१।२३)—यह अर्जुनने पहले ही कहा था! पाण्डव और दुर्योधनादि—दोनों ही उस कुरुवंशके थे; अतः **'कुरु'** शब्दसे अर्जुनका मोह जाग्रत् होना स्वाभाविक ही था। पहले युद्धकी भावनासे जिन्हें अर्जुन **'धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेः'** कह रहे थे, उन्हें ही अब वे स्वजन कहने लगे—**'दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण'** (१।२८)। युद्धमें स्वजनोंके संहारकी आ[illegible] है। इस मोहके कारण अर्जुन किंकर्तव्यवि[illegible] हैं। फिर भी भगवान्की शरण हो[illegible] की बात पूछते हैं (२।७) [illegible] गीतोपदेश देते हैं। इससे [illegible] गीता सुनने[illegible] भगवान्के द्वारा [illegible] है, 'अर्जुनगीता' [illegible] 'भगवद्गीता' कहन[illegible] ता[illegible] श्रीकृष्णार्जुन-संवाद होते हुए भी अ[illegible] ही बोल रहे हैं अर्थात् इसमें केवल भगवान्के वचन हैं।

उवाच भी श्लोक

अब गीता-परिमाणकी संगतिपर विचार किया जाता है। महाभारतके प्रवक्ता महर्षि वैशम्पायन हैं और श्रोता महाराज जनमेजय हैं। महर्षि वैशम्पायनने संजय और धृतराष्ट्रके संवादको ध्यानमें रखते हुए ही गीताके परिमाणका कथन किया है।

गीतामें **'श्रीभगवानुवाच'** अट्ठाईस बार, **'अर्जुन उवाच'** इक्कीस बार, **'संजय उवाच'** नौ बार, और **'धृतराष्ट्र उवाच'** एक बार आया है। **'श्रीभगवानुवाच'** और भगवत्-शरणागतिके बाद भगवत्प्रेरित **'अर्जुन उवाच'** को श्लोकात्मक मान लेनेपर गीताका परिमाण (७४५ श्लोक) सिद्ध हो जाता है।

पिङ्गलाचार्य-रचित **'पिङ्गलच्छन्दःसूत्रम्'** ग्रन्थके अनुसार एक अक्षरका और एक पदका भी छन्द होता है। एक गाथाछन्द होता है, जिसमें अक्षरों और मात्राओंका भी नियम नहीं है। 'दुर्गासप्तशती'में भी **'उवाच'** को पूरा श्लोक माना गया है। इस दृष्टिसे गीता-परिमाणमें भी **'उवाच'**को पूरा श्लोक माननेमें आपत्ति नहीं होनी चाहिये। हाँ, कुछ स्थानोंपर शङ्का हो सकती है, जिसका समाधान आगे किया जा रहा है।

गीता-परिमाणके अनुसार भगवान्के छः सौ बीस श्लोक हैं, जब कि गीताकी प्रचलित प्रतिके अनुसार पाँच सौ चौहत्तर श्लोक ही होते हैं। अतः अब शेष छियालीस श्लोकोंपर विचार करना है।

[illegible] देखनेसे पता चलता है कि भगवान्के [illegible] भाव जाग्रत् हुआ है। [illegible] रहक[illegible] नामें मान लिया जाना [illegible] होनेसे मन्त्रस्वरूप हैं। [illegible] करते [illegible] मन्त्र-द्रष्टा संजय हैं। [illegible] अभी [illegible] बाद तत्त्व-जिज्ञासुके [illegible] ना[illegible] रे अध्यायके चौवनवें [illegible] को [illegible] पहले श्लोकतक सत्रह [illegible] मे [illegible] (२८+१७=४५) [illegible] मे[illegible]। इन पैंतालीस उवाचोंको गीताकी प्रचलित प्रतिके अनुसार भगवान्के कहे हुए पाँच सौ चौहत्तर श्लोकोंके साथ जोड़ देनेपर छः सौ उन्नीस श्लोक भगवान्के हो जाते हैं।

गीताकी प्रचलित प्रतिमें अन्तिम **'अर्जुन उवाच'** (१८।१) के बाद अठारहवें अध्यायका तिहत्तरवाँ श्लोक भी अर्जुनका है; किंतु गीतापरिमाणमें **'अर्जुन उवाच'**—सहित एक श्लोक मानकर उसे भगवान्के श्लोकोंमें ही सम्मिलित किया गया है। इसके कारणोंका उल्लेख आगे किया जायगा।

भगवत्प्रेरित अर्जुन

भगवान्का अथवा किसी जीवन्मुक्त महापुरुष, अधिकारी कारक पुरुषका भाव जब किसी जीवके कल्याणका हो जाता है, तब उसका उसी क्षण कल्याण

निश्चित समझ लेना चाहिये, जब कि उसे इसका उसी क्षण अनुभव नहीं होता। इसका पता तो उसे बादमें चलता है। कारण कि जब उसमें रहनेवाली कमियोंको भगवान् अथवा महापुरुष उस जीवके द्वारा शङ्काओंके रूपमें प्रकट कराकर दूर कर देते हैं, तब उसे अपने कल्याण (भगवान्से साधर्म्य) का पता चलता है।

अर्जुनने जब एक अक्षौहिणी नारायणी सेनाको छोड़कर केवल निःशस्त्र भगवान्को ही स्वीकार किया*, उसी समय भगवान्के हृदयमें अर्जुनके कल्याणका भाव जाग्रत् हो गया। कारण कि जब साधक वैभवका त्याग करके केवल भगवान्को स्वीकार कर लेता है, तब भगवान्पर उसके कल्याणका उत्तरदायित्व आ जाता है। भगवान्का भाव अर्जुनके कल्याणका हो [illegible] कल्याण तो निश्चित [illegible] कमियोंको दूर कर [illegible] करवाते हैं और उनका [illegible] नष्ट कर देते हैं, जैसे अ[illegible]

गीताको देखनेसे प[illegible] गतिके बाद भगवत्प्रेरि[illegible] शरणागतिके बाद [illegible] चौवनवें श्लोकमें स्थित[illegible] हैं। यहाँ भगवत्प्रेरित [illegible] अर्जुन भगवत्प्रेरित न होते तो उनकी शङ्काएँ युद्धके विषयमें ही होतीं। वे ऐसी शङ्काएँ ही करते कि युद्ध करना चाहिये या नहीं अथवा युद्ध कैसे करें आदि; क्योंकि वे युद्धका उद्देश्य लेकर ही युद्धभूमिमें आये थे; परंतु यहाँ अर्जुन ऊँचे-से-ऊँचे अध्यात्मतत्त्वकी बात (स्थितप्रज्ञके विषयमें) पूछ रहे हैं। इससे सिद्ध होता है कि अध्यात्म-विषयक वे शङ्काएँ, जो अर्जुनके अन्तःकरणमें थीं, भगवान्की प्रेरणासे जाग उठीं। उन्हें ही भगवत्प्रेरित अर्जुन पूछ रहे हैं।

भगवान्की शरणागति स्वीकार करनेके बाद भगवत्प्रेरित अर्जुनद्वारा लोकोपकारके लिये की हुई शङ्काओंके आरम्भमें 'अर्जुन उवाच'—रूप श्लोक महर्षि वेदव्यासके द्वारा लिखे गये हैं और इन श्लोकोंको उन्होंने गीता-परिमाणमें भगवान्के ही श्लोक माने हैं—ऐसा प्रतीत होता है। महर्षि वेदव्यासजी अधिकार लेकर आये हुए कारक महापुरुष हैं। उनके कहे हुए श्लोकोंको इधर-उधर करनेका किसे अधिकार है? उनके द्वारा किये गये वेदोंके चार भाग आज भी चार ही माने जाते हैं। गीतामें भगवान्के लगातार बोलते रहनेपर भी भगवान्के उपदेशको स्पष्टरूपसे समझानेके लिये वेदव्यासजीने उसे भिन्न-भिन्न अध्यायोंके रूपमें विभक्त करके चौथे, छठे, सातवें, नवें, दसवें, तेरहवें, चौदहवें, पंद्रहवें और सोलहवें अध्यायके आरम्भमें पुनः 'श्रीभगवानुवाच'—रूप श्लोक देकर उन्हें भगवान्के [illegible]म्मिलित किया है। ऐसे ही भगवत्प्रेरित [illegible] शङ्काओंके श्लोकोंके आरम्भमें [illegible] श्लोकोंको भी भगवान्के ही [illegible] है, परंतु उन श्लोकोंमें शङ्काएँ [illegible] के श्लोकोंके [illegible] हैं।

[illegible] अभिन्न हो जाता [illegible] होते हैं गुलामको'। परंतु [illegible]ङ्काएँ रहती हैं, तबतक उसका गुरुसे अलगाव रहता है। शिष्यकी शङ्काएँ व्यक्तिगत होनेसे ही उसका गुरुके साथ शङ्का-समाधानरूप संवाद होता है अर्थात् गुरुके साथ अभिन्नता होते हुए भी जहाँ गुरु-शिष्यका संवाद होता है, वहाँ गुरु और शिष्यमें भेद रहता है। ऐसे ही शरणागत होनेके बाद अर्जुन भगवान्के साथ अभिन्न हो जाते हैं, परंतु जबतक उनमें शङ्काएँ रहती हैं, तबतक उनका भगवान्से अलगाव रहता है। कारण कि यदि दूसरे अध्यायके चौवनवें श्लोकसे लेकर अठारहवें अध्यायके पहले श्लोकतक आये 'अर्जुन उवाच'के बाद कहे हुए श्लोक अर्जुनकी व्यक्तिगत शङ्काओंके द्योतक नहीं होंगे तो 'श्रीकृष्णार्जुनसंवाद'

* एवमुक्तस्तु कृष्णेन कुन्तीपुत्रो धनंजयः। अयुध्यमानं संग्रामे वरयामास केशवम्॥
(महाभारत, उद्योग० ७। २१)

ही सिद्ध नहीं होगा । अतः **'अर्जुन उवाच'** तो भगवत्प्रेरित ही है और शङ्कामात्र अर्जुनकी है । आगे चलकर जब उनकी शङ्काएँ सर्वथा मिट जाती हैं, तब वे भगवान्‌के साथ सर्वथा अभिन्न अर्थात् भगवत्स्वरूप हो जाते हैं (१८ । ७३) ।

लोकसंग्राहक श्रीभगवान्

अठारहवें अध्यायके बहत्तरवें श्लोकमें भगवान् स्वयं ही प्रश्न करते हैं और तिहत्तरवें श्लोकमें लोकसंग्रहके लिये अर्जुनके माध्यमसे स्वयं ही उत्तर देते हैं ।

भगवान् और संत-महात्माओंकी वाणीमें कई जगह ऐसा पाया जाता है कि वे स्वयं ही साधक बनकर प्रश्न करते हैं और गुरु बनकर उत्तर देते हैं । जैसे, 'अनुगीता' (महाभारत) में स्वयं भगवान्‌ने अर्जुनके प्रति यह रहस्य प्रकट किया है—

अहं गुरुर्महाबाहो मनः शि[illegible]
त्वत्प्रीत्या गुह्यमेतच्च कथि[illegible]
(महा० [illegible])

'हे मह[illegible] मैं ही [illegible]
शिष्य समझ[illegible] ५[illegible]
रहस्यका वर्णन [illegible]

श्रीशंकराचा[illegible]
है कि वे स्वयं ही शिष्य बन[illegible] [illegible]का [illegible]
स्वयं ही गुरु बनकर उत्तर देते हैं—

अपारसंसारसमुद्रमध्ये सम्मज्जतो मे शरणं किमस्ति ।
गुरो कृपालो कृपया वदैतद्विश्वेशपादाम्बुजदीर्घनौका ॥
(प्रश्नोत्तरी १)

'हे दयामय गुरुदेव ! कृपा करके यह बताइये कि अपार संसाररूप समुद्रमें मुझ डूबते हुएका आश्रय क्या है ? (गुरुका उत्तर मिलता है—) विश्वपति परमात्माके चरणकमलरूप जहाज ।'

इसी प्रकार अठारहवें अध्यायके बहत्तरवें श्लोकमें भी अर्जुनका मोह नष्ट हुआ या नहीं—यह जाननेके लिये भगवान्‌का प्रश्न नहीं है । कारण कि भगवान् सर्वज्ञ हैं । वे नाटकके सूत्रधारकी तरह संसाररूप नाटकको पूरा जानते हैं । वे जानते हैं कि अर्जुनका मोह नष्ट हो गया है । इसीलिये वे अठारहवें अध्यायके छाछठवें श्लोकमें अपने उपदेशका उपसंहार कर देते हैं और फिर गीता-श्रवणके अनधिकारी और अधिकारीका वर्णन करके गीताका माहात्म्य बता देते हैं । इसका अभिप्राय यह हुआ कि भगवान्‌ने पहलेसे ही यह जान लिया है कि अर्जुनका मोह अब सर्वथा नष्ट हो गया है । तभी तो वे अपने उपदेशका उपसंहार कर देते हैं, जब कि अर्जुनने अभीतक अपना मोह नष्ट होना स्वीकार नहीं किया है ।

अन्य परीक्षक तो 'परीक्षार्थी क्या जानता है'— इसे जाननेके लिये ही उसकी परीक्षा लेते हैं, पर भगवान्‌की परीक्षा जीव (भक्त) को उसकी वास्तविक स्थिति जाननेके लिये होती है अर्थात् वे दिखाते हैं कि [illegible] देख ले, तेरी स्थिति कहाँतक है । भगवान् तो [illegible]ते ही हैं । इसका प्रमाण [illegible]रहवें अध्यायके पहले [illegible] कहकर अर्जुन अपने [illegible] करते हैं; परंतु भगवान् [illegible] अभी अर्जुनका मोह नष्ट [illegible]नानेके लिये वे ग्यारहवें [illegible] कहते हैं—'मा ते [illegible] मोहके सर्वथा चले [illegible]भाव (मोह) पैदा ही [illegible] होते; परंतु भय[illegible] अर्जुन ! तुम्हें व्याकुलता और विमूढ़भाव—दोनों ही हो रहे हैं; अतः तुम देख लो कि अभी तुम्हारा मोह सर्वथा नष्ट नहीं हुआ है ।

आगे चलकर (१८ । ६६ के बाद) भगवान् अर्जुनकी स्वीकृतिके बिना भी यह जान जाते हैं कि अब उनका मोह सर्वथा नष्ट हो गया है और वे मेरे साधर्म्यको प्राप्त हो गये हैं; परंतु लोकसंग्रहकी दृष्टिसे भगवान् बहत्तरवें श्लोकमें प्रश्न करते हैं और तिहत्तरवें श्लोकमें अर्जुनके माध्यमसे स्वयं ही उसका उत्तर देते हैं, जिससे लोगोंको यह ज्ञात हो जाय कि गीताको एकाग्रतापूर्वक सुननेमात्रसे मोहका सर्वथा नाश हो जाता है और तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है । अतः भगवत्-साधर्म्य-प्राप्त (भगवत्स्वरूप) अर्जुनका यह (१८ । ७३)

श्लोक भगवान्‌का ही मानना चाहिये। तात्पर्य यह है कि भगवान् लोकसंग्रहके लिये ही अर्जुनसे यह श्लोक कहलवाते हैं।

भगवत्स्वरूप अर्जुन

जिस प्रकार भगवत्-शरणागतिके बाद अर्जुनके 'भगवत्प्रेरित' होनेसे श्लोकरूप **'अर्जुन उवाच'** भगवान्‌के ही श्लोक माने गये हैं, उसी प्रकार मोहनाशके बाद अर्जुनके 'भगवत्स्वरूप' होनेसे अठारहवें अध्यायका तिहत्तरवाँ श्लोक भी भगवान्‌का ही माना गया है।

अठारहवें अध्यायके तिहत्तरवें श्लोकको भगवान्‌का माननेपर यह शङ्का हो सकती है कि भगवान् स्वयं ही **'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादात्……'** आदि पदोंको अपने प्रति कैसे कह सकते हैं? ये शब्द तो साधक (अर्जुन) के … समाधान यह है … भगवान्‌के साथ … कुछ नहीं रहा, वे सर्व… द्वारा होनेवाली सभी क्रि… जीव-भावसे मुक्त भ… श्लोक तात्त्विक दृष्टि… जा सकता है। … जानेपर भक्त और भ… **'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्'** … स्वयं भगवान् कहते हैं—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** (गीता ७। १८) 'ज्ञानी (प्रेमी) भक्त तो मेरा स्वरूप ही है—ऐसा मेरा मत है।' और **'मम साधर्म्यमागताः'** (गीता १४। २) 'भक्त मेरे साधर्म्यको प्राप्त हुए हैं'। भगवत्-साधर्म्यको प्राप्त हुए भक्तके वचनको भगवान्‌का ही वचन मानना चाहिये।

जब गुरुका शिष्यमें शक्तिपात होता है, तब शिष्यमें गुरुका अवतार हो जाता है अर्थात् शिष्य गुरुका ही स्वरूप हो जाता है। 'अद्वैतामृतवल्लरी' नामक वेदान्त-ग्रन्थमें चार प्रकारसे शक्तिपात होनेकी बात आयी है—

(१) **स्पर्शसे**—जैसे, मुर्गी अपने अंडेपर बैठी रहती है और इस प्रकार उसके स्पर्श (सम्बन्ध) से अंडा पक जाता है।

(२) **शब्दसे**—जैसे, कुररी आकाशमें शब्द करती हुई घूमती रहती है और इस प्रकार उसके शब्दसे अंडा पक जाता है।

(३) **दृष्टिसे**—जैसे, मछली थोड़ी-थोड़ी देरपर अपने अंडेको देखती रहती है, जिससे अंडा पक जाता है।

(४) **स्मरणसे**—जैसे, कछुई रेतीके भीतर अंडा देती है, पर स्वयं पानीके भीतर रहती हुई उस अंडेका … स्मरण करती रहती है, जिससे अंडा पक … ।*

… स्मरणमात्रसे ही जीवका कल्याण हो … को देखनेसे पता चलता है कि … है, … चारों ही प्रकारसे शक्तिपात … ही स्पर्शसे … है। … सातवें श्लोकमें … अभिप्रायके तिहत्तरवें … ही विशेष-सम्बन्ध जोड़ा है। … 'कृष्णार्जुनसंवाद' है और जहाँ संवाद होता है, वहाँ सम्बन्ध तो रहता ही है। भगवान्‌ने अर्जुनकी शङ्काओंका समाधान किया—यह शब्दसे होनेवाला शक्तिपात है। कृपा दृष्टिके द्वारा प्रकट होती है। भगवान् अर्जुनको कृपापूर्वक देखते हैं—यह दृष्टिसे होनेवाला शक्तिपात है। भगवान् अर्जुनका कल्याण करना चाहते हैं—यह मनसे होनेवाला शक्तिपात है।

सभी जीव भगवान्‌के अंश होनेके नाते मानो उनके अंडे हैं। यदि जीव सर्वथा भगवान्‌की शरण

* उदयपुरमें पिचोला नामक एक प्रसिद्ध सरोवर है। एक बार एक संत वहाँ गये और वहाँके नाविकोंसे उन्होंने कछुईके याद करनेमात्रसे अंडोंका पोषण होनेकी सत्यताका पता लगाया। नाविकोंने इस बातकी पुष्टि की। वहाँ रेतीमें एक कछुईके अंडे दबे पड़े थे, जिसका पता नाविकोंको था। नाविकोंने पानीमें अपना जाल फैलाया। जब उस जालमें वह कछुई फँस गयी, तब उन संतने जाकर देखा कि उसके अंडे गल गये थे। इससे पता चलता है कि जालमें फँसनेसे जब घबराहटमें कछुईका स्मरण छूट गया, तब उसके अंडे गल गये।

*

हो जाय तो उसका मोहरूप आवरण नष्ट हो जाता है और उसे भगवत्-साधर्म्यकी स्मृति प्राप्त हो जाती है। अर्जुनका मोहरूप आवरण नष्ट हो गया है—**'नष्टो मोहः'** और उन्हें स्मृति प्राप्त हो गयी है—**'स्मृतिर्लब्धा'**; अतः अब उनमें और भगवान्‌में भेद नहीं रहा है।

दूसरी बात, यदि सुननेवाला वक्तासे अभिन्न नहीं हुआ तो वास्तवमें उसने सुना ही नहीं। विद्यार्थी पण्डितसे पढ़कर स्वयं पण्डित नहीं बना तो वास्तवमें उसने पढ़ा ही नहीं। ऐसे ही गुरुके पास जाकर भी यदि शिष्य संसारका गुरु अर्थात् तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त नहीं बना तो वास्तवमें उसने गुरुका उपदेश सुना ही नहीं अथवा उसे सच्चा गुरु मिला ही नहीं*।

अब यह शङ्का रह जाती है [illegible] **'नष्टो मोहः.........'** आदि पद [illegible] गये? इसके समाधानमें यह [illegible] लोगोंमें यह बताना था [illegible] श्रवण, प[illegible]दि[illegible] हो जाती [illegible] श्रवण, पठन, [illegible] ही हेतु माने [illegible] साधक अभिमानवश कहीं अ[illegible] अर्जुनके माध्यमसे मोहनाशका हेतु भगवत्कृपाको [illegible] माना गया है।

जबतक मनुष्य अपने उद्योगसे अपना कल्याण मानता है और जबतक उसे बोध नहीं होता, तबतक उसमें अहंभाव पाया जाता है। अहंभावका सर्वथा नाश होनेपर उसे भगवान्‌से अपनी अभिन्नताका अनुभव हो जाता है। उसे पता लग जाता है कि वास्तवमें मैंने कुछ किया ही नहीं, सब काम भगवत्कृपासे ही हुआ है। जब भगवान्‌ने अर्जुनसे प्रश्न किया कि 'तुमने एकाग्रतासे गीता सुनी या नहीं?' तब अर्जुनने उत्तर दिया—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।'** तात्पर्य यह है कि अर्जुनने अपने मोहका नाश सुननेसे नहीं, प्रत्युत केवल भगवत्कृपासे ही माना। इससे स्पष्ट है कि उनका अहंभाव सर्वथा मिट गया था। तभी तो उनकी दृष्टि केवल कृपाकी ओर है। अतः भगवत्-साधर्म्यप्राप्त अर्जुनके ये वचन भगवान्‌के ही माने गये हैं।

साधारण रूपसे विचार करें तो भी **'नष्टो मोहः... करिष्ये वचनं तव'** पद भगवत्-साधर्म्यप्राप्त भगवत्स्वरूप महापुरुषके ही हो सकते हैं, न कि साधकके। साधनकी ऊँची-से-ऊँची अवस्थामें भी साधकमें अभिमान और स्वार्थका कुछ-न-कुछ अंश रहता ही है, तभी तो वह साधक कहलाता है। अतः वह अपने प्रति उपर्युक्त पदोंका प्रयोग कैसे कर सकता है? ये पद तो पूर्णावस्थामें ही कहे जा सकते हैं।

[illegible]ी है कि **'अर्जुन उवाच'** [illegible] । ७३) श्लोक— [illegible]ोक क्यों माना गया है? [illegible] नहीं माना गया है? [illegible] यह है कि यहाँ 'उवाच' [illegible] है, उनसे अलग नहीं। [illegible]च' को अलग माननेपर [illegible] अध्यायके दूसरे श्लोकसे [illegible] ही तो बोल रहे हैं। अतः सम्पूर्ण गीतामें यह पहली पुनरुक्ति बचानेके लिये ही ऐसा किया गया है।

शरणागतिसे पूर्व 'अर्जुन उवाच'

एक प्रश्न होता है, गीता-परिमाणमें भगवत्-शरणागति (२ । ७) के बाद अठारह बार आये **'अर्जुन उवाच'** (सत्रह बार 'उवाच' और एक बार अन्तिम 'उवाच'-सहित श्लोक) को ही भगवान्‌के वचनोंके अन्तर्गत क्यों सम्मिलित किया गया? और शरणागतिसे पहले (१ । २१ और १ । २८ श्लोकोंके बीच और २ । ३ श्लोकके बाद) आये तीन **'अर्जुन उवाच'** को क्यों छोड़ा गया?

---

* पारस केरा गुण किसा, पलटा नहीं लोहा। कै तो निज पारस नहीं, कै बीच रहा बिछोहा॥

इसका उत्तर यह है कि भगवत्-शरणागतिसे पहले अर्जुन जो तीन बार बोले हैं, वे तीनों **'अर्जुन उवाच'** संजयके ही वचनोंके अन्तर्गत हैं। अतः उन्हें भगवान्‌के वचनोंमें सम्मिलित नहीं किया गया है। संजय राजा धृतराष्ट्रसे कह रहे हैं कि अर्जुन ऐसा-ऐसा बोले। पहले अध्यायके **'अर्जुन उवाच'**के आरम्भमें और अन्तमें आये हुए **'आह'**, **'उक्त्वा'**, **'अब्रवीत्'** आदि पदोंको देखनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्जुनके वचनोंको संजय ही अपने शब्दोंमें बोल रहे हैं; जैसे—**'पाण्डवः'** (१ । २०), **'इदमाह महीपते'** (१ । २१), **'एवमुक्तो हृषीकेशः'** (१ । २४), **'कौन्तेयः'** (१ । २७), **'इदमब्रवीत्'** (१ । २८), **'एवमुक्त्वार्जुनः'** (१ । ४७) आदि पदोंको तथा दूसरे अध्यायके 'अर्जुन उवाच'के बाद **'एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडा**
'न योत्स्य इति' (२

दूसरे अध्यायके चौ
आरम्भमें ऐसे पद नहीं मि
वचन संजय ही बोल
अध्यायमें अर्जुनने युद्ध
सामने जो युक्तियाँ र
दिये बिना ही भगवा
अर्जुनको कायरतारूप दो
लिये खड़े हो जानेकी आज्ञा दी। इस आज्ञा
अर्जुनके भाव उद्वेलित कर दिये। वे कायर बनकर युद्धसे विमुख नहीं हो रहे थे, प्रत्युत धर्मभीरु बनकर, धर्मके भयसे युद्धसे उपरत हो रहे थे। वे अपने मरनेसे नहीं, प्रत्युत स्वजनोंको मारनेके पापसे डरते थे। अतः ज्यों ही भगवान्‌ने दूसरे श्लोकमें **'कुतस्त्वा कश्मलमिदम्'** आदि पदोंद्वारा अर्जुनको जोरसे फटकारा, त्यों ही अर्जुन भी अपने भावोंका ठीक समाधान न पाकर अकस्मात् उत्तेजित होकर बोल उठे—**'कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन। इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन'** (२ । ४) 'हे मधुसूदन! मैं रणभूमिमें भीष्म और द्रोणके साथ बाणोंसे युद्ध कैसे करूँ? क्योंकि हे अरिसूदन! ये दोनों ही पूजनीय हैं।' यहाँ 'मधुसूदन' और 'अरिसूदन' सम्बोधन देनेका तात्पर्य यह है कि आप तो दैत्यों और शत्रुओंको मारनेवाले हैं, पर मेरे सामने तो युद्धमें पितामह भीष्म (दादाजी) और आचार्य द्रोण (विद्यागुरु) खड़े हैं। संसारमें मनुष्यके दो ही सम्बन्ध मुख्य हैं—कौटुम्बिक सम्बन्ध और विद्या-सम्बन्ध। दोनों ही अर्जुनके सामने उपस्थित हैं। सम्बन्धमें बड़े होनेके नाते दोनों ही आदरणीय और पूजनीय हैं। भगवान् उनके साथ युद्ध करनेकी आज्ञा देते हैं, जिससे उद्विग्न होकर अर्जुन एकाएक बोल उठते हैं। इसलिये संजयको **'इदमाह'**, **'उक्त्वा'** आदि पदोंसे संकेत करनेका अवसर ही नहीं मिला।

यदि गहराईसे देखा जाय तो दूसरे अध्यायमें अर्जुनके बोलनेके बाद (२ । ९-१० में) जहाँ संजय
...जहाँ उन्होंने अपने वचनोंको दो भागोंमें
(१) **'एवमुक्त्वा हृषीकेशं**
...से संजय दूसरे अध्यायके चौथेसे
...है, अर्जुनके वचनोंकी ओर लक्ष्य
...के ... अर्जुनके
...ई।२।

...अभि... जब अर्जुनके
... हो ... अन्तर्गत मानते
...ओं ... अध्यायमें संजयद्वारा कहे गये
...' (११ । ९), **'एतच्छ्रुत्वा'** (११ । ३५) और **'इत्यर्जुनम्'** (११ । ५०)—इन पदोंसे पहले आये भगवान्‌के वचनोंको तथा अठारहवें अध्यायमें संजय द्वारा कहे गये **'इत्यहम्'** (१८ । ७४) पदसे पहले आये भगवत्स्वरूप अर्जुनके वचनको भी संजयके ही वचनोंके अन्तर्गत क्यों नहीं मानते? यद्यपि इस प्रश्नका उत्तर सामान्य रीतिसे दूसरी जगह भी दिया जा चुका है, फिर यहाँ कहा जा सकता है कि भगवान्‌के श्लोक किसी प्रकार क्यों न आयें, वे भगवान्‌के ही माने जा सकते हैं। दूसरी बात, संजय वेदव्यासप्रदत्त दिव्यदृष्टिसे सम्पन्न हैं और अर्जुनको भी भगवान्‌ने दिव्यदृष्टि दी है (११ । ८)। अतः ग्यारहवें अध्यायमें संजयकी दिव्यदृष्टि भगवत्प्रदत्त दिव्यदृष्टिसे अभिन्न हो जाती है,

जिससे संजय भगवान् और अर्जुनके वचन ही बोलते हैं, न कि अपने वचन ।

एक बात और है कि श्रीकृष्णार्जुनसंवादरूप गीताशास्त्र राजा धृतराष्ट्रको संजय सुना रहे हैं, जिसमें विवेचन करते हुए उन्होंने उपर्युक्त **'एवमुक्त्वा'**, **'एतच्छ्रुत्वा'** आदि पदोंका प्रयोग किया है । संजय भगवत्-वाणीरूप मन्त्रके द्रष्टामात्र हैं । अतः भगवान्‌द्वारा कहे गये श्लोक भगवान्‌के ही मानने चाहिये ।

एक यह प्रश्न हो सकता है कि जैसे शरणागतिसे पहले आये अर्जुनके श्लोकोंको संजयकथित माना गया, ऐसे ही शरणागतिसे पहले आये भगवान्‌के श्लोकों (२ । २-३)को भी संजयकथित क्यों नहीं माना गया ? कारण कि भगवान्‌का उपदेश तो दूसरे [illegible] ग्यारहवें श्लोकसे आरम्भ होता है । [illegible] है कि दूसरे अध्यायका दूसरा [illegible] श्लोक गीताके मूल श्लोक [illegible] **'अनार्यजु[illegible]' '[illegible]स्वर्ग्यम्'**, [illegible] स्वधर्म-त्या[illegible] है, उन्हींका [illegible] इकतीसवेंसे [illegible] दो श्लोक (२ । २-३) [illegible] ही मानने चाहिये । इसके सिवाय [illegible] कायरता छोड़कर युद्धके लिये खड़े होनेकी जो आज्ञा दी है, उसीको भगवत्स्वरूप अर्जुनने उपदेशके अन्तमें शिरोधार्य किया है—**'करिष्ये वचनं तव'** (१८ । ७३) । अतः स्पष्ट है कि ये श्लोक संजयके न मानकर भगवान्‌के ही माने जायँ ।

गहराईसे देखनेपर यह प्रतीत होता है कि भगवद्गीताको दो भागोंमें बाँटा जा सकता है—(१) **'इतिहास-भाग'**, जो पहले अध्यायके आरम्भसे दूसरे अध्यायके दसवें श्लोकतक है और (२) **'उपदेश-भाग'**, जो दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे अठारहवें अध्यायके अन्ततक है । गीताका मूल इतिहास-भाग ही है, जिसके आधारपर उपदेश-भाग टिका हुआ है । इन दोनों भागोंमें इतिहास-भाग संजय-कथनके अन्तर्गत है और उपदेश-भाग श्रीकृष्णार्जुन-संवादके अन्तर्गत है । इतिहास-भागमें आया अर्जुन-कथन ही संजय-कथनमें लीन होगा, न कि भगवत्कथन । कारण कि भगवान्‌की महिमा कहीं भी कम नहीं होती, चाहे इतिहास हो या उपदेश ।

एक प्रश्न यह भी हो सकता है कि यदि गीतामें आये सभी भगवत्-वचनोंको भगवान्‌के श्लोकोंकी गणनामें लेना आवश्यक है तो फिर पहले अध्यायके पचीसवें श्लोकमें आये **'पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरून्'**—इस वचनको गीता-परिमाणमें भगवान्‌के श्लोकोंमें क्यों नहीं लिया गया ? इसके उत्तरमें पहली बात तो यह है कि पहले अध्यायका पचीसवाँ श्लोक पूरा भगवान्‌द्वारा कथित नहीं है, प्रत्युत इस श्लोकके [illegible] केवल ग्यारह अक्षर ही भगवान्‌के कहे [illegible] होनेसे इसे परिमाणमें [illegible] । दूसरी बात, महर्षि [illegible]च' पद न देकर) इसे [illegible]हीं माना है, प्रत्युत इसे [illegible] है । अतः स्वतन्त्ररूपसे [illegible]से भगवान्‌के श्लोकोंमें [illegible] तीसरी बात, भगवान् [illegible]र (१ । २१-२३) [illegible] अतः यह श्लोक स्वतन्त्ररूपसे भगवद्वाणी न होनेसे भगवान्‌के श्लोकोंमें सम्मिलित नहीं किया जा सकता ।

'श्रीभगवानुवाच'की पुनरुक्ति क्यों ?

गीता-परिमाणमें यह एक आवश्यक प्रश्न हो सकता है कि अध्यायोंके आरम्भमें आये **'श्रीभगवानुवाच'**को परिमाणकी गणनामें दूसरी बार पुनः सम्मिलित क्यों किया गया, जबकि पहलेसे भगवान् ही तो बोलते आ रहे हैं ? जैसे—तीसरे अध्यायके सैंतीसवें श्लोकसे भगवान् ही बोल रहे हैं, फिर भी चौथे अध्यायके आरम्भमें **'श्रीभगवानुवाच'**को परिमाणकी गणनामें श्लोकरूपसे पुनः सम्मिलित किया गया है ।

इसका उत्तर यह है कि साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके मुखारविन्दसे निकली वाणी गीताके संकलनकर्ता महर्षि

वेदव्यासजी हैं और उन्होंने ही इसे श्लोकबद्ध करके अठारह अध्यायोंमें विभक्त किया है। भगवान्‌के लगातार बोलते रहनेपर भी उन्होंने चौथे, छठे, सातवें, नवें, दसवें, तेरहवें, चौदहवें, पंद्रहवें और सोलहवें अध्यायोंके आरम्भमें **'श्रीभगवानुवाच'**-रूप श्लोक दिया है। अधिकारप्राप्त आप्तपुरुष होनेसे महर्षि वेदव्यासजीके वचन सभीको सदा मान्य हैं। उन्होंने ही कृपा करके जैसे वेदोंको स्पष्टरूपसे समझानेके लिये उसे अलग-अलग चार भागोंमें (ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेदके रूपमें) विभक्त किया है, ऐसे ही गीतामें भगवान्‌के दिये उपदेशका जैसा अनुभव किया, वैसा स्पष्टरूपसे समझानेके लिये उसे अलग-अलग अठारह अध्यायोंमें विभक्त किया है।

दूसरी बात यह है ...
बोल रहा है, यह बत...
ही हो जाता है। अत...
रहनेपर भी अध्यायके आर...
देकर परिमाणमें उसे भग...

तीसरी बात, अध्याय...
लगा देनेसे नये ग्रन्...
आरम्भ होता है। अतः ...
वाच' पुनः देना आवश्यक ...
महाराजने इसे पुनरुक्ति नहीं माना। महर्षि वेदव्यासजीके माने हुए नियमोंको इधर-उधर करनेका किसीको भी अधिकार नहीं है।

भगवान्‌के छः सौ बीस श्लोक

इस प्रकार गीताकी प्रचलित प्रतिमें भगवान्‌द्वारा कहे हुए पाँच सौ चौहत्तर श्लोकोंके साथ अट्ठाईस **'श्रीभगवानुवाच'**-रूप श्लोक, सत्रह भगवत्प्रेरित **'अर्जुन उवाच'**-रूप श्लोक और एक अठारहवें अध्यायका **'अर्जुन उवाच'**-सहित तिहत्तरवाँ श्लोक और जोड़ देनेपर भगवान्‌के छः सौ बीस (५७४+२८+१७+१=६२०) श्लोक हो जाते हैं। अतः महाभारतोक्त गीता-परिमाणका यह वचन प्रमाणित हो जाता है—

'षट्शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः।

अर्जुनके सत्तावन श्लोक

प्रचलित गीतामें अर्जुनके चौरासी श्लोक और इक्कीस उवाच हैं; किंतु महाभारतोक्त गीता-परिमाणमें अर्जुनके सत्तावन श्लोक ही बताये गये हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, भगवत्-शरणागतिके बाद सत्रह **'अर्जुन उवाच'**-रूप श्लोक और एक अठारहवें अध्यायका **'अर्जुन उवाच'**-सहित तिहत्तरवाँ श्लोक भगवान्‌के श्लोकोंमें सम्मिलित किया गया है तथा भगवत्-शरणागति-(२। ७)से पहले आये तीन **'अर्जुन उवाच'**को परिमाणमें अलगसे न लेकर **'संजय उवाच'**के ही अन्तर्गत लिया गया है।

गीताकी यह शैली भी है कि एकके कहे हुए ... के वचनोंके अन्तर्गत आ जाते हैं; जैसे— ...परसे ग्यारहवें श्लोकतक कहे गये ... वचनोंके अन्तर्गत आये हैं और ... है, ...वें श्लोकके पूर्वार्धतक कहे ... भगवान्... के ... के अन्तर्गत ... है। (२। ९) ...धकके वचन ... अभि...) भगवान्‌के ... हैं। इसी तरह गीता-परिमाणमें ... ...सवें श्लोकके उत्तरार्धसे तेईसवें श्लोकतक तथा अट्ठाईसवें श्लोकके उत्तरार्धसे छियालीसवें श्लोकतक और दूसरे अध्यायके चौथे श्लोकसे आठवें श्लोकतक आये अर्जुनके वचनों (कुल छब्बीस श्लोकों)को संजयके ही वचनोंके अन्तर्गत लिया गया है। इस विषयमें पहले ही बताया जा चुका है कि धृतराष्ट्रको श्रीकृष्णार्जुन-संवादरूप गीता-शास्त्र सुनाते हुए संजय **'इदमाह महीपते'** (१। २१) आदि पदोंसे कह रहे हैं कि 'राजन्! युद्धस्थलमें अर्जुनने ऐसा-ऐसा कहा। अतः ये छब्बीस श्लोक संजयके श्लोकोंकी गणनामें ही सम्मिलित करने चाहिये, न कि अर्जुनके श्लोकोंकी गणनामें।

इस प्रकार गीताकी प्रचलित प्रतिमें आये अर्जुनके चौरासी श्लोकोंमेंसे उपर्युक्त छब्बीस श्लोक और

अठारहवें अध्यायका तिहत्तरवाँ श्लोक घटा देनेपर अर्जुनके सत्तावन (८४–२७=५७) श्लोक रह जाते हैं । अतः महाभारतोक्त गीता-परिमाणका यह वचन प्रमाणित हो जाता है—'अर्जुनः सप्तपञ्चाशत्' ।

संजयके सड़सठ श्लोक

गीताकी प्रचलित प्रतिके अनुसार संजयके इकतालीस ही श्लोक हैं और नौ 'संजय उवाच' हैं; किंतु गीता-परिमाणमें संजयके सड़सठ श्लोक बताये गये हैं । गीता-परिमाणमें 'संजय उवाच'को अलग श्लोक न मानकर संजयके श्लोकोंमें ही लिया गया है । कारण कि गीतामें केवल श्रीकृष्णार्जुनसंवाद होनेसे 'श्रीभगवानुवाच' और भगवत्प्रेरित 'अर्जुन उवाच'को ही अलग श्लोकरूपसे माना गया है ।

दूसरी बात, धृतराष्ट्र और संजयका सं[illegible] हुआ था, न कि भगवान्के स[illegible] भगवान्के सामने नहीं हुआ, [illegible] नहीं माना गया और [illegible] श्लोकरूप[illegible] रहे थे । [illegible] संवाद' कहा [illegible]

यह तो पहले ही [illegible] और दूसरे अध्यायोंमें आये अर्जु[illegible] संजयके ही श्लोक मानने चाहिये । इन छब्बीस श्लोकोंको संजयके इकतालीस श्लोकोंके साथ जोड़नेपर संजयके सड़सठ (२६ + ४१=६७) श्लोक हो जाते हैं । अतः महाभारतोक्त गीता-परिमाणका यह वचन प्रमाणित हो जाता है—'सप्तषष्टिं तु संजयः ।'

धृतराष्ट्रका एक श्लोक

गीताकी प्रचलित प्रतिमें धृतराष्ट्रका एक श्लोक ही है और महाभारतोक्त गीता-परिमाणमें भी धृतराष्ट्रका एक ही श्लोक बताया गया है—'धृतराष्ट्रः श्लोकमेकम् ।' अतः इस श्लोकके परिमाणमें कोई मतभेद नहीं है ।

'संजय उवाच'की तरह 'धृतराष्ट्र उवाच'को भी अलगसे श्लोक न मानकर धृतराष्ट्रके श्लोकमें ही लिया गया है । 'धृतराष्ट्र उवाच' और 'संजय उवाच'—दोनों ही महाभारतके वक्ता महर्षि वैशम्पायनजीके वचनोंके अन्तर्गत हैं ।

यह शङ्का भी हो सकती है कि धृतराष्ट्र-कथित [illegible]म्मिलित किया गया है ? इसके [illegible] है कि धृतराष्ट्रका मूल [illegible] प्राकट्यमें हेतु है । [illegible]पूर्ण घटनाओंको विस्तारसे [illegible] हैं—उसके उत्तरमें महर्षि [illegible]य श्रीकृष्णार्जुनसंवादरूप [illegible] सबसे पहली घटना थी) [illegible] राजा धृतराष्ट्रको सुनाते [illegible] मूल प्रश्न होनेसे ही [illegible] यह श्लो[illegible]में सम्मिलित किया गया है ।

दूसरी बात, जैसे पहले अध्यायमें अर्जुनका विषाद भी भगवान्के साथ सम्बन्ध जोड़नेवाला तथा कल्याणकी

---

* महाभारत देखनेसे पता चलता है कि महर्षि वेदव्यासजीकी धृतराष्ट्रपर बड़ी कृपा थी । जब दोनों ओरसे महाभारत-युद्धकी पूरी तैयारी हो गयी, तब वेदव्यासजीने धृतराष्ट्रके समीप जाकर उनसे कहा कि 'महाभारतका युद्ध अनिवार्य है । यह होनी है, जो अवश्य होगी । यदि इस घोर संग्रामको देखना चाहो तो मैं तुम्हें दिव्यदृष्टि प्रदान कर सकता हूँ' (भीष्म० २ । ४–६) । धृतराष्ट्रने कहा कि 'ब्रह्मर्षिश्रेष्ठ ! मैं जीवनभर अन्धा रहा, अब मैं अपने ही कुलका संहार अपने नेत्रोंसे देखना नहीं चाहता । हाँ, युद्धकी घटनाओंको भलीभाँति सुनना अवश्य चाहता हूँ' (भीष्म० २ । ७) । वेदव्यासजीको तो पता ही था कि युद्धसे पहले भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको गीताका महान् उपदेश देंगे । अतः उस दिव्य गीतोपदेशको धृतराष्ट्रके कल्याणके लिये सुनानेके लिये उन्होंने उनके मन्त्री महात्मा संजयको दिव्यदृष्टि प्रदान की और धृतराष्ट्रसे कहा कि 'संजय तुम्हें युद्धका सारा वृत्तान्त सुनायेगा । यह दिव्यचक्षुवाला हो जायगा और युद्धकी समस्त घटनाओंको प्रत्यक्ष देख, सुन और जान सकेगा । सामने या पीछे, दिनमें या रातमें, गुप्त या प्रकट, क्रियारूपमें परिणत या सैनिकोंके मनमें आयी कोई भी बात इससे छिपी न रह सकेगी' (भीष्म० २ । ९-११) ।

ओर ले जानेवाला होनेसे 'योग' (अर्जुनविषादयोग) हो गया, ऐसे ही धृतराष्ट्रका प्रश्न भी भगवद्वाणीके प्राकट्यमें हेतु होनेके कारण भगवद्गीतामें सम्मिलित हो गया।

तात्पर्य

यदि इस लेखको गहराईसे, मनन-विचारपूर्वक और भगवान्‌में श्रद्धा रखते हुए पढ़ा जाय तो महाभारतोक्त गीता-परिमाणकी संगति ठीक बैठ जाती है और इस विषयमें पैदा होनेवाली सभी शङ्काओंका समाधान भी इसीमें हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि महर्षि वेदव्यासरचित महाभारतमें गीताका जो परिमाण बताया गया है, वह यथार्थ ही है। अतः पाठकी दृष्टिसे तो गीताका प्रचलित पाठ ही उपयुक्त है और परिमाणकी दृष्टिसे इस लेखमें बतायी पद्धतिके अनुसार महाभारतोक्त गीता-परिमाण ही उपयुक्त है।

गीता-परिमाणकी संगति ठीक-ठीक बैठ जानेसे यह तात्पर्य निकलता है कि जब मनुष्य संसारसे हटकर अपना कल्याण चाहता है और वचनमात्रसे भी भगवान्‌की शरण हो जाता है, तब (भगवत्परायण होनेसे) उसका कल्याण होना निश्चित है। पूर्ण शरणागत होनेपर तो एक भगवान् ही रह जाते हैं अर्थात् भक्त और भगवान्‌में कोई भेद नहीं रहता।

गीता-परिमाणके अनुसार तालिका

अध्याय	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	योग
धृतराष्ट्र	१																		१
संजय	४६																	५	६७
अर्जुन																		१	५७
श्रीभगवान्																	१	७४	६२०
पूर्ण संख्या	४७										२	२२	३५	३०	२१	२५	३०	८०	७४५

गीता-पाठकी विधियाँ

मनुष्यका यह स्वभाव है कि वह जब अति रुचिपूर्वक कोई कार्य करता है, तब वह उस कार्यमें तल्लीन, तत्पर, तत्स्वरूप हो जाता है। ऐसा स्वभाव होनेपर भी वह प्रकृति और उसके कार्य (पदार्थों, भोगों)के साथ अभिन्न नहीं हो सकता; क्योंकि वह इनसे सदासे ही भिन्न है; परंतु परमात्माके नामका जप, परमात्माका चिन्तन, उसके सिद्धान्तोंका मनन आदिके साथ मनुष्य ज्यों-ज्यों अति रुचिपूर्वक सम्बन्ध जोड़ता है, त्यों-ही-त्यों वह इनके साथ अभिन्न हो जाता है, इनमें तल्लीन, तत्पर, तत्स्वरूप हो जाता है; क्योंकि वह परमात्माके साथ सदासे ही स्वतः अभिन्न है। अतः मनुष्य भगवच्चिन्तन करे; भगवद्विषयक ग्रन्थोंका पठन-पाठन करे; गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थोंका पाठ, स्वाध्याय करे, तो अति रुचिपूर्वक तत्परतासे करे, तल्लीन होकर करे। यहाँ गीताका पाठ करनेकी विधि बतायी जाती है।

गीताका पाठ करनेके लिये कुशका, ऊनका अथवा टाटका आसन बिछाकर उसपर पूर्व अथवा उत्तरकी ओर मुख करके बैठना चाहिये।

गीता-पाठके आरम्भमें इन मन्त्रोंका उच्चारण करे—

ॐ अस्य श्रीमद्भगवद्गीतामालामन्त्रस्य भगवान् वेदव्यास ऋषिः। अनुष्टुप् छन्दः। श्रीकृष्णः परमात्मा देवता॥ अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे इति बीजम्॥ सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज इति शक्तिः॥ अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच इति कीलकम्॥

जैसे मालामें अनेक मणियाँ अथवा पुष्प पिरोये जाते हैं, ऐसे ही भगवान्‌के गाये हुए जितने श्लोक अर्थात् मन्त्र हैं, वे सभी श्रीमद्भगवद्गीतारूपी मालाकी मणियाँ हैं। इस श्रीमद्भगवद्गीतारूपी मालाके मन्त्रोंके द्रष्टा अर्थात् सबसे पहले इन मन्त्रोंका साक्षात्कार करनेवाले ऋषि भगवा[न्] वेदव्यास हैं—**'ॐ अस्य श्रीमद्भगवद्गीता-मालामन्त्रस्य भगवान् वेदव्यास ऋषिः।'**

श्रीमद्भगवद्गीतामें अनुष्टुप् छन्द ही [illegible] इसका आरम्भ (धर्मक्षेत्रे…… [illegible] (यत्र योगेश्वरः………) तथा [illegible] (अशोच्यानन्वशोचस्त्वं…… [illegible] (सर्वधर्मान् [illegible] हुआ है। [illegible] **'अनुष्टुप् छन्दः** [illegible]

जो मनुष्यमा[illegible] वे परमात्मा श्रीकृष्ण इसके देवता [illegible] **'श्रीकृष्णः परमात्मा देवता।'**

मात्र उपदेश अज्ञानियोंको ही दिये जाते हैं और अज्ञानी ही उपदेशके अधिकारी होते हैं। अर्जुन भी बातें तो धर्मकी कर रहे थे, पर अपने कुटुम्बके मोहके कारण शोक कर रहे थे। जब वे शोकके कारण अपने कर्तव्य-कर्मरूप धर्मका निर्णय नहीं कर पाते, तब वे भगवान्‌की शरण हो जाते हैं। भगवान् अर्जुनका शोक दूर करनेके लिये उपदेश आरम्भ करते हैं, जो गीताका बीज है—**'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञा-वादांश्च भाषसे इति बीजम्।'**

भगवान्‌की शरण होना सम्पूर्ण साधनोंका, सम्पूर्ण उपदेशोंका सार है; क्योंकि भगवान्‌की शरण होनेके समान दूसरा कोई सुगम, श्रेष्ठ और शक्तिशाली साधन नहीं है। अतः सम्पूर्ण साधनोंका आश्रय छोड़कर भगवान्‌की शरण हो जाना ही जीवकी सबसे बड़ी शक्ति, सामर्थ्य है—**'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज इति शक्तिः।'**

भगवान्‌ने यह बात प्रणपूर्वक, प्रतिज्ञापूर्वक कही है कि जो मेरी शरण हो जायगा, उसे मैं सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, उसे मैं उद्धार कर दूँगा। भगवान्‌की यह प्रतिज्ञा कभी इधर-उधर नहीं हो सकती; क्योंकि यह कीलक है—**'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच इति कीलकम्।'**

—इस प्रकार **'ॐ अस्य श्रीमद्भगवद्गीतामाला-मन्त्रस्य…………इति कीलकम्'**का उच्चारण करनेके बाद 'न्यास' (करन्यास और हृदयादिन्यास) [illegible] होकर अर्थात् शुद्ध, [illegible] पठन-पाठन करना [illegible]'। वह देवतापन, [illegible] अपने अङ्गोंमें मन्त्रोंकी [illegible] जिस स्तोत्रका पाठ [illegible]थापना करनी चाहिये; [illegible] 'न्यास' (करन्यास [illegible]

दोनों हाथोंकी दस अङ्गुलियों और दोनों हाथोंके सामने तथा पीछेके भागोंको क्रमशः मन्त्रोच्चारणपूर्वक परस्पर स्पर्श करनेका नाम 'करन्यास' है; जैसे—

(१) **'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक इत्यङ्गुष्ठाभ्यां नमः'**—ऐसा कहकर दोनों हाथोंके अङ्गुष्ठोंका परस्पर स्पर्श करे।

(२) **'न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत इति तर्जनीभ्यां नमः'**—ऐसा कहकर दोनों हाथोंकी तर्जनी अङ्गुलियोंका परस्पर स्पर्श करे।

(३) **'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च इति मध्यमाभ्यां नमः'**—ऐसा कहकर दोनों हाथोंकी मध्यमा अङ्गुलियोंका परस्पर स्पर्श करे।

(४) 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातन इत्यनामिकाभ्यां नमः'—ऐसा कहकर दोनों हाथोंकी अनामिका अङ्गुलियोंका परस्पर स्पर्श करे।

(५) 'पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः इति कनिष्ठिकाभ्यां नमः'—ऐसा कहकर दोनों हाथोंकी कनिष्ठिका अङ्गुलियोंका परस्पर स्पर्श करे।

(६) 'नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च इति करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः'—ऐसा कहकर दोनों हाथोंकी हथेलियों और उनके पृष्ठभागोंका स्पर्श करे।

हृदयादिन्यास—

दाहिने हाथकी पाँचों अङ्गुलियोंसे क्रमशः मन्त्रोच्चारण-पूर्वक हृदय आदिका स्पर्श करनेका नाम 'हृदयादिन्यास' है; जैसे—

(१) 'नैनं छि[illegible] इति हृदयाय नमः[illegible] पाँचों अङ्गुलियोंसे हृद[illegible]

(२) 'न चैनं क[illegible] इति शिरसे स्वाहा'—[illegible] पाँचों अङ्गुलियोंसे मस्त[illegible]

(३) 'अच्छे[illegible] च इति शिखायै वष[illegible] पाँचों अङ्गुलियोंसे शिखा[illegible]

(४) 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातन इति कवचाय हुम्'—ऐसा कहकर दाहिने हाथकी पाँचों अङ्गुलियोंसे बायें कंधेका और बायें हाथकी पाँचों अङ्गुलियोंसे दाहिने कंधेका स्पर्श करे।

(५) 'पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः इति नेत्रत्रयाय वौषट्'—ऐसा कहकर दाहिने हाथकी पाँचों अङ्गुलियोंके अग्रभागसे दोनों नेत्रोंका तथा ललाटके मध्यभागका अर्थात् वहाँ गुप्तरूपसे स्थित रहनेवाले तृतीय नेत्र (ज्ञाननेत्र)का स्पर्श करे।

(६) 'नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च इति अस्त्राय फट्'—ऐसा कहकर दाहिने हाथको सिरके ऊपरसे उलटा अर्थात् बायीं ओरसे पीछेकी ओर ले जाकर दाहिनी ओरसे आगेकी ओर ले आये तथा तर्जनी और मध्यमा अङ्गुलियोंसे बायें हाथकी हथेलीपर ताली बजाये।

करन्यास और हृदयादिन्यास करनेके बाद बोले—'श्रीकृष्णप्रीत्यर्थे पाठे विनियोगः' अर्थात् मैं यह जो गीताका पाठ करना चाहता हूँ, इसका उद्देश्य केवल भगवान्‌की प्रसन्नता ही है।

गीताका पाठ करनेके तीन प्रकार हैं—सृष्टिक्रम, संहारक्रम और स्थितिक्रम। गीताके पहले अध्यायके पहले श्लोकसे लेकर अठारहवें अध्यायके अन्तिम श्लोकतक सीधा पाठ करना अथवा प्रत्येक अध्यायके पहले श्लोकसे लेकर उसी अध्यायके अन्तिम श्लोकतक सीधा पाठ करना 'सृष्टिक्रम' कहलाता है। अठारहवें अध्यायके [illegible] श्लोकसे लेकर पहले अध्यायके पहले श्लोकतक [illegible] करना अथवा प्रत्येक अध्यायके अन्तिम [illegible] अध्यायके पहले श्लोकतक उलटा [illegible]' कहलाता है। छठे अध्यायके [illegible] है, [illegible] अठारहवें [illegible]ायके अन्तिम [illegible] के [illegible]ायके अन्तिम [illegible] है। [illegible] श्लोकतक उलटा [illegible] अभि[illegible]। ब्रह्मचारियोंको [illegible] है [illegible] संहारक्रमसे और गृहस्थोंको [illegible]ाएँ करना चाहिये।

गीताका पाठ सम्पुटसे, सम्पुटवल्लीसे अथवा बिना सम्पुटके भी किया जाता है। गीताके जिस श्लोकका सम्पुट देना हो, पहले उस श्लोकका पाठ करके फिर अध्यायके एक श्लोकका पाठ करे। फिर सम्पुटके श्लोकका पाठ करके अध्यायके दूसरे श्लोकका पाठ करे। इस तरह सम्पुट लगाकर पूरी गीताका सीधा या उलटा पाठ करना 'सम्पुट-पाठ' कहलाता है। सम्पुटके श्लोकका दो बार पाठ करके फिर अध्यायके एक श्लोकका पाठ करे। फिर सम्पुटके श्लोकका दो बार पाठ करके अध्यायके दूसरे श्लोकका पाठ करे। इस तरह सम्पुट लगाकर पूरी गीताका सीधा या उलटा पाठ करना 'सम्पुटवल्ली-पाठ' कहलाता है। गीताके पूरे श्लोकोंका सम्पुट अथवा सम्पुटवल्लीसे पाठ करनेसे

एक विलक्षण शक्ति आती है, गीताका विशेष मनन होता है, अन्तःकरण शुद्ध होता है, शान्ति मिलती है और परमात्मप्राप्तिकी योग्यता आ जाती है ।

सम्पुट न लगाकर पाठ करना 'बिना सम्पुटका पाठ' कहलाता है । मनुष्य प्रतिदिन बिना सम्पुट अठारह अध्यायोंका पाठ करे अथवा नौ-नौ अध्याय करके दो दिनमें अथवा छः-छः अध्याय करके तीन दिनमें अथवा तीन-तीन अध्याय करके छः दिनमें अथवा दो-दो अध्याय करके नौ दिनमें गीताका पाठ करे । यदि पंद्रह दिनमें गीताका पाठ पूरा करना हो तो प्रतिपदासे एकादशीतक एक-एक अध्यायका, द्वादशीको बारहवें और तेरहवें अध्यायका, त्रयोदशीको चौदहवें और पंद्रहवें अध्यायका, चतुर्दशीको सोलहवें और सत्रहवें अध्या[illegible] तथा अमावस्या और पूर्णिमाको अठारहवें अ[illegible] करे । किसी पक्षमें तिथि घटती [illegible]

आठवें अध्यायका एक साथ पाठ कर ले । इसी तरह किसी पक्षमें तिथि बढ़ती हो, तो सोलहवें और सत्रहवें इन दोनों अध्यायोंका अलग-अलग दो दिनमें पाठ कर ले ।

यदि पूरी गीता कण्ठस्थ हो तो क्रमशः प्रत्येक अध्यायके पहले श्लोकका पाठ करते हुए पूरे अठारहों अध्यायोंके पहले श्लोकोंका पाठ करे । फिर क्रमशः अठारहों अध्यायोंके दूसरे श्लोकोंका पाठ करे । इस प्रकार पूरी गीताका सीधा पाठ करे । इसके बाद अठारहवें अध्यायका अन्तिम श्लोक, फिर सत्रहवें अध्यायका अन्तिम श्लोक—इस तरह प्रत्येक अध्यायके अन्तिम श्लोकका पाठ करे । फिर अठारहवें अध्यायका उपान्त्य (अन्तिम श्लोकसे पीछेका) श्लोक, फिर [illegible] उपान्त्य श्लोक—इस तरह प्रत्येक [illegible] करे । इस प्रकार
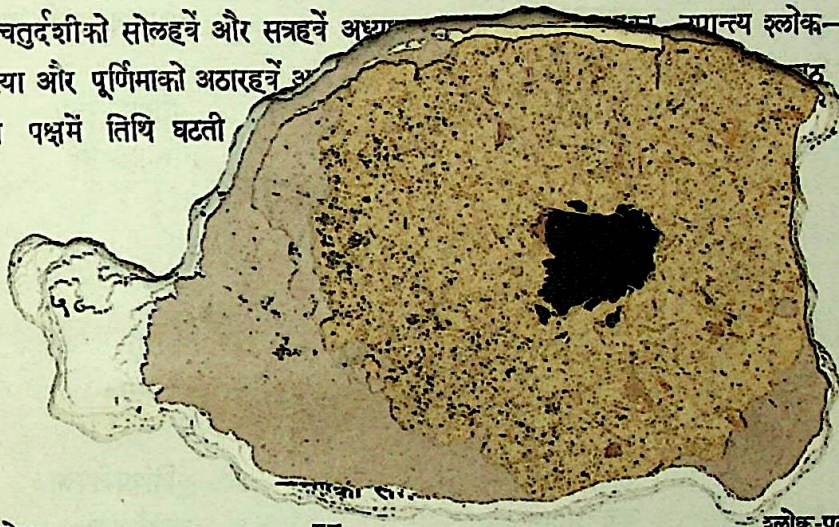
अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
	(१) कर्म न करनेका वाचक	
२ । ४७	अकर्मणि	कर्मण्येवाधिकारस्ते०
३ । ५	अकर्मकृत्	न हि कश्चित्०
३ । ८	अकर्मणः; अकर्मणः	नियतं कुरु कर्म०
	(२) कामना-वासनासे रहितका वाचक	
४ । १६	अकर्म	किं कर्म०
४ । १७	अकर्मणः	कर्मणो ह्यपि०
४ । १८	अकर्म; अकर्मणि	कर्मण्यकर्म०
	अक्षर	
	(१) सगुण-निराकारका वाचक	
३ । १५	अक्षरसमुद्भवम्	कर्म ब्रह्मोद्भवं०
११ । १८	अक्षरम्	त्वमक्षरं परमं०
११ । ३७	अक्षरम्	कस्माच्च ते न०

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
	(२) निर्गुण-निराकारका वाचक	
८ । ३	अक्षरम्	अक्षरं ब्रह्म०
८ । ११	अक्षरम्	यदक्षरं०
१२ । १	अक्षरम्	एवं सततयुक्ता०
१२ । ३	अक्षरम्	ये त्वक्षर०
	(३) सगुण-निराकार, निर्गुण-निराकार और सगुण-साकारका वाचक	
८ । २१	अक्षरः	अव्यक्तोऽक्षर०
	(४) प्रणवका वाचक	
८ । १३	एकाक्षरम्	ओमित्येकाक्षरं०
१० । २५	एकमक्षरम्	महर्षीणां भृगुरहं०
	(५) वर्णमालाका वाचक	
१० । ३३	[illegible]	अक्षराणामकारोऽस्मि०
१५ । १६	[illegible]	द्वाविमौ पुरुषौ०
१५ । १८	[illegible]	यस्मात्क्षरम०
२ । २४	[illegible]	[illegible]
१२ । ३	[illegible]	[illegible]
२ । ५३	[illegible]	श्रुतिविप्रतिपन्ना०
२ । ७०	अचलप्रतिष्ठम्	आपूर्यमाणमचल०
६ । १३	अचलम्	समं कायशिरोग्रीवं०
७ । २१	अचलाम्	यो यो यां यां०
८ । १०	अचलेन	प्रयाणकाले०
	अचिन्त्य	
	(१) जीवात्माका वाचक	
२ । २५	अचिन्त्यः	अव्यक्तोऽयम०
	(२) सगुण-निराकारका वाचक	
८ । ९	अचिन्त्यरूपम्	कविं पुराण०
	(३) निर्गुण-निराकारका वाचक	
१२ । ३	अचिन्त्यम्	ये त्वक्षरम०
	अध्यात्म	
	(१) परमात्माका वाचक	
३ । ३०	अध्यात्मचेतसा	मयि सर्वाणि०
१० । ३२	अध्यात्मविद्या	सर्गाणामादि०

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
	(२) सुधाका वाचक	
१० । १८	अमृतम्	विस्तरेणात्मनो०
१० । २७	अमृतोद्भवम्	उच्चैःश्रव०
१८ । ३७	अमृतोपमम्	यत्तदग्रे विषमिव०
१८ । ३८	अमृतोपमम्	विषयेन्द्रिय०
	(३) अमरताका वाचक	
९ । १९	अमृतम्*	तपाम्यहमहं०
	अवश	
	(१) स्वभावकी परवशताका वाचक	
३ । ५	अवशः	न हि कश्चित्०
१८ । ६०	अवशः	स्वभावजेन०
	(२) भोगोंकी परवशताका वाचक	
६ । ४४	अवशः	पूर्वाभ्यासेन०
	(३) कर्मानु[illegible] समयकी	
८ । १९	[illegible]	भूतग्रामः स०
९ । ८	[illegible]	प्रकृतिं स्वाम०
२ । २५	[illegible]	[illegible]
२ । २८	[illegible]	[illegible]
७ । २४	अव्य[illegible]	अव्यक्तं व्यक्ति०
	(४) ब्रह्माजीके सूक्ष्मशरीरका वाचक	
८ । १८	अव्यक्तात्; अव्यक्तसंज्ञके	अव्यक्ताद्व्यक्तयः०
	(५) प्रकृतिका वाचक	
८ । २०	अव्यक्तात्	परस्तस्मात्तु०
१३ । ५	अव्यक्तम्	महाभूतान्यहंकारो०
	(६) सगुण-निराकारका वाचक	
८ । २०	अव्यक्तः	परस्तस्मात्तु०
९ । ४	अव्यक्तमूर्तिना	मया ततमिदं०
	(७) निर्गुण-निराकारका वाचक	
१२ । १	अव्यक्तम्	एवं सततयुक्ता०
१२ । ३	अव्यक्तम्	ये त्वक्षर०
१२ । ५	अव्यक्तचेतसाम्; अव्यक्ता	क्लेशोऽधिकतर०
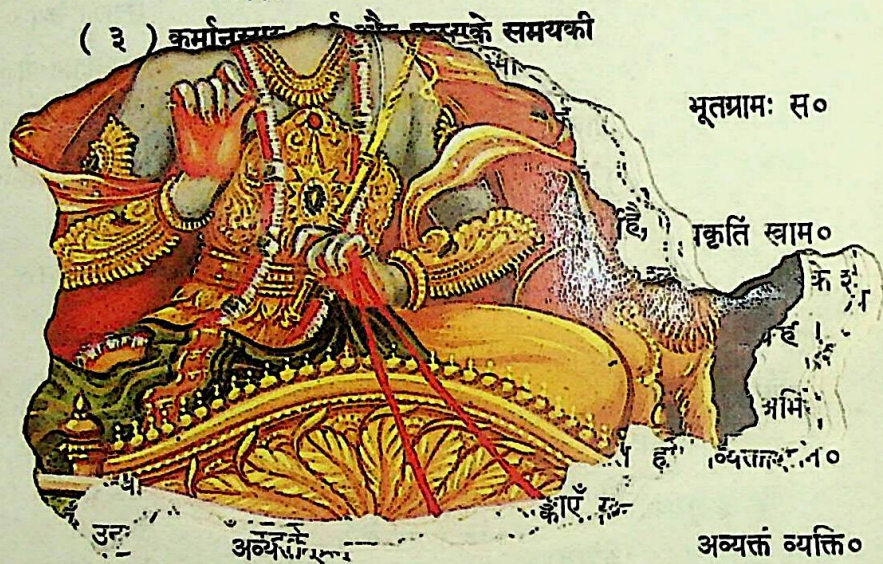
* ऐसे तो 'अमृत' शब्द परमात्माका ही वाचक है, पर जहाँ मृत्यु (मरना) और अमरता (न मरना) की बात आती है, वहाँ 'अमृत' शब्द अमरताका वाचक है ।

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
	असत्	
	(१) नाशवान्‌का वाचक	
२ । १६	असत्	नासतो विद्यते०
९ । १९	असत्	तपाम्यहमहं०
११ । ३७	असत्	कस्माच्च ते०
१३ । १२	असत्	ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि०
१७ । २८	असत्	अश्रद्धया हुतं०
	(२) नीच योनिका वाचक	
१३ । २१	असत्	पुरुषः प्रकृतिस्थो०
	अहंकार	
	(१) व्यष्टि (मनुष्यके बनाये हुए) अहंकारका वाचक	
३ । २७	अहंकारविमूढात्मा	प्रकृतेः क्रियमाणानि०
१७ । ५	दम्भाहंकारसंयुक्ताः	अशास्त्रविहितं घोरं०
१८ । ५३		अहंकारं बलं दर्पं०
१८ । ५८		मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि०
१८ । ५९		यदहंकारमाश्रित्य०
७ । ४		भूमिरापोऽनलो०
१३ । ५		
१६ । १८		दर्पं०
४ । ६		अजोऽपि०
४ । ७	आत्मानम्	यदा यदा०
७ । १८	आत्मा	उदाराः सर्व०
१० । १५	स्वयमेवात्मनात्मानम्	स्वयमेवात्मना०
१० । १६	आत्मविभूतयः	वक्तुमर्हस्य०
१० । १८	आत्मनः	विस्तरेणात्मनो०
१० । १९	आत्मविभूतयः	हन्त ते०
११ । ३	आत्मानम्	एवमेतद्यथात्थ०
११ । ४	आत्मानम्	मन्यसे यदि०
११ । ४७	आत्मयोगात्	मया प्रसन्नेन०
	(२) निर्गुण-निराकार परमात्माका वाचक	
६ । २५	आत्मसंस्थम्	शनैः शनैरुपरमेद्०
६ । २६	आत्मनि	यतो यतो०
१८ । ३७	* आत्मबुद्धिप्रसादजम्	यत्तदग्रे विषमिव०

* सांख्ययोगका विषय होनेसे यहाँ 'आत्मा' शब्दको निर्गुण-निराकार परमात्माका वाचक माना गया है।

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
१६ । २१	आत्मनः	त्रिविधं नरकस्येदं०
१६ । २२	आत्मनः	एतैर्विमुक्तः कौन्तेय०
१८ । १६	आत्मानम्	तत्रैवं सति०
१८ । ३९	आत्मनः	यदग्रे चानुबन्धे०
	(५) स्वयं मनुष्यका वाचक	
६ । ११	आत्मनः	शुचौ देशे०
६ । १९	आत्मनः	यथा दीपो०
८ । १२	आत्मनः	सर्वद्वाराणि०
१४ । २४	तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः	समदुःखसुखः०
१६ । १८	आत्मपरदेहेषु	अहंकारं बलं०
	(६) शरीरका वाचक	
३ । १३	आत्मकारणात्	यज्ञशिष्टाशिनः०
४ । २१	[illegible]	निराशीर्यतचित्तात्मा०
५ । ७	[illegible]	योगयुक्तो विशुद्धात्मा०
६ । १०	[illegible]	योगी युञ्जीत०
६ । ३२	[illegible]	[illegible]त्मौपम्येन सर्वत्र०
१६ । १७	[illegible]	[illegible]
१७ । १९	[illegible]	[illegible]
१८ । ४९	[illegible]	[illegible]
	[illegible]	
२ । ६४	[illegible]	[illegible]वियुक्तैस्तु०
३ । २७	[illegible]	प्रकृतेः क्रियमाणानि०
४ । २७	आत्मसंयमयोगाग्नौ	सर्वाणीन्द्रियकर्माणि०
४ । ४०	संशयात्मा; संशयात्मनः	अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च०
५ । ७	विशुद्धात्मा	योगयुक्तो विशुद्धात्मा०
५ । ११	आत्मशुद्धये	कायेन मनसा०
६ । १२	आत्मविशुद्धये	तत्रैकाग्रं मनः०
६ । १४	प्रशान्तात्मा	प्रशान्तात्मा०
६ । २९	योगयुक्तात्मा	सर्वभूतस्थ०
८ । २	नियतात्मभिः	अधियज्ञः कथं०
९ । २६	प्रयतात्मनः	पत्रं पुष्पं फलं०
११ । २४	प्रव्यथितान्तरात्मा	नभःस्पृशं०
१५ । ११	अकृतात्मानः	यतन्तो योगिन०
	(८) मनका वाचक	
६ । १५	आत्मानम्	युञ्जन्नेवं सदात्मानं०
६ । ३६	असंयतात्मना; वश्यात्मना	असंयतात्मना०

*

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
१५ । १७	ईश्वरः	उत्तमः पुरुषः०
१८ । ७५	योगेश्वरात्	व्यासप्रसादात्०
१८ । ७८	योगेश्वरः	यत्र योगेश्वरः०
	(२) सगुण-निराकार अन्तर्यामी परमात्माका वाचक	
१३ । २७	परमेश्वरम्	समं सर्वेषु०
१३ । २८	ईश्वरम्	समं पश्यन्हि०
१८ । ६१	ईश्वरः	ईश्वरः सर्वभूतानां०
	(३) जीवात्माका वाचक	
१३ । २२	महेश्वरः	उपद्रष्टानुमन्ता०
१५ । ८	ईश्वरः	शरीरं यदवाप्नोति०
	(४) आसुरी सम्पदावालेका वाचक	
१६ । १४	ईश्वरः	असौ मया हतः०
	(५)	
१८ । ४३		शौर्यं तेजो०
६ । १२		हि, ...तत्रैकाग्रं मनः०
१८ । ७२		
६ । १६		
५ । ५		यत्सांख्यैः प्राप्यते०
६ । ३१	एकत्व...	सर्वभूतस्थितं०
९ । १५	एकत्वेन	ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये०
	(४) अनन्यताका वाचक	
७ । १७	एकभक्तिः	तेषां ज्ञानी०
१८ । ६६	एकम्	सर्वधर्मान्०
	(५) अकेलेका वाचक	
६ । १०	एकाकी	योगी युञ्जीत०
११ । २०	एकेन	द्यावापृथिव्यो०
११ । ४२	एकः	यच्चावहासार्थं०
१३ । ३३	एकः	यथा प्रकाशयत्येकः०
	(६) अन्यका वाचक	
१८ । ३	एके	त्याज्यं दोषवदि०
	(७) मनका वाचक	
१३ । ५	एकम्	महाभूतान्यहंकारो०

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
१८ । १२	कर्मणः	अनिष्टमिष्टं मिश्रं०
१८ । १३	सर्वकर्मणाम्	पञ्चैतानि महाबाहो०
१८ । १५	कर्म	शरीरवाङ्मनोभि०
१८ । १८	कर्मचोदना; कर्म; कर्मसंग्रहः	ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता०
१८ । १९	कर्म	ज्ञानं कर्म च०
१८ । २३	कर्म	नियतं सङ्गरहित०
१८ । २४	कर्म	यत्तु कामेप्सुना०
१८ । २५	कर्म	अनुबन्धं क्षयं०
	(२) सृष्टि-रचनारूप कर्मका वाचक	
७ । २९	कर्म	जरामरणमोक्षाय०
८ । १	कर्म	किं तद्ब्रह्म०
८ । ३	कर्मसंज्ञितः	अक्षरं ब्रह्म परमं०
	(३) [illegible]	
२ । ४३	[illegible]	कामात्मानः स्वर्गपरा०
२ । ४९	[illegible]	दूरेण ह्यवरं०
२ । ५१	[illegible]	कर्मजं बुद्धियुक्ता०
३ । २५	[illegible]	[illegible]क्ताः कर्मण्य०
३ । २६	[illegible]	[illegible]
१८ । २	[illegible]	[illegible]
२ । ४७	[illegible]	[illegible]स्ते०
२ । ४८	[illegible]	योगस्थः कुरु०
२ । ५०	[illegible]	बुद्धियुक्तो जहातीह०
३ । ४	कर्मणाम्	न कर्मणामनारम्भा०
३ । ८	कर्म; कर्म	नियतं कुरु कर्म०
३ । ९	कर्मणः; कर्म	यज्ञार्थात्कर्मणो०
३ । १४	कर्मसमुद्भवः	अन्नाद्भवन्ति०
३ । १५	कर्म	कर्म ब्रह्मोद्भवं०
३ । १९	कर्म; कर्म	तस्मादसक्तः सततं०
३ । २२	कर्मणि	न मे पार्थास्ति०
३ । २३	कर्मणि	यदि ह्यहं न०
३ । २४	कर्म	उत्सीदेयुरिमे लोका०
३ । २६	सर्वकर्माणि	न बुद्धिभेदं०
३ । ३०	कर्माणि	मयि सर्वाणि०
४ । १२	कर्मणाम्; कर्मजा	काङ्क्षन्तः कर्मणां०
४ । १४	कर्मफले	न मां कर्माणि०

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
४ । १५	कर्म; कर्म	एवं ज्ञात्वा०
४ । १८	कर्मणि; कर्म	कर्मण्यकर्म यः०
४ । २०	कर्मफलासङ्गम्; कर्मणि	त्यक्त्वा कर्म०
४ । २३	कर्म	गतसङ्गस्य०
४ । २४	ब्रह्मकर्मसमाधिना	ब्रह्मार्पणं ब्रह्म०
४ । ३२	कर्मजान्	एवं बहुविधा०
५ । १	कर्मणाम्; कर्मसंन्यासात्	संन्यासं कर्मणां०
५ । १०	कर्माणि	ब्रह्मण्याधाय०
५ । ११	कर्म	कायेन मनसा०
५ । १२	कर्मफलम्	युक्तः कर्मफलं०
६ । १	कर्मफलम्; कर्म	अनाश्रितः कर्मफलं०
६ । ३	कर्म	आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं०
६ । ४	कर्मसु [illegible]	यदा हि नेन्द्रियार्थेषु०
६ । १७	[illegible]	…हारस्य०
७ । २८	[illegible]	…तं०
९ । १२	[illegible]	…मोघकर्माणो०
११ । ५५	[illegible]	…न्मत्परमो०
१२ । ६	[illegible]	…णि०
१२ । १०	[illegible]	…प्यसमर्थो०
१२ । ११	[illegible]	…क्तोऽसि०
१२ । १२	[illegible]	…ज्ञानम०
१४ । ७	[illegible]	…रागात्मकं०
१४ । ९	कर्मणि	सत्त्वं सुखे०
१४ । १२	कर्मणाम्	लोभः प्रवृत्तिरारम्भः०
१४ । १५	कर्मसङ्गिषु	रजसि प्रलयं०
१६ । २४	कर्म	तस्माच्छास्त्रं प्रमाण०
१७ । २६	कर्मणि	सद्भावे साधुभावे०
१७ । २७	कर्म	यज्ञे तपसि दाने०
१८ । २	सर्वकर्मफलत्यागम्	काम्यानां कर्मणां०
१८ । ३	यज्ञदानतपःकर्म	त्याज्यं दोषवदित्येके०
१८ । ५	यज्ञदानतपःकर्म	यज्ञदानतपःकर्म न०
१८ । ६	कर्माणि	एतान्यपि तु०
१८ । ८	कर्म	दुःखमित्येव०
१८ । ९	कर्म	कार्यमित्येव०
१८ । ११	कर्मफलत्यागी	न हि देहभृता०
१८ । २७	कर्मफलप्रेप्सुः	रागी कर्मफलप्रेप्सु०

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
१८ । ४१	कर्माणि	ब्राह्मणक्षत्रियविशां०
१८ । ४२	ब्रह्मकर्म	शमो दमस्तपः०
१८ । ४३	कर्म	शौर्यं तेजो०
१८ । ४४	वैश्यकर्म; परिचर्यात्मकं कर्म	कृषिगौरक्ष्य०
१८ । ४५	कर्मणि; स्वकर्मनिरतः	स्वे स्वे कर्मण्य०
१८ । ४६	स्वकर्मणा	यतः प्रवृत्तिर्भूतानां०
१८ । ४७	कर्म	श्रेयान्स्वधर्मो०
१८ । ४८	कर्म	सहजं कर्म कौन्तेय०
१८ । ५६	सर्वकर्माणि	सर्वकर्माण्यपि०
१८ । ५७	सर्वकर्माणि	चेतसा सर्वकर्माणि०
१८ । ६०	कर्मणा	स्वभावजेन कौन्तेय०
१८ । ७१	[illegible]	श्रद्धावाननसूयश्च०
३ । २७	[illegible]	प्रकृतेः क्रियमाणानि०
४ । ९	[illegible]	जन्म कर्म च०
४ । १४	[illegible]	[illegible] मां कर्माणि०
९ । ९	[illegible]	[illegible]
१३ । २९	[illegible]	[illegible]
२ । ५	[illegible]	गुरूनहत्वा हि०
२ । ४३	कामात्म[illegible]	कामात्मानः स्वर्गपरा०
२ । ५५	कामान्	प्रजहाति यदा०
२ । ६२	कामः; कामात्	ध्यायतो विषयान्०
२ । ७१	कामान्	विहाय कामान्यः०
३ । ३७	कामः	काम एष क्रोध एष०
३ । ३९	कामरूपेण	आवृतं ज्ञानमेतेन०
३ । ४३	कामरूपम्	एवं बुद्धेः परं०
५ । १२	कामकारेण	युक्तः कर्मफलं०
५ । २३	कामक्रोधोद्भवम्	शक्नोतीहैव यः०
५ । २६	कामक्रोधवियुक्तानाम्	कामक्रोधवियुक्तानां०
६ । २४	कामान्	संकल्पप्रभवान्०
७ । ११	कामरागविवर्जितम्	बलं बलवतां०
७ । २०	कामैः	कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः०
९ । २१	काम (-कामाः)	ते तं भुक्त्वा०

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
१६।१०	कामम्	काममाश्रित्य०
१६।१२	कामक्रोधपरायणाः	आशापाशशतैर्बद्धाः०
१६।१८	कामम्	अहंकारं बलं दर्पं०
१६।२१	कामः	त्रिविधं नरकस्येदं०
१७।५	कामरागबलान्विताः	अशास्त्रविहितं०
१८।५३	कामम्	अहंकारं बलं०
	(२) कामदेवका वाचक	
७।११	कामः	बलं बलवतां०
१६।८	कामहैतुकम्	असत्यमप्रतिष्ठं०
	(३) पदार्थोंका वाचक	
२।७०	कामाः; कामकामी	आपूर्यमाणमचल०
३।१०	इष्टकामधुक्	सहयज्ञाः प्रजा०
६।१८	सर्वका[illegible]	यदा विनियतं०
७।२२	[illegible]	…स्या०
९।२१	[illegible]	…र्गं०
१०।२८	[illegible]	…ामहं०
१६।१[illegible]	[illegible]	…परिमेयां०
१६।१[illegible]	[illegible]	…शतैर्बद्धाः०
१६।१६	[illegible]	…विभ्रान्ता०
१८।२४	[illegible]	…ुना०
	(४) [illegible]	
१६।१३	[illegible]	…ास्त्रविधि०
	(५) सकाम पुरुषका वाचक	
९।२१	(काम-) कामाः	ते तं भुक्त्वा०
	काल	
	(१) समयका वाचक	
२।७२	अन्तकाले	एषा ब्राह्मी स्थितिः०
४।२	कालेन	एवं परम्पराप्राप्त०
४।३८	कालेन	न हि ज्ञानेन०
७।३०	प्रयाणकाले	साधिभूताधि०
८।२	प्रयाणकाले	अधियज्ञः कथं०
८।५	अन्तकाले	अन्तकाले च०
८।७	कालेषु	तस्मात् सर्वेषु०
८।१०	प्रयाणकाले	प्रयाणकाले मनसा०
८।२७	कालेषु	नैते सृती पार्थ०
१०।३०	कालः	प्रह्लादश्चास्मि०

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
१७ । २०	काले	दातव्यमिति०
१७ । २२	अदेशकाले	अदेशकाले यद्दान०
	(२) मार्गका वाचक	
८ । २३	काले	यत्र काले त्वनावृत्ति०
	(३) महाप्रलयका वाचक	
११ । २५	कालानलसन्निभानि	दंष्ट्राकरालानि०
	(४) भगवान्‌का वाचक	
१० । ३३	कालः	अक्षराणामकारोऽस्मि०
११ । ३२	कालः	कालोऽस्मि०
	कूटस्थ	
	(१) निर्विकारताका वाचक	
६ । ८	कूटस्थः	ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा०
	(२) निर्गुण-निराकार ब्रह्मका वाचक	
१२ । ३	[illegible]	ये त्वक्षरमनिर्देश्य०
१५ । १६	[illegible]	द्वाविमौ पुरुषौ०
६ । ४५	[illegible]	[illegible]
७ । १८	[illegible]	[illegible]
८ । १३	[illegible]	[illegible]
८ । २१	[illegible]	[illegible]
९ । १८	[illegible]	गतिर्भर्ता प्रभु०
९ । ३२	गतिम्	मां हि पार्थ०
१२ । ५	गतिः	क्लेशोऽधिकतर०
१३ । २८	गतिम्	समं पश्यन्हि०
१६ । २२	गतिम्	एतैर्विमुक्तः कौन्तेय०
१६ । २३	गतिम्	यः शास्त्रविधि०
	(२) स्थानका वाचक	
६ । ३७	गतिम्	अयतिः श्रद्धयोपेतो०
१६ । २०	गतिम्	आसुरीं योनिमापन्ना०
	(३) जाननेका वाचक	
४ । १७	गतिः	कर्मणो ह्यपि०
	गुण	
	(१) सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंका वाचक	
३ । २७	गुणैः	प्रकृतेः क्रियमाणानि०
३ । २९	गुणसम्मूढाः	प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः०

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
	(९) दृढ़तापूर्वक माननेका वाचक	
४ । १०	ज्ञानतपसा	वीतरागभयक्रोधा०
७ । २	ज्ञानम्	ज्ञानं तेऽहं सविज्ञान०
९ । १	ज्ञानम्	इदं तु ते०
	ज्ञानी	
	(१) तत्त्वज्ञ महापुरुषका वाचक	
३ । ३३	ज्ञानवान्	सदृशं चेष्टते०
	(२) विवेकी साधकका वाचक	
३ । ३९	ज्ञानिनः	आवृतं ज्ञानमेतेन०
	(३) शास्त्रोंको यथार्थरूपसे जाननेवालेका वाचक	
४ । ३४	ज्ञानिनः	तद्विद्धि प्रणिपातेन०
	(४) शास्त्रीय ज्ञानवालेका वाचक	
६ । ४६	ज्ञानिभ्यः	तपस्विभ्योऽधिको०
	(५)	
७ । १६		चतुर्विधा भजन्ते०
७ । १७		ां ज्ञानी नित्ययुक्त०
७ । १८		सर्व एवैते०
	(	
१३ । १२		
१३ । १७		
१३ । १८		त्र तथा०
	(	
१८ । १८	ज्ञेयम्	ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता०
	तुष्ट	
	(१) पूर्णताका वाचक	
२ । ५५	तुष्टः	प्रजहाति यदा०
३ । १७	संतुष्टः	यस्त्वात्मरतिरेव०
१२ । १४	संतुष्टः	संतुष्टः सततं०
	(२) संतोषका वाचक	
४ । २२	संतुष्टः	यदृच्छालाभसंतुष्टो०
१२ । १९	संतुष्टः	तुल्यनिन्दास्तुतिः०
	देव	
	(१) इन्द्रादि देवताओंका वाचक	
३ । ११	देवान्; देवाः	देवान्भावयतानेन०
३ । १२	देवाः	इष्टान्भोगान्हि वो०
७ । २३	देवान्; देवयजः	अन्तवत्तु फलं०
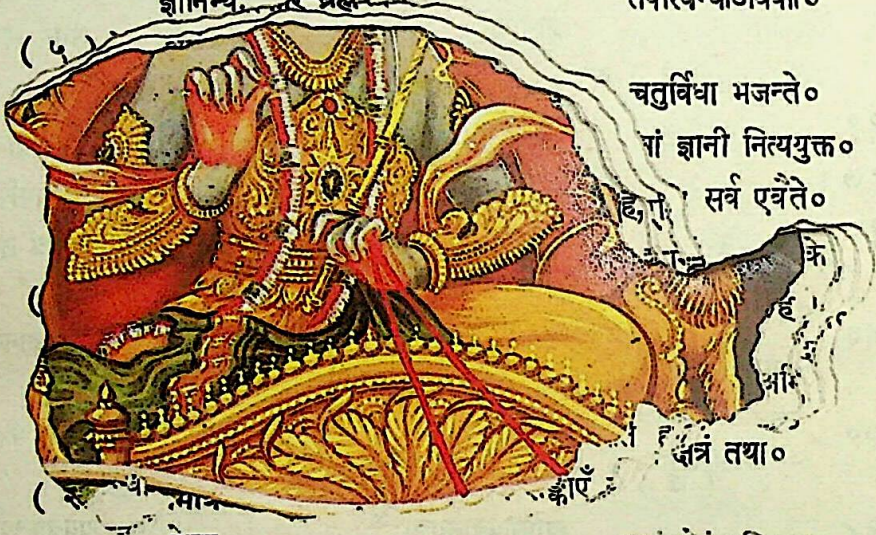
अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
९ । २०	देवभोगान्	त्रैविद्या मां०
९ । २५	देवव्रताः; देवान्	यान्ति देवव्रताः०
१० । २	देवानाम्	न मे विदुः०
१० । १४	देवाः	सर्वमेतदृतं मन्ये०
१० । २२	देवानाम्	वेदानां सामवेदोऽस्मि०
११ । १५	देवान्	पश्यामि देवांस्तव०
११ । ५२	देवाः	सुदुर्दर्शमिदं०
१७ । ४	*देवान्	यजन्ते सात्त्विका०
१७ । १४	*देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्	देवद्विजगुरुप्राज्ञ०
१८ । ४०	देवेषु	न तदस्ति०
	(२) भगवान् श्रीकृष्णका वाचक	
११ । ११	देवम्	दिव्यमाल्याम्बरधरं०
११ । १४	देवम्	ततः स विस्मया०
११ । १५	[illegible]	[illegible]देवांस्तव०
११ । ४४	[illegible]	[illegible]
	(३) [illegible]	
११ । ४५	[illegible]	[illegible]हृषितोऽस्मि०
१ । १	[illegible]	[illegible]क्षेत्रे०
१८ । ३१	[illegible]	[illegible]
१८ । ३२	[illegible]	[illegible]ति०
१८ । ३४	[illegible]	[illegible] धर्मकामार्थान्०
	(२) कुल-मर्यादाका वाचक	
१ । ४०	कुलधर्माः; धर्मे	कुलक्षये प्रणश्यन्ति०
१ । ४३	कुलधर्माः	दोषैरेतैः कुलघ्नानां०
१ । ४४	उत्सन्नकुलधर्माणाम्	उत्सन्नकुलधर्माणाम्०
	(३) कर्तव्य-कर्मका वाचक	
१ । ४३	जातिधर्माः	दोषैरेतैः कुलघ्नानां०
२ । ७	धर्मसम्मूढचेताः	कार्पण्यदोषोपहत०
३ । ३५	स्वधर्मः; परधर्मात्; स्वधर्मे; परधर्मः	श्रेयान्स्वधर्मो०
१८ । ४७	स्वधर्मः; परधर्मात्	श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः०
१८ । ६६	सर्वधर्मान्	सर्वधर्मान्परित्यज्य०

* यहाँ 'देव' शब्दको ईश्वरकोटिके देवताओं—(विष्णु, शंकर, गणेश, शक्ति और सूर्य—) का भी वाचक समझना चाहिये।

† चतुर्भुजरूपका वाचक होनेसे यहाँ 'देव' शब्द भगवान् विष्णुके लिये आया है।

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
	(४) समबुद्धिका वाचक	
२ । ४०	धर्मस्य	नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति०
	(५) सद्गुण-सदाचारका वाचक	
४ । ७	धर्मस्य	यदा यदा हि०
४ । ८	धर्मसंस्थापनार्थाय	परित्राणाय साधूनां०
७ । ११	धर्माविरुद्धः	बलं बलवतां चाहं०
११ । १८	शाश्वतधर्मगोप्ता	त्वमक्षरं परमं०
१४ । २७	धर्मस्य	ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्०
	(६) ज्ञान-विज्ञानका वाचक	
९ । ३	धर्मस्य	अश्रद्दधानाः पुरुषा०
	(७) सकाम अनुष्ठानका वाचक	
९ । २१	त्रयीधर्मम्	ते तं भुक्त्वा०
	पर	
	(१) [illegible]	
२ । ४३	[illegible]	कामात्मानः स्वर्गपरा०
२ । ६१	[illegible]	तानि सर्वाणि०
४ । ३९	[illegible]	[illegible]द्धावाँल्लभते०
६ । १४	[illegible]	[illegible]न्तात्मा [illegible]०
१८ । ५२	[illegible]	[illegible]
१८ । ५७	[illegible]	[illegible]०
२ । २९	[illegible]	[illegible]वर्तन्ते०
३ । १९	[illegible]	तस्मादसक्तः सततं०
५ । १६	परम्	ज्ञानेन तु०
१३ । ३४	परम्	क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेव०
	(३) सूक्ष्मका वाचक	
३ । ४२	पराणि; परम्; परा; परतः	इन्द्रियाणि पराण्याहुः०
३ । ४३	परम्	एवं बुद्धेः परं०
	(४) सर्वोत्कृष्टका वाचक	
३ । ११	परम्	देवान्भावयतानेन०
४ । ३९	पराम्	श्रद्धावाँल्लभते०
६ । ४५	पराम्	प्रयत्नाद्यतमानस्तु०
७ । १३	परम्	त्रिभिर्गुणमयैः०
८ । १०	परम्	प्रयाणकाले मनसा०
८ । २०	परः	परस्तस्मात्तु०
८ । २२	परः	पुरुषः स परः०
८ । २८	परम्	वेदेषु यज्ञेषु०

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
	(३) जीवात्माका वाचक	
१३ । २२	परमात्मा	उपद्रष्टानुमन्ता च०
१३ । ३१	परमात्मा	अनादित्वान्निर्गुणत्वात्०
	पुण्य	
	(१) पवित्र कर्मोंका वाचक	
६ । ४१	पुण्यकृताम्	प्राप्य पुण्यकृतां०
७ । २८	पुण्यकर्मणाम्	येषां त्वन्तगतं पापं०
८ । २८	पुण्यफलम्	वेदेषु यज्ञेषु०
९ । २०	पुण्यम्	त्रैविद्या मां०
९ । २१	पुण्ये	ते तं भुक्त्वा०
१८ । ७१	पुण्यकर्मणाम्	श्रद्धावाननसूयश्च०
	(२) पवित्रताका वाचक	
७ । ९	पुण्यः	पुण्यो गन्धः०
९ । ३३	[illegible]	किं पुनर्ब्राह्मणाः०
१८ । ७६	[illegible]	राजन्संस्मृत्य०
	[illegible]	तानि
३ । ३	[illegible]	दावाँल्ल [illegible]
	[illegible]	न्तात्मा ऽस्मिन्द्रि०
३ । १०	[illegible]	[illegible]०
१७ । २३	[illegible]	[illegible]
	[illegible]	तस्मा [illegible]
	(१) [illegible]साधारण मनुष्य[illegible]	
३ । ३६	पूरुषः	अथ केन प्रयुक्तोऽयं०
९ । ३	पुरुषाः	अश्रद्दधानाः पुरुषा०
१७ । ३	पुरुषः	सत्त्वानुरूपा सर्वस्य०
	(२) कर्मयोगी साधकका वाचक	
२ । ६०	पुरुषस्य	यततो ह्यपि कौन्तेय०
३ । ४	पुरुषः	न कर्मणामनारम्भा०
३ । १९	पूरुषः	तस्मादसक्तः सततं०
	(३) सांख्ययोगी साधकका वाचक	
२ । १५	पुरुषम्	यं हि न व्यथय०
२ । २१	पुरुषः	वेदाविनाशिनं०
	(४) जीवात्माका वाचक	
१३ । १९	पुरुषम्	प्रकृतिं पुरुषं०
१३ । २०	पुरुषः	कार्यकरणकर्तृत्वे०

*

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
१३ । २१	पुरुषः	पुरुषः प्रकृतिस्थो०
१३ । २२	पुरुषः	उपद्रष्टानुमन्ता०
१३ । २३	पुरुषम्	य एवं वेत्ति०

(५) क्षर-अक्षर, नाशवान्-अविनाशीका वाचक

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
१५ । १६	पुरुषौ	द्वाविमौ पुरुषौ०

(६) ब्रह्माजीका वाचक

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
८ । ४	पुरुषः	अधिभूतं क्षरो०

(७) सगुण-निराकारका वाचक

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
८ । ८	पुरुषम्	अभ्यासयोगयुक्तेन०
८ । १०	पुरुषम्	प्रयाणकाले मनसा०
८ । २२	पुरुषः	पुरुषः स परः०
१५ । ४	पुरुषम्	ततः पदं तत्परिमार्गि०

(८) सगुण-साकारका वाचक

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
१० । १२	पुरु[illegible]	[illegible]सं ब्रह्म परं धाम०
११ । १८	[illegible]	[illegible]रमं०
११ । ३८	[illegible]	[illegible]देवः पुरुषः०
१५ । १७	[illegible]	[illegible] पुरुषस्त्वन्यः०

[illegible]

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
३ । ५	[illegible]	[illegible]कश्चित्क्षणमपि०
३ । २७	[illegible]	[illegible]यमाणानि०
३ । २९	[illegible]	[illegible]सम्मूढाः०
७ । ४	[illegible]	[illegible]ऽनलो०
९ । ७	प्रकृतिम्	सर्वभूतानि कौन्तेय०
९ । ८	प्रकृतिम्; प्रकृतेः	प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य०
९ । १०	प्रकृतिः	मयाध्यक्षेण प्रकृतिः०
१३ । १९	प्रकृतिम्; प्रकृतिसम्भवाः	प्रकृतिं पुरुषं चैव०
१३ । २०	प्रकृतिः	कार्यकरणकर्तृत्वे०
१३ । २१	प्रकृतिजान्	पुरुषः प्रकृतिस्थो०
१३ । २३	प्रकृतिम्	य एवं वेत्ति०
१३ । २९	प्रकृत्या	प्रकृत्यैव च कर्माणि०
१३ । ३४	भूतप्रकृतिमोक्षम्	क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेव०
१४ । ५	प्रकृतिसम्भवाः	सत्त्वं रजस्तम०
१५ । ७	प्रकृतिस्थानि	ममैवांशो जीवलोके०
१८ । ४०	प्रकृतिजैः	न तदस्ति पृथिव्यां०

(२) स्वभावका वाचक

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
३ । ३३	प्रकृतेः; प्रकृतिम्	सदृशं चेष्टते०

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
७ । २०	प्रकृत्या	कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः०
९ । १२	प्रकृतिम्	मोघाशा मोघकर्माणो०
९ । १३	प्रकृतिम्	महात्मानस्तु मां०
१८ । ५९	प्रकृतिः	यदहंकारमाश्रित्य०

(३) भगवान्‌की दिव्य चिन्मयशक्तिका वाचक

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
४ । ६	प्रकृतिम्	अजोऽपि सन्नव्ययात्मा०

(४) जीवात्माका वाचक

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
७ । ५	प्रकृतिम्	अपरेयमितस्त्वन्यां०

(५) स्वाभाविक स्थितिका वाचक

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
११ । ५१	प्रकृतिम्	दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं०

प्रसाद

(१) अन्तःकरणकी स्वच्छताका वाचक

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
२ । ६४	प्रसादम्	रागद्वेषवियुक्तैस्तु०
२ । ६५		प्रसादे सर्वदुःखानां०
१८ । ३७		यत्तदग्रे विषमिव०
		तानि
१७ । १६		...वाँल्लनःप्रसादः सौम्यत्वं०
		...न्तात्मा
१८ । ५६		...०
१८ । ५८		...०
१८ । ७३		...र्लब्धा०
१८ । ७५		...श्रुतवाने०
		तस्मा...

(१ पर) अनुकूलताका वाचक
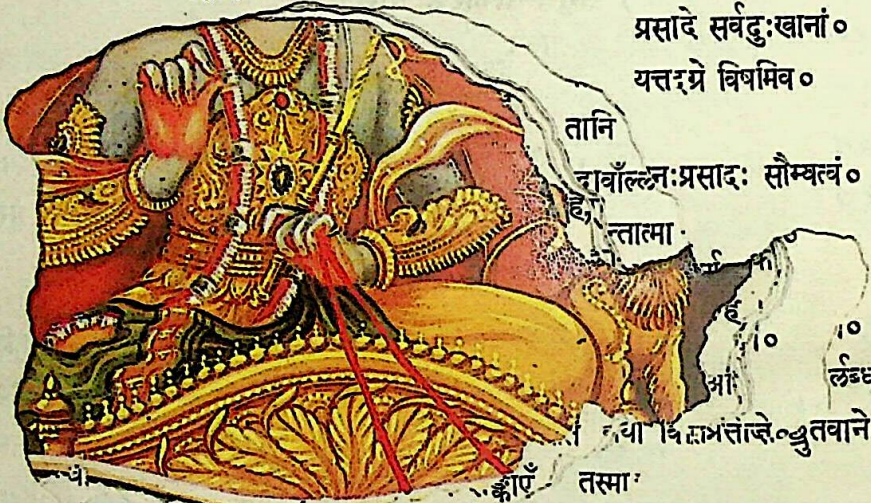
अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
५ । २०	प्रियम्	न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य०

(२) प्रेमीका वाचक

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
७ । १७	प्रियः; प्रियः	तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त०
१२ । १४	प्रियः	संतुष्टः सततं०
१२ । १५	प्रियः	यस्मान्नोद्विजते०
१२ । १६	प्रियः	अनपेक्षः शुचिर्दक्ष०
१२ । १७	प्रियः	यो न हृष्यति०
१२ । १९	प्रियः	तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी०
१२ । २०	प्रियाः	ये तु धर्म्यामृतमिदं०
१८ । ६५	प्रियः	मन्मना भव०
१८ । ६९	प्रियतरः	न च तस्मान्मनुष्येषु०

(३) रागका वाचक

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
९ । २९	प्रियः	समोऽहं सर्वभूतेषु०

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
२।४९	बुद्धौ	दूरेण ह्यवरं कर्म०
२।५०	बुद्धियुक्तः	बुद्धियुक्तो जहातीह०
२।५१	बुद्धियुक्ताः	कर्मजं बुद्धियुक्ता०
३।१	बुद्धिः	ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते०
	(२) अटल निश्चयका वाचक	
२।५२	बुद्धिः	यदा ते मोहकलिलं०
२।६५	बुद्धिः	प्रसादे सर्वदुःखानां०
२।६६	बुद्धिः	नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य०
१८।१७	बुद्धिः	यस्य नाहंकृतो०
	(३) सामान्य बुद्धिका वाचक	
२।४१	बुद्धिः; बुद्धयः	व्यवसायात्मिका बुद्धिः०
२।४४	बुद्धिः	भोगैश्वर्यप्रसक्तानां०
२।५३		श्रुतिविप्रतिपन्ना ते०
३।२		व्यामिश्रेणेव वाक्येन०
३।२६		तानि बुद्धिभेदं जनयेद्०
३।४०		द्रियाणि मनो०
३।४२		त्तात्मा णि पराण्याहुः०
३।४३		
५।११		०
५।२८		ते०
६।२५		
८।७		तस्मात्सर्वेषु कालेषु०
१०।४	बुद्धिः	बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः०
१२।८	बुद्धिम्	मय्येव मन आधत्स्व०
१२।१४	अर्पितमनोबुद्धिः	संतुष्टः सततं०
१८।१६	अकृतबुद्धित्वात्	तत्रैवं सति कर्तार०
१८।२९	बुद्धेः	बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव०
१८।३०	बुद्धिः	प्रवृत्तिं च निवृत्तिं०
१८।३१	बुद्धिः	यया धर्ममधर्मं०
१८।३२	बुद्धिः	अधर्मं धर्ममिति०
१८।४९	असक्तबुद्धिः	असक्तबुद्धिः सर्वत्र०
१८।५१	बुद्ध्या	बुद्ध्या विशुद्धया०
	(४) विवेकका वाचक	
२।६३	बुद्धिनाशः; बुद्धिनाशात्	क्रोधाद्भवति सम्मोहः०
७।१०	बुद्धिः	बीजं मां सर्वभूतानां०
	(५) सात्त्विक बुद्धिका वाचक	
६।२१	बुद्धिग्राह्यम्	सुखमात्यन्तिकं०

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
	(३) मात्र सृष्टिका वाचक	
८ । २२	भूतानि	पुरुषः स परः०
९ । ४	सर्वभूतानि	मया ततमिदं०
९ । ५	भूतानि; भूतभृत्; भूतस्थः; भूतभावनः	न च मत्स्थानि०
९ । ६	भूतानि	यथाकाशस्थितो०
	(४) प्राणियोंके शरीरोंका वाचक	
८ । २०	भूतेषु	परस्तस्मात्तु०
१५ । १६	भूतानि	द्वाविमौ पुरुषौ०
१७ । ६	भूतग्रामम्	कर्शयन्तः शरीरस्थं०
	(५) भूत-प्रेतका वाचक	
९ । २५	भूतानि	यान्ति देवव्रता०
१७ । ४	भूतगणान्	यजन्ते सात्त्विका०
	(६)	
१३ । ५		महाभूतान्यहंकारो०
१३ । ३४	तानि	क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेव०
	दावाँल्ल	
	न्तात्मा	
२ । ३४		र्तिं चा
२ । २८		नि०
२ । ३०		
३ । १४		द्भवन्ति०
	तस्मा	
३ । १८	परः	नैव तस्य कृतेनार्थो०
३ । ३३	भूतानि	सदृशं चेष्टते०
४ । ६	भूतानाम्	अजोऽपि सन्नव्ययात्मा०
४ । ३५	भूतानि	यज्ज्ञात्वा न०
५ । ७	सर्वभूतात्म (- भूतात्मा)	योगयुक्तो विशुद्धात्मा०
५ । २५	सर्वभूतहिते	लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं०
५ । २९	सर्वभूतानाम्	भोक्तारं यज्ञतपसां०
६ । २९	सर्वभूतस्थम्; सर्वभूतानि	सर्वभूतस्थमात्मानं०
६ । ३१	सर्वभूतस्थितम्	सर्वभूतस्थितं यो मां०
७ । ६	भूतानि	एतद्योनीनि भूतानि०
७ । ९	सर्वभूतेषु	पुण्यो गन्धः०
७ । १०	सर्वभूतानाम्	बीजं मां सर्वभूतानां०

* अर्जुनकी अपकीर्तिका बखान मनुष्य, देवता आदि ही कर सकते हैं, पशु-पक्षी आदि नहीं; अतः यहाँ 'भूतानि' पदसे मनुष्य, देवता आदि ही लेने चाहिये।

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
	(३) अन्तःकरणकी मनोवृत्तिका वाचक	
१ । ३०	मनः	गाण्डीवं स्रंसते०
२ । ६०	मनः	यततो ह्यपि०
२ । ६७	मनः	इन्द्रियाणां हि०
३ । ६	मनसा	कर्मेन्द्रियाणि संयम्य०
३ । ७	मनसा	यस्त्विन्द्रियाणि०
३ । ४०	मनः	इन्द्रियाणि मनो०
३ । ४२	मनः; मनसः	इन्द्रियाणि पराण्याहुः०
५ । ११	मनसा	कायेन मनसा०
५ । १३	मनसा	सर्वकर्माणि मनसा०
५ । २८	यतेन्द्रियमनोबुद्धिः	यतेन्द्रियमनोबुद्धिः०
६ । १२	[illegible]	तत्रैकाग्रं मनः०
६ । १४	[illegible]	प्रशान्तात्मा विगतभी०
६ । २४	[illegible]	संकल्पप्रभवान्०
६ । २५	[illegible]	शनैः शनैरुपरमेद्०
६ । २६	[illegible]	यतो यतो निश्चरति०
६ । २७	[illegible]	[illegible]
६ । ३४	[illegible]	[illegible]
६ । ३५	[illegible]	[illegible]
८ । ७	[illegible]	तस्मात्सर्वेषु कालेषु०
८ । १०	[illegible]	प्रयाणकाले मनसा०
८ । १२	मनः	सर्वद्वाराणि संयम्य०
९ । ३४	मन्मनाः	मन्मना भव०
१० । २२	मनः	वेदानां सामवेदोऽस्मि०
११ । ४५	मनः	अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि०
१२ । २	मनः	मय्यावेश्य मनो०
१२ । ८	मनः	मय्येव मन०
१२ । १४	अर्पितमनोबुद्धिः	संतुष्टः सततं०
१५ । ७	मनःषष्ठानि	ममैवांशो जीवलोके०
१५ । ९	मनः	श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं०
१७ । ११	मनः	अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो०
१७ । १६	मनःप्रसादः	मनःप्रसादः सौम्यत्वं०
१८ । ३३	मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः	धृत्या यया धारयते०
१८ । ६५	मन्मनाः	मन्मना भव०

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
	(५) दान आदिका वाचक	
४ । २८	द्रव्ययज्ञाः	द्रव्ययज्ञास्तपो०
४ । ३३	यज्ञात्	श्रेयान्द्रव्यमया०
	(६) स्वाध्यायका वाचक	
४ । २८	स्वाध्याययज्ञानयज्ञाः	द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा०
१८ । ७०	ज्ञानयज्ञेन	अध्येष्यते च य०
	(७) सहनशीलताका वाचक	
४ । २८	तपोयज्ञाः	द्रव्ययज्ञास्तपो०
	(८) साधनोंका वाचक	
४ । ३०	यज्ञविदः; यज्ञक्षपितकल्मषाः	अपरे नियताहाराः०
४ । ३२	यज्ञाः	एवं बहुविधा०
१० । २५	यज्ञानाम्	महर्षीणां भृगुरहं०
	(९) होम आदि[illegible]	
५ । २९	[illegible]	भोक्तारं यज्ञतपसां०
८ । २८	[illegible]तानि	वेदेषु यज्ञेषु०
९ । १६	[illegible]	अहं क्रतुरहं०
९ । २०	[illegible]	त्रैविद्या मां०
११ । ४८	[illegible]	वेदयज्ञ[illegible]०
१७ । ७	[illegible]	[illegible]०
१७ । ११	[illegible]	[illegible]०
१७ । १२	[illegible]	[illegible]
१७ । १३	[illegible] तस्मा[illegible]	विधिहीनमसृष्टान्नं०
१७ । २३	यज्ञाः	ॐ तत्सदिति०
१७ । २४	यज्ञदानतपःक्रियाः	तस्मादोमित्युदा०
१७ । २५	यज्ञतपःक्रियाः	तदित्यनभिसंधाय०
१७ । २७	यज्ञे	यज्ञे तपसि०
१८ । ३	यज्ञदानतपःकर्म	त्याज्यं दोषवदित्येके०
१८ । ५	यज्ञदानतपःकर्म; यज्ञः	यज्ञदानतपःकर्म न०
	(१०) नामजपका वाचक	
१० । २५	जपयज्ञः	महर्षीणां भृगुरहं०
	(११) दिखावटी कार्य करनेका वाचक	
१६ । १७	नामयज्ञैः	आत्मसम्भाविताः०

युक्त

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
	(१) सहितका वाचक	
१ । १४	युक्ते	ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते०
२ । ५०	बुद्धियुक्तः	बुद्धियुक्तो जहातीह०
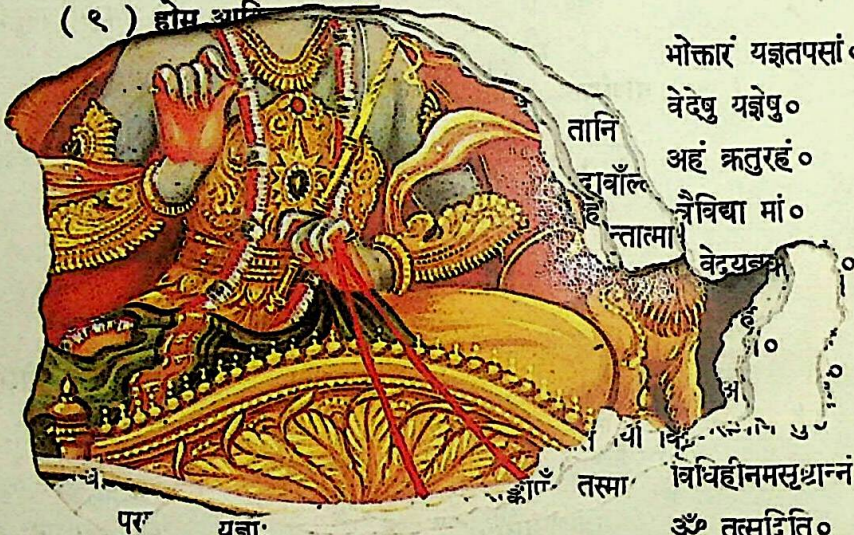
अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
२ । ५१	बुद्धियुक्ताः	कर्मजं बुद्धियुक्ता०
५ । ६	योगयुक्तः	संन्यासस्तु महाबाहो०
५ । ७	योगयुक्तः	योगयुक्तो विशुद्धात्मा०
७ । २२	युक्तः	स तया श्रद्धया०
८ । ८	अभ्यासयोगयुक्तेन	अभ्यासयोगयुक्तेन०
८ । १०	युक्तः	प्रयाणकाले मनसा०
९ । २८	संन्यासयोगयुक्तात्मा*	शुभाशुभफलैरेवं०
१५ । १४	प्राणापानसमायुक्तः	अहं वैश्वानरो०
१७ । १७	युक्तैः	श्रद्धया परया तप्तं०
१८ । ५१	युक्तः	बुद्ध्या विशुद्धया०
	(२) लगे हुएका वाचक	
२ । ३९	युक्तः	एषा तेऽभिहिता०
६ । २९	योगयुक्तात्मा	सर्वभूतस्थमात्मानं०
७ । १७	नित[illegible]	[illegible] नित्ययुक्त०
७ । १८	[illegible]	[illegible]
७ । ३०	[illegible]	[illegible]दैवं०
८ । १४	[illegible]	[illegible]ः सततं०
८ । २७	[illegible]	[illegible]र्थ०
९ । १४	[illegible]	[illegible]न्तो०
९ । २२	[illegible]	[illegible]नयन्तो०
१० । १०	[illegible]	[illegible]क्तानां०
१२ । १	[illegible]	[illegible]युक्ता०
१२ । २	नित्ययुक्ताः	मय्यावेश्य मनो०
	(३) समतामें स्थितका वाचक	
३ । २६	युक्तः	न बुद्धिभेदं०
५ । २३	युक्तः	शक्नोतीहैव यः०
६ । ८	युक्तः	ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा०
	(४) यथोचितका वाचक	
६ । १७	युक्ताहारविहारस्य; युक्तचेष्टस्य; युक्तस्वप्नावबोधस्य	युक्ताहारविहारस्य०
	(५) कर्मयोगीका वाचक	
२ । ६१	युक्तः	तानि सर्वाणि०
४ । १८	युक्तः	कर्मण्यकर्म यः०
५ । १२	युक्तः	युक्तः कर्मफलं०

* यदि संस्कृत विभक्तियोंके अनुसार ही संस्कृत शब्दोंका अर्थ किया जाय, तो वह अर्थ हिंदी भाषामें कहीं-कहींपर ठीक नहीं बैठता। कारण कि प्रत्येक भाषाकी अपनी अलग वाक्य-रचना होती है। अतः इस कोशमें शब्दोंका हिंदी अर्थ संस्कृत विभक्तिके अनुसार ही करनेका प्रयास किया गया है; परन्तु जहाँ संस्कृतके सामासिक पद या वाक्यका हिंदी अर्थ किया गया है, वहाँ हिंदीकी वाक्य-रचनाके अनुसार ही किया गया है।

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
	(६) सांख्ययोगीका वाचक	
५ । ८	युक्तः	नैव किंचित्करोमीति०
	(७) ध्यानयोगीका वाचक	
६ । १४	युक्तः	प्रशान्तात्मा विगतभी०
६ । १८	युक्तः	यदा विनियतं०
	(८) भक्तियोगीका वाचक	
६ । ४७	युक्ततमः	योगिनामपि सर्वेषां०
१२ । २	युक्ततमाः	मय्यावेश्य मनो०

योग

('युजिर् योगे' धातुसे बना 'योग' शब्द)

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
	(१) कर्मयोगका वाचक	
२ । ३९	योगे	एषा तेऽभिहिता०
४ । १	योगम्	इमं विवस्वते०
४ । २	[illegible]	एवं परम्पराप्राप्त०
४ । ३८	[illegible]	न हि ज्ञानेन०
५ । १	[illegible]	संन्यासं कर्मणां०
५ । ४	[illegible]	सांख्ययोगौ पृथग्बालाः०
५ । ५	[illegible]	सांख्यैः प्राप्यते०
६ । २	[illegible]	[illegible]
२ । ४५	[illegible]	[illegible]
९ । २२	[illegible]	अनन्याश्चिन्तयन्तो०
२ । ४८	योगस्थः; योगः	योगस्थः कुरु०
२ । ५०	योगाय; योगः	बुद्धियुक्तो जहातीह०
४ । २८	योगयज्ञाः	द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा०
४ । ४१	योगसंन्यस्तकर्माणम्	योगसंन्यस्तकर्माणं०
४ । ४२	योगम्	तस्मादज्ञानसम्भूतं०
५ । ६	योगयुक्तः	संन्यासस्तु महाबाहो०
५ । ७	योगयुक्तः	योगयुक्तो विशुद्धात्मा०
६ । ३	योगम्; योगारूढस्य	आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं०
६ । ४	योगारूढः	यदा हि नेन्द्रियार्थेषु०
६ । ४४	योगस्य	जिज्ञासुरपि०
८ । ८	अभ्यासयोगयुक्तेन	अभ्यासयोगयुक्तेन०
८ । २७	योगयुक्त	नैते सृती पार्थ०
१२ । ९	अभ्यासयोगेन	अथ चित्तं समाधातुं०

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
१६ । १	ज्ञानयोगव्यवस्थितिः	अभयं सत्त्वसंशुद्धिः०
१८ । ३३	योगेन	धृत्या यया०
	(४) साध्यरूप समताका वाचक	
२ । ५३	योगम्	श्रुतिविप्रतिपन्ना ते०
६ । २३	योगसंज्ञितम्	तं विद्याद्दुःखसंयोग०
	(५) भक्तियोगका वाचक	
७ । १	योगम्	मय्यासक्तमनाः पार्थ०
१० । ७	योगेन	एतां विभूतिं०
१२ । ६	योगेन	ये तु सर्वाणि०
१२ । ११	मद्योगम्	अथैतदप्यशक्तोऽसि०
१३ । १०	अनन्ययोगेन	मयि चानन्ययोगेन०
	(६) कर्मयोगीका वाचक	
५ । ५	योगैः	यत्सांख्यैः प्राप्यते०
	(७) गीता-[illegible]	
१८ । ७५	[illegible]	[illegible]च्छुत०
	(८) [illegible]	
९ । २८	[illegible]	[illegible]फलैरेवं०
१२ । १	[illegible]	[illegible]युक्ता०
	(१ [illegible]	
४ । २७	[illegible]	[illegible]न्द्रियकर्माणि०
८ । १२	योगधारणाम्	सर्वद्वाराणि संयम्य०
	(२) ध्यानयोगका वाचक	
६ । १२	योगम्	तत्रैकाग्रं मनः०
६ । १६	योगः	नात्यश्नतस्तु०
६ । १७	योगः	युक्ताहारविहारस्य०
६ । १९	योगम्	यथा दीपो निवातस्थो०
६ । २०	योगसेवया	यत्रोपरमते चित्तं०
६ । २३	योगः	तं विद्याद्दुःखसंयोग०
६ । २९	योगयुक्तात्मा	सर्वभूतस्थमात्मानं०
६ । ३३	योगः	योऽयं योगस्त्वया०
६ । ३६	योगः	असंयतात्मना०
६ । ३७	योगात्	अयतिः श्रद्धयोपेतो०

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
	(३) साधनका वाचक	
६ । ४१	योगभ्रष्टः	प्राप्य पुण्यकृतां०
	(४) प्राणायामका वाचक	
८ । १०	योगबलेन	प्रयाणकाले मनसा०
	('युज् संयमने' धातुसे बना 'योग' शब्द)	
	(१) भगवान्की सामर्थ्यका वाचक	
९ । ५	योगम्	न च मत्स्थानि०
१० । ७	योगम्	एतां विभूतिं योगं०
१० । १८	योगम्	विस्तरेणात्मनो०
११ । ८	योगम्	न तु मां शक्यसे०
११ । ४७	आत्मयोगात्	मया प्रसन्नेन०
	योगी	
	(१) कर्मयोगी	
३ । ३		लोकेऽस्मिन्द्विविधा०
५ । ११		कायेन मनसा०
६ । १		अनाश्रितः कर्मफलं०
६ । ८		
५ । २४		
१५ । ११		...तो योगिनश्चैनं०
६ । ३२	योगी	आत्मौपम्येन सर्वत्र०
६ । ४२	योगिनाम्	अथवा योगिनामेव०
	(५) भक्तियोगी साधकका वाचक	
८ । १४	योगिनः	अनन्यचेताः सततं०
	(६) सिद्ध भक्तियोगीका वाचक	
६ । ३१	योगी	सर्वभूतस्थितं यो०
१२ । १४	योगी	संतुष्टः सततं०
	(७) ध्यानयोगी साधकका वाचक	
६ । १०	योगी	योगी युञ्जीत०
६ । १५	योगी	युञ्जन्नेवं०
६ । १९	योगिनः	यथा दीपो०
६ । २७	योगिनम्	प्रशान्तमनसं०
६ । २८	योगी	युञ्जन्नेवं सदात्मानं०

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
(४) सम्पूर्ण प्राणियोंका वाचक		
११ । २३	लोकाः	रूपं महत्ते०
११ । ३०	लोकान्	लेलिह्यसे०
१८ । १७	लोकान्	यस्य नाहंकृतो०
(५) युद्धक्षेत्रमें खड़े सैनिकोंका वाचक		
११ । २९	लोकाः	यथा प्रदीप्तं०
११ । ३२	लोकान्	कालोऽस्मि०
(६) मात्र संसारका वाचक		
५ । २९	सर्वलोकमहेश्वरम्	भोक्तारं यज्ञतपसां०
१० । ३	लोकमहेश्वरम्	यो मामजमनादिं०
१० । ६	लोके	महर्षयः सप्त०
१० । १६	[illegible]	वक्तुमर्हस्यशेषेण०
११ । ३२	[illegible]	कालोऽस्मि०
११ । ४३	[illegible]	पितासि लोकस्य०
१३ । १३	[illegible]	[illegible]ः पाणिपादं०
१३ । ३३	[illegible]	[illegible]
१५ । ७	[illegible]	[illegible]
१५ । १६	[illegible]	[illegible]
१६ । ६	[illegible]	[illegible]
[illegible]		
३ । २२	त्रिषु लोकेषु	न मे पार्थास्ति०
११ । २०	लोकत्रयम्	द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं०
११ । ४३	लोकत्रये	पितासि लोकस्य०
१५ । १७	लोकत्रयम्	उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः०
(८) वैकुण्ठादि लोकोंका वाचक		
१८ । ७१	लोकान्	श्रद्धावाननसूयश्च०
(९) स्वर्गादि भोग-भूमियोंका वाचक		
६ । ४१	लोकान्	प्राप्य पुण्यकृतां०
८ । १६	लोकाः	आब्रह्मभुवनाल्लोकाः०
१४ । १४	लोकान्	यदा सत्त्वे०
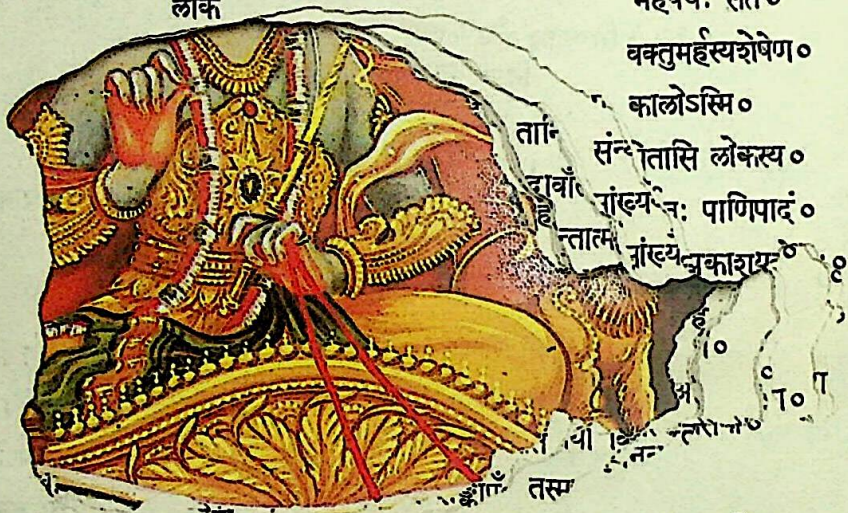
* वास्तवमें 'लोक' शब्द मात्र संसारका वाचक है, पर इन श्लोकोंमें तीनों लोकोंकी बात आनेसे 'लोक' शब्दको त्रिलोकीका वाचक लिया गया है।

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
	(३) कल्याण (मुक्ति) का वाचक	
२ । ७	श्रेयः	कार्पण्यदोषोपहत०
२ । ३१	श्रेयः	स्वधर्ममपि०
३ । २	श्रेयः	व्यामिश्रेणेव०
३ । ११	श्रेयः	देवान्भावयतानेन०
३ । ३५	श्रेयः	श्रेयान्स्वधर्मो०
५ । १	श्रेयः	संन्यासं कर्मणां०
१६ । २२	श्रेयः	एतैर्विमुक्तः कौन्तेय०
	सत्	
	(१) सत्ताका वाचक	
२ । १६	सतः	नासतो विद्यते०
९ । १९		तपाम्यहमहं वर्षं०
११ । ३७		कस्माच्च ते न०
१३ । १२	तां...	...ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि०
१७ । २३		...तत्सदिति०
१७ । २६		...साधुभावे०
१७ । २७		
३ । १३		
४ । ६		...ऽपि सन्नव्ययात्मा०
१८ । १६		तत्रैवं सति०
	(३) देवादि योनियोंका वाचक	
१३ । २१	सत्	पुरुषः प्रकृतिस्थो०
	सत्त्व	
	(१) चिन्मय तत्त्वका वाचक	
२ । ४५	नित्यसत्त्वस्थः	त्रैगुण्यविषया वेदा०
१८ । १०	सत्त्वसमाविष्टः	न द्वेष्ट्यकुशलं०
	(२) सत्त्वगुणका वाचक	
१० । ३६	सत्त्ववताम्; सत्त्वम्	द्यूतं छलयतामस्मि०
१४ । ५	सत्त्वम्	सत्त्वं रजस्तम०
१४ । ६	सत्त्वम्	तत्र सत्त्वं०
१४ । ९	सत्त्वम्	सत्त्वं सुखे०
१४ । १०	सत्त्वम्; सत्त्वम्; सत्त्वम्	रजस्तमश्चाभि०
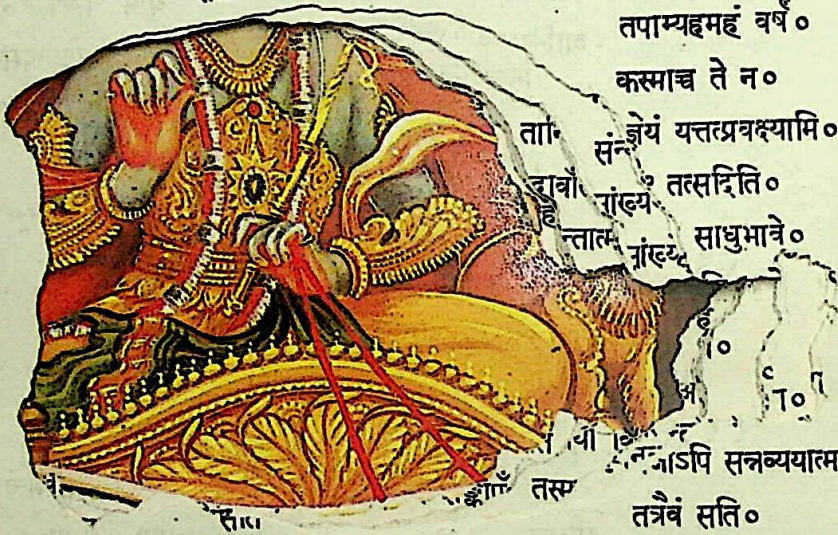
अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
१४ । ११	सत्त्वम्	सर्वद्वारेषु०
१४ । १४	सत्त्वे	यदा सत्त्वे०
१४ । १७	सत्त्वात्	सत्त्वात्संजायते०
१४ । १८	सत्त्वस्थाः	ऊर्ध्वं गच्छन्ति०
१७ । १	सत्त्वम्	ये शास्त्रविधि०
१७ । ८	आयुःसत्त्व०	आयुःसत्त्वबला०
	(३) वस्तु, व्यक्ति आदिका वाचक	
१० । ४१	सत्त्वम्	यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं
१८ । ४०	सत्त्वम्	न तदस्ति०
	(४) प्राणिमात्रका वाचक	
१३ । २६	सत्त्वम्	यावत्संजायते०
	(५) अन्तःकरणका वाचक	
१६ । १	सत्त्व[illegible]	[illegible]संशुद्धिः
१७ । ३	[illegible]	[illegible]स्य०
	(१ [illegible]	
५ । १८	[illegible]	[illegible]न्ने०
५ । १९	[illegible]	[illegible]
६ । २९	[illegible]	[illegible]नं०
	(३) अन्तःकरणकी स[illegible]	
२ । ४८	समत्वम्	योगस्थः कुरु०
१० । ५	समता	अहिंसा समता०
१८ । ५४	समः	ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा०
	(४) समानताका वाचक	
२ । १५	समदुःखसुखम्	यं हि न व्यथय०
२ । ३८	समे	सुखदुःखे समे०
२ । ४८	समः	योगस्थः कुरु०
४ । २२	समः	यदृच्छालाभ०
६ । ८	समलोष्टाश्मकाञ्चनः	ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा०
६ । ९	समबुद्धिः	सुहृन्मित्रार्युदासीन०
६ । ३२	समम्	आत्मौपम्येन०
९ । २९	समः	समोऽहं सर्वभूतेषु०

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
१२ । ४	समबुद्धयः	संनियम्येन्द्रिय०
१२ । १३	समदुःखसुखः	अद्वेष्टा सर्वभूतानां०
१२ । १८	समः; समः	समः शत्रौ च०
१३ । ९	समचित्तत्वम्	असक्तिरनभिष्वङ्गः०
१३ । २७	समम्	समं सर्वेषु०
१३ । २८	समम्	समं पश्यन्हि०
१४ । २४	समदुःखसुखः; समलोष्टाश्मकाञ्चनः	समदुःखसुखः स्वस्थः०

(५) सीधा-सरलका वाचक

६ । १३	समम्	समं कायशिरोग्रीवं०

सर्ग

(१) संसारका वाचक

५ । १९	सर्गः	इहैव तैर्जितः०
७ । २७	[illegible]	इच्छाद्वेषसमुत्थेन०
१० । ३२	[illegible]	[illegible]र्गाणामादिरन्तश्च०
१४ । २	[illegible]	[illegible]नमुपाश्रित्य०
२ । २४	[illegible]	[illegible]
३ । १५	सवगतम्	कर्म ब्रह्मोद्भवं०
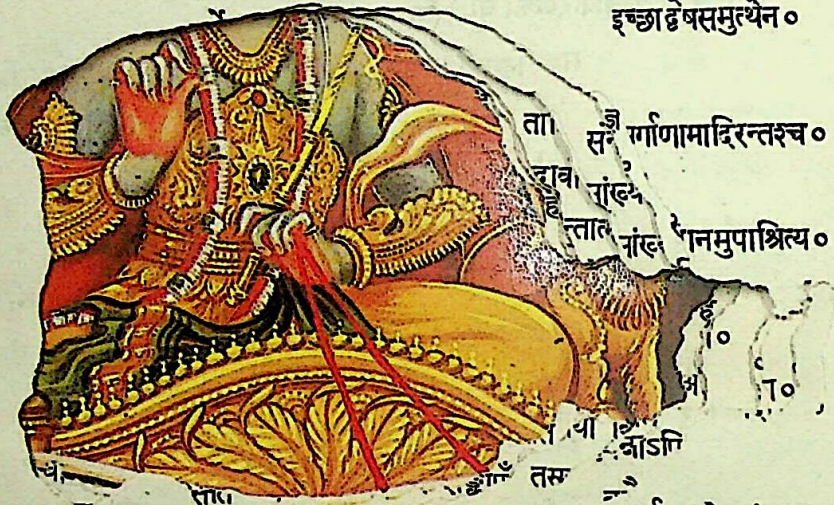
(३) आकाशका वाचक

१३ । ३२	सर्वगतम्	यथा सर्वगतं०

सिद्ध

(१) साधकका वाचक

७ । ३	सिद्धानाम्	यततामपि सिद्धानां०

(२) ज्ञानी-महात्माका वाचक

१० । २६	सिद्धानाम्	अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां०
११ । २१	महर्षिसिद्धसङ्घाः	अमी हि त्वां०
११ । २२	सुरसिद्धसङ्घाः	रुद्रादित्या वसवो०
११ । ३६	सिद्धसङ्घाः	स्थाने हृषीकेश०

(३) सिद्धियोंवालेका वाचक

१६ । १४	सिद्धः	असौ मया हतः०

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
	(२) अनुकूल परिस्थितिका वाचक	
२ । ५६	सुखेषु	दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः०
६ । ७	शीतोष्णसुखदुःखेषु	जितात्मनः प्रशान्तस्य०
१२ । १८	शीतोष्णसुखदुःखेषु	समः शत्रौ च०
	(३) सात्त्विक सुखका वाचक	
२ । ६६	सुखम्	नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य०
५ । २१ (पूर्वार्ध)	सुखम्	बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा०
५ । २४	अन्तःसुखः	योऽन्तःसुखो०
६ । २७	सुखम्	प्रशान्तमनसं०
१४ । ६	सुखसङ्गेन	तत्र सत्त्वं०
१४ । ९	सुखे	सत्त्वं सुखे०
१६ । २३	[illegible]	यः शास्त्रविधि०
१७ । ८	[illegible]	[illegible]युसत्त्वबलारोग्य०
	([illegible]	
५ । ३	[illegible]	[illegible] नित्य०
६ । २८	[illegible]	[illegible]त्मानं०
९ । २	[illegible]	[illegible]
५ । १३	[illegible]	[illegible]
५ । २१ (उत्तरार्ध)	सुखम्	बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा०
६ । २१	सुखम्	सुखमात्यन्तिकं०
६ । २८	सुखम्	युञ्जन्नेवं सदात्मानं०
१४ । २७	सुखस्य	ब्रह्मणो हि०
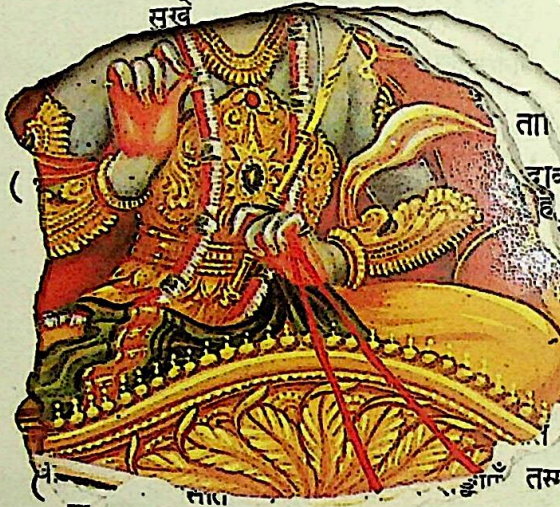
संन्यास

अध्याय-श्लोक	पद	श्लोक-प्रतीक
	(१) सांख्ययोगका वाचक	
५ । १	संन्यासम्	संन्यासं कर्मणां०
५ । २	संन्यासः	संन्यासः कर्मयोगश्च०
५ । ६	संन्यासः	संन्यासस्तु महाबाहो०
६ । २	संन्यासम्	यं संन्यासमिति०
१८ । १	संन्यासस्य	संन्यासस्य महाबाहो०
१८ । २	संन्यासम्	काम्यानां कर्मणां०
१८ । ४९	संन्यासेन	असक्तबुद्धिः सर्वत्र०
	(२) समर्पणका वाचक	
९ । २८	संन्यासयोगयुक्तात्मा	शुभाशुभफलैरेवं०

जैसे भक्त जिस भावसे भगवान्का भजन करता है, भगवान् भी उसी भावसे उसका भजन करते हैं (४ । ११), ऐसे ही मनुष्य जिस मान्यताको लेकर गीताको देखता है, गीता भी उसी मान्यताके अनुसार उसे दीखने लग जाती है । जैसे मनुष्य दर्पणके सामने जैसा मुख बनाकर जाता है, उसे वैसा ही मुख दर्पणमें दीखने लग जाता है । [illegible] वाणी गीता इतनी विलक्षण है कि [illegible] बनाकर जाता है, वैसा ही [illegible] है । इस प्रकार गीतारूप [illegible]ोंको ज्ञानशास्त्र और भक्ति[illegible]ोंको गीतामें अपनी [illegible] कल्याणका साधन [illegible]ादिका कोई आग्रह न [illegible] समझना चाहते हैं, उनके लिये यह 'गीता-दर्पण' नामक ग्रन्थ परम उपयोगी है । इस 'गीता-दर्पण'में गीताके भाव, सिद्धान्त प्रत्यक्ष दीखने लग जाते हैं, जिनके अनुसार चलनेसे सभी साधक बहुत शीघ्र अपना कल्याण कर सकते हैं ।

—इसी पुस्तकसे